॥ श्री हरिः [illegible] ॥

श्रीमद्वेदव्यासप्रणीता-

भगवद्गीता

(द्वितीय षट्क)

७ से १२ अध्याय पर्यन्त

हठाभ्यासी ब्रह्मचारी नर्मदानन्द कृत

अन्वय, पदार्थ, भाषाभावार्थ
और टिप्पणी सहित

जिसको—
भगवद्भक्त अधिकारियों को विनामूल्य
अर्पण करने के लिये
सनातनधर्म छापाखाना
मुरादाबाद में छपवाया

प्रथम बार १०००] १९१७ [मूल्य अधिकार

Printer & Publisher
Ramswarup Sharma
at the Sanatandharm Press
MORADABAD.

॥ श्री हरिः पातु ॥

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता का जो प्रथम खण्ड छपचुका है उसके आगेका यह सप्तम अध्यायसे द्वादश अध्याय पर्यन्तका द्वितीय खण्ड वा द्वितीय षट्क है। इसको भी परमात्माने मेरे द्वारा पूर्ण करदिया, काम तो बड़ा कठिन था, परन्तु भगवान्की कृपा बड़ी वस्तु है, यह मूकोंको वाचाल करदेती है और लूलों को पहाड़पर चढ़ा देता है। यद्यपि भगवान् सर्व साधारणके अनुभवमें नहीं आते हैं तो भी जो भगवान्के ऊपर विश्वास रखकर संसारके और परलोक के काम करते हैं उनकी कामना अवश्य पूरी होती है, यह सब शास्त्र और गुरुके वचनों पर विश्वास रखनेसे होसकता है, परन्तु ऐसा विश्वास भी उनको ही होता है जिनके ऊपर भगवान्की कृपा होती है, नहीं तो समझ में न आनेसे मनुष्य ऋषियोंकी बात पर भी अविश्वास कर बैठता है, परन्तु बुद्धिमान् वही है जो योगसम्मार्जितदृष्टि ऋषियोंके वाक्यों पर विश्वास रक्खे और जो समझमें न आवें उन सब ऋषिवाक्यों पर भी अविश्वास न करके यह विचारे कि--ऋषिवाक्य और शास्त्रवाक्य सर्वथा सत्य हैं, मैं अपने ज्ञान की अपूर्णताके कारण उनको नहीं समझपाता हूं, जब मेरे ज्ञानकी वृद्धि होगी तब ही समझसकूंगा।

गीतामें ऐसी एक बात भी नहीं है जो प्रयोजनकी न हो, परन्तु इस अमृत का पूरा२ स्वाद मिलना ही कितनों को है ?। शास्त्रकी एक बातका भी यदि अपरोक्ष अनुभव होजाय तो मनुष्य तरजाय। आजकल के जगत् की भित्ती विश्वासके ही धर्म पर है विश्वासका धर्म यदि अपरोक्ष अनुभवका धर्म होजाय तो फिर कसर ही क्या रहे ?, केवल मुखकी बकवादसे धर्म-साधना नहीं होसकती, यदि धर्मका अपरोक्ष अनुभव होजाय तो क्या फिर यह जीव अपना जीवन शरीरकी सजावट और ऐश आराममें ही खोता रहे?, तो क्या फिर मुखसे धर्म धर्म चिल्लाताहुआ मनुष्योंको पीड़ा देने पर उतारू [illegible] क्या फिर दूसरोंको महात्माओंकी समान उपदेश देकर भी अपने स्वार्थके साधनेके लिये कभी अत्यन्त निर्दयीपनेके काम करे ?। प्रभो ! इस

दुर्बल जीव हैं, हमारी रक्षा करिये, हे नाथ! हमें शक्ति दीजिये, जिससे कि—हम आपकी आज्ञाका पालन करके, आपके उपदेश के अनुसार चलकर अपरोक्ष अनुभवमें पहुंचसकें। कहांतक कहूं? बातोंका तो ओर छोर है ही नहीं, इसलिये आपको सैंकड़ों सहस्रों प्रणाम हैं, आप मङ्गलमय हैं, सदा भक्तोंका मङ्गल ही करते हैं, इसलिये यह समझा दीजिये कि—आप प्रसन्न हैं, जिससे कि—हम फिर नये होकर आपके दास बनजायँ, बाकी और जो कुछ होगा उसको आप करेंगे ही, उसके लिये सिर पच्ची करनेसे हमें क्या लाभ है?। तुम्हारी आज्ञाके अनुसार चलें बस इतना ही जीवका पुरुषार्थ है, बाकी और सब बात आपके हाथ है। तभी तो शीघ्रतासे शीघ्रता करनेपर भी इस पुस्तकको प्रकाशित करनेमें कुछ एक देरी हुई है।

जिज्ञासु पाठक महाशय! आप प्रतिदिन गीताका पाठ और विचार करते हैं फिर भी गीता का अमृतमय उपदेश कार्यकर रूपसे आपके हृदयमें नहीं ठहरता, इसका क्या कारण है? कभी आपने इस बात पर गहरी दृष्टि डालकर विचार भी किया है?, मेरी समझमें इसका कारण यही है, कि—गीताका विचार करनेके लिये गीताकी गहरी तलीमें गोता लगाकर प्राप्य वस्तुको पानेके लिये जितने ब्रह्मचर्य की, जितनी तपस्याकी और जितने स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधानकी आवश्यकता है, उसकी कमीसे ही हम इस अमृतके लिये मुख फैलाये ही रहजाते हैं।

गीता अद्वैतामृतकी निर्मल धारा है, द्वैतवादकी निन्दा भी नहीं करती है। जबतक हम साधनाके राज्यमें हैं तब तक द्वैतवाद है ही, साधनाकी समाप्ति पर ही अद्वैतमें स्थिति होगी। अद्वैत किसी के साथ विरोध नहीं करता। द्वैतवादमें यदि विरोधकी सृष्टि हुई तो, समष्टिकी हिंसा करने पर व्यष्टिकी और पूर्ण हिंसा करने पर अंशकी जो दशा होती है वही दशा अद्वैतका विरोध करनेसे द्वैतवादकी होगी। वेदका द्वैत तत्त्व अद्वैत तत्त्वका विरोधी नहीं है, किन्तु द्वैत तो अद्वैतमें स्थितिका उपायरूप है। आजकलका द्वैतवाद वा विशिष्टाद्वैतवाद यदि अद्वैत तत्त्वकी हिंसा करेगा तो उसको वेदका धर्म न मानकर सम्प्रदायकी सृष्टि कहाजायगा।

जो निर्गुण स्वरूपसे आप ही आप है, अविज्ञातस्वरूप है, अवाङ्मनसगोचर है। जो सगुणभावसे सकल स्थावरजङ्गमजटित विश्वरूप है, सकल

नरनारीजड़ित-विश्वमूर्त्ति है और जो जगत्के विशेष२ कार्योंको सिद्ध करनेके लिये मायामानुष वा मायामानुषी रूपको धारण करता है, उस ही परमपुरुषको गीता उपास्य बताती है। निर्गुण, सगुण और अवतार ये तीनों एक हैं, एक ही तीन है । यही वेदका आत्मदेव परमपुरुष अपने मायातीत तुरीय निर्गुण स्वरूपमें सदा स्थित रहता हुआ भी, मायाके अवलम्बनसे सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत इन अवस्थाओंमें विहार करता है। जो इन तीनोंमेंसे किसी एकमें भी अविश्वास करते हैं वह ऋषियोंके आचरित धर्मसे बाहर हैं, इस बातको गीता डिंडिम बजाकर कहती है, यह ही वेदांतके विचारका मुख्य फल है, यह ही वेदको एकमात्र सत्य है, तुम यदि इसके ऊपर विश्वास नहीं करसकते तो तुमने पूर्ण धर्मका मुख ही नहीं देखा, आर्यशास्त्र संसारसभामें हाथ उठाकर इस ही बात को कहता है ।

गीताशास्त्रने इसप्रकार साध्य (उपास्य) का निर्णय करके साधनाका भी निर्णय किया है। हम यहां संक्षेपसे प्रथम षट्ककी साधनाका निर्णय दिखाकर दूसरे षट्ककी साधना भी दिखाते हैं। साधना जीवकी बड़ी ही प्रयोजनीय वस्तु है। साधना भगवान्की आज्ञा है। पीछे कहाजाचुका है, कि—उनकी आज्ञा के अनुसार वारंवार चेष्टा करना ही पुरुषार्थ है, परन्तु फल देना उनके ही हाथ है। श्रीभगवान्के पहिले ही उपदेशमें सब गीताका बीज भरा हुआ है।

गीताका पहिला उपदेश है कि—शोक न करो। तुम जिसके लिये शोक करने लगते हो उसके विषयमें गीता कहती है, कि—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" ओः ! जिसके लिये शोक नहीं करना चाहिये तू उसका ही शोक करता है ! श्रीभगवान्के इस सबसे पहिले प्रधान और सकल उपदेशोंके बीजरूप उपदेशवचनको सोनेके अक्षरोंमें अपने हृदय पर लिख रक्खो और तुम चाहे स्त्री होओ चाहे पुरुष होओ बड़े ही यत्नसे परम आदरके साथ बड़े२ अक्षरोंमें लिखकर घरमें चारों ओर इसप्रकार लटका दो, कि—जिससे हर समय इसपर दृष्टि पड़ती रहै। 'जिसका शोक नहीं करना चाहिये तू उसका ही शोक करता है" इस भगवान्के उपदेशको जब तुम प्रतिक्षणमें याद रखसकोगे तो हरसमय तुमको एक प्रकारकी शान्तिसी प्राप्त रहेगी। तुम्हारा मन चाहे जैसे शोकमें मग्न हो इस उपदेशकी याद आते ही क्षणभरके लिये

तो जरा जाग ही जायगा। घोर शोकके समय भी तुम्हारा मन कहेगा, कि जब मुझको यह महादारुण शोक उपस्थित होकर दबा रहा है तब भगवान् कहते हैं, कि—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"। यदि उस समय तुम समझ जाओ, कि—भगवान् क्यों कहते हैं, कि—तू अशोच्योंका शोक करता है, यदि तुमको इस तत्त्वका अपरोक्ष अनुभव होजाय तो तुम ज्ञानी बनजाओ, आत्मवेत्ता ज्ञानीहुए बिना कभी शोककी आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती। अशोच्यका शोक क्यों करता है? इसके तत्त्वको यदि तुम एकायकी नहीं समझ सकते तो यथाशक्ति शोकको सहनेका अभ्यास करो और फिर शोकको त्याज्य मानकर प्राणपणसे कर्त्तव्यकी साधनामें लगजाओ। धीरे२ चित्त शुद्ध होने लगेगा, ज्ञानका प्रकाश प्राप्त होजायगा, तब तुम अपने आप समझजाओगे, कि-संसारमें किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। जबतक गृहस्थाश्रममें हो, जबतक संसारकी उलझन लगी हुई है तब तक कर्म करना ही होगा, शोकके अवसर भी आवेंगे और शोकको त्याज्य मानकर कर्म भी करना ही होगा, परन्तु गीता कहती है, कि कर्मके कौशलको जानकर कर्म करो, तब ही एक दिन शोकशून्य अवस्थाको पाकर आप ही अपने भावमें परमानन्द स्वरूपमें स्थिति करसकोगे। भगवती श्रुति भी कहती है, कि—"तरति शोकमात्मवित्" आत्मवेत्ता सकल शोकोंके पार होजाता है। निःशेष शोकशान्तिके लिये जिस कर्मकौशलकी आवश्यकता है वह कर्मकौशल है हे भगवन्! आप प्रसन्न हूजिये ऐसा भाव मनमें रखकर कर्म करनेका अभ्यास करना। जैसे कि-जप सन्ध्या तर्पण आदि नित्य नैमित्तिक कर्म अवश्य कर्त्तव्य हैं तैसे ही जगत्चक्रको चलानेके उपयोगी कर्मोंको करना भी तुम्हारे लिये आवश्यक है।

मनुष्यका कर्त्तव्य कर्म दो प्रकारका है। वैदिक कर्मसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है और लौकिक कर्मसे संसारका अभ्युदय होता है। दोनों ही कर्म अवश्य करने चाहिये। यदि इनमेंसे एकको छोड़कर एक करोगे तो तुम्हारा जीवन अधूरा ही रहजायगा। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये इन दोनों प्रकारके कर्मोंको कियेजाओ। सन्ध्या जप आदि नित्य कर्मके समय याद रखकर कहो, कि-हे भगवन्! आपकी आज्ञानुसार किये हुए इस कर्मसे आप प्रसन्न हूजिये। जिस समय देखो कि-मन असम्बद्ध प्रलाप करता है,

उस समय कहो, कि हे भगवन् ! प्रसन्न हूजिये, फिर मनमें कोई खोटी वासना उठेगी ही नहीं,हरएक व्यावहारिक कामको भी भगवत्प्रसन्नताके लिये ही करो । यही निष्काम कर्मकी पहिली सीढी है । भगवत्प्रसन्नताके लिये कर्म करतेर जब कोई फलकी इच्छा नहीं उठेगी तो वह निष्काम कर्मकी दूसरी सीढी होगी । सब साधनायें अहंका नाश करनेके ही लिये हैं । पहिली और दूसरी अवस्था में-मैं भगवान का आज्ञाकारी दास हूं, यह अभिमान रहता है, इसमें अहंका कुछ अंशमें नाश होजाता है और निष्काम कर्मकी सिद्धावस्थामें अहंका पूर्णरूपसे नाश होजाता है। यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते,यही ज्ञानीकी अवस्था है । "हे भगवन् ! आप प्रसन्न हूजिये" ऐसा कहकर कर्म करना यही सबसे पहिली अवस्था है, इसमें क्रमसे जितनी उन्नति होती जायगी, उतने ही लौकिक कर्म और बहुतसे वैदिक कर्म छूटते चलेजायँगे यह अवस्था आरुरुक्षु योगीकी होती है,यह योगके कर्मों मे अधिक मन लगाता है और वह कर्म भी चित्तशुद्धिके लिये होते हैं । आरुरुक्षु योगी परिपक्व अवस्थामें योगारूढ़ होजायगा । योगारूढ़की साधना छटे अध्याय में कही है । योगारूढ़का "चरमलक्ष्य" "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्" यही होता है, इसके लिये ही योगारूढ़को एकान्तवास करना पड़ता है, उसके लिये और कोई कर्म करनेको होता ही नहीं । प्रथम षट्कमें यहांतक ही कहा है । इसके बाद ही इस दूसरे षट्कका आरम्भ होता है। प्रथमषट्क (प्रथमसे छठे अध्यायपर्यन्त) में कहा है, कि—"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥" केवल आत्मसंस्थ होनेसे ही तत्त्वरूपसे परमात्माका ज्ञान नहीं होता है । जिसको तत्त्वके साथ आत्मज्ञान की प्राप्ति करनी हो उसको पहिले श्रद्धाके साथ परमात्माको भजन करना चाहिये, जब भजनमें मन पकजाय तो ज्ञान विचारकी भी आवश्यकता है । ज्ञानके लिये ही विभूतियों सहित श्रीभगवान् को जाननेकी आवश्यकता है, इस दूसरे षट्क (सप्तमसे द्वादश अध्याय पर्यन्त) में इसका ही वर्णन कियागया है । इस दूसरे षट्कमें भक्तकी बात उठाकर भगवान् कहते हैं, कि— मेरा ज्ञानी भक्त ही श्रेष्ठ है । इस दूसरे षट्कके बारहवें अध्यायमें सम्पूर्ण धर्मकी साधना को भगवान्ने स्पष्ट करके दिखाया है । अक्षर उपासनामें आप अपने भावमें स्थिति सर्वोपरि है, यही ध्यानयोग है । विश्वरूपकी उपासना की दूसरी कक्षा है-इस समय

की साधनामें प्रकृतिसे पुरुषको अलग कियाजाता है—यही ज्ञानयोग है। अभ्यासयोगमें मूर्त्तिके अवलम्बनसे उपासना होती है, यह तीसरी कक्षा है, यही भक्तिमार्ग है। जो इसको भी नहीं करसकते वह मत्कर्मपरायण हों तथा जो यह भी न करसकें उनको सर्वकर्मफलत्यागका आश्रय लेना होगा। गीताका पूर्ण धर्म क्या है और उसकी साधना वा उपासना किसप्रकार होती है, यही बात दूसरे षट्कमें दिखायी गयी है। यह दूसरा षट्क भक्तिमार्ग है अगला तीसरा खण्ड ज्ञानमार्ग है। अन्तमें मुझे इतना और सूचित करना है; कि—आजकलके लोग धर्मका उपदेश सुनना नहीं चाहते किन्तु तयार भोजनकी समान किये कियाये फलद्रूप धर्मको और कृतधर्मा मनुष्यको देखना चाहते हैं, उनसे मुझे इतना ही कहना है, कि-कोई भी साक्षात् कृतधर्मा मनुष्य सनातनधर्मके अनुसार बिना चले कभी भी इस अवस्थाको नहीं पासकता। जब कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग की सहायता लीजायगी तब ही साक्षात्कार होगा, तब ही वास्तविक आत्मस्वरूपका अनुभव होगा, तब ही परमात्मासे मिलन होगा, तब ही संसार के त्रिविध दुःखोंसे निस्तार होगा। जिन्होंने उसका साक्षात्कार पाया है, जिन्होने आप ही अपने स्वरूपमें स्थिति पाकर संसारसे निस्तार पाया है, वह ही वेदके इन तीनों मार्गोंको चला गये हैं, इस योगदृष्टि महात्माओंके अभ्यस्त मार्गसे चलने वाला पुरुष कभी भी संसारमें भटककर टक्करें नहीं खाता है, किन्तु अपना उद्धार करके संसारके और भी असंख्यों प्राणियोंको उद्धार का मार्ग दिखाजाता है।

मेरा गीताके प्रेमियोंसे आग्रहके साथ कथन है, कि—वह किस्से कहानियोंकी समान—उपन्यास नाटकों की समान इसको एकबार वांचकर ही उठाकर न धरदें, इसको बार २ पाठ और मनन करनेसे ही अभिलषित लाभ होगा, गीताके पढ़नेसे जो कुछ लाभ होना चाहिये उस तत्त्वका प्राप्ति होगी। वारंवार एक कर्मको करना सबके ही जीवनका दोष वा गुण होता है। कोई कहते हैं, कि—यदि एक दिन भोजन करनेसे ही जीवनके सर्वदिनोंके लिये भोजन करनेसे छुटकारा होजाता तो बड़ा अच्छा होता, परन्तु ईश्वरका नियम तो ऐसा नहीं है, इसीप्रकार तत्त्वज्ञान भी यदि एक बार आलोचना करनेसे ही होजाता तो बड़ी अच्छी बात थी, विशेष चिन्ता

की आवश्यकता ही नहीं होती, परन्तु ऐसा होता तो नहीं। जबतक तत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव न हो, जबतक अहंभावकी गांठ न खुले, जबतक भेद-भावका परदा न फटजाय तबतक गीताकी व्याख्यासहित बार २ आवृत्ति करते ही रहो, प्रतिदिन भोजन और शयन की समान तथा सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म की समान गीताके उपदेशकी बार २ आलोचना करते रहो, तब ही आपके पढ़नेका और मेरे लिखने का श्रम सफल होगा।

मैंने इस दूसरे खण्डको प्रकाशित करनेके लिये यथासम्भव बहुत कुछ शीघ्रता की परन्तु फिर भी कुछ विलम्ब होगया, इसका कारण यह है, कि-यह कार्य बहुत विचार और ध्यानके साथ करना पड़ता है, और सर्वोपरि बात यह है, कि-मनुष्य चेष्टा करने मात्र का अधिकारी है और काम को फल रूपमें लानेका अधिकार परमात्माका है, तथापि मैं उस परमपिताको प्रणाम करते हुए यह आशा रखता हूं, कि-वह अपनी अहैतुकी असीम करुणासे मुझे शीघ्र ही तीसरे खण्डको प्रकाशित करनेका बल देंगे, कि-जिसका मुद्रणकार्य चल रहा है।

"सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ॥"

कल्याणाकाङ्क्षी-

ब्रह्मचारी नर्मदानन्द हठाभ्यासी

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥



महर्षि--वेदव्यास--रचित

श्रीमद्भगवद्गीता

(द्वितीय-षट्क)

मूल, अन्वय, पदार्थ, विस्तृत--भाषाभावार्थ
और टिप्पणी सहित

सप्तम-अध्याय

॥ ओं नमो भगवते वासुदेवाय ॥ यद्भक्तिं न विना मुक्ति
र्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् । तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्द-
नन्दनम् ॥१॥ कृष्णभक्त्यैव यत्नेन ब्रह्मानन्दमवाप्यते । इति
विज्ञानयोगाख्ये सप्तमे सम्प्रकाशितम् ॥ २ ॥ जो अपने
भक्तोंका दुःख दूर करनेके लिये नन्दके पुत्ररूपसे मृत्युलोकमें
प्रकट हुए, जिनकी भक्तिके विना मुक्ति मिल ही नहीं सकती

और सब योगी पुरुष जिनकी सेवा करते हैं उन परम आनन्द घन श्रीकृष्ण भगवान्को मेरा बारंबार प्रणाम है। यत्नपूर्वक भगवान् कृष्णकी भक्ति करनेसे ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है, यह तत्त्व विज्ञानयोग नामक सातवें अध्यायमें वर्णन कियाजाता है—

श्रीभगवानुवाच-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः। असंशयंसमग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १ ॥

अन्वय और पदार्थ

(श्रीभगवान्) श्रीभगवान् (उवाच) बोले (पार्थ) हे कुन्तीनन्दन! (मयि) मुझ परमेश्वरके विषें (आसक्तमनाः) लगा है मन जिसका ऐसा (मदाश्रयः) एक मेरी ही शरण लियेहुए (योगं युञ्जन्) चित्तकी वृत्तिका निरोध करता हुआ (समग्रम्) पूर्णरूप (माम्) मुझको (असंशयम्) निःसन्देहरूपसे (यथा) जैसे (ज्ञास्यसि) जानेगा (तत्) उसको (शृणु) सुन॥ १ ॥

भावार्थ

पहिले षट्क (छः अध्याय) का मुख्य प्रयोजन त्वम् पदार्थका शोधन था, जीवका आत्मा प्रकृतिके वशमें होनेके कारण विषयोंमें आसक्त होरहा है, विषयासक्ति ही चित्तको

सदा अशुद्ध रखती है, कर्मसंन्यासरूप साधनसे ही चित्तकी शुद्धि होती है, इसलिये कर्मसंन्यासरूप साधनसे ही त्वम् पदार्थका शोधन होता है, जिसका वर्णन पहिले छः अध्यायोंमें कियागया है, अब मध्यमषट्क (सातवेंसे बारहवें अध्याय पर्यन्त) में उपास्यस्वरूप तत्पदार्थके वर्णनका आरम्भ होता है श्रीभगवान्ने पहिले षट्ककी समाप्तिमें (६ अध्याय के ४७ वें श्लोक में) "योगिनामपि सर्वेषाम्" इत्यादि ग्रन्थके द्वारा जिस प्रसङ्गको उठाया है, उस पर दो प्रश्न उठसकते हैं। एक तो यह कि—भगवत् तत्त्व किसप्रकारका है ? और दूसरा यह कि—अन्तरात्मा (मन) भगवान्के विषें स्थित किसप्रकार हो सकता है ? यद्यपि अर्जुनने यह प्रश्न स्पष्टरूपसे नहीं किये हैं तो भी अर्जुनके हृदयमें यह शङ्का उठी होगी, ऐसा विचारकर परमदयालु श्रीभगवान् अपने आप ही उसका उत्तर देनेके लिये उद्यत होते हैं, कि—हे सखे अर्जुन ! स्थावर जङ्गमरूप इस जगत्की सर्वव्यापीपन आदि अनेकों विभूतियोंसे युक्त मुझ परमेश्वरमें, चित्तको संसारके सब विषयोंसे हटाकर लगाते हुए एक मेरी ही शरण लेने पर छठे अध्यायमें कहीहुई रीतिसे अनुष्ठान करते २ जिस उपायसे सर्व संदेहोंसे शून्य होकर मेरे स्वरूपकी प्राप्ति होती है और मेरा परिपूर्णभाव हृदयमें बैठजाता है उस उपायका मैं वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुन। और सब विषयोंको त्यागकर श्रीभगवान्में मनको लगादेने पर भी मनुष्य किसी दूसरेको भी अपना आश्रय मान सकता है। अपने पुरुषार्थके द्वारा किसीप्रकारके फलको पानेकी अभिलाषासे

उसके साधनरूप अग्निहोत्र आदि यज्ञ अथवा तप दान आदि क्रियाका अवलम्बन करके अपनेको उसके आश्रित समझ सकता है, राजाका सेवक पूर्णरूपसे अपनेको अपने प्रभु भूपति का आश्रित जानकर भी अपने स्त्री पुत्र आदि अनेकों विषयोंमें आसक्त रहता है, इसलिये अपनेको एकका आश्रित जानकर भी दूसरेका आश्रित होना असम्भव नहीं है। परन्तु ऐसा होनेमें एकनिष्ठा नहीं होसकती और परमेश्वरमें पूरी २ आसक्ति नहीं होसकती, इसलिये ही मूलमें "मय्यासक्तमनाः" और "मदाश्रयः" यह दोनों पद दिये हैं। एकान्त ध्याननिष्ठ मुक्ति चाहने वाले पुरुष अन्य सब साधनोंको त्याग सकल सन्देहोंसे रहित होकर मेरे स्वरूपको जाननेका अधिकार पाजायँ। उस स्वरूप का ज्ञान होने पर मुमुक्षु पुरुषके हृदयमें जो परमनिर्मल ज्ञानरूपी चन्द्रमाका प्रकाश होता है, किसीप्रकारके सन्देहरूपी घनघटासे वह फिर न छिपजाय, परमेश्वर अनेकों ऐश्वर्योंकी उपायरूप सम्पदाओंसे युक्त है, उसके बलकी कुछ सीमा ही नहीं है, उसकी मानसिक शक्तिकी कल्पना भी नहीं होसकती, उसकी विभूतियें असंख्यों हैं, उसके ज्ञान इच्छा आदि का ओरछोर ही नहीं मिलता, इन सब ही विभूतियोंको जिस उपायसे वह भाग्यवान् योगी अपने हृदयमें धारण कर सकें उस उपायको ही अब कहते हैं, सावधान होकर सुनो ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्य-

ज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (ते) तेरे अर्थ (सविज्ञानम्) अनुभव सहित (इदम्) इस मेरे विषयके (ज्ञानम्) ज्ञानको (अशेषतः) पूर्णरूपसे (वक्ष्यामि) कहूँगा (यत्) जिस ज्ञानको (ज्ञात्वा) जानकर (इह) इस व्यवहारभूमिमें (भूयः) फिर (अन्यत्) और (ज्ञातव्यम्) जाननेयोग्य बात (न) नहीं (अवशिष्यते) शेष रहती है ॥ २ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् अपने भक्त सखा अर्जुनको भगवत्तत्त्व पूर्णरूपसे समझाकर उसके हृदयकी तयमें छुपेहुए भी संदेहको जरा २ करके दूर करदेंगे, इस बातका सङ्कल्प करचुके हैं, उस भगवत्तत्त्वको किस रीतिसे प्रकट करेंगे और उसका क्या फल होगा, अर्जुनके चित्तकी ऐसी शङ्काको निवृत्त करतेहुए भगवान् श्रोताओंको इस ज्ञानके अभिमुख करनेके लिये इस ज्ञान की प्रशंसा करते हैं। इस श्लोकमें भगवान्ने ज्ञान और विज्ञान दो शब्दोंका प्रयोग किया है। शास्त्रमें लिखे कर्म और शास्त्र का विचार करते २ जो आत्मज्ञानकी धारणा उत्पन्न होती है वह ही ज्ञान है, परंतु विचारका परिपाक होनेकी दशामें प्रत्यक्षरूपसे हृदयमें अपनेआप जो अनुभव होता है उसका ही नाम विज्ञान है। श्रीभगवान् कहते हैं, कि-हे सखे अर्जुन ! भगवतके विषयका तत्त्व मैं तुमसे साङ्गोपाङ्ग पूर्णरूपसे कहूँगा इस विषयमें शास्त्रके और गुरुजनोंके उपदेशसे तथा अपने

अनुभवसे जो कुछ तत्त्व मैंने पाया है वह सब तुझसे स्पष्ट करके कहूँगा, उसके साधनकी रीति और जो कुछ फल प्राप्त होता है वह भी तुझसे छुपा नहीं रक्खूंगा। इस नित्य चैतन्य स्वरूप परम ज्ञानका अधिकारि होजाने पर तुझे इस विश्व-संसार में और कुछ भी जाननेको शेष नहीं रहेगा तथा और किसी ज्ञानकी प्राप्तिकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी, इस एक ही ज्ञानके द्वारा तू धन्य और कृतार्थ होजायगा, जो सब ज्ञानोंके प्रवाहका सोता है, सब तत्त्व जिसमें जाकर समाप्त होजाते हैं और जो स्वयं ज्ञानमय है, उस परमात्माके तत्त्वको पूर्णरूपसे चित्तमें स्थित करसकने पर फिर और किसी भी क्षुद्र ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहैगी। श्रुति भी कहती है, कि—"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।" इत्यादि श्रुतियोंमें एक परमात्माके ज्ञानसे ही सब जगत्‌भरका ज्ञान होना कहा है। जैसे अज्ञानके कारण रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प दण्ड, माला, जलधारा आदि कल्पित पदार्थोंका उस रज्जुरूप अधिष्ठानका ज्ञान होनेके अनंतर बाध होजाता है अर्थात् फिर उनकी प्रतीति नहीं होती उस समय केवल एक रज्जु ही रहजाती है, इसीप्रकार अधिष्ठान सत् ब्रह्मके विषैं कल्पना किये हुए इस प्रपञ्चका भी उस अधिष्ठान ब्रह्मका ज्ञान होने पर बाध होजाता है, उस समय केवल अधिष्ठान ब्रह्म ही शेष रहता है, उस ब्रह्मका साक्षात्कार होने पर ही तू कृतार्थ होगा ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सि-
द्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चि-
न्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(मनुष्याणाम्) मनुष्योंके (सहस्रेषु) सहस्रोंमें (कश्चित्) कोई (सिद्धये) आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिये (यतति) यत्न करता है (यतताम्) यत्न करनेवाले सिद्धानाम्) सिद्धोंमें (अपि) भी (कश्चित्) कोई (माम्) मुझको (तत्त्वतः) तत्त्वरूपसे (वेत्ति) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ

हे सखे अर्जुन ! मुझ परमेश्वरमें परमप्रेम हुए विना इस परम लाभको पाना कदापि संभव नहीं है । इस अनंतकोटि ब्रह्माण्डमें कितने जीव रहते हैं, इसकी कुछ संख्या ही नहीं है, इसमें अनंतकोटि मनुष्योंका निवास है, मनुष्योंके सिवाय और जीव आत्मतत्त्वको जान ही नहीं सकते, केवल मनुष्य ही शास्त्रमें कहेहुए कर्मोंका अनुष्ठान और ज्ञानकी प्राप्ति करसकता है, उन मनुष्योंमें भी कोई कोई ही मेरे चलाये हुए कर्मानुष्ठान और शास्त्र आदिके परोक्ष ज्ञानके द्वारा आत्म-तत्त्वको जाननेका यत्न करते हैं, ऐसे पुरुष कोई गिनतीके ही होते हैं, क्योंकि- मनुष्योंमें प्रायः सब ही संसारके सुखों में लिप्त होकर तुच्छ विषयभोगोंमें समयको खोते हैं, कदा-

चित् सहस्रोंमें कोई एक दो भाग्यवान् पुरुष ही अनेकों जन्मों में इकट्ठे किये हुए पुण्यके प्रभावसे नित्य अनित्य वस्तुके विवेकसे युक्त होकर आत्मज्ञानको पानेके लिये प्रयत्न करते हैं, जो भोगको तुच्छ मानकर निरन्तर वैराग्यका अभ्यास करते हैं वह ही कल्पना, स्मृति और सङ्कल्पको त्यागकर आत्मतत्त्वको जाननेकी चेष्टा करते हैं। यह वस्तु मुझे मिलजाय ऐसी वासनाके वशमें ही चित्तका विषयोंकी ओरको दौड़ना कल्पना कहलाता है। जिसका अनुभव किया है उसकी फिर मन ही मनमें आलोचना करनेका नाम स्मृति है, सङ्कल्प को त्यागे विना आत्मतत्त्वको पानेके लिये कर्म और ज्ञान की चाहे जितनी आलोचना करो उससे कुछ भी नहीं होगा सिद्धि पानेके लिये प्रयत्न करना तो बड़ी दूरकी बात है। फिर प्रयत्न करके सफल मनोरथ होनेवाले मनुष्योंमें जो श्रवण, मनन निदिध्यासनका परिपाक होने पर गुरुमुखसे सुनेहुए तत्त्वमासि आदि महावाक्योंसे उत्पन्न हुए मेरे साक्षात् अनुभवको पासकें ऐसे मनुष्य तो बड़े ही दुर्लभ हैं। हे सखे! यदि तू कहे कि मैं तो जगत्में अनेकों मनुष्योंको 'ईश्वर, ईश्वर और धर्म, धर्म' कहते हुए सुनता हूं फिर आत्मतत्त्वज्ञानीका मिलना कठिन कैसे है? तो सुन—धर्मके मार्गमें प्रवेश करके भी बहुतसे लोग धर्मके नामसे अपनी २ इच्छायें पूरी करनेमें लगेहुए हैं, वह अपने आपेको धोखा नहीं देसकते, उनके मतमें ईश्वरका प्रिय कर्म करना ही जीवका उद्देश्य है। ईश्वरका प्रियकर्म करना जिन का उद्देश्य है वह सबसे नीची श्रेणीके साधक हैं। इस ईश्वर

प्रिय कार्यको भी किसप्रकार कियाजायगा, इस पर दृष्टि रखना उन साधकोंका सर्वोपरि कर्त्तव्य है। भिखारीको अन्न दो, वस्त्र, दो, परंतु यदि तुमने अभिमान किया, कि—मैं भिखारीका दुःख दूर करता हूं तो तुम्हारे कर्ममें 'मैंने किया, ऐसा अभिमान होनेके कारण वह कर्म भगवान्के पास नहीं पहुँचेगा किंतु उस कर्मसे उलटे तुम बँधजाओगे। इसकारण भिखारीको अन्न वस्त्र आदि देकर मैं ईश्वरकी सेवा करता हूं इस भावसे तुम दीन दुखियोंकी सेवा करो तो कर्ममें तुम्हारा लक्ष्य नहीं रहेगा और ऐसी सेवासे ईश्वरकी प्रसन्नता होगी इसका ही नाम निष्काम कर्म है। निष्काम कर्मके कर्म अंशसे जगत् चक्र चलता है और साथमें ही ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त होकर मुक्तिमार्गमेंको पहुँचजाता है, ऐसा ही करनेके लिये मेरा उपदेश है। इसलिये निष्कामकर्मका फल मेरे अर्पण कियाजाता है। फल पानेकी इच्छा न रखकर मैं कर्त्ता हूं, ऐसे अभिमानसे रहित होकर श्रीभगवान्की प्रसन्नता पानेके लिये कर्म करते २ जो सिद्धि प्राप्त होती है उसको कर्मजा सिद्धि कहते हैं कर्मजा सिद्धिके द्वारा कर्मको त्यागकर तत्त्वके साथ मुझे जाननेका अनुष्ठान करना होता है। साधकोंमेंसे कोई २ निष्काम कर्मके घेरेमें फँसजाते हैं और कोई प्रार्थनाके घेरेमें अटक जाते हैं, ये भक्त नहीं हैं, केवल विश्वासी हैं, भक्तिमार्गमेंको बढ़नेके लिये निष्काम कर्म, आरुरुक्षुयोग और आत्मसंस्थ योगको पाकर फिर मुक्ततम होकर मुझे जानना होगा। भीतर मेरे प्रकाशका अनुभव करना होगा, फिर मेरे मुखसे मेरा

उपदेश सुनना होगा, मेरे साथ विशेषरूपसे परिचय करना होगा तब ही भक्तिकी प्राप्ति होगी। मुझे जानलेने पर ही मेरी भक्ति वा प्रेम होसकेगा, इस सच्ची भक्तिके लिये ही ज्ञान की बात कहता हूं। जिस भक्तिमें ईश्वरको प्रत्यक्ष करनेकी वासना नहीं, आत्मसाक्षात्कार करनेकी इच्छा नहीं वह केवल विश्वास है, भक्तिको पानेकी नीची सीढ़ी है, वह पूरी भक्ति नहीं है। मुझे बिना जाने मेरी पूजा नहीं होती "देवे परिचयो नास्ति वद पूजा कथं भवेत्? "विश्वासमें प्रार्थना तक ही होसकती है, चित्तसे प्रार्थना करते २ ज्ञानके अनुष्ठानकी वासना होती है, तब ही भक्तिमार्गमेंको बढ़सकता है। इसीसे कहता हूं कि—बहुतसे मनुष्य तो अपना काम सिद्ध करनेके लिये मेरा आश्रय लेते हैं, वह मुझे नहीं चाहते, किन्तु वह चाहते हैं अपनी इच्छाका पूरा होना, जातिका संस्कार करना जातिकी उन्नति करना, देशकी रक्षा करना, वह यह नहीं समझते, कि—मुझे पाजाने पर उनके सकल मनोरथ सिद्ध होजायँगे, छोटी २ इच्छायें फिर रहेंगी ही नहीं, वह फिर उसी प्रकार जीवोंका उद्धार करने लगेंगे, कि-जिसप्रकार मैं करता हूं इसीसे मैं कहता हूं, कि—अधिकतर मनुष्य अपने २ प्रयोजन से कर्म करते हैं?, मुझे कै जने चाहते हैं? परन्तु जो मुझे चाहते हैं मैं उनका ही हूं हे सखे अर्जुन! अब समझमें आगया होगा कि वास्तव में मुझे जाननेकी इच्छा होना कितनी कठिन बात है, अब तत्त्व रूपसे मुझे जाननेके लिये किन २ तत्त्वोंको जानना चाहिये उनको सुनो॥ २॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(भूमिः) पृथिवी (आपः) जल (अनलः) अग्नि (वायुः) पवन (खम्) आकाश (मनः) मनका कारण अहङ्कार (बुद्धिः) बुद्धिका कारण रूप महत्तत्त्व (च) और (अहङ्कारः एव) अहङ्कारका कारण रूप अविद्या भी (इति) इस प्रकार (इयम्) यह (मम) मेरी (प्रकृतिः) ईश्वरीय माया (अष्टधा) आठ प्रकारकी है ॥ ४ ॥

भावार्थ

इसप्रकार शिष्यके हृदयमें भगवतज्ञानकी आकांक्षाको जगाकर अब दो श्लोकोंमें सृष्टि आदिके व्यापारमें ईश्वरका कर्त्तापन दिखानेके अभिप्रायसे परा और अपराके भेदसे प्रकृति का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं, कि—हे सखे अर्जुन ! पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह मेरी आठ प्रकारकी प्रकृति है । हे सखे ! सांख्यके मतमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पञ्चतन्मात्रा हैं, अहङ्कार, महान् और अव्यक्त यह मिलकर आठ प्रकृति हैं और पांच स्थूल भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियें तथा उभय इन्द्रियरूप मन यह सोलह प्रकारकी विकृति है, इसप्रकार सांख्यमतमें चौबीस तत्त्व हैं ।

यहां भूमि, जल अनल आदिको पञ्चतन्मात्रारूपसे कहा है। सांख्यशास्त्रके अनुसार पञ्च सूक्ष्मभूत वा पञ्च तन्मात्रासे पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पांचको पञ्चतन्मात्रा नामसे कहते हैं, । जिस तन्मात्रा से जो महाभूत उत्पन्न होता है वह तन्मात्रा ही उस महाभूत का गुण है। आकाशको छोड़कर वायु आदि महाभूत पहिले २ महाभूतके गुणोंको भी पाये हुए हैं। जैसे, कि-शब्द तन्मात्रा से आकाशमहाभूत उत्पन्न होता है, आकाशका गुण शब्द है। स्पर्श तन्मात्रासे वायु महाभूत उत्पन्न होता है, वायुका गुण शब्द और स्पर्श है। रूप तन्मात्रासे तेज महाभूत उत्पन्न होता है, तेजका गुण शब्द स्पर्श और रूप है। रस तन्मात्रासे जल महाभूत उत्पन्न होता है। जलका गुण शब्द, स्पर्श, रूप रस है। गन्ध तन्मात्रासे पृथिवी महाभूत उत्पन्न होताहै पृथिवीका गुण शब्द स्पर्श रूप, रस, गंध है । इसप्रकार तन्मात्राओंके मिलनेसे जो पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं, उनके ही संयोग वियोगसे सकल विश्व उत्पन्न होता है इसलिये तहां भूमि, जल, अनल आदिसे पञ्चमहाभूतोंकी कारणरूप पञ्चतन्मात्रा ही लीजायँगी नहीं तो सृष्टिक्रममें गड़ बड़ी पड़ेगी। यहां मन शब्दसे उसके कारणरूप अहाङ्कर बुद्धि शब्दसे उसके कारणरूप महत्तत्त्व और अहङ्कार शब्दसे उसकी कारणरूप अविद्याको लियाजायगा, इसप्रकार ईश्वरकी अपरा प्रकृति आठ भागोंमें बँटी हुई है। सांख्यके मतमें पञ्चतन्मात्रा अहङ्कार, महत् और अव्यक्त यह आठ प्रकृति कही हैं। यदि

यहां भूमि आदि पदोंसे पञ्च सूक्ष्म भूतों सहित पञ्चमहाभूत लिये जायँगे तो अहङ्कार शब्दसे अहङ्कार और उसकी कार्य रूप इंद्रियें भी लीजानी चाहियें और बुद्धि शब्दसे महत्तत्व तथा मन शब्दसे अव्यक्तरूप प्रधान प्रकृतिको लेना चाहिये। इस गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने प्रकृतिको चौवीस भाग में बांटा है, वास्तुवमें वह चौवीस तत्त्व इन आठ तत्त्वोंके ही अंतर्गत हैं, इसलिये यहां आठ ही प्रकार कहे हैं। सांख्य शास्त्र में पच्चीस पदार्थ वा तत्त्वोंका वर्णन देखनेमें आता है। (मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोड़शकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥) अर्थात् मूलप्रकृति, महत् आदि सात प्रकारकी प्रकृति विकृति, सोलह प्रकारकी विकृति तथा प्रकृति विकृतिसे अतीत पुरुष एक प्रकारका इस प्रकार यह पचीस प्रकारके पदार्थ सांख्य शास्त्रमें कहे हैं। इनमेंसे प्रकृतिको ही मूल अर्थात् आदि कारणरूपसे कहागया है। सर्वदर्शनसंग्रहके सांख्य वर्णनमें कहा है, कि-(प्रकरोतीति प्रकृतिः) वह करती है इसकारण उसका नाम प्रकृति है। सांख्यशास्त्रमें लिखा है, कि-(मूले मूलाभावादमूलं मूलम्) मूल प्रकृतिका मूल न होनेसे वह अमूल मूल है अर्थात् कारणके कारणको खोजते २ जहां जाकर उसकी समाप्ति होती है उस ही आदि कारणका नाम प्रकृति है। विज्ञानभिक्षुने लिखा है, कि-(प्रकृतिरिह मूलकारणस्य संज्ञामात्रम्) यहां मूल प्रकृति सूक्ष्म अर्थात् चक्षु आदिके अगोचर है, सकल कार्योंकी आलोचना करने पर उसकी प्राप्ति होती है। महत् आदि प्रकृतिके सब कार्य प्रकृतिका स्वरूप और विकारको प्राप्त रूप हैं। जैसे कि-

(सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नचाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः। महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिस्वरूपं विरूपञ्च) प्रकृतिके विषयमें और भी लिखा है (त्रिगुणमविकारि विषयं सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्) अर्थात्-प्रधान वा मूल प्रकृति त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तमोगुणसे युक्त, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मी अर्थात् स्वरूप विरूपको उत्पन्न करनेवाली है, परंतु पुरुष अर्थात् आत्मा इसके विपरीत है। सांख्य प्रवचनमें लिखा है कि-(सत्त्वस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः) सत्त्व, रज और तमोगुणकी समता की अवस्थाको प्रकृति कहते हैं, ऐसे लक्षणोंवाली प्रकृतिसे महत् आदि तत्त्व प्रकट होते हैं। सोई कहते हैं (प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि) प्रकृतिसे महत् उससे अहङ्कार उससे सोलहका गण और उन सोलहमेंके पांचसे पञ्चभूत उत्पन्न हुए हैं। महत्तत्त्व रूप प्रकृतिका पहिला विकाश बुद्धितत्त्व नामसे भी कहा जाता है। इस बुद्धितत्त्वके सात्विक भावसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यका प्रकाश होता है और तामस भावसे उसके विपरीत अधर्म अज्ञान आदिका विकाश होता है। इसप्रकार बुद्धि-तत्त्व वा महत्तत्त्वका उदय होने पर ही अहंज्ञानरूप अभिमान प्रकट होता है, उसका ही नाम अहङ्कार तत्त्व है। इस अह-ङ्कार तत्त्वसे ग्यारह इंद्रियें और पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। इन ग्यारह इन्द्रियोंमें चक्षु, कर्ण, नासिका, जिव्हा और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय वा बुद्धीन्द्रिय हैं और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ यह पांच कर्मेन्द्रिय हैं। मन

उभयात्मक है, अर्थात् कर्मेन्द्रियें और ज्ञानेन्द्रियें दोनोंमें रहता है, यह सङ्कल्परूप है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांचको तन्मात्रा कहते हैं तन्मात्रा अत्यन्त ही सूक्ष्म हैं । इन पांच तन्मात्राओंसे पृथिवी, जल, तेज, पवन और आकाश प्रकट हुए हैं । तन्मात्राओंकी स्थूल अवस्थाका नाम महाभूत है । सांख्यशास्त्रके अनुसार इस क्रमसे जगत्के सकल जड़ पदार्थोंकी सृष्टि हुई है और रचेहुए सब जड़ पदार्थ क्रमशः परम्पराक्रमसे आदिकारणरूप अमूल मूल प्रकृतिमें लगेहुए हैं । सांख्यप्रवचनके एक सूत्रने सृष्टितत्त्वको सुन्दररूपसे प्रकट किया है (सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थां प्रकृतिः प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि) उत्पत्तिका स्पष्ट वर्णन इसप्रकार है—

प्रकृति
|
महत्
|
अहङ्कार
|
पञ्चज्ञानेन्द्रिय | पञ्चकर्मेन्द्रिय | मन | रूप | रस | गन्ध | स्पर्श | शब्द

रूप — तेज, रस — जल, गन्ध — भूमि, स्पर्श — वायु, शब्द — आकाश

गीतामें भगवान्ने इस जड़रूपा बंधनात्मिका प्रकृतिको अपरा नामसे कहा है । अगले श्लोकमें परा प्रकृतिका वर्णन होगा । भगवान् मनुजीने सृष्टिके विषयको इसप्रकार लिखा है कि जिस से सांख्यके सृष्टितत्त्वको समझनेमें सुभीता होगा, इसलिये यहां उसको लिखना उचित समझा है— (उद्धवर्हात्मनश्चैव मनः

सदसदात्मकम् । मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥१४॥ महांतमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च । विषयाणां ग्रहीत्तृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥ तेषा त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् । सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥१६॥ यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् । तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्त्तिं मनीषिणः ॥ १७॥ तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः । मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥ तेषामिदन्तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् । सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययादव्ययम् । १९ । आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः । यो यो यावतिथश्चैषां स स तावदगुणः स्मृतः ॥२०॥ १ अध्याय) अर्थात् उस परमात्मा ने अपनेमें सूक्ष्म बीजरूपसे रहेहुए कारणरूप तथा कार्यरूप महत्तत्वको उत्पन्न किया और उस महत्तत्वसे 'मैं सब काम करसकता हूं' ऐसा अभिमान रखनेवाले तथा जगत्की रचना करनेमें समर्थ अहङ्कार तत्त्वको उत्पन्न किया, अहङ्कारमेंसे मन को सत्व रज तम इन तीन गुणोंको शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेवालीं पांच ज्ञानेन्द्रियें और पांच कर्मेंद्रियोंको उत्पन्न किया । फिर परमात्माने महाबलवाले उन छः पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंको अर्थात् अहङ्कार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच तन्मात्राओंको उनके अपने विकारोंके साथ अर्थात् इंद्रियें तथा पञ्चमहाभूतोंके साथ इकट्ठा करके सब प्राणियोंको अर्थात् देवता मनुष्य, पशु,पक्षी आदिको रचा । यथा-पृथिवीके आधे भागके साथ अन्य चारभूतोंका अष्टम २ भाग मिलाकर भूचर प्राणियोंको रचा, जलके आधे भागके साथ दूसरे

चार भूतोंका एक २ अष्टम भाग मिलाकर उससे जलचर और वरुणलोकके प्राणियोंको रचा। तेजके आधे भागके साथ शेष चार भूतोंका एक २ अष्टमांश मिलाकर उसमेंसे द्युलोकके प्राणियोंको बनाया। वायुके आधे भागके साथ शेष चार भूतोंके एक २ अष्टमांशको मिलाकर उसमें से अंतरिक्षके पिशाच आदिको रचा, इसप्रकार परमात्माने पांच महाभूतोंमेंसे दिविचर, अन्तरिक्ष चर, भूचर आदि प्राणियोंको रचा। पञ्चतन्मात्रा और अहङ्कार इन छः से उत्पन्न होता है इस कारण पण्डित, प्रधानकी मूर्त्तिको शरीर कहते हैं। शब्द तन्मात्रासे आकाश उत्पन्न होता है, आकाशका काम स्थान देना है, स्पर्श तन्मात्रासे वायु उत्पन्न होता है, वायुका काम फैलाना आदि है, रूप तन्मात्रासे तेज उत्पन्न होता है, तेजका काम पकाना है, रस तन्मात्रासे जल उत्पन्न होता है, जलका काम पिण्ड करदेना है, गन्ध तन्मात्रासे पृथिवी उत्पन्न होती है, पृथिवीका काम धारण करना है, अहङ्कारसे मन उत्पन्न होता है, इत्यादि प्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

अन्वय और पदार्थ

(इयम्) यह (अपरा) अपरा [अस्ति] है (इतः) इस

से (अन्याम्) दूसरी (जीवभूताम्) चेतनरूप (मे) मेरी (प्रकृतिम्) प्रकृतिको (विद्धि) जान (महाबाहो) हे महाभुज (यया) जिसके द्वारा (इदम्) यह (जगत्) सब अचेतन (धार्यते) धारण कियाजाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ

पहिले जिस प्रकृतिका वर्णन किया है वह निकृष्ट है और इससे उत्तम दूसरी मेरी चेतनरूपा प्रकृति है, हे अर्जुन! वह ही इस जगत्को धारण किये हुए हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! जैसे अपरा प्रकृति आपकी है तैसे ही परा प्रकृति भी आपकी ही है, तो भी अपरा प्रकृति निकृष्ट और परा प्रकृति श्रेष्ठ क्यों है, तुम्हारे साथ प्रकृतिका क्या संबंध है? जीवको परा प्रकृति कहते हो। अपरा प्रकृति अचेतन और परा चेतन है। चैतन्य भी प्रकृति कैसे कहलाता है? प्रकृति क्या वस्तु है? और परा प्रकृति वा चेतन-जीव अपरा प्रकृति वा अचेतन-जड़ को किसप्रकार धारण किये हुए है? अत्यन्त जड़ जो पत्थर का टुकड़ा क्या उसमें भी जीव हैं? अत्यन्त जड़ जो सोना लोहा आदि धातु है क्या उसमें भी जीव है? आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथिवीको भी क्या जीवरूप परा प्रकृति धारण किये हुए है?। गीतामें यहां तक जितने कठिन तत्त्वों पर विचार किया गया है, उन सबोंसे यह प्रकृतितत्त्व अधिक प्रयोजनकी बात मालूम होती है, क्योंकि—इस प्रकृतितत्त्वके द्वारा आत्मा ढकाहुआ है, इसकारण ही परमानन्दमें स्थिति होना कठिन होरहा है, प्रकृतिने ही जगत्को मोहित कर

रक्खा है। माया ही ज्ञानको छीन रही है, इसीकारण जीव के सकल दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती है। जबतक जड़ प्रकृति और जीव प्रकृतिसे मुक्ति नहीं मिलती है तबतक आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थिति नहीं होती है, तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर ऐसा करो, कि-जिससे मैं चिरकाल तक आपके स्वरूप में लवलीन रहसकूं। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! मैं ही क्षेत्रज्ञरूपसे क्षेत्रको धारण किये हुए हूं। शरीर ही क्षेत्र है और जीव चैतन्य ही क्षेत्रज्ञ है। मैं तेरे सब सन्देहोंको दूर करता हूं, तू धीरज रखकर सुन। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! जबतक अन्तपर्यन्त सुननेका धीरज नहीं होता है तबतक कोई तत्त्व समझमें आता ही नहीं, इस बातको मैं जानता हूं, इसलिये आप कहिये मैं बड़े धीरजके साथ सुनूंगा, भगवान्ने कहा-श्रुति कहती है, कि-(अन्तः शरीरे निहितो गुहायामजः एको नित्यमस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं य आपोऽन्तरे सञ्चरन् यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरे सञ्चरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे सञ्चरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकामन्तरे सञ्चरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरमित्यादि) मैं ही बहुत होकर सबके भीतर प्रविष्ट होता हुआ सबको धारण करता हूं (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्) यह ही श्रुति कहती है यदि कहे, कि-जो परिपूर्ण हैं वह प्रवेश करेंगे कहां और किस प्रकार ? जैसे कि-हम यह नहीं कहसकते, कि-आकाशने ग्राममें प्रवेश किया है ऐसे ही 'परमात्माने सृष्टिमें प्रवेश किया, यह

कहना भी नहीं बनता। जैसे उसका सृष्टिरूपसे भासित होना है, तैसे ही उसका अपनेमें अपना प्रवेश करना है, यह बात आगे चलकर समझमें आजायगी। अब देख-शरीर क्षेत्र है और जीव--चैतन्य क्षेत्रज्ञ है। देहमें चैतन्य न हो तो देह सड़जाता है, देह क्रम २ से गिरपड़ता है, इसके अणु परमाणु तक अलग २ होजाते हैं। जीव चैतन्य यदि क्षणभरके लिये भी देहको भूलकर बाहरकी वस्तुओंमें मनको लगादेता है तो देह गिरपड़ता है, तुम मार्गमें चलते २ यादि एक क्षणके लिये भी मनको अन्यत्र लेजाते हो तो देह गिर पड़ता है, इससे सिद्ध होता है, कि—चैतन्य ही देहको धारण किये हुए है और चैतन्यके होनेसे ही देहरूप यन्त्रके द्वारा नाना प्रकार के काम चलते हैं, इस चेतनरूपा प्रकृतिको ही मैं अपनी परा प्रकृति कहता हूं, इस चेतन प्रकृतिसे मेरी पृथक्ता है, यह बात आगे समझाऊँगा, इस समय इतना ही कहता हूं, कि—मैं सर्व व्यापी चैतन्य हूं, मैं सब कालमें सर्वत्र समान भावसे विद्यमान रहने पर भी सर्वत्र भासित नहीं होता हूं। मायाकी सहायतासे परिछिन्न प्रतीत होने पर जिससमय इस परिच्छिन्न प्रकृति में मैं अहं अभिमान करता हूं तब ही मैं प्रकृतिमें अवच्छिन्न चैतन्यसा प्रकट होता हूं, इसीसे मैं कहता हूं, कि—क्षेत्रज्ञके न होने पर क्षेत्रको धारण करे रहनेवाला कोई भी नहीं होता है। यह धारण करनेकी बात स्थूल भावसे कही, इस विषयको सूक्ष्म भावसे आगे कहूंगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! इयम् अपरा, यह अपरा प्रकृति है अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल जड़ प्रकृति को ही तो आप अपरा प्रकृति कहते हैं, साधारण

पुरुष जिस को अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् कहते हैं, वही तो अपरा प्रकृति है परन्तु आपने इस जड़ प्रकृति को निकृष्ट किस लिये कहा ? । भगवान् ने कहा, कि-हे सखे ! जगत्में जो कुछ दुःख है और जबतक इस दुःखको तू सत्य मान रहा है, समझलेना कि-तब तक तू प्रकृतिके वशमें होरहा है । प्रकृति उस पूर्ण सच्चिदानन्द प्रभुसे उत्पन्न होकर उसको ही ढके रखती है, जैसे कि-काई जलसे उत्पन्न होकर जलको ही ढके रहती है । मायाकी एक शक्तिका नाम आवरण शक्ति है, खण्डकी समान हो बैठना यही आवरण शक्तिका काम है, यह ही भ्रम है । इसीसे माया को सर्वलोकविमोहिनी कहते हैं । संसारमें जो कुछ विरोध देखनेमें आता है उस सबको भी प्रकृति ही करती है, प्रकृति में ही विरोधी पदार्थ हैं, इसके सत्त्व, रज तम ये तीनों गुण आपसमें विरोधी हैं, ये सदा एक जगह भी रहेंगे और विवाद भी करेंगे । जहां प्रकाश है तहां ही प्रकाशका एक आवरण है और उस आवरणको हटानेके लिये एक चेष्टा भी है।प्रकाश सत्त्व है,आवतरण तम है और चेष्टा रज है, इन तीनोमें विरोध सदा लगा ही हुआ है । रज और तम जब दबते हैं तब सत्त्वका प्रकाश होता है । मान लो, कि-देहका स्वास्थ्य है, देह इच्छानुसार चेष्टा करे तो कहाजाता है, कि-सुस्थ है, स्वच्छन्द है किसी प्रकारकी छन्दमें वाधा पड़ते ही प्रकाशके ऊपर एक आवरण पड़ता है, छन्द ही प्रकाश है और छन्द भङ्ग ही तम है, छन्दभङ्ग होने पर जो तम आक्रमण करता है उसको दूर करने की जो चेष्टा है वह ही रज

है। और एक दृष्टान्त लेलो—वीज के भीतर अव्यक्त शक्ति है वह शक्ति अव्यक्त अवस्थासे व्यक्त अवस्थामें प्रकाशित होनां चाहती है। ज्यों ही प्रकाश अपना काम करनेको होता है, कि—तम उसमें बाधा डालता है और रज उस बाधाको हटानेकी चेष्टा करता है। इसप्रकार युद्ध हो लेता है तब बीज के भीतर स्थित वृक्ष बाहर आता है। बद्ध जीवको भी इसी-प्रकार युद्ध करके प्रकृति के चुङ्गलसे मुक्ति प्राप्त करनी होगी प्रकृति का सत्त्वगुण भी प्रकाश है और ब्रह्मको भी प्रकाशरूप कहते हैं, परन्तु इन दोनोंमें भेद यह है, कि—प्रकृतिके सत्त्व-गुणका प्रकाश खण्ड है, परन्तु परमात्मा अखण्डप्रकाश है। परमात्मामें और कुछभी नहीं है, वह परम शान्त, चलन रहित, आनन्दमय, ज्ञानमय चैतन्य है, परन्तु प्रकृतिमें प्रकाश आवरण और चेष्टा का संग्राम सदा ही चला करता है। इस कारण ही प्रकृति को अनर्थकारिणी कहाजाता है, सकल दुःखोंका कारण यह प्रकृति ही है। प्रकृति चैतन्यको आवरण करके खण्डसा दिखाती है और इसको मानों बन्धन दशामें लेजाती है, ये सब दोष अपरा प्रकृति में ही हैं। परन्तु परा प्रकृति रज तमको दवाकर सत्त्वके द्वारा उस परमप्रकाश में जीवको पहुँचा सकती है, इसकारण ही उसको परा वा श्रेष्ठ नाम से कहा है। खण्ड चैतन्यको अखण्ड चैतन्यमें मिलासकती है, इस कारण ही उसको परा वा श्रेष्ठ कहते हैं। परा प्रकृति रज तमको दवाकर सत्त्वगुणमें प्रकाशित होसकती है। सत्त्वगुणमें अधिष्ठित चैतन्य अपनेमें पड़तेहुए अन्य

वस्तुके प्रतिविम्बको निषेध नहीं करसकता। मणिमें बाहर की वस्तुका प्रतिविम्ब पड़ता है, मणि उसको निषेध नहीं करसकता, परन्तु जो चेतन है वह अपनेमें उदित होतेहुए सङ्कल्प के प्रतिविम्बको क्यों नहीं रोकसकेगा ? अवश्य ही रोकसकेगा, सङ्कल्प न करना ही जीवकी मुक्ति है। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन्! सकल दुःखों का कारण यह प्रकृति क्या वस्तु है ? इसको तुम मुझसे स्पष्ट करके कहो। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! प्रकृतिका स्वरूप मैं तुझे अच्छे प्रकारसे बताता हूं, परन्तु पहिले सृष्टिके विषयमें और जीवके दुःखके विषयमें दो एक बातें कहता हूं, उनको सुन। जो वाणी और मनके अगोचर है वह यदि अपनेको अपने आप ही प्रकाशित न करे तो उसका पता कौन बतावे ? जो स्वप्रकाश होने पर भी स्थूल दृष्टिके बाहर है, जो सकल प्रमाणोंसे पर है और जो गुणोंके पार है वह अपनेको आप ही प्रकाशित करता है, यह उसका स्वभाव है। वह अपनी मायाका अवलम्बन करके जगत् रूपसे विवर्तित होता है। सृष्टि स्वभावसे ही होती है। सृष्टिके विषयमें लोग दो बातोंको जानना चाहते हैं। एक तो यह कि-जगत्की सृष्टि किस कारणसे होती है ? और दूसरी यह कि-जगत्की सृष्टि किस प्रकार होती है ?। सृष्टि क्यों होती है ? इस विषयमें श्रुति कहती है, कि-मणिकी झलक की समान वह स्वाभाविक होती है। सृष्टि मायिक है, माया के आश्रयसे सृष्टिको रचना ही उसका स्वभाव है-सृष्टि उस की क्रीड़ा है। श्रुति कहती है (स वै नैव रेमे, तस्मान्नेका-

की न रमते, स द्वितीयमैच्छत्) प्रजापति आत्माने एकाकी अवस्थामें रतिका अनुभव नहीं किया, दूसरेकी इच्छा की अपने को मायाके बलसे प्रकृति और पुरुष रूपमें विभक्त किया। यह द्वितीय होना ही मायाका काम है, इससे ही भय होता है (द्वितीयाद्वै भयं भवति)। एक आत्मा ही सत्य है और कुछ नहीं है, जो है वह मायामात्र है, ऐसा आत्मज्ञान होजाने पर ही मुक्ति होती है। सृष्टिके विषयमें और व्याख्या आगे कहेंगे। अब यह कहते हैं, कि—सृष्टि किसप्रकार होती है ? इसके लिये प्रकृति क्या वस्तु है ? इस बातको जानने की आवश्यकता है। प्रकृति और प्रकृतिके कार्यको जानकर जब जीव परमात्माको स्पर्श करेगा तब ही जीव के सब दुःख दूर होजायँगे। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! अब मेरी समझमें आया, कि—यह प्रकृतितत्त्व सब से अधिक कठिन क्यों है ? और सब से अधिक आवश्यक क्यों है ? परमात्मा जीव-प्रकृति और जड़-प्रकृतिको जान लेने से ही सब कुछ जानलिया जाता है, सकल शास्त्रमें आपने इस तत्त्वको ही प्रकाशित किया है, सब शास्त्रोंमें इस लिये ही सृष्टितत्त्वकी आलोचना हुई है। एक वारमें सब को जाननेकी इच्छा करना जीवके लिये एक कुतूहलकी सी बात है। सत्सङ्ग, सत्शास्त्र और साधनाके द्वारा तत्त्वका ज्ञान होता है, तथापि आप मोटी मोटी रीति से परा अपरा प्रकृति के तत्त्वका कुछ आभास दीजिये। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! सावधान होकर सुन—परमशान्त चिन्मय परब्रह्म सब प्रकारके चलनसे रहित है, वह केवल चेतन है, चेतनमें जो चेत्यभाव है वह स्पन्दन-

धर्मवाला है, वह चेत्यभाव वा चितिशक्ति क्या है ?, जैसे अग्निका ताप है, चन्द्रमाकी चाँदनी है और वायुका स्पन्दन है तैसे ही परमात्माका चेत्यभाव है (पावकस्योष्णतेवेयं उष्णांशोरिव दीधितिः । चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं ममेयं सहजा ध्रुवा ॥) जैसे अग्निमेंसे उसकी उष्णताको दूर नहीं किया जासकता, जैसे पवनमेंसे स्पन्दभावको अलग नहीं किया जासकता तैसे ही चेतनमेंसे चेत्यभावको अलग नहीं कियाजासकता। चेतन में चेत्यभाव है, परन्तु चेत्यभाव ही चेतन नहीं है, जैसे ताप अग्नि नहीं है, जैसे चाँदनी चन्द्रमा नहीं है और जैसे स्पन्दन वायु नहीं है, तैसे ही चेत्यभाव भी परमात्मा नहीं है और परमात्मा से अलग होकर उसका अस्तित्व भी नहीं है। चेत्यभाव न होनेसे परमात्माकी कोई क्षति नहीं है, चेत्यभाव रहे चाहे न रहे, परमात्मा सब समय है। परमात्मा चलनरहित है और चेत्यभाव स्पन्दन धर्मवाला है। चेत्यभावका नाम शक्ति है, जब चेत्यभाव परमात्मामें अदृश्य होजाता है, उस समय शक्ति और शक्तिमान्‌में अभेद होजाता है, इस अवस्था में, शक्ति है, ऐसा नहीं कहाजाता। यदि शक्ति है, ऐसा कहो तो हम कहते हैं, कि—उसको स्पष्टरूपसे दिखाओ ऐसा तुम कर नहीं सकोगे, और भी एक कारण है, वह यह कि—जब शक्ति शक्तिमान् में मिलजाती है तब उसका धर्म वा स्पन्द नहीं रहता है तथा शक्तिका कोई कार्य वा अनुभव भी नहीं रहता। यदि कहो कि—ऐसी दशामें शक्ति है ही नहीं, ऐसा क्यों नहीं कह देते सो हम ऐसा भी नहीं कहसकते, क्योंकि—जो है नहीं वह आवेगा ही कहां

से ? यह सब दीखने वाला जगत् तो अव्यक्त शक्तिकी व्यक्त अवस्था ही है, इस लिये शक्ति अनिर्वचनीया है अर्थात् उसको न सत्‌रूप ही कहसकते हैं और न असत् रूप ही कहसकते हैं, इसकारण ही शक्तिको माया कहते हैं (नसती सा नाऽसती सा नोभयात्मा विरोधतः। एतद्विलक्षणा काचिद्वस्तुभूता हि सर्वदा) यह माया ही परमात्माकी स्वतःसिद्ध शक्ति है, शास्त्र कहता है- (अहमेवास पूर्वन्तु नान्यत् किञ्चिन्नगाधिय। तदात्मरूपं चित्संवित्परब्रह्मैव मामकम्॥ अप्रतर्क्यमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम्। तस्य काचित्स्वतः सिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता॥) प्रकृति, माया, शक्ति, चैत्यभाव, चिति और अविद्या आदि शब्द एक ही वस्तु को कहते हैं। जो चिन्मात्र है जो केवल चित् है वह ही परमात्मा है, चित्का भाव ही चैत्यभाव है इस चैत्यभावको ही प्रकृति कहते हैं। उत्तम रूप से कार्य करती है इस कारण प्रकृति कहाती है, यह चैत्यभाव ही जब परमात्माके साथ मिला हुआ होता है तब इसका अलग अस्तित्व नहीं होता है, उस समय यह परमात्मा ही है अथवा यह नहीं है परमात्मा ही है। मणिकी झलककी समान जब स्वाभाविक ईक्षण अर्थात् मैं बहुत होजाऊँ ऐसी सृष्टि करनेकी इच्छा जागती है, उस ही समय चैत्यभावका उदय होता है, इसको अनात्मा भी कहते हैं, पीछे यह प्रकृति ही महत्, अहं, पञ्चतन्मात्र, पञ्चभूत आदि भावसे अव्यक्तसे सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म और स्थूलभावसे परिणामको प्राप्त होती है अर्थात् शक्ति व्यक्त अवस्थामें आकर स्थूल शरीरको धारण करती है और चित् वा चिदात्मा जो पूर्ण है वह शक्तिके प्रति परिणाममें खण्डसा

होजाता है। चिदात्मा जब अनात्माको 'अहम्-मैं, कहने लगता है, यह चिदात्मामें अनात्माका जो अहंज्ञान है यह ही माया है और अत्यन्त स्थूल शरीरमें जीवात्माका जो अहंज्ञान है वह ही अविद्या है (अनात्मानि शरीरादावात्मबुद्धिस्तुया भवेत् सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते ॥) माया और अविद्यामें कोई विशेष भेद नहीं है। अनात्माका जो अतिसूक्ष्म उदय है उसमें जो अहंज्ञान वही माया है और अनात्मा वा मायाका स्थूल शरीरमें जो आना, उसमें जो अभिमान वही अविद्या है (देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा उदाहृता) यहां यह बात भी ध्यान देनेकी है, कि-माया संहत (मिलित) पदार्थ है। जो कुछ संहत होता है वह दूसरेके प्रयोजन के लिये होता है। सत्त्व, रज, तम ये जो मिलीहुई अवस्थामें होते हैं इसका भी प्रयोजन है। परमात्मा आप ही अपने को प्रकाशित करने की इच्छा करता है, परन्तु मायाको छोड़कर और प्रकारसे उसका प्रकाश हो नहीं सकता, इसलिये ही शास्त्र कहता है, कि-(संघातपरार्थत्वात्) यदि कोई सृष्टि का कारण बताना चाहो तो यही कहो कि-जो वाणी और मनके अगोचर है उसका स्वाभाविक कार्य जो प्रकाश उसके लिये ही यह सृष्टि है। वास्तविक तत्त्व यह है, कि-परब्रह्म सदा अपने स्वरूपमें रहकर भी मायाके आश्रयसे जीव और जगत्‌रूपमें विवर्त्तित होता है। परमेश्वर इस सब सृष्टिको रच-कर इसके भीतर जीवरूपसे प्रविष्ट होगये हैं। उन्होंने आकाश आदि पञ्चभूतोंमें जीवरूपसे प्रविष्ट होकर नाम और रूपका प्रकाश किया है। श्रुति कहती है, कि-(यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा

व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः) जैसे प्रज्वलित हुए अग्निमेंसे छोटी २ चिनगारियें निकलती हैं तैसे ही चेतन अचेतन सम्पूर्ण जगत् परमात्मामें से निकलता है और यही सृष्टि मायामारुतका विलास है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! ये माया के सत्त्व, रज, तम तीनों गुण किस प्रकारके भाव से काम करते हैं ? भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! प्रकाश आवरण और चेष्टा ये तीन गुण माया के हैं। गुण को रज्जु कहते हैं, इस त्रिगुणरूपी रज्जुसे जीव बँधजाता है और सत्त्वगुणकी सहायतासे जीव मुक्त होजाता है, इसलिये मायाके दो रूपोंकी बात भी कही है, उन दो रूपोंका नाम है विद्या और अविद्या। (सृष्टिलीलां यदा कर्त्तुमीहसे पुरुषोत्तम। अङ्गीकरोषि मायां त्वं तदैव गुणवानिव॥) परमात्मा से किसी भक्तने कहा है, कि–हे भगवन् ! जब तुम सृष्टि लीलाको करना चाहते हो तब मायाको अङ्गीकार करते हो और माया के गुणोंसे गुणवान् से होजाते हो। (माया हि द्विविधा भाति विद्याऽविद्येति ते तदा) माया भी विद्या और अविद्या दो भावोंसे प्रकाशित होती है। मैं देह हूं, ऐसी जो बुद्धि है वह ही अविद्या है और (नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते) मैं देह नहीं हूं, चिदात्मा हूं ऐसी जो बुद्धि है वही विद्या है। अविद्या ही संसार का कारण है, यह बन्धनमें डालती है और विद्या संसार को दूर करती है (अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्त्तिका) अविद्या जीवको प्रकृतिमार्गमेंको ढकेलती हुई लेजाकर वारंवार जन्म

मरण आदिके अनर्थ में डालती है, संसार के बड़ेभारी दुःख में दबादेती है, परन्तु विद्या जीवको निवृत्तिमार्गमेंको लेजाकर प्रकृति के बन्धनमें से छुटाती है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! आप जीव किसको कहते हैं? परमात्मा ही तो है, जीव कहां से आया?। और एक बात है—परा प्रकृति कहो चाहे अपरा प्रकृति कहो, दोनों ही जड़ हैं, तुमने परा प्रकृति को चेतन कैसे कह दिया? परा प्रकृति ही जीव किस प्रकार है?। भगवान् ने कहा, कि—हे सखे! शुद्ध सत्त्वगुणमयी प्रकृति का अधिष्ठान जो चैतन्य है वही परा प्रकृति है, इस को ही आदि जीव नाम से कहा जाता है। परमात्मामें जो सङ्कल्पजन्य परिच्छिन्नभाव है (सङ्कल्प उसकी शक्ति मात्र है) उस सङ्कल्पजन्य परमात्मा की परिच्छिन्न होने की समान अवस्था ही जीवभाव है। (स्वशक्तेश्च समायोगादहं जीवात्मतां गतः) परमात्मा शक्ति के साथ संयुक्त होने पर ही जीवभावको धारण करता है। अखण्ड परमात्मा माया के द्वारा खण्डित होकर अहं अभिमान करता है, वह ही जीव है, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ही आदि जीव है (स्वाधारावरणात्तस्या दोषत्वञ्च समागतम्) माया के आवरण रूप दोष से ही जीवत्व होता है। ईश्वरत्व और जीवत्व यह सब परमात्मा में कल्पित है, (मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि। इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः॥) आत्मा सामान्य गुणसमूहसे युक्त होने पर क्षेत्रज्ञ (जीव) और इन सबों से मुक्त होने पर परमात्मा कहलाता

है। परमात्मा निर्गुण है, इसके साथ किसी कार्यका संबन्ध नहीं है। जीवात्मा का विनाश भी नहीं है, जीवात्मा केवल एक देहमें से दूसरे देहमें चालजाता है, दूसरे देहमें जाना ही मृत्यु है। शरीरमें अग्नि की समान प्रकाश की जो मानसिक ज्योति विद्यमान रहती है, उसको ही जीवात्मा नामसे कहा है। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन्! यह सृष्टि शक्ति से ही होती है, इसको ही तुम चेतन का चेत्यभाव कहते हो और कहते हो कि—यह स्पन्दनधर्मी है, आप इस स्पन्दन के विषयमें कुछ और समझाइये। मैं देखता हूं, कि—सब जगत् स्पन्दनको लेकर ही है, सबका मूल यह स्पन्दन ही है। स्पन्दन से ही इस दृश्य का प्रकाश हुआ है, इस लिये स्पन्दन का क्या स्वरूप है? उसको आप स्पष्ट करके समझा दीजिये भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! भगवान् वशिष्ठजीने इस विषय में जो कुछ कहा है उसको सुन—ब्रह्मकी स्पन्दन शक्ति संकल्प-विकल्पमयी है। इस शक्ति को ही तू माया जान, चिन्मय ब्रह्मका नाम शिव है और उसकी मनोमयी स्पन्दन शक्ति ही दुर्गा है। मनोमयी स्पन्दन शक्ति परब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, इस मनोमयी स्पन्दन शक्ति को छोड़कर ब्रह्मका अनुभव कराने की शक्ति और किसी में नहीं है। स्पन्दनसे जैसे वायुका अनुमान होता है उष्णता से जैसे अग्निका अनुमान होता है, तैसे ही इस स्पन्दन शक्ति से ब्रह्म लक्षित होता है। शिव शान्त चिन्मय परमात्मा वाणी और मनके अगोचर है, भावनामयी स्पन्दनशक्ति उस

की इच्छा है, यह इच्छारूपिणी स्पदनशक्ति ही इस दीखने वाले प्रपञ्च को प्रकाशित कर रही है। इस शक्तिके तीन भाग हैं-१ ज्ञानशक्ति, २ इच्छाशक्ति, और ३ क्रियाशक्ति। ब्रह्म स्वप्रकाश चैतन्य है। सूर्यका प्रकाश बाहर की वस्तुओं को दिखाता है परन्तु चेतनके प्रकाश के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव होता है, यह ही ज्ञान का प्रकाश है। इस स्वप्रकाश चेतनका चेत्यभाव उसको माया है। माया त्रिगुणमयी है। प्रकाश, आवरण और प्रवृत्ति वा सत्व, तम, रज ये तीन माया के गुण हैं। चैतन्यभाव का जो प्रथम स्फुरण है वह ज्ञानशक्ति है, यह सात्विक है। यह ज्ञानशक्ति भी कर्म में परिणत होती है इस कारण इस का नाम भी प्रकृति है। चेतन पुरुष के साथ इसकी सदृशता है केवल भेद इतना ही है, कि-जो चेतन है वह शुद्ध, केवल, अन्य सकल सम्पर्कों से शून्य होकर रह सकता है, परन्तु सत्त्व गुण कभी भी रज तम के सम्पर्क से शून्य होकर नहीं रहसकता, परन्तु हाँ जब रज और तमको दबाकर सत्त्वशक्ति वा ज्ञानशक्ति प्रवाहित होती है तब वह ब्रह्मके साथ मिल-सकती है, ब्रह्मके साथ मिलजाने पर स्पन्दनशक्ति निस्पन्दता पाजाती है। जब स्पन्दन कम्पनशून्य होजाता है उस समय यह रहता ही नहीं, तब ही महाप्रलय होती है और केवल ब्रह्ममात्र रहजाता है। ज्ञानशक्ति ब्रह्मके अति निकट होने के कारण प्रकाशरूपिणी हैं। ज्ञानशक्ति को सात्त्विकी माया कहते हैं, इच्छाशक्ति राजसी माया है और क्रियाशक्ति

तामसी माया है, जो तमोमायात्मक हैं उनका ही नाम रुद्र है। जो सात्त्विकमायात्मक हैं वह विष्णु हैं और जो राजस मायात्मक हैं वह ब्रह्मा हैं। श्रुति कहती है। चतुर्वर्णात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता अहमेव जगत्त्रयस्य पतिः मम वशानि सर्वाणि ००० गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपः नान्यो मदस्ति, तमोमायात्मको रुद्रः, सात्त्विकमायात्मको विष्णुः राजसमायात्मको ब्रह्मा, इन्द्रादयस्तामसराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि) अब देखो, कि—यह जगत् क्या है? यह है कर्म की मूर्त्ति, शक्ति ही कर्मरूप से व्यक्त होती है। कर्मरूप से व्यक्त होनेके लिये अवयवोंकी आवश्यकता है इसलिये जगत् अवयवोंवाला है। स्थूल और सूक्ष्म जगत् ही अपरा प्रकृति है। पञ्चतन्मात्रा, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व और अविद्या इन आठ भागोंमें अपरा प्रकृति बटीहुई है, इनके सिवाय और भी जिन सोलह भागोंमें यह विकार को प्राप्त होती है उनका नाम प्रकृतिविकृति है पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत, ग्यारह इन्द्रियें यह ही वह सोलह भाग हैं। इस अपरा प्रकृतिको ही अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् कहते हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! इस अपरा प्रकृति रूप जगत् को जीवरूप परा प्रकृति किस प्रकार धारण किये हुए है सो कहिये ?, भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! पहिले यह देखो कि—कौन किसको धारण करता है। (१) जो जिसमें अभिव्यक्त होता है वह उसको धारण किये रहता है, पटमें दृश्य अभिव्यक्त होता है, इसलिये पट दृश्यको धारण किये

रहता है । मायाशबलित ब्रह्ममें यह जगत् अभिव्यक्त हुआ है इस कारण मायाशबलित ब्रह्म वा ईश्वर वा जीवचैतन्य इस जगत् को धारण किये हुए है। (२) जिसके द्वारा अपने स्वरूप को पाता है वह उसको धारण किये रहता है। मृत्तिकासे घट अपने स्वरूपको पाता है, इसलिये मृत्तिका घटको धारण किये रहती है। चिन्मय पुरुषसे चेत्यभाव वा चिति अपने स्वरूपको पाती है इस लिये चित् चेत्यभाव वा चिति अथवा शक्तिको धारण किये रहता है, शक्तिमान्से शक्ति अपने स्वरूपको पाती है, इसकारण शक्तिमान् शक्तिको धारण किये रहता है । शक्ति वा चितिकी क्रिया ही यह दृश्य प्रपञ्च है । यह दृश्य प्रपञ्च परब्रह्मकी मनोमयी स्पन्दनरूपी चितिसे ही अपने स्वरूपको पाता है इस कारण इस दीखते हुए दृश्य प्रपञ्चको स्पन्दनरूपिणी चिति वा जीव चैतन्य धारण किये हुए है । (३) जो आधार होता है वह आधेयको धारण किये रहता है । अधिष्ठान चैतन्य ही जगत्का आधार है, इस लिये जैसे समुद्र अपनी तरङ्गोंको धारण किये रहता है तैसे ही इस दीखनेवाले प्रपञ्चको चेतन धारण किये हुए है । परमचेतन की बात तो कुछ कही ही नहीं जाती, चितिमें उपहित जो चैतन्य वही कभी जीव और कभी ईश्वर है । इस चिति का एक और नाम महाप्राण है, स्पन्दनरूपा महाप्राणशक्ति ही जगत्रूप शरीरको धारण किये है। जिसप्रकार जबतक प्राण रहता है तिसीप्रकार तबतक देह सजीव रहता है। जिसप्रकार सब शरीरमें प्राण है तैसे ही अपरा प्रकृतिके सर्व अंशोंमें

चेतन आत्मा वा परा प्रकृति वा चिति विद्यमान है, यह चिति कहीं अभिव्यक्त है और कहीं अपने आवरणसे आप ही विशेषरूपसे बँधी हुई है, यह विशेष आवरणकी अवस्था ही जड़ता है। चितिको श्रुतिने प्राण नाम से कहा है, इसकारण जीवभूताम् पदकी व्याख्या है 'प्राणधारणनिमित्तभूताम्, प्राण धारणके कारणसे ही यह जीवचैतन्य अथवा चितिमें प्रतिविम्बित पुरुष है। 'धार्यते, की व्याख्या है 'स्वतो विशीर्य उत्तभ्यते, अर्थात् अपनेसे विश्लेषको प्राप्त होकर स्तंभभाव वा स्थिरभावको धारण करता है। अग्निकी चिनगारियें अग्निमेंसे अपने स्वरूपको पाती हैं, अग्निमेंसे विश्लिष्ट (जुदी) होकर अग्निकी चिनगारियें यदि अपने भीतर अग्निको रख कर बाहर स्थिरभावको धारण करती हैं तो कहना होगा, कि अग्निकी चिनगारियोंमें अग्नि आबद्ध होकर रहता है, इस से समझमें आसकता है, कि—जड़ कहांसे आया। स्पन्दनधर्म वाली चिति स्पन्दन करते २ चित्से विलग होजाती है। स्पन्दनमेंसे जो एक तेजःपदार्थ बाहरको छूट पड़ता है वह ही क्रमसे घना होकर एक आवरणको रच देता है, चैतन्यका यह आवरण ही जड़ है, चैतन्यका आवरण होनेके कारण जैसे प्रकृतिको जड़ कहते हैं तैसे ही चिति वा शक्तिका आवरण जो समस्त स्थूल देह है, उसको भी जड़ कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे अध्यायके आरंभमें ही जो श्रुतिकी व्याख्या है उसमें कहा है, कि—(स च व्याख्यातोऽविद्याविषयः। सर्व एव द्विप्रकारोऽन्तःप्राण उपष्टम्भको गृह-

स्येव स्तंभादिलक्षणः प्रकाशकोऽमृतो बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशक उपजनायायधर्मकर्मकस्तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येव सत्यशब्दवाच्यो मर्त्यस्तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्न इति चोपसंहृतः । स एव प्राणो बाह्याधारभेदेष्वनेकधा विस्तृतः । प्राण एको देव इत्युच्यते) इसका अर्थ यह है, कि–अविद्या का विषय दो प्रकारसे कहाजाता है, इस दीखनेवाले दृश्य प्रपञ्चकी सब ही वस्तुएं दो प्रकारकी हैं। बाहरका आवरण शरीर है और शरीरके भीतर प्राण ही उपष्टंभक है । जिस प्रकार खम्भे आदि घरके उपष्टम्भक होते हैं, घरको धारण किये रहते हैं तिसी प्रकार यह प्राण ही उपष्टम्भक, प्रकाशक और अमृत है, वस्तुका यह भीतरी अंश ही प्राण अंश है, यह ही प्रकाशक, स्थायी और अमर स्वभाव है । वस्तुका बाहरी अंश ही कार्यरूप अप्रकाशक, उत्पत्ति और नाशवाले घरके मट्टी तृण कुश आदिकी समान है । बाहरी अंश वा जड़ अंश चेतनधर्मी प्राण–अंशको ढके हुए है, परन्तु प्राण जड़को धारण किये हुए है । यह प्राण बाहरी आधारके भेद से अनेकों रूपोंमें फैलाहुआ है । और एक ओरको देखो, परा प्रकृति अपरा प्रकृतिको किसप्रकार धारण किये हुए है ? । यह जो सामने वृक्ष खड़ा है, जिसके नीचे वैठकर हम तत्त्व का विचार किया करते हैं, यह वृक्ष किसप्रकार जीवित है ? । यह वृक्ष केशोंकी समान सूक्ष्म २ जड़ोंसे रसको खेंचता है, यह सत्य है, परन्तु यह रस ऊपरको कैसे खिंचता है ? यह किस प्रकार ऊपरको जाकर वृक्षके हरएक अङ्गमें फैलता है ?,

जल तो नीचेकी ओरको बहा करता है, परन्तु यह रसका प्रवाह ऊपरको कैसे चढ़ता है,? जैसे फुहारेमेंसे जल ऊपरको चढ़ जाता है, तैसे ही किसी शक्तिसे यह भी ऊपरको चढ़ने की शक्ति पाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। हरएक क्रियाशक्तिकी मूलमें इच्छाशक्ति है। इच्छाशक्ति ही परा प्रकृति है और क्रियाशक्ति ही अपरा प्रकृति है, इच्छाशक्ति ही तुम्हारे देहको चलाती है फिराती है, देह तुम्हारी शक्ति को बाहर लानेका एक यन्त्र है। शक्ति ही बीज है, परन्तु बीजमें अनादिकालसे संचित जो वासनाओंका समूह स्थित है वह वासनायें भावनाके सिवाय और कुछ नहीं है तथा वह भावनायें स्पन्दनके सिवाय और कुछ नहीं हैं, वह वासनायें ही शक्तिको उपादान करके बाहरके स्थूल अवयवोंको धारण करती हैं शक्तिको व्यक्त अवस्थामें लानेके लिये ही जड़ अवयव हैं, इसप्रकार देखो इच्छारूपिणी स्पन्दशक्ति ही दृश्य प्रपञ्चकी रचना करती है। साकार मनुष्यकी कल्पना जैसे कल्पितनगरकी रचना करती है तैसे ही निराकर शिव की इच्छा अथवा मायाशबलित ब्रह्मकी इच्छा इस दृश्य प्रपञ्च की रचना करती है, यह इच्छारूपिणी स्पन्दनशक्ति ही जीवचैतन्य है, यह जीवचैतन्य ही परा प्रकृति है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आप कहते हैं, कि-परमात्मा ही जीव रूपसे जड़ प्रकृतिको धारण कियेहुए है। सो यदि जीव ही परमात्मा हैं तो फिर बँधता कौन है और मुक्ति किसकी होती है ? परमात्मा तो सदा ही मुक्त है और जीव जड़प्रकृतिको

धारण किये हुए होने पर भी उस प्रकृतिसे ही बँधा हुआ है, यह बात भी तत्त्वज्ञानी पुरुष कहते हैं। यद्यपि आप पहिले कह चुके हैं, कि–मायाके द्वारा परिच्छिन्नसा होजाना ही परमात्मा का जीवभाव है, तो भी इस कठिन तत्त्वको और खोल कर समझा दीजिये ?। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे! परम शान्त सच्चिदानन्द प्रभु सदा ही पूर्ण हैं, वह आनन्दस्वरूप हैं और वही चित् हैं, चिन्मात्र प्रभु पहिले अज्ञानकी कल्पना करते हैं। चित्का अर्थ है ज्ञान। चित् जब सृष्टिका सङ्कल्प करता है उस समय उनका भावनामयी स्पन्दनशक्तिको देखकर 'मैं और कुछ हूं, ऐसा जो भाव होता है उसको ही ब्रह्मकी अज्ञानकल्पना कहते हैं। उस समय ज्ञान अज्ञानसे मिलाहुआ होजाता है। 'मैं हूं, यह ही ज्ञान है, इसके साथ 'मैं और कुछ हूं, यह अज्ञान मिलजाता है। केवल मैं हूँ तथापि मैं होकर भी मैं को भूलकर और कुछसा होजाना ही प्रकृति है, अज्ञानोपहित चित् ही प्रकृति है। जो परमचित् है वही अखण्ड परमात्मा है। और जो अज्ञानोपहित चित् है वही खण्ड जीवात्मा है। खण्डप्रकाशका जो मायारूप आवरण है उसके द्वारा ही जीवभाव होता है। वह जीवभाव प्रकाशके आवरणके लिये ही होता है, इस आवरणके दूर होने पर ही मुक्ति वा परमप्रकाशमें स्थिति होती है। ज्ञान प्राप्त करनेका केवल इतना ही अर्थ है, कि–प्रकाशके अज्ञान रूप आवरणको हटा कर दूर करदेना, वह आवरण अविद्या वा माया है। जैसे धोबी बकरेकी विष्ठारूप मलके द्वारा वस्त्रोंके मैलको

धोदेता है, ऐसे ही सात्विक बुद्धि अविद्या वा वेदोक्त कर्म आदिके द्वारा प्रकाशके आवरणको हटादेती है तब ही परमात्माका साक्षात्कार प्राप्त होता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! जो परमचित् है वह अखण्ड है और स्वप्रकाश है, उसका आवरण कैसे होता है यह बताइये? । भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! परमचित, माया के प्रभावसे ही मानो जीवरूप में बँधजाता है अथवा ढकजाता है । माया चित्की ही शक्ति वा चेत्यभाव है । यह माया अपनी आवरण शक्तिके द्वारा अपने आश्रय ब्रह्मको–मानो है ही है नहीं–मानो प्रतीत ही नहीं होता, इत्यादि प्रकारसे प्रतीयमान कराकर अनेकों वासनाओंसे भरी मनकी अनेकों चेष्टाओंको करने लगती है । असीम अपार चित्स्वरूप आकाशकी समान है, उसको चिदाकाश कहते हैं, वह ही परमात्मा है। उसमें चेत्य वा दृश्य जगद्भाव सर्वथा है ही नहीं । जैसे सूर्यका प्रकाश अपने आप ही बहुत होजाता है, और उस प्रकाशका बाहर प्रभाके आकारमें जो स्पन्दन होता है वह स्पन्दन नील पीत आदि रूपसे चित्रित होजाता है, तैसे ही इस अपरिच्छिन्न चिदाकाशका मायिक वासना आदि मार्गमें जो स्पन्दन है वह ही स्थूल होकर जगत्के आकारमें खड़ा होजाता है, । स्थूल किस प्रकार होता है सो पहिले बतलाया ही जाचुका है। स्थूल जगत्को तो सब ही देखते हैं, परन्तु यह जो दर्पणमें दीखती हुई नगरीकी समान चित्–दर्पणमें प्रतिविम्बित होकर चित्के अन्तर्गत प्रतिविम्ब होकर बाहरे नामरूपसे आकार वाला

होरहा है। यह जो स्वप्नके मनोविलासकी समान भीतरे अनेकों चित्र दिखाकर भी बाहरे अपनी मायाके द्वारा जड़-भावसे खड़ाहुआ है। इस दृश्यको देखते ही—यह चित् दर्पणमें प्रतिविम्बित है, ऐसा बोध होजाने पर जगत् कैसा मायाका पसारा है यह बात अनुभवमें आजायगी। जिस मायाके द्वारा ऐसा होजाता है वह माया क्या है? चित्का ही तो मायिक वासना आदि रूपसे स्पन्दन है। चिदाकाश अखण्ड है, उसमें मायिक वासना आदिका स्वभावसे ही उदय होता है (सुषुप्तं स्वप्नवद् भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत्) सुषुप्ति जैसे स्वप्नकी समान भासती है तैसे ही ब्रह्म भी मायिक वासना आदिके द्वारा मानो सृष्टिरूपसे भासने लगता है। वह मानो मायिक वासना आदिके द्वारा ही ढकाहुआ है, मानो खण्डित होरहा है। ढकाहुआ होकर, खण्डित होकर विचित्र वासना के आकारसे मानो विचित्र जगत् आकारमें प्रकाशित होता है। जैसे वसन्त ऋतु इच्छा करके तरुलताओंके अंकुरोंको उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु तरु लताओंका स्फुरण स्वाभाविक होता है ऐसे ही निरवच्छिन्न चिदात्मामें यह जगत्-रूपा लक्ष्मी स्वभावसे ही होती है। उसके मायिक वासनाको उठाने पर उसमें जगत् अपनेआप ही भासने लगता है, इस ही लिये कहाजाता है, कि—मानो मायामें अनादि सृष्टिका कर्मसंस्कार बीज रूपसे रहता है, जब ब्रह्म मायाको अङ्गीकार करलेता है तब ही विचित्र सृष्टि होती है। इसको ही लक्ष्य करके कहागया है, कि—सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माने (यथापूर्व-

मकल्पयत्) पहिले पहिले कल्पोंके अनुसार ही सृष्टिको रचा। जगत्में जो कुछ भी आकार वाला देखनेमें आरहा है वह मायाशबलित अनेकों वासनाओंके बीजसे पूर्ण खण्ड चित् के सिवाय और कुछ नहीं है। चित् ही मायाके आश्रयसे रुद्रमूर्त्ति, विष्णुमूर्त्ति और ब्रह्ममूर्त्तिको धारण करता है। चित् ही मायाके द्वारा आवृत होकर जगत्के सकल पदार्थोंके आकारको धारण करता है। अब समझमें आया, कि-आवरण किस प्रकार होता है ?, चित् स्वप्रकाश है, 'मैं बहुत होजाऊँ' यह स्पन्दन यह भावना-यह सङ्कल्प ही माया है। मायामें अनादि वासनासंस्कार है-मायाको ग्रहण करने पर ब्रह्म मानो स्वभावसे ही, मैं बहुत होजाऊँ, ऐसे भावसे स्पन्दित होता है। वास्तवमें ब्रह्म ब्रह्म ही है, तो भी यह मायिक सृष्टि होती है, ऐसा कहाजाता है। इसकारण ही चित् दो प्रकारका कहा जाता है, एक कूटस्थ चैतन्य परमशान्त, निर्विकल्प, परिपूर्ण, व्यापक और सदा स्वरूपमें स्थित रहता है और दूसरा मायाशबलित (चित्रित) चित् चञ्चल, व्यष्टि समष्टि करनेमें उन्मुख और कर्त्ताभोक्तारूप है। सुशीला स्त्री जैसे स्वप्नमें भी परपुरुषकी भावना करके कलङ्कित होजाती है तैसे ही चित् भी सङ्कल्पके बलसे कलङ्कित सा होकर अपनेको जीव मानने लगता है, यह ही परा प्रकृति है। सङ्कल्प ही बन्धन है और सङ्कल्पका क्षय ही मुक्ति है। इसको चेतनप्रकृति इस लिये कहते हैं, कि-अग्निके तापकी समान और वायुके स्पन्दनकी समान यह चेत्यभाव प्रकृति है और चेतनात्मक प्रकृति है। जिसको जीव कहते हैं वह इस

प्रकृतिमें उपहित चैतन्य है। ब्रह्मका प्रतिबिम्बरूप होते हुए भी यह जीव अपने स्वरूपको भूलजानेके कारण चेत्यभाव में आपड़ता है। अनन्त वासनाओंकी उत्पत्ति ही चेत्यभाव वा चिति है। निजस्वरूपके अज्ञानरूप मोहके कारणसे चिति का जो चेत्य आकारसे अनुभव है उसमें ही वासनाओंका समूह स्पन्दित होता है इन वासनाओंके द्वारा चलायमान होकर ही चित् भीतर अपने स्वरूपको भूल कर मिथ्याभाव का स्मरण करता है। इस सृष्टितत्त्वकी, साधनाके साथ वार वार आलोचना विना किये इस का समझमें आना कठिन है। तुम सदा भावना किया करो, कि-सर्वत्रगामी ब्रह्म चित् ही चेत्यभावसे चेतनभाव को, चेतनभावसे जीवभावको, जीवभावसे मनोभावको और मनोभावसे आतिवाहिक देह का धारण करता है। मायाशबलित ब्रह्मकी जगत्के संस्कार से युक्त जो सत्ता वह ही आतिवाहिक देह है और चित् चेत्य-भावको प्राप्त होकर, मैं बहुत होजाऊँ, ऐसी भावना करके अह-ङ्कारके पीछे२ चलता है, इस अहङ्कारकी कल्पनासे देशकालकी कल्पना होगी; देशकालकी कल्पनासे युक्त अहङ्कारकी कल्पना स्पन्दन विज्ञानको पाकर वायुके कणोंकी समान प्राण स्पन्दको पाती है, प्राणस्पन्द पाकर जीवसत्ता वा जीवशक्ति नामको धारण करती है। यह जीवशक्ति मैं यह हूं, ऐसे निश्चयवाली होकर बुद्धि भावको प्राप्त होती हुई अज्ञ पदको धारण करती है, उस समय इसमें शब्दशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अपने२ रूपका विस्तार करके स्फुरित होती हैं। अर्जुनने कहा,

कि-हे भगवन्! आपने परमात्मा,परा प्रकृति और अपरा प्रकृति के विषयमें जो कुछ कहा, इससे कठिन और कोई तत्त्व नहीं है। स्पन्दनसे यह जगत् होता है और स्पन्दन वा चेत्यभाव महाप्रलयकालमें सबका विनाश करके जब अपने चित्को स्पर्श करता है, जब महाप्रलयकालमें महाकाली सकल सृष्टिका संहार करके यमके महिषका सींग हाथमें ले नृत्य करते २ महाकालको आलिङ्गन करती है तब ही इस स्पन्दनरूपा जगत्सृष्टिकी समाप्ति होती है, उस समय केवल परमशान्त ब्रह्म ही होता है, वह फिर मायाको ग्रहण करता है, फिर सृष्टि होती है और फिर महाप्रलय होती है। जीव इस महाप्रलयके समय अनन्त कोटि जीवोंके विनाशका चिन्तवन करके जब वैराग्य को प्राप्त होगा, और तदनन्तर जब मायिक जगत्‌की मायिक भावनाओंको त्यागकर निरन्तर विचार करता रहेगा, कि-परमात्मा ही सत्य है, उसका नाम लेना ही सार है और किसीमें कुछ नहीं है, उस समय वह क्रम २ से तत्त्वके साथ आपको जानकर युक्ततम होसकेगा और अन्तमें ज्ञानी होकर निरन्तर परमानन्दमें स्थिति पासकेगा, मैं आपसे और अधिक क्या कहूँ ? आप ही मेरे सर्वस्व हैं, हे भगवन् ! मुझे यह और बतादीजिये, कि-जो वाणी और मनके अगोचर है उसको ही तो निर्गुण वा गुणातीत ब्रह्म कहते हैं और जब शक्ति शक्तिमान्‌में मिलजाती है उस समय उस ही शक्ति वा प्रकृतिको कोई २ निर्गुणा प्रकृति भी तो कहते हैं, यह क्या बात है ?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! जिसका नाम

निर्गुण ब्रह्म है, उसका ही नाम निर्गुणा प्रकृति है, शक्ति और शक्तिमान्‌की जो अभेद अवस्था है उसको इन दोनों नामोंमेंसे चाहे तिस नामसे पुकारनेमें कोई दोष नहीं है। जो शक्तिके उपासक हैं वह निर्गुण ब्रह्म न कहकर निर्गुणा प्रकृति कहनेमें प्रसन्न होते हैं। भगवान् पतञ्जलिने जो प्रकृति से पुरुषको भिन्न कहा है वह निर्गुणा प्रकृतिका वर्णन नहीं है ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणी-
त्युपधारय । अहं कृत्स्नस्य
जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

अन्वय और पदार्थ

(सर्वाणि) सब (भूतानि) स्थावर जङ्गम प्राणी (एतद्योनीनि) इस प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए हैं (इति) ऐसा (उपधारय) निश्चय कर (अहम्) मैं (कृत्स्नस्य) सकल (जगतः) संसारका (प्रभवः) उत्पत्तिस्थान (तथा) तैसे ही (प्रलयः) प्रलयस्थान [अस्मि] हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ

सब भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिये मैं ही सब जगत्‌के उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूँ। अर्जुनने कहा कि—हे भगवन्! आप परमात्मा हैं। जीव और जड़ ये दो आपकी प्रकृति हैं, तुम केवल चित् हो। जीव प्रकृति अवच्छिन्न चैतन्य है। न जाने कितने अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड

हैं और कितने अनन्त कोटि जीव हैं, क्या सब आपसे ही उत्पन्न हुए हैं और आपमें ही लीन होंगे ?। भगवान्‌ने कहा कि–हे सखे ! अचेतन प्रकृति मेरे ऊपर ही भासती है, इसी लिये जहां प्रकृति है तहां ही चेतन भी है, वह चेतन मानो खण्डित है, इसप्रकार देखो यह सब भूत चित् और जड़के मिश्रणसे उत्पन्न हुए हैं। मैं अखण्ड चैतन्य हूँ, मुझसे ही यह चित् जड़की मिश्रणरूप सृष्टि हुई है और महाप्रलयके समय सब भूत पहिले स्पन्दनरूप प्रकृतिमें लय होते हैं, तदनन्तर वह प्रकृति फिर मुझमें लय होजाती है। परा प्रकृति ही जीव वा पुरुष है और जड़प्रकृति ही प्रकृति है। यह पुरुष मानो मेरा अंश है और प्रकृति मेरी मनोमयी स्पन्दनरूपा शक्ति है, इसी लिये कहा है, कि–प्रकृति और पुरुष उस परमपुरुषसे जन्मते हैं और अन्तमें उस परमपुरुषमें ही लय होते हैं तथा समस्त जीव और जड़ इस प्रकृति पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति और पुरुष अनादि सत्य हैं परन्तु अनन्त नहीं हैं, महाप्रलय में कोई नहीं रहता, केवल परमात्मा ही रहते हैं ! अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! महाप्रलयमें परमात्मा ही रहते हैं और कुछ भी नहीं रहता है। यदि कहो, कि–संस्काररूपसे परमात्मामें सृष्टिका बीज रहता है तो यह भी नहीं कहाजासकता, क्योंकि–आप पहिले कहचुके हैं, कि–परमात्मा अति सूक्ष्म और वाणी मनके अगोचर है, उसमें इस ब्रह्माण्डका बीज कैसे रहसकता है ? बीजांकुर न्याय जड़के विषयमें संघटित होता है, परमात्माके विषयमें संघटित नहीं होसकता।

विशेष बीजसे जो अंकुर होता है वह भी किसी सहकारी कारणको विना पाये नहीं होसकता, परन्तु परमात्मासे जो सृष्टिबीजका अंकुर होगा, उसमें कोई सहकारी कारण नहीं होता, इसीलिये तो कहा है, कि–परमात्मामें और कुछ है ही नहीं किन्तु वह शुद्ध चिन्मात्र है, परमात्मामें माया पर्यन्त भी है या नहीं यह नहीं कहा जासकता, सृष्टिकी इच्छा उस का स्वभाव है, अपने स्वभावसे ही वह स्पन्दनको धारण करते हैं, अपने स्वभाववश ही मायाका ताण्डव करते हैं, परब्रह्मसे प्रेरणा पाकर ही माया सृष्टिका विस्तार करती है। स्वभावतः ही जब उसमेंसे मणिकी झलककी समान झलक होती है और फिर स्वभावसे ही सृष्टिका विस्तार होता है, इस विस्तारको भी प्रथम अवस्थामें प्रकाश करनेवाला कोई नहीं होता है, क्योंकि–अद्वैतमेंसे जो द्वैतभाव आवेगा वह सुईसे सौ पत्रको छेदनेकी समान होगा, कागजकी सौ तय करके उसमें सुई छेदिये, आप समझेंगे, कि–सौ पत्रोंको सुईने एक साथ छेद दिया, परन्तु ऐसा न होकर उन सब पत्रोंमें वह छेद क्रम २ से होता है, ऐसे ही सृष्टि भी क्रम २ से होती है, जब सृष्टिकी प्रक्रिया मन तक आजाती है तब ही सृष्टिके प्रकाशका मनके द्वारा अनुभव होता है। जैसे बालक ज्ञानको पानेसे बहुत पहिले बहुतसे कर्म करता है परन्तु ज्ञान पालेता है तब अपने कर्मोंका विचार करसकता है और वह कर्म कैसे हुआ इसकी भी आलोचना करसकता है। जीव प्रतिदिन सुषुप्तिके समय ब्रह्ममें लय होता है, परन्तु जागनेसे बहुत पहिले जीवके बहुतसे कर्म होजाते हैं अन्तमें जागकर देखता

है, कि– मैंने क्या २ अभिमान करडाला और अहं अभिमान करनेसे बहुत पहिले मुझमें अनेकों सङ्कल्प होगये हैं। रामत्वके अभिमानी पुरुषके प्रकट होनेसे बहुत पहिले रामायण की रचना होजाती है। जीव जन्म लेकर ही रामायणका आरम्भ करता है, किन्तु बहुतसे समयके बाद जानता है कि रामायण कब लिखीगयी थी। इस अपूर्व सृष्टिव्यापारके विषय में महाप्रलयकी बार और एक बात सुननेके लिये मुझे बड़ी ही उत्कण्ठा है। (जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा) इसकी बार बार आलोचना करनी चाहिये। प्रकृति परमात्मासे अलग है, इस बातको धारण करनेके लिये ही प्रकृतिके लयका वर्णन सुनना चाहता हूं। जबतक इस बातकी अच्छे प्रकारसे धारणा नहीं होगी तबतक मिथ्या प्रकृतिका मिथ्या रूपसे बोध होगा ही नहीं, जबतक सत्यका सत्य रूपसे और मिथ्याका मिथ्या रूपसे बोध नहीं होगा तबतक अपना स्वरूप जो आनन्द उसमें स्थिति नहीं होसकती, इसलिये ही महाप्रलयकी बात पूछता हूं। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! जो साधक अपने आनन्द स्वरूपमें स्थिति करना चाहे उसको बार २ इस तत्त्व का विचार करना चाहिये, यह तू ठीक कहता है, मैं कहता हूँ तू सुन। सत् चित् आनन्द ब्रह्म ही है। तू और जो कुछ देखता है, जो कुछ भी दृश्य है। यह चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, पर्वत, समुद्र, मनुष्य, वृक्ष, पशु, पक्षी, आदि जो कुछ भी इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें है वह ही प्रकृति है, वह ही माया है (आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते

च यत् । सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्त्तिता ॥) सृष्टि-पालन और नाश प्रकृतिका ही होता है, महाप्रलयमें यह प्रकृति ही नष्ट होजाती है । चुम्बकके समीपमें लोहेके स्पन्दन की समान, परमात्माके समीपमें प्रकृति अपने आप स्वभाव से ही कांपने लगती है, यह ही सृष्टि है । जो वाणी और मनके अगोचर है उस शान्त परमात्माकी प्रेरणासे ही प्रकृति नाना प्रकारकी सृष्टिके रूपमें परिणामको प्राप्त होती है, उस के साथमें ही पुरुष भी खण्डसा प्रतीत होने लगता है और वह परमात्मा ही उसको प्रलयके लिये प्रेरणा करता है । प्रकृति नाच २ कर उससे हटती चलीजाय तब ही सृष्टि होती है और प्रकृति उसके पुकारने पर नाचती २ उसकी ओरको आकर उसको स्पर्श करे यही प्रलय है । प्रकृति सब जगत्को ग्रसकर अन्त में जब परमात्मा में डूबजाती है उस समय वह शिव शान्त परमपुरुषमात्र ही शेष रहते हैं, उनका और कोई रूप नहीं रहता है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि रूपोंको त्यागकर वह आन-न्दरूपमें प्रतिष्ठारूप परमशान्तिको पाते हैं । स्पन्दनरूपिणी प्रकृतिका नाम महाकाली और प्रकृतिमें अधिष्ठित चैतन्यका नाम महाकाल है । भगवती कालरात्रिरूपिणी मयूरी जगत्रूप विषधर सर्पको ग्रास करना आरम्भ करती है, उस समय उसके देहदर्पणमें जो जगत्का उलटा नृत्य होता है उसके स्वरूप का वर्णन करना बड़ा कठिन काम है । जब महाकालीके नृत्यके वेगमें सब ब्रह्माण्ड घूमने लगता है, तब सुनील आकाशमेंसे तारे टूट पड़ते हैं, सब पर्वत डोलने लगते हैं, देवता

और दानव मच्छरोंके समूहकी समान वायुके भयसे इधर उधर को भागने लगते हैं, चक्रकी समान घूमते हुए द्वीप और सागरसे आकाशमंडल ढकजाता है। सब पर्वत वायुके वेगसे ऊपरको ऐसे उड़ने लगते हैं जैसे वायुकी तरङ्गोंमें तिनुके उड़ा करते हैं। स्थिर चित्तसे एक वार विचार करके तो देख, कि-महाप्रलय कैसी होती है ?। पर्वत वृक्ष आदि भूतल परसे आकाशमें उठजाते हैं और आकाशमें से फिर नीचे आकर गिरते हैं। घर, अटारी, महल किले आदि सब चूरा २ होकर भूमिमें लुड़कने लगते हैं। समुद्र अपनी सीमाको लाँघ कर पर्वतोंके शिखरों पर पहुँच कर लहरें लेने लगता है, पर्वत भी आकाशमें अति ऊँचे उड़कर फिर समुद्रमें आपड़ते हैं। आकाश चन्द्रमा और सूर्य-मण्डल सहित भूमण्डके किसी नीचेके कोनेमें जापड़ता है? इसको कौन बतावे ?। कालरात्रिके नृत्यके समय पर्वत आकाशमें चढ़कर, सागर सब दिशाओंमेंको बहकर नदी सरोवर पुर नगर तथा अन्य सव स्थान अपने २ आधारको छोड़कर घूमने लगते हैं। अगाध जलमें विहार करनेवाले बड़े २ मत्स्य आदि जलजन्तु जलाशयों सहित मरुभूमिमें पहुँचकर स्वच्छन्द विहार करते हैं, कल्पान्तके समय देखते २ सब जगत् नष्ट होजाता है-सर्वत्र केवल घोर अन्धकार होता है। उस अन्धकारमें ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, चन्द्र सूर्य यम आदि देवता और असुर बिजलीकी चमककी समान अस्थिरभाव से इधर उधरको आनेजाने लगते हैं। कल्पान्तकालमें विशाल

शरीरा महाभैरवी कल्पान्त रुद्रके आगे खड़ी होकर जब नृत्य करने लगती है और जब कल्पान्तके रुद्रके ललाटकी अग्नि में सम्पूर्ण जगत् भस्म होकर ठूँठसा रहजाता है उस समय नृत्यके वेशमें वह शक्ति प्रलयकी आन्धीमें चूरा २ हुए वनोंकी समान दोलायमान होने लगती है। देव दानवों की भांति २ की मस्तकमंडली उसके गलेकी मुण्डमाला होती है। यह मुण्डमाला, रूप कुदाल, उलूखल, चर्मासन, फल, कुंभ, मूसल आदि वस्तुएं आपसमें सटकर भगवती कालरात्रिके गलेमें प्रबल वेगसे झूलती हैं। तू आँखें मूँदकर महाकाली की इस मूर्त्तिका एक वार ध्यान कर और मैं भी श्रोताओंको आशीर्वाद देता हूं, कि–हे श्रोताओ! यह जो गलेमें मुण्ड-माला लटका कर, मस्तकको गरुड़के परोंकी बनीहुई शिखासे शोभायमान करके, हाथमें यमराजके भैंसेका विशाल सींग लेकर परम आनन्दके साथ झमाझम नृत्य कर रही है और जो बीच २ में उस कालभैरवके नृत्यकी ओरको तृष्णाभरे नेत्रोंसे देखलेती है, उस कालरात्रिसे प्रणाम किये हुए वह कालरुद्र तुम्हारा कल्याण करें। अर्जुनने कहा, कि–हे भग-वन्! आप ही वह काल रुद्र हैं मैं आपको प्रणाम करता हूँ और हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करता हूं, कि–यह सृष्टिका संहार किसी क्रमसे होता है या यों ही विशृङ्खल होजाता है इसको बताइये? भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे! सृष्टि वा संहार सर्वथा मायिक होने पर भी इसमें कुछ क्रम है, जिस क्रमसे संहार होता है, उसको कहता हूं सुन–महाप्रलयके समय

पहिले परम पराक्रमी सब भूत क्षिप्त होकर जब आपसमें एक दूसरेका विध्वंस करनेके लिये छूटजाते हैं, उस समय पहिले पृथिवीको जलका प्रवाह ग्रसलेता है, पृथिवीका कारण जल है और कार्य कारणमें ही लय होता है, ऐसा ही सर्वत्र समझो। पृथिवीका सार जो गन्धतन्मात्रा वह जलकी समान रस तन्मात्रामें लीन होजाती है। जब पृथिवी जलरूपसे परिणाम को प्राप्त होती है उस समय यह जलराशि अग्नि और सूर्य के उत्तापसे सूख जाती है और रसतन्मात्रा में लीन होजाती है, और वायु अग्निराशिको अपनेमें लीन करलेता है और सूर्य उत्तापको ग्रस लेता है, उस समय रूपतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रामें समाजाती है, फिर वायुराशि आकाशमें लीन होजाता है और स्पर्शतन्मात्रा भी नहीं रहती केवल शब्दतन्मात्रा रहजाती है, शब्दतन्मात्राको तामस अहङ्कार भक्षण कर जाता है, उस समय पृथिवी आदि पञ्च महाभूत नहीं रहते शब्द आदि पञ्चतन्मात्रा नहीं रहते, देह आदि स्थूल पदार्थ तो पहिले ही नष्ट होजाते हैं, एक घनीभूत सूक्ष्म पदार्थ रहता है, इन्द्रियें तैजस अहङ्कारमें लीन होजाती हैं, इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता वैकारिक अहङ्कारमें लीन हो जाते हैं, उस समय महतत्त्व अहङ्कारको ग्रसजाता है और सत्त्व-रज-तम गुणयुक्त प्रकृति महातत्त्वको ग्रसजाती है, उस समय सत्त्व रज तमकी वैषम्य अवस्था नहीं रहती, जो रहती है वह आद्या प्रकृति अनिर्वचनीय है, वह ही अव्यक्त है, वह ही माया है और वह स्पन्दनरूपा है, उस समय पुरुष के स्पर्शका स्पन्दन नहीं रहता है। रहता है एक चलनरहित

सच्चिदानन्द महापुरुष, वह महापुरुष ही युग २ में राम कृष्ण आदि रूपोंसे अवतार धरता है, इस ही तत्त्वको लेकर कहा है कि-"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(धनञ्जय) हे अर्जुन (मत्तः) मुझसे (परतरम्) परमार्थ सत्य (अन्यत्) और (किञ्चित्) कुछ (न) नहीं (अस्ति) है (सूत्रे) डोरेमें (मणिगणाः इव) मणियोंके समूहकी समान (मयि) मुझमें (इदम्) यह (सर्वम्) सब (प्रोतम्) पुराहुआ है ॥ ७ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि-हे धनञ्जय ! मुझस परतर (श्रेष्ठ वा परमार्थ सत्य) और कुछ नहीं है, सूत्रमें मणियोंकी समान यह सब चेतन अचेतन जगत् मुझमें पुरा हुआ है । अर्जुनने कहा कि-हे भगवन् ! तुम्हारी अपेक्षा परतर और कुछ नहीं है, इसका अर्थ तो बहुत प्रकारका होसकता है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! हाँ ! परतरका एक अर्थ है-श्रेष्ठ, परमार्थ सत्य । अपरा प्रकृतिसे परा प्रकृति श्रेष्ठ है और परा प्रकृतिसे मैं श्रेष्ठ हूँ, मुझसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है । मैं ज्ञानस्वरूप

आनन्दस्वरूप हूँ, मुझमें स्वभावसे चलन वा स्पन्दन उठते ही, वह चलन वा स्पन्दन जिस अधिष्ठानमें उठता है वह अधिष्ठान चैतन्य खण्डसा प्रतीत होने लगता है, मैं सर्वदा निज स्वरूपमें रहकर ही ऐसा खण्डितकी समान प्रतीत होने लगता हूँ, इसलिये खण्डसा होजाना मायाका व्यापार है। जिस समय दर्पणमें बाहरका प्रतिविम्व पड़ता है उस समय जैसे प्रतिविम्व ही दृष्टिको खेंचता है। बाहरी वस्तुके हिलने डुलने पर दर्पणमें दीखता हुआ प्रतिविम्व ही हिलता डुलता हुआ दीखता है, प्रतिविम्बसे ढकाहुआ दर्पणका अंश दीखता ही नहीं इसी प्रकार चितदर्पणके भीतरसे स्वभावतः जो स्पन्दन वा चलन उठता है वह चित् दर्पणके ऊपर प्रतिविम्बत होता है और वह प्रतिविम्बके आधार चित् अंशको ढक लेता है तथा निद्राके समय मनमें जो कुछ देखनेमें आता है वह जैसे बाहर दीखता हुआसा प्रतीत होता है ऐसे ही चितदर्पणके भीतरका प्रतिविम्ब अपनी मायाके प्रभावसे ऐसा प्रतीत होता है मानो चित्के बाहर स्थित है। परमेश्वर चित्स्वरूप है, उसकी चलनकी कल्पना ही माया है, इसलिये परमेश्वर ही परमार्थ सत्य है। मायाकी जो सत्यता है वह व्यवहार दृष्टिसे कहीजाती है। जबतक अज्ञान है तबतक मायिक व्यापार जगत् आदिकी एक व्यावहारिक सत्यता रहती है, मायाके परमार्थ सत्य न होने पर भी माया वा प्रकृतिका जो स्पन्दन है वह नियमानुसार होता है। इस ही लिये शास्त्रमें जगत्की व्याख्या की है-ब्रह्म ही उपादान है, उसके ऊपर

भी यह इन्द्रजाल है। देखो यह जो समुद्र है-उस पर जो तरङ्गें भासती हैं और विलीन होजाती हैं,वह जलरूप होती हुई भी समुद्ररूप होती हुई भी नामरूपमें भिन्न हैं। समुद्रकी तरङ्ग कही जाती हैं, तरङ्गोंका समुद्र नहीं कहाजाता। यह दीखनेवाला जगत् एक मायिक व्यापारसे नाम रूप वाला होकर बाहर दीखने लगता है, परन्तु यह चित्दर्पणके अन्तर्गत स्पन्दन प्रतिविम्बके सिवाय और कुछ नहीं है, इसलिये ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं परमार्थ सत्य जो परमेश्वर उसको छोड़कर और कुछ है ही नहीं इस श्लोकके प्रथम आधे भागका यही अर्थ है। केवल ब्रह्म ही है-यह बात सत्य होने पर भी बाहर जो जगत् दीखता है उस विषयमें कहाजाता है कहते हैं, कि-जगत् चाहे जो भी हो परन्तु यह, जैसे दर्पणमें प्रतिविम्बोंका समूह पडता है तैसे ही ब्रह्ममें प्रतिविम्बित होरहा है, जैसे प्रतिविम्बोंके समूहसे दर्पण ढकजाता है तैसे ही दीखनेवाले इस जगत्प्रपञ्चके द्वारा परमात्मा मानो ढकरहा है। मणियोंका समूह डोरेमें गुथा होता है तैसे ही यह जगत्प्रपञ्च ब्रह्मसूत्रमें गुथकर झूलरहा है। डोरा वा सूत नहीं दीखता केवल माला ही दीखा करती है! सूत्रमें मणियोंके ग्रथित होनेका दृष्टान्त केवल ग्रथित होनेके संबन्धको दिखानेमात्रके लिये है। ब्रह्मसत्तामें ब्रह्मकी समान,ब्रह्मस्फुरणमें स्फुरणकी समान, यह जगत् माया के द्वारा कल्पित है। मणियें और सूत्रके साथ यदि पूरी २ समता दिखायी जाय तो यह कहना होगा, कि-हिरण्यगर्भ आत्मामें स्वप्नमें देखी हुई विचित्र रचना सूत्रमें मणियोंके

समूहकी समान ग्रथित है। यहां तो कनककुण्डलका दृष्टान्त उचित मालूम होता है, जैसे सुवर्णमेंसे कुण्डल होता है तैसे ही ब्रह्ममेंसे जगत् होता है, सुवर्णसे कुण्डल उत्पन्न होकर रूपान्तर होजाने पर भी उसका सुवर्णपना नहीं जाता, ऐसे ही सुवर्णमेंसे अनेकों नाम रूपोंवाले अनेकों पदार्थ उत्पन्न होजाने पर भी उन सबका उपादान कारणरूप सुवर्ण सबमें ही समान रहता है, इसप्रकार ही विश्वव्यापारके भिन्न २ पदार्थ भिन्न २ नाम रूपों से परिचित होने पर भी उन सबों का कारणरूप विश्वविधाता सर्वत्र समान भावसे विराजमान है। सूत्र और मणिके दृष्टान्त में उन दोनों का अभेद नहीं होता है। सूत्र मणि नहीं है और मणि सूत्र नहीं है अथवा सूत्र मणिमें वा मणि सूत्रमें व्याप्त और सर्वथा संलिप्त नहीं है। "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति,, इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि—(२) जगत्के सृष्टि और संहारका मुझ परमेश्वर के सिवाय और कोई कारण नहीं है, जब एकमात्र मैं ही कारण हूँ तो कारणस्वरूप मुझमें यह सम्पूर्ण दृश्यमात्र कार्य ग्रथित है, जैसे मणियें डोरेमें अनुस्यूत रहती हैं, उन भिन्न २ सब रत्नोंको वह सूत्र धारण किये रहता है, और सूत्रके न रहने पर वह सब स्थानभ्रष्ट होकर इधर उधरको बिखरजाते हैं तैसे ही यह विश्वसंसार परमात्मस्वरूप मुझ सूत्रात्मा में सब प्रकारसे संलिप्त होरहा है, मेरे संबन्धसे शून्य होकर शृङ्खलामें रह ही नहीं सकता। बहुतसे लोग और अर्थ भी करते है (३)-मैं सकल कारणोंका कारण हूँ। यह जगत् कार्यकी ही मूर्त्ति है। मैं

शक्तिमान् हूँ, जगत् शक्तिका व्यक्त अवयव है ! शक्ति और शक्तिमान्में अभेद है, इसीसे कहा है, कि-मुझ शक्तिमान् से श्रेष्ठ और कोई नहीं है। जड चेतनरूप यह जगत् मेरा कार्य है, मैं कारण हूँ। कार्य और कारणका अभेद है, इस कारण ही कहा है, कि-मेरे सिवाय और कुछ परतर है ही नहीं, जो कुछ मुझसे भिन्नसा प्रतीत होता है वह भी मुझ में ही ग्रथित है। ऊपरके आधे श्लोकमें सर्वात्मकता और नीचे के आधे श्लोकमें अन्तर्यामीपना कहा है। तुझसे जिस प्रकार भी होसके यही धारणा कर कि-मैं ही परमात्मा हूँ। अद्वैत-तत्त्व ही आत्मतत्त्व है, जो कुछ द्वैत है वह अज्ञानकल्पित है, यह अज्ञान भी ब्रह्मकी स्वभावतः कल्पनामात्र है। मैं जो कुछ हूं वही हूं। मणिकी झलककी समान मुझमें स्वाभाविक झलक है। उस झलकमें ही मैं यह हूँ और यह नहीं हूं ऐसा बोध भासता है। मैं यह हूं ऐसे निश्चयसे क्रमशः प्रकृतिकी विकृति होती है। सूईसे शतपत्रभेदकी समान सृष्टि तत्त्वमें जब महान् मन पर्यन्त सृष्टि होती है तब स्वभावतः जो कुछ पहिले होगया है उसका ही प्रकाश होता है। बालक बहुतसे कर्म करके अन्तमें जब ज्ञान होता है तब मेरा क्या २ कर्म होचुका है उसका प्रकाश करसकता है, अद्वैतसे द्वैतके प्रकाशका व्यापार भी इसी प्रकार है, अद्वैतसे द्वैतके प्रकाश का व्यापार होता है ॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु

शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन (अहम्) मैं (अप्सु) जलोंमें (रसः) रस (शशिसूर्ययोः) चन्द्रमा और सूर्यमें (प्रभा) तेज (सर्ववेदेषु) सब वेदोंमें (प्रणवः) ओंकार (खे) आकाशमें (शब्दः) शब्द (नृषु) मनुष्योंमें (पौरुषम्) पुरुषार्थ (अस्मि) हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ

हे कुन्तीनन्दन ! जलमें रस मैं हूं, सूर्य चन्द्रमामें प्रकाश मैं हूं, सब वेदोंमें ओंकार, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषार्थ मैं ही हूँ। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! जब तुम वाणी मनके अगोचर होकर भी गुणोंका संयोग होने पर गुणवान्‌से होते हो उस समय आपमें सब पुराहुआ है यही तो कहते हो ? अच्छा तो किस किस धर्मसे युक्त हुए आपमें यह सब मालाकी समान ग्रथित होता है ? । भगवान्‌ने कहा कि–हे सखे ! सब पदार्थों में जो कुछ सार है उसमें मेरा अधिष्ठान है, मैं सदा निजस्वरूपमें रहकर भी वस्तुओंके साररूप से विवर्त्तित होता हूँ। सकल जलोंका सार रस है उस रस-रूपसे मैं विवर्त्तित होता हूँ, रसस्वरूप मुझमें सब जल प्रोत हैं, ऐसे ही जो चन्द्रमा रात्रिके समय नभोमण्डलमें उदित होकर अपनी शीतल प्रभासे भूतलको मधुर चांदनीसे धुली हुई और नयनानन्दकर बनाता है और जो सूर्य प्रतिदिन

आकाशमेंसे प्रचण्डप्रभाके द्वारा सब दिशाओंको प्रकाशमयी करता है उसकी प्रभा मुझे ही जान, इसलिये प्रभारूप मुझ में ही चन्द्रमा और सूर्य ग्रथित हैं। सकल ज्ञानके भण्डाररूप वेदों का साररूप ओंकार में ही हूँ, अतएव ओंकार-रूप मुझमें वेद शास्त्र ग्रथित हैं, श्रुति भी कहती है—"शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा," जैसे सब पत्ते शंकुसे ग्रथित होते हैं तैसे ही सब वेदोंके वचन ओंकारसे ग्रथित हैं। तन्मात्ररूप शब्द ही आकाशका सार है, मैं ही आकाशका शब्दरूप हूँ, इसलिये शब्दतन्मात्रा रूप मुझमें ही आकाश पुराहुआ है। जो पुरुषत्व मनुष्योंको उद्यमी और क्रिया करनेवाला बनाता है मनुष्योंका वह पुरुषत्व मैं ही हूँ, इसलिये पुरुषत्वरूप मुझमें ही सब मनुष्य पुरेहुए हैं अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! क्या आप एक होकर भी इतने भिन्न २ रूपोंको धारण करते हैं ? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! मैं अपनेको आप ही प्रकाश करनेके लिये वाणी मनकी अगोचर अव्यक्त अवस्थासे व्यक्त अवस्थामें लानेके लिये मायामय होता हूं, और मायामय होकर अनेकों रूपोंसे अपना स्वाद आप ही लेता हूं। ज्यों २ प्रकृतिको प्राप्त होता हूँ, मेरी समीपतासे ज्यों २ प्रकृति विकारको प्राप्त होती है, जितने २ रूपोंको धारण करती है, उन सब रूपों-वाली प्रकृतिको जैसे सूत्र माला की मणियोंको गूँथे रखता है तैसे ही मैं भी गूँथकर अपने कण्ठमें धारण करता हूं, इसी से कहता हूं, कि—मैं सकल मनुष्योंका उद्यम, आकाशका

शब्द, चन्द्र सूर्यकी प्रभा, वेदों का ओंकार, और जलोंका रस हूँ। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आपका प्रकाश सर्वत्र दीखता क्यों नहीं ?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! वृक्ष के पत्तोंमें सूर्यका प्रतिविम्ब नहीं पड़ता है, परन्तु जलमें पड़ता है, इसीप्रकार निर्मल आधारमें ही मेरा प्रकाश पडता है ८

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेज-
श्चास्मि विभावसौ । जीवनं
सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ९

अन्वय और पदार्थ

(च) और (पृथिव्याम्) पृथिवीमें (पुण्यः) पवित्र (गन्धः) गन्ध (च) और (विभावसौ) अग्निमें (तेजः) तेज (अस्मि) हूँ (सर्वभूतेषु) सब भूतोंमें (जीवनम्) जविन (च) और (तपस्विषु) तपस्वियोंमें (तपः) तप (अस्मि) हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थ

भगवान्‌ने पहिले श्लोकमें अपनी सर्वमयता और सकल भूतोंकी साररूपता दिखाते हुए कइएक प्राकृतिक विषयोंका वर्णन किया, अब कुछ विषयोंको और दिखाते हुए कहते हैं, कि—हे भैया अर्जुन ! पृथिवी महाभूत का सार गन्धतन्मात्रा है। मैं ही अविकृत गन्धरूपसे अनुस्यूत हूं, विकारको प्राप्त न हो तो गन्ध सर्वत्र ही पवित्र है। विकारका विकृतभाव ऐसा ही

है, कि-मैं सब वस्तुओंके भीतर होने पर भी विकार के आवरणके कारणसे प्रकाशित नहीं होता हूं। मूलमें पृथिव्याश्च, इसमें जो चकार है वह यह जताता है कि- इसप्रकार ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये स्वभावसे पवित्रता और अविकारी पना आदि धर्मोसे युक्त हैं, और प्राणियों के कियेहुए अधर्मके कारण इनमें अपवित्रता और विकारीपना आजाता है, यहां भगवान् दिखाते हैं, कि-पुण्यस्वरूप, पवित्रस्वरूप और अविकाररूप तन्मायायें महाभूतोंका सार हैं मैं तन्मात्र रूपसे महाभूतोंमें सर्वत्रपुरा हुआ हूं। इसप्रकार अग्निका सब वस्तुओं को जलासकना, पाचन, प्रकाशन, शीतानिवारण प्रकाश देना, उज्वलता करना आदि धर्म सार और पुण्यस्वरूप हैं, अग्निका वह सार और पुण्यस्वरूप तेज मुझे ही जान। मूलमें जो 'तेजश्च, इस पदमें चकार है उससे यही सूचित होता है, कि-वायुका उष्णत्व, शीतलत्व और मधुरत्व आदि पुण्य भी मैं ही हूं। अन्य भूतोंके साथ भी भगवान् का यही संबन्ध समझो। आयु ही सब प्राणियों का सार है, क्योंकि-जबतक आयु है तबतक ही उनका प्राणित्व है, मैं ही आयुरूपसे सब प्राणियोंमें विराजरहा हूँ, परमायुरूप मुझमें ही सब प्राणी पुरेहुए हैं अथवा प्राणियोंका जीवन स्वरूप अमृत नामवाला अन्नादि रस भी मैं ही हूँ। तपस्वियोंकी सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता भी मैं ही हूँ। वानप्रस्थ आदि धर्मको धारण करने वाले नित्य तपस्यामें मग्न रहने वाले तपस्वी जो शीत उष्ण भूख प्यास आदि द्वन्द्वोंको सहनेमें समर्थ

होते हैं उनकी वह सामर्थ्य ही तप है, वह उनका तप मेरा ही स्वरूप है। तपःस्वरूप मुझमें ही तपस्वी प्रोत हैं। मूलमें 'तपश्च, इस पदमें जो चकार है उससे भीतरी और बाहरी दोनों प्रकारका तप लियाजाता है। चित्तकी एकाग्रता और उससे द्वन्द्वोंको सहनेकी शक्ति आदि होना भीतरी तप है और आसन जिह्वा नेत्र आदिका निग्रह तथा नेत्रोंको स्थिर करना आदि बाहरी तप है, यह दोनों प्रकारकी निग्रहशक्ति मैं ही हूं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जो तपस्वी साधु वा भक्त हैं उनमें आपका प्रकाश किसप्रकार का होता है ? भगवान्ने कहा, कि—हे भैय्या अर्जुन ! मैं तो भावका विषय हूं। सूर्यका तेज आकाशसे आता है, परन्तु आकाश में कोई प्रकाश नहीं दीखता, जब किसी भित्ति पर पड़ता है तब ही दीखता है, मृत्तिका पर दीखता है और जलमें तो अच्छे प्रकारसे दीखता है, ऐसे ही निरवयव ब्रह्म मनुष्यदेह में प्रतिविंबित होता नहीं दीखता, परन्तु जिनका अन्तःकरण पवित्र है उनके अतिमधुर शब्दमें भक्तकी अङ्गभङ्गीमें दीखता है, भक्तके भावभरे वाक्यमें मेरा प्रकाश है, इसकारण ही भक्तों के वाक्य लोगोंके चित्तोंको खेंचलेते हैं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे कुन्तीनन्दन (माम्) मुझको (सर्वभूतानाम्) सब भूतोंका (सनातनम) चिरकालका (बीजम्) बीज (विद्धि) जान (अहम्) मैं (बुद्धिमताम्) बुद्धिमानों की (बुद्धिः) बुद्धि (तेजस्विनाम्) तेजस्वियोंका (तेजः) तेज (अस्मि) हूँ ॥ १० ॥

भावार्थ

हे अर्जुन ! मुझे सकल भूतोंका सनातन बीज जान, बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज मैं ही हूं। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन् ! आप सकल भूतोंके बीज किस प्रकार हैं ? सकल भौतिक पदार्थ तो अपने २ अलग अलग बीजमें पुरेहुए हैं ? फिर सब भूत आपमें कैसे प्रोत हैं ? और देखिये अंकुर उत्पन्न होते ही बीज नष्ट होजाता है, परन्तु इस संसार रूपी वृक्षके तो उत्पन्न होजाने पर भी तुम अविनाशी अविनाशी ही रहते हो, फिर तुम सब के बीज हो ऐसा कैसे कहते हो ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! देखो जब मेघमेंसे वर्षा पड़ती है तो वह वर्षा जितनी मट्टीके निकट होतीजाती है उतनी ही खण्ड २ और भिन्न २ आकारको धारण करती है परन्तु ऊपर वृष्टि एकधार होती है। ऐसे ही एक आदिबीज वा कारण जितना २ स्थूल होताजाता है उतना २ ही भिन्न २ आकारको धारण करके भिन्न २ प्रकारका होजाता है। आम जामुन कटहल आदिके बीज यद्यपि स्थूलरूपसे देखनेमें भिन्न २ प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्मरूपसे देखने पर सबही

बीजोंमें वृक्षको उत्पन्न करनेकी एक शक्तिमात्र है। वह शक्ति अनादिकालसे सञ्चित वासनाओंकी पुञ्जीकृत अवस्थाके सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिये ही कहागया है कि–(एकोहं बहु स्याम्) इस मूल वासनासे यह विचित्र जगत् आया है। केवल मैं ही हूं, बहुत होऊंगा, ऐसे सङ्कल्पसे बहुतसा होगया हूं और यह बहुत होना भी कल्पित है, देख स्वप्नकालमें मन एक होता है वह बहुतसी भावनायें करके अनेकों सङ्कल्प उठाकर जैसे बहुतवस्तुरूप प्रतीत होने लगता है, परन्तु मूलमें एक ही मन होता है, बहुत होना मिथ्या होता है। तैसे ही मैं भीतर सर्वदा एक होकर भी अपनी मायाके द्वारा बाहर बहुतसा होजाता हूं। जबतक स्वप्न दीखता रहता है तबतक हाथी, घोड़े, सिंह, पुरुष, स्त्री आदि जाने क्या क्या दीखता है, परन्तु स्वप्नभङ्ग होते ही वह सब मनमें लीन होकर एक मन ही रहजाता है और कुछ नहीं रहता, यही दशा इस विचित्र सृष्टि की है। लंबे स्वप्नमें बहुत कुछ दीखा करता है, स्थूल सृष्टि को जितना देखोगे उतना ही बहुत दीखेगी, परन्तु ऊपरको चलोगे तो एकको ही पाओगे। पञ्चभूतोंके पञ्चीकरणसे बहुत की सृष्टि है, पञ्चतमान्त्रा स्थूल होकर ही पञ्चभूत हुए हैं, पञ्चतन्मात्रा तीन प्रकारके अहङ्कारसे हुई हैं, तीन प्रकारका अहङ्कार एक महतत्त्वसे हुआ है, महत्तत्त्व प्रकृतिसे हुआ है। और प्रकृति पुरुषसे हुई है। इससे ही कहागया है कि–यह सब एक शक्तिसे ही हुआ है और वह शक्ति शक्तिमान्की है। साधारणतया लोग कहते हैं, कि–स्वप्न झूठा होता है, इसका

कोई नियम नहीं है, जगत् भी स्वप्न है, परन्तु वह स्वप्न होने पर भी नियमित है। जड़ ही नियममें चलता है, चैतन्यका कोई नियम नहीं है, इस ही लिये कहा है, कि—मूलमें एक मात्र जीवस्वरूप मैं ही हूँ। स्थूल बीजके विषयमें देखाजाता है, कि—अंकुर उत्पन्न होने पर बीज नष्ट होजाता है, परन्तु मूल बीजस्वरूप मुझसे मिथ्या ब्रह्माण्डवृक्ष उत्पन्न होकर वह वृक्ष ही नष्ट होजाता है, मैं तो सनातन हूं, सर्वदा रहता हूं, और देख, जिस बुद्धिके द्वारा बुद्धिमान् नित्य अनित्य और एक बहुत का बिचार करते हैं वह बुद्धि भी मैं ही हूं और बुद्धि स्वरूप मुझमें ही सब बुद्धिमान् ग्रथित हैं, इसी प्रकार तेज स्वियोंका दूसरोंका तिस्कार करना और अपने आप किसीसे तिरस्कार न पानारूप जो तेज है वह भी मैं ही हूँ, मैं तेजःशक्ति रूपसे पुराहुआ हूं, इसकारण ही वह तेजस्वीपनेको पाते हैं, इससे तेजःस्वरूप मुझमें सब तेजस्वी ग्रथित हैं ॥ १० ॥

बलं बलवताञ्चाहं कामराग-
विवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु
कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

अन्वय और पदार्थ

(भरतर्षभ) हे भरतवंशमें श्रेष्ठ (अहम्) मैं परमेश्वर (बलवताम्) धर्मानुष्ठानकी शक्ति रखनेवालोंका (कामरागविवर्जितम्) तृष्णाके अनुरागसे रहित (बलम्) स्वधर्मा-

नुष्ठानकी शक्तिरूप बल (भूतेषु) प्राणियोंमें (धर्माविरुद्धः) धर्मके अनुकूल (कामः) अभिलाष (अस्मि) हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ

अप्राप्त वस्तुको पानेके लिये रजोगुणरूप अभिलाषाको काम कहते हैं अर्थात् जो कुछ वस्तु हमारे पास नहीं है उसके विषयकी तृष्णाका नाम काम है। इच्छित वस्तु मिलजाने पर उसकी अधिक प्राप्तिके लिये जो तामसी प्रवृत्ति उठती है उसका नाम राग है, कामप्रवृत्तिकी प्रबलता होने पर मनुष्य अप्राप्त वस्तुको पानेके लिये इतना व्याकुल होता है, कि–उसको पासकना किसी प्रकार संभव न होने पर भी वह अपने चित्त मेंसे उसको पानेकी वासनाको नहीं हटासकता, कामप्रवृत्तिकी प्रबलतासे जिस २ विषयको पाकर वा जिस २ विषयको भोग कर मनुष्य अतितुच्छ आनन्दको पाता है । उन विषयों को नाशवान् और थोड़ेसे समय तक रहनेवाले जानकर भी उन सबको अक्षय और चिरस्थायी करने के लिये बड़ा ही आग्रह करता है । इस कामप्रवृत्तिके वशमें होकर अतिनीच दशाका मजदूरी करने वाला मनुष्य भी चार घोड़ोंसे जुड़ेहुए चरट पर चढ़नेकी इच्छा करता है। भीख मांगनेवाला भी अनेकों सेवकोंसे घिरकर सोनेके महलमें रहना चाहता है और दूसरेके अन्नसे पेट भरनेवाला दास भी प्रभुपदवी पाकर चारों ओर अपनी प्रभता फैलाना चाहता है यह सब लौटफेर होसकता है या नहीं अथवा ऐसी उन्नति होनेका लक्षण वा उपाय उनके जीवनमें है या नहीं इस बातका विचार करनेकी वह

कुछ आवश्यकता ही नहीं समझते। कामसे अन्धा होने पर मनुष्य ऐसे आवश्यक विचारसे शून्य होजाता है। रागके वशमें होकर भी मनुष्य हास्य कराने वाले अनेकों व्यवहार करता है। रागसे अन्धाहुआ धनवान्, जिसको कोई नहीं टालसकता ऐसे कालके आक्रमणसे भी रक्षा पानेकी इच्छा से अनेकों सामग्रियें जुटाकर महल बनवाता है। मरणके पीछे भी मेरी धनसम्पदा बेटे पोते आदिके हाथसे निकल न जाय ऐसी इच्छासे अतिचतुर व्यवहारी पुरुषोंके साथ विचार करके चरमपत्र (वसीयतनामा) बनाता तथा कालाचूर्ण (खिजाव) लगाकर अपने बरफकी समान स्वेत केशोंको काले करता है और हड्डीके बनावटी दांत लगाकर समझता है कि—मैं चिर-कालके लिये नवयुवा बनगया, परन्तु जिनका हृदय सत्त्वगुणसे बलवान् होता है, उनके हृदयमें यह काम और राग कभी घुस ही नहीं सकते। अपने धर्मका अनुष्ठान करनेसे देह इन्द्रिय आदिको धारणकी शक्तिरूप जो बल है वह निरव-च्छिन्न सात्विक है और रजोगुण तमोगुणके स्पर्शसे शून्य है। ऐसे संसारसे पराङ्मुख, सात्विक बलवाले पुरुषोंका बल मैं ही हूं। सात्विकबलरूप मुझमें ही, ऐसे कामरागशून्य बलवाले पुरुष प्रोत होरहे हैं। मूलमें श्लोकके पिछले आधे भागमें 'धर्माविरुद्ध, पद है। धर्मके अविरुद्ध अर्थात् धर्मा-नुकूल धर्मशास्त्रमें विहित रूपसे बतायी हुई बातें। तात्पर्य यह है, कि—मनुष्योंकी जो कामना धर्मशास्त्रके अनुकूल है वह मेरा ही स्वरूप है। शास्त्रविधिसे विवाह करके स्त्रीको

ग्रहण करना सन्तान उत्पन्न करना उचित है, इसके न करने से दोषका भागी होना पड़ता है, यही धर्मशास्त्रका मत है, इसलिये नियमित समय पर कामोत्तेजनाके साथ अपनी विवाहित स्त्रीके पास जाना कदापि अधर्मका काम नहीं माना जासकता, यह काम धर्मके अनुकूल है। गृहस्थाश्रमीको स्त्री पुत्र आदिका भरण पोषण करना, अतिथि अभ्यागत आदिकी सेवा करना, ऋतुकालमें स्त्रीसमागम करना, व्रत दान आदिके लिये धन इकठा करना तथा पुत्रको साधु और धार्मिक बनानेकी तृष्णा करना यह सब धर्माविरुद्ध है, इसमें कभी अधर्म नहीं होसकता चतुर्वर्गमें ऐसे ही अर्थ काम का ग्रहण है। हे सखे भरतवंशी अर्जुन! मनुष्योंका ऐसा काम में ही हूँ, अर्थात् ऐसे शास्त्रानुकूल कामस्वरूप मुझमें ऐसे काम-युक्त प्राणी प्रोत हैं। श्रीभगवान्की सेवाके लिये जो कामना कीजाती है वह निष्काम कर्म है, उस निष्काम कर्मका नाम सत्त्व है, हे सखे अर्जुन! तू नृपकुलतिलक राजा भरतके वंश में उत्पन्न हुआ है, इस कुलके सुपुत्र सदा ही स्वधर्मपरायण होते आये हैं, तू भी अपने धर्मकी रक्षा किये जा, त्रिलोकी में सर्वत्र मैं ही मैं हूँ, त्रिभुवनरूपी मैं तेरी रक्षा करूँगा ११

ये चैव सात्विका भावा राजसा तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अन्वय और पदार्थ

(च) और (ये) जो (सात्विकाः) सत्त्वगुणी (ये) जो (राजसाः) रजोगुणी (च) और (तामसाः) तमोगुणी (भावा) पदार्थ [सन्ति] हैं (तान्) उनको (मत्तः एव) मुझ परमात्मासे ही [जातान्] उत्पन्न हुए हैं (इति) ऐसा (विद्धि) जान [एवमपि] ऐसा होने पर भी (अहम्) मैं (तेषु) उन पदार्थोंमें (न तु) नहीं हूँ (ते) वह पदार्थ (मयि) मुझमें हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ

सत्यगुणप्रधान जो ऐश्वर्य, वैराग्य, शम, दम, आदि जो सकल पदार्थ हैं, रजोगुण प्रधान जो लोभ, प्रवृत्ति, हर्ष, दर्प आदि जो सकल पदार्थ हैं तथा तमोगुणप्रधान निद्रा, आलस्य, शोक, मोह आदि जो सकल पदार्थ हैं, उन सबोंको मुझसे ही उत्पन्न हुए जान, अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! इस दशा में सर्वजगत्के आत्मा होतेहुए भी विकारी क्यों नहीं हैं और आपके कूटस्थ स्वरूपमें बाधा क्यों नहीं पड़ती ? । भगवान् ने कहा, कि—हे सखे ! यद्यपि सत्वगुणी, रजोगुणी पदार्थ मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं तो भी मैं उन सबमें नहीं हूं किंतु वह सब पदार्थ ही मुझमें विद्यमान है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! रस, शब्द, गन्ध, रूप, तेज आदि सब बाहरी वस्तुएं आपसे हुई हैं और मनुष्यकी भीतरी शक्ति भी आप के ही अधीन है। बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंका तेज, धार्मिकोंका धर्मबल और मनुष्योंका धर्मानुकूल काम इन सब

के नियन्ता भी आप ही हैं तथा आप कहते हैं, कि—सत्त्वगुणप्रधान, रजोगुणप्रधान और तमोगुणप्रधान सकल पदार्थ भी आपसे ही उत्पन्नहुए हैं और आप यह भी कहते हैं, कि—जीव, सात्विक आदि पदार्थोंके वशीभूत होजाते हैं, परन्तु उन पदार्थोंके अधीन नहीं हैं। परन्तु हे भगवन्! सत्व—रज—तम आदि भाव तो प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, आप यह कैसे कहते हैं, कि—मुझसे उत्पन्न हुए हैं, यदि यह सब विकारी वस्तुएं आपसे उत्पन्न होती हैं तो आप विकारी क्यों नहीं हैं?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! जितने भी पदार्थ हैं—धर्म, ज्ञान आदि सात्विक भाव, हर्ष, लोभ आदि राजसभाव और निद्रा आलस्य आदि तामसभाव मनुष्यों के अपने २ कर्मवश ही उत्पन्न होते हैं। और जो कुछ कर्म है वह सब प्रकृतिके तीनों गुणोंका ही है। प्रकृति मेरी ही शक्ति है, मेरी ही मनोमयी स्पन्दनशक्ति है, इसलिये ही तो कहागया है, कि—सब पदार्थ मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं अर्थात् मेरी शक्तिसे उत्पन्न हुए हैं। प्रकृतिका आश्रय करते ही जब मुझमें अहम्भाव और उसका कार्य होता है वह मानो अखण्ड चैतन्यकी खण्डित अवस्था है, वह ही जीवभाव है, जीवभाव ही परा प्रकृति वा जीवरूपा प्रकृति है। जडात्मक भाव अपरा प्रकृति है। इन जीवरूप और जड़रूप भावों से ही स्थावर जङ्गमरूप यह सकल ब्रह्माण्ड हुआ है। परमात्मा की शक्तिसे अनेकों प्रकारके सृष्टि विकार उत्पन्न होने पर भी परमात्मामें कुछ विकार नहीं है। रज्जुमें सर्पका अध्यास

होने पर भी रज्जु कभी सर्पत्वविकारके दोषसे दूषित नहीं होती है, चाहे जितने सङ्कल्प उठा करें उनसे आत्मा में कुछ विकार नहीं होता है। परमात्मा अपने स्वरूपसे सर्वदा पूर्ण रहकर इन मायाके खेलोंको करता है ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिःसर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(एभिः) इन कहे हुए (त्रिभिः) तीन प्रकारके (गुणमयैः) तीनों गुणोंके विकाररूप (भावैः) पदार्थोंसे (इदम्) यह (सर्वम्) सब (जगत्) जगत् (मोहितम्) विवेकहीनताको प्राप्त होता हुआ (एभ्यः) इन त्रिगुणमय पदार्थों से (परम्) श्रेष्ठ (अव्ययम्) विकाररहित (माम्) मुझ परमात्माको (न) नहीं (अभिजानाति) जानता है १३

भावार्थ

भगवान् ने कहा, कि—हे सखे ! पीछे कहे हुए तीन प्रकार के गुणमय पदार्थों से यह सकल चराचर संसार मोहित हो रहा है, इसको छोड़कर सदा एकरस रहनेवाले मुझको जानते ही नहीं। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन् ! जो परमेश्वर जड़ जगत् के साथ सम्बन्ध होने पर भी उसके अधीन नहीं है, किन्तु जैसे मणियों की माला में सूत पुरा होता है तैसे

ही वह परमात्मा सूत्रात्मारूप से रूप रस आदि सकल तन्मात्राओं में विराजमान है, परन्तु मनुष्य उसको पहिचान नहीं सकता, किन्तु आँखें बँधेहुए तेली के बैल की समान अन्धा बनाहुआ अपने जीवन को बितारहा है इसका क्या कारण है? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! सात्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकारके पदार्थोंसे सब संसार मोहित होरहा है अर्थात् विवेकहीन होकर आज्ञानान्धकारमें फँस रहा है, मोह से ग्रसे हुएको विचार रहता ही नहीं। अविवेकी जीव यत्न करके विचारका अभ्यास नहीं करता इसकारण ही इस त्रिगुण मयी मायासे मोहित रहता है, तीनों गुणोंमें अत्यन्त आसक्त रहनेके कारण ही सब उनसे उन्मत्त होरहे हैं। उन्मत्त पुरुषको भ्रम अवश्य ही होगा, जिसको रस्सीमें सर्प का भ्रम होगया है वह जब भयसे घबड़ाजाता है तब उसको कुछ विचार नहीं रहता, जैसे भयके कारणसे विचार नहीं रहता तैसे ही हर्षमें भरजाने पर भी विचार नहीं रहता लोग मेरे अङ्गके भूषणस्वरूप बाहरकी प्रकृतिको ही देखकर मोहित होजाते हैं, सामने दीखने वाली प्रकृति अपने हाव भावसे जीवको मोहित करलेती है, परन्तु यह प्रकृतिरूप आभूषण जिसके शरीर पर है उसको जब जीव देख पाता है तब ही इसकी सद्गति होती है। वास्तवमें परमेश्वर परमार्थ सत्यस्वरूपसे सर्वत्र विराजमान है, तो भी मनुष्य थोड़ेसे समयको मनोहर दीखनेवाले आनन्दमें मतवाला होकर परम सुखमय ब्रह्मानन्दके भोगसे वञ्चित रहजाता है। परम शोभामय सरो-

वरके तट पर फूलोंकी बेल पर लटकते हुए फूलोंके गुच्छेको शीतल पवनसे हिलता हुआ देखकर मनुष्यका मन उसकी बाहरी सुन्दरता पर मोहित होजाता है और उस देखनेवाले का हृदय उसकी तृप्ति करनेवाली सुगन्धिको लेने के लिये व्याकुल हो उठता है, परन्तु शोभाके सारभूत जिस परम पदार्थमें वह फूल गुथा हुआ है, जिस अद्वितीय शिल्पी की परम चातुरीसे वह पुष्पोंका गुच्छा सजाहुआ है उसका ध्यान करनेके लिये कौन उत्साही होता है ? सर्वत्र ही देखते हैं कि-गुणविकारमय बाहरी परदा उस गुणातीत परमपुरुषको मनुष्यके नेत्रोंसे छुपा रखता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! जिससे कि-मोह न आवै ऐसा क्या उपाय कियाजाय ? भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! ध्यान करले कि-तेरे भीतर करोड़ों सूर्यकी समान और करोड़ों चन्द्रमाकी समान परम शीतल अनन्त कान्तिमय मैं विराज रहा हूं, तू बाहर देखता है परन्तु अब तू बाहर प्रकृतिको देखताहुआ भी भीतर भावना की दृष्टिसे मुझे देख, तब तू बाहर प्रकृतिको देखताहुआ भी प्रकृतिके पर रहनेवाले मेरा दर्शन पावेगा इसका ही नाम तो ध्यानयोग है, इस अन्तःकरणमें भगवद्दर्शनकी भावनाको साधनाके द्वारा दृढ़ कर तो फिर माया कभी मोहित नहीं करसकेगी ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते

मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(मम) मेरी (एषा) यह (दैवी) अलौकिकी (गुणमयी) तीनों गुणोंकी विकाररूपा (माया) माया (हि) निश्चय (दुरत्यया) दुस्तर है (ये) जो (माम्) मुझको (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (ते) वह (एताम्) इस (मायाम्) मायाको (तरन्ति) तरजाते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ

हे सखे अर्जुन ! मेरी इस त्रिगुणमयी दैवी मायाको तरना सबके ही लिये कठिन है, परन्तु जो मेरा ही आश्रय लेते हैं वह इस मायाको तर सकते हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आपने पहिले मायाको गुणमयी कहा है अब आप इसको दैवी कहते हैं तथा इसके पार होना भी बड़ा कठिन बताते हैं, लोग कहते हैं, कि—सब प्राणी आपकी मायासे मोहित होरहे हैं, वास्तवमें जगत् ही तुम्हारी मायारूप है, सत्त्व, रज, तम गुणसे सब ही मोहित होरहे हैं, दैवीका क्या अर्थ है ? और आप उसको दैवी क्यों कहते हैं ? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! दैवी का अर्थ दो प्रकारका कियाजाता है। पहिला अर्थ भक्तका है और दूसरा अर्थ ज्ञानीका है (१) देवेन क्रीडाप्रवृत्तेन मयैव निर्मिता (२) देवस्य महेश्वरस्य विष्णोः स्वभावभूता। योगि याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि—(दीव्यते क्रीडिते यस्माद्रोचते शोभते दिवि।

तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥) देव कहिये श्रीभगवान् ने मायाको क्रीड़ाके लिये बनाया है, इसकारण इस को दैवी कहते हैं। इस अघटनघटनापटीयसी मायाके द्वारा श्रीभगवान् क्रीडा करते हैं इसकारण भी इस अलौकिकी अद्भुत मायाको दैवी कहते हैं। जब महाप्रलय होता है उससमय वह अकेले ही होते हैं उस समय उनकी क्रीडा नहीं होती है। अकेलेमें क्रीडा नहीं होसकती, इसकारण ही वह इस मायाको रचकर एक से बहुत होजाते हैं और फिर क्रीडा करते हैं। वह स्वयं ही हैं वह एकही हैं तो भी अन्यसा और बहुतसा दिखा देना ही उनका खेल है, यह बात उनकी मायाके द्वारा ही हो सकती है, वह अज हैं तो भी जो उनका जन्म होता है वह माया के द्वारा ही होता है। "सम्भवाम्यात्ममायया,, यह बात पहिले ही कह चुका हूँ। परमात्माका कोई रूप नहीं है, कोई आकार नहीं है। कोई गुण नहीं है वह अरूप हैं, निराकार हैं, गुणातीत हैं, निर्गुण हैं तो भी वह ऐसी एक मायाका प्रकाश करते हैं, कि–जिसमें वह गुणवान्से होकर आकार को धारण करते हैं, श्रुतिने बहुतसी जगह इस मायाकी बात कही है (यन्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः) मायावाला ईश्वर इस विश्वको रचता है और जीव इस मायाके द्वारा बँधता है (मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्) प्रकृति माया है और परमात्मा माया वाला है। श्रीभगवान् मायाका आश्रय लेकर आकार धारण करते हैं, क्रीड़ा करते हैं और अपना प्रकाश करते हैं यह सत्य है। इसप्रकार भक्त मायाके विषय

में जो कुछ कहता है, ज्ञानी उस पर बूझता है, कि—जो पूर्ण-काम है उसको जगत्‌का आडम्बर करनेकी इच्छा क्यों होती है ?, इसके उत्तरमें भक्त कहता है, कि—वह स्वाधीन हैं, उन की इच्छाका कारण कोई नहीं बता सकता। जो ऐसी चेष्टा करते हैं वह मानो परमात्माको स्वाधीन न मानकर पराधीन किये देते हैं, इसप्रकार भक्त प्रतिवादीको उत्तर देदेते हैं, यह ठीक है, परन्तु इससे चित्त नहीं भरता, जो वाणी और मनके अगो-चर है, जो सब प्रकारके चलनसे रहित है, महाप्रलय में जो एक ही शेष रहता है और कुछ भी नहीं रहता जो पूर्ण आप्तकाम है, उसको सृष्टिके व्यापारसे क्या प्रयोजन ? । यदि कहो, कि—ईश्वर सदा ही साकार है, जीव भी नित्य है, प्रकृति भी नित्य है, तो इसमें बहुतसी श्रुतियोंसे विरोध पड़ेगा मायाको जो सनातन कहते हैं वह उसके विद्या अंशको कहते हैं, मायामें उपहित चैतन्यको ही सनातन कहते हैं। महा-प्रलयके समय कुछ भी नहीं रहता, केवल वही रहते हैं। जीव वा प्रकृति वा माया त्रिकालमें नहीं रहती है, इसलिये वह नित्य भी नहीं है और सनातन भी नहीं है। महाप्रलयके विषयमें ऋग्वेद ८। ७। १७। १, २, ४ कहता है—(नास-दासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो तत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नन्तः किमासीद् गहनं गभीरम्) अर्थात् जिस समय पहिले सृष्टि प्रलीन थी उत्तरसृष्टि भी उत्पन्न नहीं हुई थी उस समयके वर्णनके अनन्तर कहाजाता है, कि—उस समय न सत् था, न असत् था, यहां नामरूवाले

जगत्को सत् नामसे कहागया है और आकाशकुसुम आदि को असत् नामसे कहागया है। इस समय कोई अव्यक्त अवस्था थी (नासीद् रजः) रज नहीं था अर्थात् तीनों ही गुण नहीं थे। व्योम अर्थात् आकाश आदि पञ्चमहाभूत नहीं थे। इन तीन गुण और पञ्चमहाभूतोंके सिवाय पहाड़, नदी, समुद्र आदि जो कुछ भी दृश्य है वह नहीं था। महत्तत्त्व आदि आवरण नहीं था, फिर किस देश में किस भोक्ता के सुखका निमित्त किसको आवरण करै ? भोक्ता जीव भी नहीं था। प्रवेश करनेके अयोग्य अगाधजल भी क्या था ? वह भी नहीं था। (न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि ना रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आसीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास) महाप्रलयके समय प्राणियों की मृत्यु नहीं थी, जीवन भी नहीं था, रात्रिके चिह्न नक्षत्र आदि नहीं थे, दिनके चिन्ह नहीं थे। वह सकल उपनिषदों में वर्णन किया हुआ ब्रह्मवस्तु अपने आश्रित सकल जगत् की आकृतिरूप मायाके साथ चेष्टायुक्त था। यहां चेष्टाका अर्थ सद्भावमात्र है, उस समय वायु नहीं चलता था, किन्तु निश्चल था, उस ब्रह्मसे उत्तम भी कुछ नहीं था, अर्थात् ब्रह्म से निकृष्ट वा उत्कृष्ट कुछ था ही नहीं। (कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा) परब्रह्मसम्बन्धी मनका पहिला रेत अर्थात् पहिला कार्य जो था वह कार्य ही सृष्टि से पहिले कामरूपसे अधिकतर प्रकट हुआ था। एक अद्वि-

तीय सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म सृष्टिसे पहिले तमोगुणके द्वारा ढका हुआ था, उस तम सहित ब्रह्मका सृष्टि करनेकी इच्छा रूप जो मन, आदिमें उत्पन्न हुआ था, उस मनका पहिला कार्यरूप पदार्थ काम है (सोऽकामयत इत्यादि) वही काम इस समय सत्‌रूपसे प्रतीत होनेवाले भूतभौतिक जगत्‌का असत् शब्दसे कहा जानेवाला तमरूप अव्यक्तमें बन्धनका हेतु है अर्थात् काम ही सब व्यवहारोंको अज्ञानमें बांधेहुए है। वेदान्तके पारगामी विद्वान् हृदयमें अपनी अपनी बुद्धि के द्वारा विचार करके इस कामका निश्चय करते हैं, इत्यादि रूपसे भक्तजन मायाको जिसप्रकार सजाते हैं सो तुझे सुना दिया। अब ज्ञानी मायाके विषयमें जो कुछ कहते हैं, उसको भी सुन। (२) आप्तकाम ब्रह्म, क्रीड़ाके लिये मायाकी रचना करता है, यह बात ज्ञानी नहीं कहते वह तो कहते हैं, कि—जैसे मणिकी झलक स्वभावसे ही होती है तैसे ही ब्रह्म से माया स्वभावसे ही उत्पन्न होती है, जो सब प्रकारके चलन (स्पन्दन) से रहित है उसमें स्वभावसे ही स्पन्दन होता है, सङ्कल्पशून्य पुरुषमें स्वभावसे ही सङ्कल्प उठता है। मायाका उदय होजाने पर वह मायावी मायाको लेकर क्रीड़ा करता है। सुईसे गुलाबकी सौ पत्तियोंको छेदनेकी समान क्रम २ से सृष्टि कार्य जब बहुत दूरतक बढ़ता जाता है तब सृष्टिकी बात प्रकाशित होती है, जैसे बालक बहुतसे कर्म करडालनेके अनन्तर ज्ञानका उदय होने पर समझपाता है, कि—उसके द्वारा कौन २ कर्म हुए हैं ऐसे ही अद्वैतसे द्वैत-

भाव आनेके अनन्तर किस प्रकार सृष्टि हुई यह बात प्रकाशित होती है। मायाको दैवी इसलिये कहागया है, कि-यह भगवान् विष्णुका स्वभावरूपा है। यह जो मायाकी उत्पत्ति के विषयमें ज्ञानी और भक्तका कुछ एक विरोध दिखाया है, यह न तो वेदमें ही देखनेमें आता है और न वशिष्ठ, नारद, व्यास, वाल्मीकि आदिकी रचनामें दीखता है, इन महात्माओंने तो अद्वैतभावको बनाये रखकर द्वैतभावमें जगत्के खेलको दिखाया है। आजकलके नये भक्त केवल द्वैतभावको पकड़ बैठते हैं और अद्वैतभाव मिथ्या है, इसप्रकारके अपने आग्रहको बनाये रखनेके लिये अपने विचारके दोषसे उन्होंने गोलमाल करडाला है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मैंने समझ लिया, कि-मायाके विषयमें सच्चे ज्ञानी और भक्तोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है, परन्तु यह तो बताइये, कि-यह महामाया जगत्को मोहित करती है, ज्ञानियों तकके चित्तको बलात्कार से खैंचकर मोहमें डाल देती है (बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति) मोहित करना तो अच्छा काम नहीं है, फिर यह माया ऐसा खोटा काम क्यों करती है ? इस पर भी आप कहते हैं, कि-यह दुरत्यया है अर्थात् इसके हाथसे निस्तार पाना बड़ा ही कठिन है, यह माया किस प्रकार और किस कारणसे दुरत्यया है यह मुझे समझा दीजिये ? भगवान्ने कहा कि-हे सखे अर्जुन ! सुन-"पदार्थरथमारूढा भावनैषा बलान्विता। आक्रामति मनः क्षिप्रं विहङ्गं वागुरा यथा ॥" अर्थात्-यह बड़े पराक्रम वाली वासनारूपिणी माया

विषयरूपी रथपर चढकर, जाल के द्वारा पक्षियों को पकड़ने की समान, चित्तको पकड़ लेती है । गाधी ब्राह्मण जलमें गोता लगा कर अघमर्षण मंत्रका जप करने लगे थे, कि-इतनेमें ही मायाने उनके चित्तके ऊपर आक्रमण किया, कि-वह मंत्रको तो भूलगये और जलके भीतर ही भीतर क्या देखते हैं, कि-वह मरगये और चाण्डालके घर जन्म होगया, चाण्डालीसे विवाह कर लिया, बेटे बेटी पैदा होगये और उस चाण्डालोंके गांवमें दुर्भिक्ष पड़गया, तो उस ग्रामको छोड़ कर कीर देशके राजा होगये, बारह वर्ष तक राज्य करते रहे परन्तु जब लोगोंको मालूम होगया, कि-राजसिंहासन पर चाण्डाल बैठगया है, तब यह प्राण देनेके लिये अग्निकुण्ड में कूदने लगे, इतनेमें ही माया हटगयी और गाधी ब्राह्मण ने जलमेंसे ऊपरको उठ कर देखा, कि-क्षणभरमें चित्तमें चाण्डालपनके विषयकी इतनी घटनाओंका प्रवाह वहगया, सूक्ष्म शरीरमें यह सब भोग होगया, केवल स्थूलशरीर ही उस समय जलमें डूबा रहा था । गाधीने फिर स्थूलशरीरमें सूक्ष्मशरीर के भोगस्थान और सकल कार्यों को सत्य २ देखलिया, जहां तक मनमें विचार करते थे कि-सब मिथ्या है उतना ही वार वार आलोचना करनेके लिये भ्रम दृढ़ होने लगा । मूलको भूलनेकी चेष्टा करते ही वार २ चिन्ता होकर वह चित्तके ऊपर विशेषरूप से जमती चली जाती थी, तब ही तो कहा है, कि-माया दुरत्यया है । मायाका काम बड़ा ही अद्भुत है, मायाका स्वरूप क्या है इसका निश्चय ही

नहीं होता और मायाका विद्यमान होना स्पष्ट प्रतीत होता है, माया ऐसा ही इन्द्रजालका व्यापार है। "स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम्। मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥" सामने जगत्को देखरहा है, परन्तु पक्षपातको छोड़कर किसी एक वस्तुका तत्त्व जाननेकी चेष्टा कर, परन्तु तुझे तत्त्व नहीं मिलसकेगा, इसलिये ही जगत्को मायामय कहते हैं। इस शक्तिरूपिणी माया वा अविद्याका वास्तवमें कुछ कर्तृत्व नहीं है, अर्थात् वास्तवमें मायाने कुछ नहीं बनाया है, परन्तु फिर भी मायाकी समीपता होने पर ही ब्रह्ममें जगत् की सृष्टि होती है। जैसे चित्र (तसवीर) में बनीहुई स्त्री घरका कुछ काम नहीं करती है, तैसे ही यह अविद्या भी कुछ सृष्टि नहीं करती है, उसमें जरा भी सत्ता नहीं है, रस्सी में जो सांप भासने लगता है, उसमें क्या विन्दुभर भी सांप की सत्ता होती है ? इसलिये माया अलीक (मिथ्या) है। इसका कार्य बड़ा अचरजसे भरा होता है, इस कारण यह अघटनघटनापटीयसी कहलाती है। (यथेन्द्रजालिकः कश्चित्पाञ्चालीं दारवीं करे। कृत्वा नर्त्तयते कामं स्वेच्छया वशवर्त्तिनीम् तथा नर्त्तयते माया जगत् स्थावरजङ्गमम्। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सदेवासुरमानुषम् ॥) जैसे ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) काठकी पुतलीको हाथमें लेकर उसको अपनी इच्छाके अनुसार अनेकों प्रकारसे नचाता है ऐसे ही माया अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको नचाती है। अथवा माया परमपुरुषको ढककर अनेकों रूपोंसे नृत्य करती है। (यथा कृत्रिमनर्त्तक्यो नृत्य-

न्ति कुहकेच्छया । त्वदधीना तथा माया नर्त्तकी बहुरूपिणी ॥)
जैसे बनावटी पुतलियें नचाने वालेकी इच्छाके अनुसार नाचती हैं तैसे ही तुम्हारे वशमें रहनेवाली यह अनेकों रूपधारिणी माया नाचा करती है। विचार कर देख, इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा, कि–स्त्रीके गर्भमें वीर्य की एक बूँद पड़जाने पर वह चेतनभाव को पाकर हाथ, पैर, मस्तक आदि अङ्गोंवाला होजाता है, होते २ समय पाकर मनुष्य के आकार में माता के गर्भसे बाहर निकलता है और बालकपन, जवानी तथा बुढ़ापेको पाकर देखता है, खाता है, सुनता है, और न जाने कहाँ २ आता जाता है, इस तरह नानाप्रकार के नाच नाचता है और फिर न जाने कहाँ चलाजाता है। (एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद् गर्भवासस्थितम्, रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदं प्रोद्भूतनानांकुरम् । पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरारोगैरनेकैर्वृतः । पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ॥) और देखो जीव जो कहता है जन्म हुआ, मरण हुआ, भूख लगती है, प्यास लगती है, शोक होता है, मोह होता है, बन्धन होता है, मुक्ति होती है। भला बताओ तो सही–यह जन्म, मरण, भूख, प्यास, शोक, मोह, बन्ध, मोक्ष किसको होता है?। क्या चेतन जन्मता मरता है? एक बार ध्यान देकर इसका विचार करके तो देख ? जरा विचार कर देख–चेतन को जो भूख प्यास लगरही है यह किसको लग रही है, प्राणको ही तो लगरही है? यह जो शोक मोह होता है यह चित्तको ही तो होता है ? बन्धन और मुक्ति जो होते

हैं, यह कर्त्ता बननेवाले को ही तो होते हैं ? इस मायिक इन्द्र-जालको तोड़देनेके लिये शास्त्र कहता है, कि—इस बातको समझो और सदा याद रक्खो, कि—(नाहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे, नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे । नाहं चित्तं शोक-मोहौ कुतो मे, नाहं कर्त्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ॥) अब देख कि—माया वास्तवमें अघटनघटनापटीयसी है या नहीं है ? । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! माया इस प्रकार अघटन-घटनाओंको क्यों करती है ? माया जीवको मोहित क्यों करती है ? ऐसी माया क्या आपका एक कलङ्क नहीं है ? भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! लोकमें कलङ्कसी प्रतीत होय ! परन्तु वास्तवमें क्या यह कलङ्क है ? मैं तो सदाकाल ही अपने स्वरूपमें हूँ, और अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही अपने में जिस मनोमयी स्पन्दनशक्तिको क्रीड़ा करते हुए देखता हूँ (मेरी जगत्को रचनेकी इच्छा ही मनोमयी है) वह सङ्कल्प शक्ति ही मानो अनेकों रूपोंमें बँटजती है, वह विभाग मेरे ऊपर ही होते हैं, इसकारण मैं भी ऐसा दीखने लगता हूँ, कि—मानो बहुत होगया । नील आकाशमें घनघटा उठकर जब वह बहुतसे टुकड़ोंमें बँटजाती है तब वह नील आकाश भी ऐसा दीखने लगता है, कि—मानो उसके बहुतसे टुकड़े होगये हैं, परन्तु क्या उस आकाशके टुकडे होते हैं ? । ऐसे ही मुझमें मेरी माया स्वयं बहुत होकर मुझे बहुत रूपोंवाला सा दिखाने लगती है, परन्तु सङ्कल्पके बहुत होनेसे क्या कभी मैं बहुत होता हूँ ? मैं तो सदा एकरूप ही

रहता हूँ। सङ्कल्प मेरे ऊपर भले ही आया करें ? महामन की बहुतसी तरङ्गें मुझमें भले ही उठा करें ? उनमें अहङ्कार न होनेके कारण मैं जो कुछ हूँ वही रहता हूँ। यह अहङ्कार करना, यह मैं मेरा करना, इसको महामन करै चाहे न करै, इस विषयमें सबको स्वाधीनता है। इस मनोमय स्पन्दनमें से ही इन्द्रजाल (संसाररूपी तमाशा) उठता है, वास्तविक बात तो यह ही है, इस ही बातको जब भक्तजन दृष्टान्तोंके द्वारा कहते हैं तब सहजमें ही समझमें आजाती है। अर्जुन ने कहा, कि–हे भगवन्! माया जगत्को मोहित क्यों करती है ? इस विषयमें आपके भक्तोंका क्या विचार है ?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! भक्त कहते हैं, कि–मेरी मायारानी सदा ही मेरे साथ लगी रहती है। सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्ति वही है। स्त्रियोंका यह स्वभाव ही होता है, कि–वह अपने स्वामीको दूसरेके हाथमें देना नहीं चाहतीं जो कोई मेरे ऊपर अनुरागी वा अनुरागिणी होना चाहे, जो कोई छुपे २ मेरा संभोग करनेकी इच्छा करै, उसको ही मेरी मायारानी मोहित करके विषयोंमें लिप्त कर देनेकी चेष्टा करती है। मेरी माया का सजाव केवल मेरे साथ आनन्द रङ्ग करने के लिये ही है। पल पल क्षण क्षणमें यह प्रकृतिका जो सजाव होता है, अनेकों ऋतुओंमें अनेकों प्रकारके जो वेष होते हैं, प्रतिदिन प्रातःकाल मध्यान्ह, सायङ्काल और रात्रिके समय जो इसके अनेकों प्रकारके वेष होते हैं। पञ्चतन्मात्रा और पञ्चभूतों को लेकर जो अनेकों रूप होते हैं, यह सब केवल

मेरे ही संभोग के लिये हैं। मैं दूसरेका होजाऊँ इस बातको मायारानी नहीं सहसकती, यह सब अनन्तों जीव उसकी ही सन्तान हैं। वही जीव पीछे मेरे साथ प्रेम करनेको तयार होते हैं तो वह अपनी चातुरीसे उनको मेरे पास नहीं आने देती है। इसीसे जगत्को मोहित करे रहती है, यह उसका स्त्रीस्वभावसे उत्पन्न हुआ अज्ञान है, परन्तु जो उसकी सखी बनकर उसके साथ मेरे पास आना चाहते हैं अथवा जो उसको सखी बनाकर उसको मेरे साथ मिलानेका उद्योग करते हैं उनको मेरी मायारानी निजजन समझने लगती है, उनको फिर मोहित नहीं करती है, यही भक्तोंका कथन है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! यह तो बडी सुन्दर बात है, अब "मामेव ये प्रपद्यन्ते,, इसका तत्त्व समझाइये। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! इस विषयमें भक्तोंका मत तो तू सहजमें ही समझ सकता है, जो मेरी मायारानी को मेरे समीप पहुँचनेमें सहायता देते हैं, जिस समय खण्ड प्रकृति अखण्ड प्रकृतिका अवलम्बन करती है, उस समय उस ही अखण्ड प्रकृतिके साथ मिलकर मेरे निकट आना होता है। मेरा अवतार धारण करना और भक्तोंके साथ लीला करना यह भी मेरी मायामें ही होता है, यह केवल मनुष्योंकी खाली कल्पना नहीं है, परन्तु जो वास्तविक बात है उसको ज्ञानी बता सकते हैं, क्योंकि-कुछ ही आगे चलकर कहेंगे, कि-"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥,, अर्जुनने कहा, कि-

हे भगवन् ! ज्ञानी क्या कहते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! जीव ईश्वरके विभागसे शून्य शुद्ध सत्, चित, आनन्द-स्वरूप ब्रह्ममें स्वाभाविक ही मायाका उदय होता है, अथवा मायादर्पण मेरी ही कल्पना है, इस दर्पणमें चित्का जो प्रतिबिम्ब पडता है वह ही जीव है, कल्पना होने पर ही जो अखण्ड है वह खण्डित सा होजाता है। अहंबोध होते ही खण्ड-जीवसत्ता मायादर्पणमें भासने लगती है, माया इस जीवको अपने वशमें करलेती है। जो ईश्वर है वह बिम्बस्वरूप है, माया ईश्वरके वशमें रहती है, माया एक उपाधिमात्र है, ईश्वर में उपाधि—दोष नहीं रहता है, जीव में ही रहता है। बिम्ब-स्वरूप ईश्वर मायाधीन जीवके भोगके लिये देह औरविषय की कल्पना करता है। माया जब जीवके विषयमें व्यवहार कीजाती है उस समय उसको अविद्या कहते हैं, इस अविद्यामें संस्कार की अनेकों प्रकारकी वासनाकी भिन्नता होनेके कारण भिन्न भिन्न वासना अवच्छिन्न चित्प्रतिबिम्बको भिन्न २ जीव नामसे कहाजाता है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! यदि जीव प्रतिबिम्ब ही है तो उसमें चैतन्य कैसे आजाता है ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! दर्पणमें जो मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है वह केवल जड़ होता है, परन्तु चितका प्रतिबिम्ब चित्स्वभाव वाला होता है। जैसे जलमें जो सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसमें भी उष्णता और प्रकाश होता है, वास्तविक सूर्यकी समान इस प्रतिबिम्बकी ओरको भी नहीं देखाजाता। इस विषयमें एक वार और ध्यान दो कि—

माया कैसी दुरत्यय है, जलमें जो सूर्यका प्रतिविम्ब पड़ता है वह जलमें के कम्पनके कारणसे सदा कम्पायमान होता हुआ दीखता है। अविद्या वासनामयी होनेके कारण सदा आकुल रहती है, इस अविद्याजलमें प्रतिविम्बित जीवरूप सूर्यकी छाया सदा अपनी उपाधिके सहस्रों विकारोंका अनुभव करती है। प्रतिविम्ब चैतन्यरूप जीव, मैं विम्बचैतन्य ईश्वरका प्रतिविम्ब हूँ, यह जानकर भी उपाधिके कारण होने वाले सहस्रों विकारोंको काट नहीं सकता, इसलिये ही जीवके लिये माया वा अविद्या दुरत्यय है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! "माया क्या वस्तु है,, इस बातको जाननेकी तर्कनामें लगे रहना भी मायाका ही काम है। सफेद वस्त्र में तेलका दाग लगजाने पर-तेल क्या होता है? किसका तेल था? किसने लगादिया?, क्यों लगादिया? इत्यादि प्रश्नोंमें समय न खोकर वह उपाय करना ही ठीक है, कि-जिसमें वह दाग दूर होजाय। जिस उपायसे मायाके चुङ्गलसे छुटकारा होसके उस की ही चेष्टा करनी चाहिये, आपकी प्राप्ति होने पर आप ही माया के पार होजायँगे, इसलिये जिसमें जीव आपके आश्रय में पहुँचसके, जिसमें आपकी भक्ति कर सकै वह उपाय ही करना चाहिये। आपको ढूँढना ही भक्ति है। इसलिये ज्ञान वा भक्ति होय चाहे न होय आपका आश्रय ले लेने पर आपकी माया जीवके ऊपर आक्रमण नहीं करसकती, इस विषयमें आपका क्या मत है सो कहिये?॥ १४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते

नराधमाः । माययापहृतज्ञाना
आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५॥

अन्वय और पदार्थ

(दुष्कृतिनः) पाप कर्म करनेवाले (मूढाः) विवेकहीन (मायया) माया करके (अपहृतज्ञानाः) जिनका ज्ञान छिन गया है ऐसे (नराधमाः) नीच जन (आसुरम्) असुरोंके से (भावम्) स्वभावको (आश्रिताः) प्राप्त होते हुए (माम्) मुझको (न) नहीं (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! जो सदा पापकर्मों में लगे रहते हैं, इसलिये ही जो विवेकशून्य मूढ़ होरहे हैं वह नीच मनुष्य मेरे पास नहीं पहुँच सकते, क्योंकि—उनके ज्ञान को माया छीन चुकी है इसकारण वह घमण्ड, पाखण्ड आदि असुरोंके से वर्त्तावमें ही लगे रहते हैं । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जब आपकी शरणमें आजाने पर मायाके चुङ्गल से निस्तारा मिलसकता है तब सब लोग आपकी ही शरण में क्यों नहीं आजाते? भगवान्ने कहा कि—हे सखे! चिरकाल से सञ्चित हुए पापके कारणसे पुरुषोंका चित्त अशुद्ध रहता है वह पहिले तो इस बातका ही विचार नहीं करसकते, कि आत्मा क्या है ? अनात्मा क्या है ? किसमें हित है ? और किसमें अहित है ?, यदि कभी २ इनको अपनी करनी पर

पछतावा भी होता है तो दुष्कर्म करते २ इनका अभ्यास इतना जमजाता है, कि-पछतावा होने पर भी इनसे कुछ बनता ही नहीं। मायाके द्वारा इनका ज्ञान नष्ट होचुका है, उनकी ऐसी दशा मायाकी आवरणशक्तिसे होती है और मायाकी जो विक्षेपशक्ति है उसके आक्रमणमें फँस कर मनुष्य असुरोंकी समान पाखण्ड और अहङ्कार करने लगता है, जैसा कि-हिरण्यकशिपुने प्रल्हादसे कहा था, कि-मैं ही ईश्वर हूँ, और विष्णु आदि कोई ईश्वर नहीं है। ऐसा ही आसुरी भाव उनमें भी आजाता है कि-जिनके ज्ञानको माया छीनलेती है। जिनको मेरा ज्ञान नहीं होता और केवल विषयोंमें ही आसक्त रहते हैं वह मूढ़ हैं, जिनको मेरा कुछ एक ज्ञान होता है, परन्तु उनका हृदय मेरी ओर को नहीं आता वह नराधम हैं। जिनको मेरे ऐश्वर्य आदि का ज्ञान तो है परन्तु 'ऐसा हो ही नहीं सकता, ऐसा कहकर जो असम्भावनाके द्वारा उस ज्ञानको खोरहे हैं वह मायापहृतज्ञान हैं। और जिनको मेरे ऐश्वर्य आदिका दृढ़ ज्ञान होगया है, परन्तु उस ज्ञानके द्वारा जो मेरे साथ द्वेष करते हैं वह असुरभावको प्राप्त हैं। इनमें पहिले मूढ़ पशुओंकी समान हैं। दूसरे मनुष्य हैं परन्तु अधम हैं। तीसरे और चौथे ज्ञानकी रेड़ लगाते हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! ये सब खराबी तो माया करती है, इसमें उनका क्या दोष है ? और उनको अधम आदि क्यों कहाजाता है ?। भगवान्ने कहा, कि-हे भैय्या अर्जुन! उनको नराधम कहने

का कुछ कारण है। यह ठीक है, कि-माया दुरत्यया है और यह भी सत्य है, कि-माया जीवको मोहित किये हुए है, परन्तु मैं भी तो सदा जीवके साथ ही रहता हूं, जीव यदि मेरे समीप रहसके है, तब तो और कोई उसको मोहित ही नहीं करसकता। जीव चाहे जैसी अधोगतिमें जापड़े मैं उसको कभी नहीं त्यागता हूँ। गुरुकी सहायतासे वा सत्सङ्ग और सत् शास्त्रकी सहायतासे अतिदुराचरणी भी धीरे २ सुधरता हुआ पुरुषार्थका अवलम्बन करसकता है, जीवका पुरुषार्थ ही तो मैं हूँ। पुरुषार्थको प्रकाशित करनेकी शक्ति जीवमें सर्वदा ही है, मैं पुरुषार्थरूपसे जीवके सङ्ग ही हूँ। जो मेरा उपदेश सुननेके लिये प्राणपणसे चेष्टा नहीं करता है वह जीव ही दुःख पाता है। माया निरन्तर जीवके सङ्कल्पोंका सोता बहा रही है, सङ्कल्पसे कामना होती है, कामनासे कर्म होता है। यह सङ्कल्पोंकी धारा रुकती ही नहीं और उन्मत्तोंकी सी चेष्टा में भी कमी नहीं आती। मायाकी आज्ञाके अनुसार काम करनेके समय जीव उसको विना आपत्ति (उज़्र) के करेगा, परन्तु मैं भी तो सङ्गमें ही हूँ? मेरी आज्ञाके काम करनेमें इतना आलस्य और इतना भय कैसा ?। जिस काममें मरजायगा, जिसमें सदा भय है और जिस काम में सदा दुःख है, परन्तु वह कुछ देरके सुखरूपी परदेसे ढकाहुआ है, ऐसे ही कामको करनेके लिये दौड़ता है, परन्तु जिस काममें अनन्तजीवन की प्राप्ति होसकती है, जिस काममें अनन्त कालतक परमानन्दमें स्थिति होसकती है, जो कार्य मेरा कहलावेगा उसको

सुनते ही परमदुःखदाययक मानता है और उसको करनेसे बचता है। मेरी आज्ञाके अनुसार काम करते समय मनुष्य को आलस्य, अरुचि होती है और अँगड़ाइयें तथा जम्भाइयें लेने लगता है, जो कुछ बाधायें हैं सब ही आकर खड़ी होजाती हैं। मुझसे तो नहीं होसकता, मैं तो मरमिटा इत्यादि कातर वाक्य इस ही समय होते हैं। यह जीव मरनेके लिये सुखसे दौड़ता है, परन्तु जिससे चिरजीवी होसकता है, उस कामके समय कहता है, कि-मैं मराजाता हूँ, मायाके इस विचित्र कामको तो देख! परन्तु यदि उस समय विचार करै, प्रार्थना करै, मेरे निश्चय कियेहुए मार्गका आश्रय लेय, यदि आलस्य आते ही मनको वशमें करलेय, शरीरको एक चरणसे खड़ा रख कर काम करै यदि बलात्कारसे मेरे उपदेशके अनुसार चलै, और यदि सब को मायाकी फांसीमें मरते हुए देखकर इस बातका दृढ़कर लेय कि-मैंने तो भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेके लिये प्राणों की बाजी लगायी है और धीरज रखकर ऐसी ही चेष्टा भी करने लगै तो उसको स्पष्ट मालूम होने लगेगा, कि-मैं उसके काममें सहायता करता हूँ और धीरे २ उसको मायाकी फाँसीमेंसे छुटाता हूँ। इसलिये ही कहता हूँ, कि-जो मायाके हाव भाव से मोहित होजाते हैं और मेरी कथा वा मेरा उपदेश सुनने की दृढ़ प्रतिज्ञा नहीं करते हैं उनको नराधम कहनेमें कोई दोष नहीं है। मैं दिखाता हूँ तो भी देखता नहीं, मैं बताता हूँ तो भी करता नहीं, उसको नराधम नहीं तो और क्या कहा जाय ? हे सखे! तू नराधम न बन, मेरा उपदेश मानकर

अपने कर्त्तव्यका पालन करता हुआ मेरा भजन कर। इस श्लोकमें मैंने तुझे बतादिया, कि—मूढ, नराधम, मायापहृत-ज्ञान और असुरस्वभाववाले यह चार प्रकारके पुरुष मेरा भजन नहीं करते हैं और जो चार प्रकारके पुरुष मेरा भजन करते हैं: उनको भी बताता हूँ सुन ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

अन्वय और पदार्थ

(भरतर्षभ) हे भरतवंशमें श्रेष्ठ (अर्जुन) अर्जुन (सुकृतिनः) सुकर्म करनेवाले (चतुर्विधाः) चार प्रकारके (जनाः) पुरुष (माम्) मुझको (भजन्ते) भजते हैं (आर्त्तः) आर्त्त (जिज्ञासुः) भगवत्तत्त्वको जाननेकी इच्छावाला (अर्थार्थी) विषयभोग की इच्छावाला (च) और (ज्ञानी) भगवत्तत्त्व को जाननेवाला ॥ १६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्? मैंने भगवद्भजन न करनेवाले चार प्रकारके दुष्कर्मियों का वर्णन तो सुनालिया, अब जो चार प्रकारके पुण्यात्मा आपका भजन करते हैं वह कौन २ से हैं यह भी बताइये?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! मेरा भजन करनेवाले एक भक्त तो आर्त्त कहलाते हैं, यह दुःख

में पड़कर वा प्राणसङ्कटसे डरकर मेरी शरणमें आते हैं। जैसे कि-इन्द्रके कोपसे घबड़ाये हुए व्रजवासी, जरासन्धके बन्दी खानेमें पड़े हुए राजे, कौरवोंकी सभामें सतायी हुई द्रौपदी और ग्राहका पकड़ा हुआ गज इत्यादि सब आर्त्त भक्त हुए हैं, इनकी कामना दुःखसे छूटनेमात्रकी थी। दूसरे भक्त जिज्ञासु कहलाते हैं, यह आत्मज्ञान पानेके लिये भजन करते हैं। मुचुकुन्द जनक आदि ऐसे ही भक्त हुए हैं, इनकी कमना केवल आत्मज्ञानका उपाय जाननेकी ही थी। तीसरे भक्त अर्थार्थी कहलाते हैं, यह इस लोकमें वा परलोक में राज्यसम्पदा आदि भोगनेके लिये ही मेरा भजन करते हैं। जैसे कि-सुग्रीव, विभीषण उपमन्यु आदि हुए हैं, इन्होंने इस लोककी सम्पदा के लिये और ध्रुव आदिने परलोककी सम्पदाके लिये मेरा भजन किया है। चौथे भक्त ज्ञानी कहलाते हैं। जो श्रीभगवान्के तत्त्वको जानते हैं वह ज्ञानी हैं अथवा भगवत् तत्त्वका साक्षात्कार करनेका नाम ज्ञान है जो सदा ज्ञानमें मग्न रहते हैं वह ज्ञानी भक्त हैं। शुक, सनक, नारद, प्रल्हाद और पृथु आदि ज्ञानी भक्त हुए हैं। युधिष्ठिर, अक्रूर और व्रजकी गोपियें आदि निष्काम प्रेमिक भक्त हुए है। पहिले तीन प्रकारके भक्त सकाम भक्त कहलाते हैं, इनमें जिज्ञासु भक्त ज्ञानकी उत्पत्तिके द्वारा साक्षात् संबन्धसे मायाके पार होजाते हैं तथा आर्त्त और अर्थार्थी जिज्ञासु होकर ज्ञानकी प्राप्ति करते हैं तब मायाके पार होते हैं। ज्ञानी भी मेरे निष्काम भक्त हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! आर्त्त, जिज्ञासु

और अर्थार्थी यह तीन अवस्थायें तो मूढ, नराधम, मायासक्त और असुरस्वभाव वालोंकी भी होती हैं, तो भी यह भक्त क्यों नहीं कहलाते हैं ?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! क्षण भरके लिये तो सब भाव सब ही मनुष्योंमें आसकते हैं अत्यन्त पशुकीसी बुद्धिवाला मूढ भी और वही क्यों साक्षात् पशुको भी तो आर्त्त होते हुए देखते हैं, परन्तु वह भाव कितने क्षण तक रहता है ?, वधिकके घरका बकरा पहिले दूसरे बकरेके रुधिरसे भीगे शिरको देख कर काँप उठता है, परन्तु अगले ही क्षणमें तहाँ पड़ीहुई घासकी पूली पर दृष्टि गयी कि-उस मृत्यु के दृश्यको भूलकर घास खाना आरम्भ करदेता है, पशु आर्त्त होकर मेरी शरण नहीं लेता है। नराधम विपत्तिमें पड़कर प्रयोजनवश क्षणभर के लिये मुझे पुकारने लगता है और उस क्षणको बढ़ा नहीं सकता परन्तु जो इस क्षण को बढ़ा लेता है, स्थायी करसकता है और जो इस क्षणकी पुकार को इतनी दूर तक लेजाता है, कि-उसमें जब तक मेरा दर्शन न हो तब तक पीछे को हटता ही नहीं वही आर्त्त भक्त है, परन्तु यह सब भक्त सकाम हैं, मेरा ज्ञानी भक्त ही निष्काम है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! ज्ञानी भक्त क्या करता है ? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन! ज्ञानी भक्त जानते हैं, कि-मैं ही उनका आत्मदेव हूँ, वह देखते हैं, कि-मैं सदा शान्त हूँ, सदा आनन्दमय हूँ, मुझे कोई कमी नहीं है अपने आत्माको लक्ष्य करके तू सदा यह जिज्ञासा किया कर, कि-हे आत्मदेव! हे आत्माराम! तुझे कमी क्या है ? तू

तो सदा पूर्णकाम है और तेरी जो वासना हैं वह तो केवल लीला के लिये हैं, तुझे तो न कोई चिन्ता है, न कोई कर्म है। आत्मा को लक्ष्य करके कहा कर, कि—तू तो आकाश की समान है, आकाश में घनघटा उठ कर मेघ के खण्ड २ होजाने पर जैसे आकाश खण्ड २ हुआ सा दीखता है, तैसे ही तुझमें सङ्कल्प उठते ही तू खण्ड २ हुआ सा दीखने लगता है परन्तु वास्तव में तू अखण्ड है। आप्तकाम है, तुझे कुछ कमी नहीं है, दुःख नहीं है, जरा मरण नहीं है, आधि व्याधि नहीं है, देह की विपत्तियों को अपनी विपत्तियें मानकर क्यों घबडाता है ?। सङ्कल्प ही तेरी माया है, यह माया तो क्रीडा के लिये ही उठी है, सब सङ्कल्पों को भी ब्रह्मभाव से देखलेने पर फिर कोई क्लेश रहता ही नहीं। माया की सहायता से बद्ध होकर जो क्रीड़ा है वही भक्तिमार्ग है। जब शक्ति और शक्तिमान् की एकता है तब ही ज्ञानमार्ग है। जब शक्ति शक्तिमान् से अलग है तब भक्तिमार्ग है। जब इच्छा हो तू अपने स्वरूप में आप ही रहसकता है और बद्ध होकर क्रीड़ा करसकता है। स्वाभाविक ही तुझमें जो झलक उठती है उसकी ही जब वारंवार आवृत्ति होते २ सृष्टि का विस्तार होपड़ता है तब अहं बोध उत्पन्न होता है और फिर भक्तिमार्ग जागता है॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्ति-र्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानि-

नोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः १७

अन्वय और पदार्थ

(तेषाम्) उन चारों में (ज्ञानी) तत्त्वज्ञानवाला (विशिष्यते) श्रेष्ठ होता है [यतः] क्योंकि [सः] वह (नित्ययुक्तः) सदा मुझमें युक्त (एकभक्तिः) एक मुझमें ही अनुराग करने वाला [भवति] होता है (हि) निश्चय (अहम्) मैं (ज्ञानिनः) ज्ञानी को (अत्यर्थम्) अत्यन्त (प्रियः) प्यारा हूँ (च) और (सः) वह ज्ञानी (मम) मेरा (प्रियः) प्यारा है ॥ १७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने पूछा, कि—हे भगवन् ! आपने जो चार प्रकार के भक्त बतलाये इनमें श्रेष्ठ कौनसा है ? भगवान्ने कहा, कि— चारोंमें ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि—ज्ञानी नित्ययुक्त है अर्थात् ज्ञानीका चित्त निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है। ज्ञानी आत्मदेवके सिवाय और किसीको चाहता ही नहीं "आरोग्यं भास्करादिच्छेत्,, इस प्रमाणको मानकर रोगी रोग से छूटनेके लिये सूर्यकी उपसना करता है, जिज्ञासु सरस्वतीका भजन करता है, अर्थार्थी कुवेर अग्नि आदिकी उपासना करता है, परन्तु ज्ञानी भक्तकी भक्ति एकमात्र मेरे ऊपर ही होती है, उसका मेरे सिवाय और कोई नहीं होता है, हे अर्जुन ! तू ध्यान रख कि—"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥,, अर्थात् साधु

कहिये ज्ञानी मेरा हृदय हैं, मैं उन ज्ञानियोंका हृदय हूं, वह ज्ञानी मेरे सिवाय और किसीको जानते ही नहीं और मैं भी उनसे जरा भी जुदाई नहीं रखता। श्रुति भी कहती है- "तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादान्तरोऽयमात्मा,, अर्थात्-यह आत्मा पुत्रसे भी प्यारा है, धनसे भी प्यारा है तथा संसारभरके और जो कोई भी पदार्थ हैं उन सर्वोंसे ही प्यारा है। ज्ञानी भक्त अपने आत्माको श्रीकृष्ण वासुदेवसे अभिन्न मानते हैं इसकारण मैं ही उनको अत्यन्त प्यारा हूँ, तथा मेरा आत्मा और ज्ञानी भक्त एक हैं, इसलिये ज्ञानी भक्त मुझे भी परम प्यारे हैं। और भी सहज करके कहता हूँ, सुन-मैं ज्ञानस्वरूप हूं, और ज्ञानस्वरूपके ऊपर ही मेरी यह मूर्त्ति है इसलिये मैं ज्ञानमूर्त्ति हूँ, जो भक्त ज्ञानकी प्राप्ति करसकते हैं वही मेरे आत्मा हैं, क्योंकि-वह ज्ञानमय होजाते हैं ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

अन्वय और पदार्थ

(एते) यह आर्त्त आदि (सर्वे) सब (उदाराः एव) श्रेष्ठ ही हैं (तु) परन्तु (ज्ञानी) ज्ञानी (आत्मा) आत्मा है (इति) ऐसा (मे) मेरा (मतम्) निश्चय है (हि)

क्योंकि (सः) वह ज्ञानी (युक्तात्मा) [सन्] मुझमें चित्त लगाता हुआ (अनुत्तमाम्) सबसे उत्तम (गतिम्) गति रूप (माम्) मुझको (आस्थितः, एव) प्राप्त होने को प्रवृत्त हो ही चुका है ॥ १८ ॥

भावार्थ

अर्जुन ने कहा कि–हे भगवन् ! आपने जो कहा, कि–ज्ञानी भक्त मुझे परम प्यारा है तो क्या आर्त्त आदि अन्य तीनों भक्त आपको अत्यन्त प्यारे नहीं हैं ? भगवान्ने कहा कि–हे सखे अर्जुन ! आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी सकाम होने पर भी मुझसे विमुख रहनेवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं । मेरे ऊपर जिसकी जितनी प्रीति है, उसके ऊपर मेरी भी उतनी ही प्रीति रहती है । सकाम भक्तको काम्य वस्तु भी प्यारी होती है और मैं भी प्यारा होता हूँ अर्थात् सकाम भक्त अपनी इच्छित वस्तु को पानेके लिये ही मेरा भजन करता है, परन्तु अन्तमें मैं ही उसकी काम्य वस्तु होजाता हूं । उधर देखो, ज्ञानी की मेरे सिवाय और कोई काम्य वस्तु है ही नहीं इसलिये ज्ञानी मुझे बहुत ही प्यारा है, ज्ञानी सदा एक मुझमें ही चित्तको लगाकर एक मुझको ही सबसे उत्तम आश्रय निश्चय करके अनन्य मनसे मेरी ही शरण लेता है इस लिये ऐसा भक्त मुझे बड़ा ही प्यारा होता है आर्त्त आदि और ज्ञानी में इतना ही भेद है । यदि ऐसा न हो तो मेरी न्यायपरायणता में बट्टा लग जाय और कृतज्ञता के बदले में कृतघ्नताका दोष लग जाय । मेरा यह अभिप्राय नहीं है,

कि-ज्ञानी के सिवाय मुझे और कोई प्यारा है ही नहीं। मैंने कहा है कि-ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारा है, और जो ज्ञानी नहीं हैं वह मुझे अत्यन्त प्यारे न होने पर भी मुझे प्यारे अवश्य ही हैं। अत्यन्त प्यारे और प्यारेका ही भेद है। ज्ञानी पुरुष परमात्मस्वरूप है इसलिये उसका मुझसे किसी प्रकारका भी भेदभाव नहीं है। मैं और मेरा भक्त ज्ञानी, दोनों ही अभिन्न हैं, यही मेरा अटल अभिप्राय है। सकाम और निष्काम का भेद दिखानेके लिये मूलमें ज्ञानी शब्दके आगे 'तु, दिया है। ज्ञानीकी विशेषता दिखानेके लिये भगवान् और भी कहते हैं, कि-ज्ञानी पुरुष निरन्तर एक मुझमें ही श्रद्धा रखता हुआ और केवल मुझमें ही चित्तको लगाता हुआ, परमानन्द-घन भगवत्स्वरूप मुझको ही सबसे उत्तम गति और परम फल मान कर अनन्य मनसे मेरा ही आश्रय लेता है मेरे सिवाय और किसी फलमें उसकी आसक्ति वा कामना होती ही नहीं है, ऐसा भक्त निःसन्देह आर्त्त आदिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। जो इच्छित पदार्थोंको पानेके लिये भगवान्के चरणों की शरण लेते हैं वह धन्य हैं परन्तु बहुतसोंका विचार होगा कि-जगत्में अनेकों पुरुष भरोसा रखकर भगवान्को पुकारते हैं, उनसे कृपाकी भीख मांगते हैं। ऐसे भगवान् पर भरोसा रखनेवाले तो संसारमें अनेकों हैं, परन्तु ऐसा मान लेना ठीक नहीं है, क्योंकि-भरोसा रखकर भगवान्को पुकारते तो बहुतसे लोग हैं और उनकी कृपाकी भिक्षा भी मांगते हैं परन्तु भगवान्के ऊपर उनका भरोसा पूरा २ और सब प्रकारसे नहीं

होता है। ऐसे कितने पुरुष हैं जो प्राण मन देह सब उन के निमित्त उत्सर्ग करके कामना सिद्ध होनेकी अभिलाषासे अनन्यमनसे उनकी शरण लेते हैं ?। उनकी इच्छासे जो कुछ होना है सो होजायगा ऐसा जानकर ऐसा जानता हुआ उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करके कौन निश्चिन्त रहता है?। सब मनुष्य ऐसा भरोसा रखकर प्रायः भगवान्‌की शरण नहीं लेते हैं। रोगशान्तिके लिये एकादशीका व्रत भी करते हैं वैद्यकी औषध भी खाते हैं, चरणामृत भी पीते हैं और वैद्यकी शरण भी लेते हैं तथा मुखसे राम राम भी कहते हैं और मैं उद्योग करके सब काम कर लूँगा ऐसा जानकर अपना उद्योग भी करते हैं। हे सखे ! जब कौरवसभामें द्रौपदी नङ्गी होने लगी उस समय अनन्यभावसे मुझे पुकारा और मैंने वस्त्ररूप धर कर द्रौपदीकी रक्षा की, उस विपत्तिसे छूटने पर द्रौपदीने कहा कि–हे भगवन् ! अबतक मेरी अपति क्यों कराई ? तो मैंने उसको उत्तर दिया था कि–हे द्रौपदी ! जबतक अपने पति पांचों पाण्डवोंके तथा भीष्म द्रोण आदि के ऊपर तेरा भरोसा रहा तबतक मेरे ऊपर भार नहीं था अतः मैं नहीं आया परन्तु जब सब ओरसे निराश होकर मुझे अनन्यमनसे पुकारा तो मैं भक्तकी सुध लिये विना नहीं रहसकता था। जब तक अनन्य मनसे भक्ति न कीजाय तब तक भगवद्भक्त का पद नहीं मिल सकता और भगवन्निष्ठ भी नहीं कहला सकता। आर्त्त आदि रूपसे भक्त बनना अनेकों पुण्योंके फलसे होता है, यह आर्त्त आदि भी उदार हैं, इस

कारण यह भी धन्य हैं । द्रौपदीकी गणना आर्तोंमें है, जनक जिज्ञासु थे, तपस्वियोंमें श्रेष्ठ ध्रुव अर्थार्थी थे । ऐसे भक्तोंकी संख्या यदि संसारमें भाग्यवश अधिक होजाय तो श्रीहरि के प्रेमामृतकी धारासे यह वसुन्धरा प्लावित (तर) होजाय और जरा मरण शोक मोह आदि इस विश्वको छोड़कर दूर भागजायँ ! संसारमें जितने पुरुष विपत्तियोंमें पड़कर उन भक्तवत्सल भगवान्‌को पुकारते हैं उनमें से अधिकतर लोग केवल मुखसे ही भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं और उनका हृदय कोरा होता है, उनकी वह प्रार्थना हृदयकी तलीमें से नहीं उठती है, वह मुखमें से उठकर मुखमें ही विलीन होजाती है, ऐसे भगवद्भक्त कभी भी उदार नहीं कहलासकते ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(बहूनाम्) बहुतसे (जन्मनाम्) जन्मोंकी (अन्ते) समाप्तिमें (सर्वम्) सब (वासुदेवः) भगवत् रूप है (इति) ऐसा (ज्ञानवान्) [सन्] ज्ञानवाला होता हुआ [यः] जो (माम्) मुझको (प्रपद्यते) शरणागत रूपसे प्राप्त होता है (सः) वह (महात्मा) जीवन्मुक्त पुरुष (सुदुर्लभः) मिलना बड़ा ही कठिन है ॥ १६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा कि–हे भगवन् ! मनुष्य कितने समयमें आपका परम प्यारा ज्ञानी भक्त बन सकता है ? भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन ! इस जगत्में वार वार पुण्यकर्म करते २ कुछ २ पुण्य सञ्चय होते २ अनेकों जन्मोंके अनन्तर ज्ञानकी पूर्णता होने पर अन्तिम जन्ममें, इस चराचर विश्वमें सर्वत्र वासुदेव ही विराजमान हैं ऐसा अनुभवरूप ज्ञान होता है और स्थावर जङ्गम सबमें परमात्मा ही विराज रहे हैं ऐसा साक्षात्कार होजाता है तब ऐसे पके हुए ज्ञानके साथ ज्ञानवान् भक्तका हृदय मेरी ओर को दौड़ता है, वह मेरा भजन करता है उसके प्रेम का सोता बहकर निरन्तर केवल मेरे ही चरणों को धोता रहता है ? ऐसा मेरा भक्त ही महात्मा कहलाता है, क्योंकि–वह अपरिच्छिन्न दृष्टिको पागया है, नारद आदि ऐसे ही भक्त हैं, यह ज्ञानदृष्टिसे सकल बाधाओंको काटकर एक विश्वपति परमात्माका दर्शन पागये हैं और अन्तःकरण अति शुद्ध होनेके कारण जीवन्मुक्ति दशाको पागये हैं। ऐसे ज्ञानी भक्त ही सबसे उत्तम हैं, परन्तु ऐसे भक्तोंका मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। अर्जुनने कहा कि–हे भगवन् ! "वासुदेवः सर्वम्,, सब कुछ वासुदेव ही है ऐसे ज्ञानसे आपकी परिच्छिन्न कृष्णमूर्त्तिका ही ध्यान कियाजाता है क्या ? भगवान्ने कहा कि–हे सखे ! यद्यपि मेरा भजन करते करते "जहां देखूँ वहां मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है,, ऐसी दशा होजाती है, परन्तु यहां मैं अपनी इस मूर्त्तिकी बात नहीं करता

हूँ। नवम अध्यायमें कहूँगा, कि—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना,, अव्यक्त मूर्त्तिवाला मैं इस सब जगत्में व्याप रहा हूँ, यहां वासुदेव शब्दसे वही अव्यक्त लिया जायगा। मोक्ष धर्ममें लिखा है कि—"वासनाद् द्योतनाच्चैव वासुदेवं ततो विदुः,, वह सब में बसे हैं और सर्वत्र उनका ही प्रकाश है इस कारण परमात्माका नाम वासुदेव है ॥ १६ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

अन्वय और पदार्थ

(तैः तैः) तिन तिन (कामैः) कामनाओं से (हृतज्ञानाः) नष्ट होगया है विवेक जिनका ऐसे पुरुष (स्वया) अपनी (प्रकृत्या) प्रकृति करके (नियताः) वशमें किये हुए (तम् तम्) तिस तिस (नियमम्) नियम को (आस्थाय) आश्रय करके (अन्यदेवताः) दूसरे देवताओं को (प्रपद्यन्ते) भजते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ

अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन्! आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी यह सकाम भक्त हैं, जो कामनाओं की तृप्तिके लिये श्रीभगवान् को पुकारते हैं वह भी कामना सिद्ध होने के अनन्तर धीरे २ संसार से मुक्त होजाते हैं, श्रीभगवान् की

भक्ति करने की महिमा ही ऐसी है, उनकी मुक्ति होने में विलम्ब होता है परन्तु ज्ञानी भक्त की संसार से शीघ्र ही मुक्ति होजाती है। आत्मा ही वासुदेव हैं और वासुदेव ही सब कुछ हैं, इस बात की धारणा सब नहीं करसकते इसलिये ही तो कहते हो, कि—ज्ञानी भक्त होना बड़ा दुर्लभ है, सो हे भगवन् ! "वासुदेवः सर्वमिति" इस बातको न समझने में कारण क्या है ? भगवान् ने कहा, कि—हे सखे ! यह ऐसा समझते हैं, कि—और देवताओं का भजन करने से शीघ्र ही फल मिलता है, साक्षात् वासुदेव भगवान् का भजन करने से शीघ्र फल नहीं मिलता है, इसलिये यह शीघ्र ही तुच्छ फलों को पाने की आशा से ज्ञानहीन होजाते हैं, कामना ही मनुष्यों के विवेक को छीनलेती है, इनकी प्रकृति वा पहिले के अभ्यास से उत्पन्न हुई वासना ही कामनाओं को उत्पन्न करती है, शीघ्र २ अपनी कामनाओं को पूरी करने के लिये यह भगवान् को छोड़कर दूसरे देवताओंका भजन करते हैं। इनकी नष्टबुद्धि इनको यही समझा देती है, कि—सूर्य आदि देवता मानो मुझसे भिन्न हैं, इस कारण ही यह शीघ्र फल पाने की आशा से न जाने कितने निन्दित उपायों से काम लेते हैं। कोई स्त्रियों के हाव भाव लीला विलास आदि से मोहित होकर उनको पाने के लिये उन्मत्त से होजाते हैं और अपना मनोरथ सिद्ध होने के लिये तन्त्र में लिखे वशीकरण आदि के निमित्त क्षुद्र पिशाच आदिकी शरण लेते हैं। कोई प्रबल पराक्रमी शत्रु को नीचा दिखाना

हमारे बाहुबल से नहीं होसकेगा ऐसा जानकर मारण क्रिया सिद्ध करने के लिये भूत प्रेत आदि का पूजन करने लगते हैं। कोई धनके लोभसे अन्धे से बनकर यज्ञको साधने में ही अपने जीवन को बितादेते हैं। कोई किसी रोगकी शान्ति के लिये सूर्य देवताकी पूजा करनेमें लगजाते हैं। इसप्रकार मनुष्य अनेकों कामनाओंकी सिद्धिके लिये अनेकों देवताओंकी शरण लेता है और इसके लिये जिन २ नियमोंको पालने की आवश्यकता होती है उनको भी शिर झुकाकर स्वीकार करता है। किसी देवताकी उपासना करनेके लिये घोर स्मशान में आधी रातके समय अकेले ही जाकर दुर्गन्धिभरे शव (मुरदे) की छाती पर बैठनेकी आवश्कता होती है तो उस देवताको प्रसन्न करनेके लालचसे बहुत ही शीघ्र इस अति दुष्कर कामको भी करडालता है। किसी देवताकी पूजाके लिये निरपराध मनुष्यके रुधिरकी आहुतिकी वा कुमारी कन्या के यत्नसे रक्षा किये हुए सतीत्वका नाश करनेकी आवश्यकता होती है तो उस देवताको प्रसन्न करनेकी इच्छा वाला पुरुष बड़े परिश्रमके साथ निःशङ्क चित्तसे उस हृदयको कम्पायमान करनेवाले घोर अनर्थको भी करडालता है। किसी देवताकी उपासनाके लिये अन्न जलके त्यागका व्रत धारण करके शरीरपात करनेकी आवश्यकता होती है तो मनुष्य अकिञ्चित्कर फलको पानेकी लालसामें अनायास ही इस अशक्य कामको भी करडालता है, मनुष्यकी पहिली वासनायें ही उसको इन सब दुष्कर कामोंके करनेमें प्रवृत्त करती हैं। जन्म

जन्मान्तरसे वह ऐसी जिन कामना और तुच्छ वासनाओं का पोषण करते चले आते हैं, वह वासनायें ही अपने वश में रखकर ऐसे वेदविरुद्ध और नीच उपायोंका अनुगामी बनादेती हैं। उन वासनाओंकी प्रबलताके कारण ही जो सकल देवताओंके देवता हैं, जो सकल वासनाओंको अपनी कृपाकी कोरसे करसकते हैं। जिनकी कृपाके कणको पाकर प्राणी सहजमें ही संसारसागरके पार होकर सकल सुख और सकल आनन्दोंके साररूप मुक्तिधनका भण्डारी होजाता है, उनको भूलकर अनेकों प्रकारके क्षुद्र देवताओंकी सेवामें लग जाता है। सैंकड़ों सहस्रों सूर्य और चन्द्रमा जिनकी भौंके हिलने मात्रसे उत्पन्न और विलीन हुआ करते हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड भी जिनके रोमकूपके भीतर पड़ा हुआ है, सकल देवता जिनके गुणोंको गाकर अपने को धन्य और कृतार्थ मानते हैं, उनको छोड़कर क्षुद्र फलको पानेकी कामनासे पुरानी वासनाओंके वशमें हुआ ममुष्य अपनेको क्षुद्र देवताओंकी पूजामें लगा देता है। ऐसे छोटे चित्तवाले मनुष्य निःसन्देह बड़े अभागे हैं, इस बातको कहनेकी आवश्यकता नहीं है। आर्त्त आदि सकाम भगवद्भक्त ऐसे क्षुद्र देवताओंके सेवकों की अपेक्षा बहुत ही श्रेष्ठ है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां

श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

अन्वय और पदार्थ

(यः यः) जो जो (भक्तः) भक्त (याम् याम्) जिस जिस (तनुम्) मूर्त्तिको (श्रद्धया) श्रद्धाके द्वारा (अर्चितुम्-इच्छति) पूजना चाहता है (अहम्) मैं (तस्य तस्य) तिस तिसकी (ताम्-एव) तिस ही (श्रद्धाम्) श्रद्धाको (अचलाम्) अचल (विदधामि) करता हूँ ॥ २१ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! जो कामनाओंके वशमें होकर भिन्न २ देवताओंका भजन करते हैं, समय पाकर उन की वह भक्ति ही भगवद्भक्ति बनसकती है, क्योंकि-वासुदेव सर्वात्मा हैं तो फिर चाहे जिस देवताको चाहे जिस भावसे भजो वह वासुदेव भगवान्की ही भक्ति कहलावेगी। इसप्रकार आर्त्त आदि सकाम भक्तोंमें और निष्काम ज्ञानी भक्तमें भेद ही क्या रहा ? भगवान् कहते हैं, कि-हे सखे अर्जुन ! मैं एक हूँ, परन्तु मेरी मूर्त्तियें अनन्त हैं, चाहे किसी मूर्त्तिमें पूजा करो, यदि वह पूजा श्रद्धा और भक्तिके साथ होती है तो मैं उस ही मूर्त्तिमें उसकी श्रद्धा और भक्तिको दृढ़ कर देता हूँ, भक्ति कभी निष्फल नहीं जाती, पहिले २ जन्मोंकी वासना की प्रबलतासे लोग भिन्न २ देवमूर्त्तियोंकी पूजा करते हैं, जैसे तुम्हारे नाक कान आदि तुम्हारे अङ्ग हैं, तैसे ही देवताओंकी सब मूर्त्तियें मेरे अङ्ग हैं। जो जो भक्त श्रद्धाके

साथ जिस २ मूर्त्तिमें मेरा भजन करनेकी वासना करता है, मैं अन्तर्यामी भगवान् उस ही उस मूर्त्तिमें उस भक्तके हृदय में अचला भक्ति उत्पन्न करदेता हूँ। अनन्त ब्रह्माण्डका ईश्वर परब्रह्मस्वरूप मैं घटघटमें समान भावसे विराजमान हूँ। आकाशमण्डलमें विराजमान विशालकाय तेज और ज्योति के भण्डाररूप सूर्यनारायणसे लेकर समुद्रके किनारे पर पड़े हुए छोटेसे छोटे वालुकाके कणपर्यन्त सब ही पदार्थोंमें वह विश्वेश्वर परम पुरुष विद्यमान हैं! स्थावर और जङ्गम, कीट और पतङ्ग, मनुष्य और देवता सर्वत्र ही वह महामहिमावाले महेश्वर विराजमान हैं। यह जो नगरकी गलियोंमें एक ओर को पीपलकी जड़में धरे सिंदूरसे रँगेहुए पत्थरके टुकड़े को उस नगरके निवासी शिवकी मूर्त्ति वा भगवतीकी मूर्त्ति मान कर पूजते हैं, अथवा यह जो नगरके धनिकोंके धवल धामोंके मध्यमें दर्शनीय मन्दिरमें सुखासन पर विराजमान अनेकों आभूषणोंसे भूषित राधाकृष्णकी मूर्त्तिको नगरनिवासी सकल मनोरथ पूरे करनेवाले मानकर पूजते हैं। अथवा यह जो आकाशव्यापी हिमालयके शिखरको फाड़कर प्रसन्नसलिला भगवती भागीरथी अनेकों नगर, ग्राम, वन और पहाडोंको पवित्र करती हुई वहती चली जारही है यह देखो मनुष्य इसको ही सर्वसिद्धिदायिनी मानकर जो इसके जलमें स्नान करते हैं, इत्यादि मूर्त्तिपूजकोंकी श्रद्धा सहित भक्ति कभी निष्फल नहीं जाती है। मनुष्य मठमें की देवी से सन्तान मांगते हैं, सर्पभय दूर होनेके लिये बमईको पूजते

हैं, सूर्यसे नीरोग होनेकी प्रार्थना करते हैं, इन्द्रसे वर्षाकी कामना करते हैं, राधाकृष्णके मन्दिरमें जाकर सांसारिक सुखोंकी प्रार्थना करते हैं और भगवती गङ्गादेवीसे पाप दूर करनेकी याचना करते हैं। इत्यादि भिन्न २ रूपोंसे जो देवविग्रहोंकी पूजा कीजाती है यह देवभक्ति निष्फल नहीं होती है, इस भक्ति के प्रभावसे भक्तोंकी कामनायें सिद्ध होती हैं। मैं अन्तर्यामी भगवान् भक्तोंके हृदयके भावको जानकर कामनाओंको सिद्ध करता हुआ उन २ देवताओंके विषयमें उनके हृदयकी भक्तिको अचल कर देता हूँ, परन्तु ऐसे देवपूजक मेरे समीप में बड़ी देरीसेपहुँचते हैं। भक्ति होनेसे मेरे समीप पहुँचेगा अवश्य ही, परन्तु साक्षात् सबन्धसे मेरा भजन करनेवाला मेरे पास शीघ्र ही पहुँचजाता है॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधन-
मीहते। लभते च ततः कामान्
मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

अन्वय और पदार्थ

(सः) वह अन्य देवताका भक्त (तया) तिस (श्रद्धया) श्रद्धासे (युक्तः) युक्त [सन्] होताहुआ (तस्य) तिस के (आराधनम्) भजनको (ईहते) करता है (च) और (ततः) तिन देवताओंसे (मया—एव) मुझ करके ही (विहितान्) रचेहुए (तान्) तिन (कामान्) इच्छित पदार्थोंको

(हि) निश्चय (लभते) पाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ

जब मैं उस अन्य देवता के भक्तके हृदयमें श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूं तब वह बहुत ही दृढ़ताके साथ आराध्य देवकी पूजामें लगता है और समय पाकर निश्चय ही उस देवतासे अपने मनोरथकी सिद्धिको पाता है। मैं अन्तर्यामी हूँ, भक्तके हृदयके भावको और उसकी कामनाको जानकर उसके अभिलषित फल प्राप्तिकी व्यवस्था करदेता हूँ। मेरे विधानके अनुसार ही भक्त इष्टदेवकी पूजा करके अपने सङ्कल्पके अनुसार फल पाता है। भक्तजन इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण, भूत, प्रेत आदि चाहे तिस देवताकी पूजा करें मैं उन सबोंका ही अन्तर्यामी हूँ और सर्वत्र विराजमान हूँ। मैं भक्तको अभिलाषाके अनुसार फल पाने की व्यवस्था फलविपाकके समय ही विधिवद्ध करदेता हूँ, भक्त यथासमय फल पाकर कृतार्थ होता है। देवताओंसे जो अभिलषित फल मिलता है उसको देनेकी किसी देवतामें स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, मैं ही उसका नियामक और विधाता हूँ। मेरी ही इच्छा और कृपासे भक्तजन इष्टदेवसे अपने २ इच्छित फलको पाते हैं, यह इन्द्र आदि सकल देवता मेरे ही अङ्ग हैं, सब प्रतिमाओंमें मैं ही विराजमान हूँ, मैं ही सबके हृदयों का राजा और कर्म फल देने वाला हूँ इसलिये भक्त चाहे तिसकी पूजा करें मैं उनके हृदयके भावको जानलेता हूँ और उन २ देवताओंके द्वारा ही उनकी कामनाको सिद्ध कर देता हूँ ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प-मेधसाम्। देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

अन्वय और पदार्थ

(तु) किन्तु (तेषाम्) तिन (अल्पमेधसाम) मन्द बुद्धिवालोंका (तत्) वह (फलम्) फल (अन्तवत्) नाशवान् [भवति] होता है (देवयजः) देवताओं का पूजन करनेवाले (देवान्) देवताओंको (यान्ति) प्राप्त होते हैं (अपि) और (मद्भक्ताः) मेरे भक्त (माम्) मुझको (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ

अर्जुन ने कहा, कि–हे भगवन्! अन्य देवताओं के पूजक और साक्षात् सम्बन्ध से आपके वा परमात्मा के पूजक इन दोनों की गति तो एकसी ही होगी? क्योंकि–आपही ने तो कहा है, कि–सब देवता मेरे अङ्ग हैं, मेरा शरीर हैं। तुम्हारा प्रतिविम्ब हैं, इसलिये अन्य देवताओं की आराधना वास्तव में तुम्हारी ही तो आराधना है? फल देनेवाले भी एक आप ही हैं, फिर फल में भेद कैसे हो सकता है?। भगवान् ने कहा कि–हे सखे! "यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः"॥ एक मैं ही सर्वात्मा हूँ, परमात्मा ही सर्व शक्तिमान् है, यह सब फुलवाड़ी

मैंने ही सजायी है। ऐसे ज्ञान से वा इस विश्वास से चाहे किसी की पूजा करो वह पूजा मेरी ही होती है। सच्चिदानन्द भी मैं ही हूँ और सृष्टि स्थिति वा प्रलय करनेवाला भी मैं ही हूँ। सच्चिदानन्दत्व और सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्तृत्व यह दोनों ही भाव मेरे परमभाव हैं। मेरे परमभाव की ओर को लक्ष्य रखकर तुम चाहे तिस मूर्त्ति को लेकर पूजा करो वह मेरी ही पूजा है, परन्तु अल्पबुद्धि पुरुष ऐसा विश्वास नहीं रखसकते हैं, यह ज्ञान उनके हृदय में नहीं जमता है, इस लिये वह समझते हैं,, कि—उनके इष्टदेवताओं की अलग २ शक्ति है, इसलिये ही वह वर देनेवाले देवता शीघ्र २ फल देते हैं, परन्तु वास्तव में फलदाता मैं ही हूँ, उस मूर्त्ति के द्वारा मैं ही फल देता हूँ। उन पूजकों की अल्प बुद्धि में ऐसी अनन्त धारणा नहीं रहसकती है, इस कारण ही वह मेरी शक्ति को परिच्छिन्नसी मान लेते हैं और फिर खण्डशक्ति की ही पूजा करते हैं, वह खण्डशक्ति से जो कुछ पाते हैं वह अनन्त नहीं होता है, जो कुछ पाते हैं वह नाशवान् और थोड़े ही काल को रहनेवाला होता है, अनन्त की पूजा न करने से अनन्त फल कैसे मिल सकता है? देवतामात्र अन्तवान् हैं। इन्द्र वा सूर्य, अग्नि वा यम कोई देवता भी सदाकाल रहनेवाला नहीं है। मेरे रचे हुए नियमके अनुसार एक दिन ना एक दिन अवश्य ही इन्द्र आदिका भी अन्त होगा, जिस दिन महाप्रलय का अवसर आवेगा, जिस दिन सूर्य और चन्द्रमा, इन्द्र और वायु तथा और भी सब ही पदार्थोंका अन्त होगा उस समय

चराचर विश्वमें एक मेरे सिवाय और कुछ भी शेष नहीं रहेगा। जो देवयज हैं अर्थात् पीछे लिखे अनुसार विशेष २ देवता के सेवक हैं वह अपने २ उपास्य देवता में गमन करेंगे अर्थात् तैसी ही गति पाजायँगे यह ठीक है, परन्तु वह उपास्य देवता ही जब चिरकाल रहनेवाले नहीं हैं तो उनके पूजकोंको मिलनेवाला फल भी कुछ समय को रहनेवाला ही होसकता है। एक ज्ञानी ही मुझे पूर्णरूप से जानता है और पूर्ण भावसे मेरी पूजा करके पूर्ण भावको ही पाता है, ऐसा ज्ञानी ही ब्रह्मसे अभिन्न होने के कारण जीवन्मुक्त होता है। और आर्त्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी यह तीन प्रकारके जो भक्त हैं, वह भी कामनाओंको लेकर मेरी ही पूजा करते हैं, अन्य देवताओंकी आराधना नहीं करते हैं, इसलिये वह अन्य देवताओंके पूजकोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि-वह मेरे अनुग्रहसे पहिले अपनी २ इच्छाके अनुसार फल को पाते हैं और जब सकामभावसे हटकर निष्काम होजाते हैं, तब ज्ञानी भक्त होकर निरन्तर मेरे ही ध्यानमें मग्न रहते हैं, फिर वह निरन्तर यही अनुभव करते हैं, कि-मैं ही उनका आत्मदेव हूँ। इसलिये ही कहता हूँ, कि-जो अन्य देवताओं के भक्त हैं उनसे मेरे सकाम भक्त श्रेष्ठ हैं और उन सकाम भक्तों की अपेक्षा मेरे निष्काम ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं। इस सब अभिप्राय पर ध्यान देनेसे सिद्ध होता है, कि-भगवान्ने जो आर्त्त आदि सकाम भक्तोंको उदार नामसे कहा है वह सर्वथा उचित है ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते

मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अबुद्धयः) विवेकहीन पुरुष (मम) मुझ परमेश्वरके (अव्ययम्) नित्य (अनुत्तमम्) जिससे कोई उत्तम नहीं है ऐसे (परम्) सबके कारणरूप (भावम्) स्वरूपको (अजानन्तः) ग्रहण न करते हुए (अव्यक्तम्) अप्रकाश रूप (माम्) मुझ परमेश्वरको (व्यक्तिम्) प्रकाशभावको (आपन्नम्) प्राप्त हुआ (मन्यन्ते) मानते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आप सर्वेश्वर हैं, ऐसे आपको छोड़कर अल्पबुद्धि पुरुष जो अन्य देवताओंका भजन करते हैं, इससे ही उनकी अल्प बुद्धि का पता मिलता है। लीलाके निमित्त तुम जिस मूर्त्तिको ग्रहण करते हो उस मूर्त्तिको देखकर वह यह समझते हैं कि–तुम परिच्छिन्न (थोड़ेसे स्थानमें रहनेवाले) होगये हो । आपकी मायामानुषमूर्त्ति वा मच्छ कच्छप आदि मूर्त्तियोंको देखकर वह यह समझते हैं, कि–तुम मनुष्यसरीखे या अन्य प्राणियोंकी समान होगये हो, ऐसा भ्रम उनको क्यों होता है ?। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! मेरा परमभाव अर्थात् मेरा परमात्मस्वरूप अव्यय है, इस भावका व्यय नहीं होता यह भाव एकरूप रहता है और यह भाव सबसे उत्तम है। यह भाव

ही मेरा सच्चिदानन्दस्वरूप है और यह भाव ही मेरी सृष्टि स्थिति-प्रलय करनेकी शक्ति है। मेरे इस परमभावको न जाननेके कारणसे ही देह धारणसे पहिले अव्यक्त जो मैं तिस मुझको व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मान लेते हैं। यह एक बात और भी मानते हैं, वह यह, कि-जब मैं अव्यक्तभावमें रहता हूँ अर्थात् जब म ब्रह्मभावमें स्थिति करता हू उस समय मेरा भजन नहीं होसकता और जब व्यक्तभावमें होता हूँ उस समय भी यह विचारते हैं, कि-मेरा भजन करना ठीक नहीं। "व्यक्तिमापन्नः,, का अर्थ है-प्रकाशभावको प्राप्त--मत्स्य, कूर्म, मनुष्य आदि भावको प्राप्त। मैं मत्स्य, कूर्म मनुष्य आदि भावको प्राप्त होता हूँ, ऐसा मनमें लाकर यह मेरे अवतार धारण करनेको कभी असम्भव मान बैठते हैं और कभी मत्स्य, कूर्म आदि पूजाके योग्य नहीं हैं ऐसा मानकर पूजा नहीं करते हैं, परन्तु वास्तविक बात यह है, कि-मैं चाहे तिस भावसे अवतार धारण करूँ उससे मेरे अविनाशी परमभावमें जरा भी बाधा नहीं आती है। परमभाव को लिये हुए ही मैं अवतार धारण करता हूँ। सर्वदा निजस्वरूपमें रहकर भी मैं अपनी मायाके द्वारा जन्म ग्रहण करनेवाला सा होजाता हूँ। मनुष्यके जन्म और कर्मकी समान मैं भी जन्म और कर्मका अनुकरणमात्र करता हूँ। जो मेरे परमभावको जानता है वह चाहे जिस भावसे मेरे प्रकाशको देखै, परन्तु साथमें-मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं सृष्टि स्थिति प्रलयका कर्त्ता हूँ, इस तत्त्वको वह कभी नहीं भूलता है। मैं परमभावको छोड़कर राम-कृष्ण-रूप

संसारी राजपुत्र बनगया हूँ, शरीराभिमानी होगया हूँ अथवा सर्वथा मच्छ, कच्छ आदि बनगया हूँ, ऐसा समझ बैठनेकी भूल वह कभी नहीं करसकता । परन्तु जो मेरे परमभाव को नहीं जानते हैं, वह ही मेरे अवतार आदिको न मान कर और शरीर धारणसे पहिले ब्रह्मभावमें स्थित अव्यक्तरूप मुझको भी पूजाके अयोग्य मानकर अन्य देवताकी पूजा करते हैं । मैं अपने स्वरूपमें रहकर भी मायामनुष्य बन सकता हूँ, मच्छ, कच्छप आदि भी होसकता हूँ, । जिस मनुष्य ने अनेकों दुष्ट कर्म किये हैं वह अपने नीच चरित्रको जानकर भी जब साधु बनसकता है । वृद्ध पुरुष, मैं बूढ़ा हूँ ऐसा जानकर भी जब बालक बनकर बालकके सा अभिनय करसकता है, अल्पशक्तिवाले मनुष्यके लिये जब ऐसा संभव है तो सर्वशक्तिमान् मेरे लिये यह बात असंभव कैसे होजायगी ? । अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! इस सब बात को आप और स्पष्ट करके कहिये ? । भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! मैं जब ब्रह्मभावमें होता हूँ, उस समय मेरे परमभाव को न जाननेवाला समझता है, कि–ब्रह्म निःस्पृह है, अचल है, सदा उदासीन है, ऐसे ब्रह्मकी उपासनासे क्या फल होगा ? । मनुष्य मरे या जीता रहे, ब्रह्माण्ड डूब जाय चाहे जल जाय इसमें ब्रह्मकी कुछ हानि नहीं है, ब्रह्म अपने आनन्दमें चलन रहित है, उसके निकट रचित वस्तु तो क्या सृष्टिमात्र नहीं है, वह एक है, दो नहीं है, प्रकृतिपर्यन्त नहीं है। ऐसे ब्रह्मका भजन करने पर क्या वह समाधिको छोड़कर हमारा उपकार करने

को आवेंगे ? । ऐसा विचार कर वह मेरे ब्रह्मभावका भजन नहीं करते हैं । और जब मैं अपनी मायाके द्वारा अवतार-भावको धारण करता हूँ उस समय मेरे जन्म और कर्मके तत्त्वको न समझ कर विचारते हैं, कि—मैं मच्छ, कच्छ, वराह, राम, कृष्ण आदि होगया हूँ, उस समय मुझमें मच्छ, कच्छ, शूकर, मनुष्य आदिका भाव ही है । मैं जब अवतार लेकर मनुष्यकी समान स्त्रीके शोकसे व्याकुल होता हूँ, पिता, माता, स्त्री, पुत्र आदिको लेकर संसारके व्यवहार करता हूँ, मनुष्य-भावसे ही मैं रासलीला करता हूँ, उस समय विचारता है, कि मैं मनुष्यके सिवाय और कुछ नहीं हूँ, तथा कहता है कि—इन मच्छ,कच्छ, वराह मनुष्य आदिका भजन करनेसे क्या होगा ? यदि वह समझ जाय कि—मैं ब्रह्मभावमें भी रहता हूँ और मच्छ कच्छ मनुष्य आदि भी होजाता हूँ। मेरा परमभाव मुझमें से कभी जुदा नहीं होता, मेरा परमात्मभाव सदा ही मुझमें रहता है । मैं सदा ही सृष्टि स्थिति और प्रलयका कर्त्ता हूँ, और सदा ही सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ । यदि वह मेरे इस भाव को जान जायँ तो मुझे छोड़कर, दुर्गा काली सीता राधा राम कृष्ण आदि और सूर्य अग्नि वरुण ब्रह्मा विष्णु महादेव इन्द्र पवन यम वसु साध्य और विश्वेदेवताओंको मुझसे भिन्न मानकर इनको अलग २ शक्ति समझ कर अपनी अपनी कामनाओंको सिद्ध करनेके लिये इनका फिर स्वतंत्र भजन न करें । अर्जुनने कहा कि—हे भगवन् ! इन सब बातोंको सुनकर लोग समझेंगे कि—तुम अखण्ड सच्चि-

दानन्द हो और खण्ड मूर्त्तियोंकी पूजासे तुम्हारी पूजा नहीं होती है। तुम सर्वव्यापी अनन्त हो तुम्हारा अवतार भी नहीं होता है, तुम सबके साक्षी निराकार हो तुम्हारा आकार ग्रहण करना नहीं बनसकता, फिर तुम्हारा अवतार तो हो ही कैसे सकता है ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! जो ऐसा समझते हैं उनके लिये ही मैंने अल्पमेधा और अबुद्धि आदि कहा है अर्थात् ऐसे पुरुषोंकी बुद्धि थोड़ी होती है और वह मेरे विषयमें विवेकहीन होते हैं। इनको देवताओं की वा अवतारोंकी पूजा नहीं करनी होगी यह कौन कहता है ? देवता मुझसे अलग नहीं हैं। मैं तो स्वयं कहचुका हूँ, कि-"देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः„ विष्णुपुराण भी कहता है-"नमो नमोऽविशेष त्वं ब्रह्मा त्वं त्वं पिनाधृक् । इन्द्रस्त्वमग्निः पवनो वरुणः सविता यमः ॥ वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवगणा भवान् । योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः ॥ स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान् । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारः प्रजापतिः ॥„ इत्यादि लेखके अनुसार देवता मेरे अङ्ग हैं, मैं ही सर्वव्यापी हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूं, मैं ही पिनाकधारी महादेव हूं, मैं ही इन्द्र अग्नि पवन वरुण सूर्य यम वसु मरुत् साध्य और विश्वेदेवा हूं, मेरे समीपमें जो यह देवता हैं यह भी मैं ही हूं। मैं ही जगत् का सृष्टिकर्त्ता हूं, क्योंकि-मैं सर्वगत हूं, मैं यज्ञ हूं, मैं वषट्कार हूं मैं ओंकार हूं और मैं ही प्रजापति हूं, मैं जब विश्वरूप दिखाऊंगा तो तू मुझमें ही सब कुछ देखेगा, मेरी मूर्त्तियें

अनन्त हैं। चाहे तिस मूर्त्तिका आश्रय लेकर गणेश वा सूर्य देवी वा लक्ष्मी शिव वा विष्णु चाहे तिस मूर्त्तिका अवलम्बन लेकर जब मनुष्य मेरे परमभावको देखता है उसको ही सच्चिदानन्द और सृष्टि स्थिति प्रलयका कर्त्ता मान जिस समय ध्यान करता है उस समय मेरी ही उपासना होती है जो यह समझता है, कि–यह देवशक्तियें यह खण्डशक्तियें मुझ आत्मदेवसे भिन्न स्वतंत्र शक्तियें है, तो निश्चय करलो कि–वह शास्त्रके सच्चे अर्थको समझा ही नहीं। मेरी कृपा हुए विना मनुष्य मेरे परमभावको नहीं जानता है। अर्जुन ने कहा, कि–हे भगवन्! तब तो हर एक वस्तुमें परमभावका लक्ष्य रखकर उसकी उपासना करने पर वह आपकी ही उपासना कहलावेगी?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! ऐसा तो है ही। परन्तु यदि कोई किसी एक मनुष्यमें परमभावका लक्ष्य रखकर उसकी उपासना करने लगेगा तो उसमें संशय और विपर्यय दोष आवेगा। यह भी तो सुख दुःख आधि व्याधि आहार निद्रा भय और मैथुनके वशमें है, ऐसी भावना होते ही संशय होजायगा, मनमें आवेगा कि–यह ईश्वर कैसे होसकता है? तथा–नहीं नहीं यह भगवान् नहीं है, ऐसा विपर्यय भी होना सम्भव है। यह उत्पन्न हुआ है, इसका भी शरीरत्याग होगा? ऐसा संशय विपर्यय होने पर मेरे परम भावमें लक्ष्य करके भजन करना कहां हुआ?। कहा है, कि–गुरु, इष्ट मंत्र और इष्ट देवताको एकरूप मानकर उपासना करै। अल्पबुद्धि मनुष्य मनुष्यदेहधारी गुरुको ईश्वर नहीं मान

सकता । स्त्रियें पतिमें नारायणभाव नहीं करसकतीं, यह उनकी परमभावकी धारणा न होनेका ही फल है, उनमें साधना नहीं है, इसलिये ही वह ऐसा नहीं करसकतीं । नहीं तो शास्त्र कहता है, कि—गुरुको ईश्वर मानो, मनुष्यों से ऐसा बनता नहीं इसलिये मेरे राम कृष्ण आदि अवतारोंमें वा देवी सीता राधा आदि शक्तियोंमें परमभाव और अलौकिकताका अधिक प्रकाश होनेसे लोग इनके भजनकी ओरको सहजमें ही ढल सकते हैं, इस लिये मेरे जन्म कर्मके तत्त्वको फिर स्मरण करके देख । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! क्या इस श्लोकके द्वारा कोई यह सिद्ध नहीं करसकता, कि—आपका अवतार हो ही नहीं सकता ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! जो यह समझते हैं, कि—ब्रह्म निराकार है, सर्वव्यापी है, सर्वान्तर्यामी है वह कहते हैं, कि—जो निराकार सर्वव्यापी है वह अवतार कैसे लेसकता है ? अवतार लेते ही तो उसका सर्वव्यापीपना नहीं रहसकेगा, वह तो परिच्छिन्न (थोड़ेसे स्थान में रहनेवाला) होजायगा, फिर उसमें ईश्वरपना कहाँ रह जायगा ? । इसलिये यह लोग अनेकों प्रकार की गढ़न्त करते हैं और मेरे मच्छ कच्छप आदि अवतारों को रूपकमात्र मानते हैं तथा कहते हैं, कि—जगत् की क्रमोन्नति दिखाने के लिये ही शास्त्र ने ऐसी कल्पना करी है। पहिले मच्छ और उसके अनन्तर उससे उन्नत कच्छप, फिर और भी उन्नत वराह (पशु) फिर और भी उन्नत नरसिंह (आधा पशु और आधा मनुष्य), फिर मनुष्य, परन्तु असभ्य

मनुष्य परशुराम कि-जिसका काम मनुष्यों का नाश करना था, फिर राम और फिर सर्वोत्तम मनुष्य कृष्ण, फिर बुद्ध और अन्तमें कल्कि अवतार की शास्त्र कल्पना करता है, शास्त्र इससे अधिक उन्नत अवतार की कल्पना कर ही नहीं सकता। इस प्रकार मूढबुद्धि पुरुष कहते हैं, कि-अवतार में कुछ तत्त्व है ही नहीं और ऐसी ही बातें सुना २ कर लोगों को नास्तिक बनाना चाहते हैं। मत्स्यकी अपेक्षा और छोटा तथा बुद्धिमान् जीव भी तो है, चींटी, दीमक आदि में मत्स्य से अधिक बुद्धि होती है, फिर सबसे पहिला उन्नत जीव मत्स्य ही कैसे होगया और यदि कृष्ण ही आदर्श और सब से उन्नत पुरुष होगये तो फिर बुद्ध और कल्कि कैसे हुए? ऐसा विचार करना उन लोगों की बुद्धि का दोष है, तब ही तो वह यह समझते हैं, कि-मैं अवतार नहीं लेसकता। मैं अवतार क्यों नहीं लेसकता, इसलिये ही, कि-मैं सर्वशक्तिमान् हूँ तो क्या मुझमें अवतार लेने की शक्ति नहीं है? फिर मुझको (परमात्मा को) सर्वशक्तिमान् ही कैसे कहा जासकता है? यह लोग ब्रह्माण्ड को मेरी मूर्त्ति मानते हैं, परन्तु यदि ब्रह्माण्ड ही मेरा रूप है तो क्या वह भी निराकार और सीमारहित (अपरिच्छिन्न) है? एक मनुष्य को विश्वरूप अनन्तसा प्रतीत होसकता है, परन्तु मेरी दृष्टिमें ब्रह्माण्ड कौन वस्तु है?। करोडों ब्रह्माण्ड त्रसरेणुओं की समान मेरे एक अति क्षुद्र देशमें लुढ़कते रहते हैं। लिखा है, कि-"परमार्कप्रकाशान्तस्त्रिजगत्त्रसरेणवः। उत्प-

त्योत्पत्यलीना ये न संख्यामुपयान्ति ते ॥,, मैं सब ही रूपों से प्रकाशित होसकता हूँ, यह शक्ति मुझमें है। मैं चाहे जैसे छोटे और चाहे जैसे बड़े रूपमें प्रकाशित होऊं, मेरे परमभाव वा मेरे स्वरूपमें ओछाई कभी नहीं आती है। मैं अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही अनेकों मूर्त्तियोंको धारण करके क्रीड़ा करता हूँ। जो मेरे परमभावको समझा हुआ है वह मेरी खण्ड मूर्त्तिमें भी अखण्ड भावको देखेगा। मैं ग्यारहवें अध्याय में अपनी इस परिच्छिन्न (छोटीसी) वासुदेव मूर्त्तिमें ही तुझे विश्वरूप दिखाऊँगा। सार यह है, कि—मैं निराकारकी घनीभूत साकारमूर्त्ति भी होजाता हूँ, एक छोटीसी विन्दुमें एकाग्र होने पर भी तू निराकारमें पहुँच सकता है, निराकारके सब ही स्थानमें साकार है और साकारकी हरएक विन्दुमें निराकार है। मैं साकार निराकार सब कुछ हूँ, अव्यक्त रह-कर भी मैं अपने पूर्णभावमें कुछ भी सङ्कोच न करके व्यक्ति-भावको प्राप्त होसकता हूँ। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! आपने जो अवतारका तत्त्व समझाया इसको मैं समझगया, परन्तु अब यह जानना चाहता हूँ, कि—साक्षात् सम्बन्धसे आपका भजन करनेमें जो परिश्रम होता है, अन्य देवताओं की उपासनामें भी वही परिश्रम होता है तथापि आप दोनों प्रकारका भजन करनेवालोंको फल मिलनेमें भेद दिखाते हैं तो फिर लोग अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं?। भगवान्ने उत्तर दिया कि—हे सखे! अल्प बुद्धि होनेके कारण से ही लोग ऐसे भ्रममें पड़ते हैं। चाहे तिस मूर्त्तिका आश्रय

लेय परन्तु उस मूर्त्तिकी शक्तिको मुझसे अलग न समझे प्रत्युत यह समझै कि-सच्चिदानन्दस्वरूप और सृष्टि स्थिति प्रलय करनेवाले मैंने ही इस मूर्त्तिको धारण किया है तो ऐसे सब लोग मानो साक्षात् संबन्धसे मेरा ही भजन करते हैं। पञ्चदेवके उपासक ऐसे ही भावसे मेरी ही उपासना करते हैं, इस कारण क्या शाक्त, क्या शैव, क्या सौर, क्या गाणपत्य और क्या वैष्णव सब मुझको ही प्राप्त होते हैं और यदि मेरे परमभावमें लक्ष्य नहीं होता है तो मैं किसी मूर्त्तिमें भी प्रकाशित नहीं होता हूँ। देख भैया अर्जुन ! मैं ही गुरुरूप हूँ और मैं ही मायामनुष्य हूँ। मैं स्थिर रहकर भी चलता हूँ और चलता हुआ भी स्थिर रहता हूँ, इसका तत्त्व और भी अनेकों वार कहूँगा। मेरा भक्त ही मुझको पहचानसकता है। भक्तके सिवाय और पुरुष मुझको साधारण मनुष्यकी समान समझते हैं, कभी अधिक शक्तिवाला मनुष्य मानलेते हैं, मेरे सच्चिदानन्दस्वरूपको जाने विना कभी भी कोई मेरा भक्त नहीं बन सकता। एक सच्चिदानन्द पुरुष ही अपनी शक्तिके आश्रयसे बहुतसे पुरुष और प्रकृतिरूप बनताहुआ भिन्न २ देहोंकी रचना करके मानो अलग २ होकर क्रीड़ा करता है। सार यह है, कि-जगत्में उसके सिवाय और कुछ है ही नहीं, तेरा मन जो इस सनातन पुरुषको मनुष्य मानकर देखता है, यह ही तेरा अज्ञान है और तेरा मन ही जब तेरे उपास्यको सच्चिदानन्द और सृष्टि स्थिति तथा प्रलयका कर्त्ता देखेगा, जब आत्मदेवको लक्ष्य करके सब स्तुति आदि आत्मदेवके ऊपर

ही करसकेगा और साथ ही साथ शास्त्रके मतकी साधना करके इस भावसे नित्य अभ्यास करेगा उस समय ही तेरा अज्ञान दूर होजायगा। अल्पबुद्धि पुरुष तपस्यासे शून्य होनेके कारण सैंकड़ों वार सुनने पर भी मेरे परमभावकी धारणा नहीं करसकता है, किन्तु अनेकों प्रकारके संशय विपर्ययके भावको लेकर अनेकों क्लेश भोगता है ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः। मूढोऽयं नाभिजा-नाति लोको मामजमव्ययम् २५

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं परमेश्वर (योगमायासमावृतः) योगमाया से आच्छन्न होता हुआ (सर्वस्य) सबको (प्रकाशः) प्रकट (न) नहीं [भवामि] होता हूँ (मूढः) ज्ञानहीन (अयम्) यह (लोकः) लोक (अजम्) जन्मरहित (अव्ययम्) नित्यस्वरूप (माम्) मुझको (न) नहीं (जानाति) जानता है ॥ २५ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! मैं योगमायासे ढक जाता हूँ तब सबको नहीं दीखता हूँ। इसलिये ही यह मूढ़ मनुष्य मुझ जन्म मरण रहित के स्वरूपको नहीं जानता है। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन् ! योगमाया कौन है ? जब तुम

योगमायासे ढकजाते हो उस समय ब्रह्मस्वरूपमें तो होते नहीं हो, ऐसे ही समय तो तुम अवताररूप हो ?। भगवान् ने कहा, कि–हे सखे ! मायाका स्वरूप छठे अध्यायके १३, १४, १५ वें श्लोकमें कहचुका हूँ; गुणोंका योग होनारूप जो माया है, उसको ही योगमाया कहते हैं। मैं जब ब्रह्मस्वरूपमें रहता हूँ, उस समय वाणी और मनके अगोचर होता हूँ, वाणी और मनके द्वारा मुझे कोई नहीं पासकता, परन्तु जब योग मायाके द्वारा भले प्रकार ढकजाता हूँ तब गुणवान्सा होजाता हूँ ! जो निर्गुण ब्रह्म है उसके विषयमें श्रुति कहती है, कि– "नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः ।" अर्थात् यह तुरीय आत्मा, यह प्रभु स्वरूपावस्थामें स्वप्नका अभिमानी अन्तःप्रज्ञ नहीं होता है, और जाग्रत्का अभिमानी बहिःप्रज्ञ भी नहीं होता है अर्थात् वह न स्वप्नका अभिमान करता है और न जाग्रतका ही अभिमान करता है। वह स्वप्न और जाग्रत्की सन्धि–अवस्थासे भी भिन्न है। वह तुरीय प्रभु प्रज्ञानघन नहीं है अर्थात् सुषुप्तिके अभिमानी आत्मासे भी भिन्न है। वह प्रज्ञ नहीं है, सर्वज्ञसे भी भिन्न है। वह अप्रज्ञ भी नहीं है, अज्ञान रूप भी नहीं है। ब्रह्म में जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति भ्रममात्र है, जैसे कि–रज्जुमें सर्प का भ्रम होता है, उसकी कोई उपाधि नहीं है, वह तुरीय तीन अवस्थाओं से पर चौथा पाद है,

वह अदृष्ट है अर्थात् उसको इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं कियाजाता है, वह अव्यवहार्य है अर्थात् उसका व्यवहार नहीं किया जासकता। वह अग्राह्य है, कर्मेन्द्रियोंके द्वारा उसको ग्रहण नहीं किया जासकता, वह अलक्षण है अर्थात् उसको अनुमान के द्वारा लक्ष्य नहीं कियाजासकता, वह अचिन्त्य है, उसके स्वरूप का चिन्तवन नहीं होसकता, वह अव्यपदेश्य है—उसको शब्द से नहीं कहाजासकता, वह एकात्मप्रत्ययसार है अर्थात् जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें वह एक ही चैतन्यस्वरूप आत्मा है ऐसे निश्चय के विश्वासमात्र से प्राप्त होता है। वह प्रपञ्चोपशम कहिये जगत्प्रपञ्चरूप उपाधि से रहित है, शान्त कहिये राग द्वेष आदि से शून्य है, शिव कहिये मङ्गलमय परमशुद्ध है, अद्वैत कहिये भेदभाव से शून्य है, निर्विशेष कहिये शुद्धचिन्मात्र है और चतुर्थ कहिये तीन चरणों से पर तुरीय ब्रह्म है, वह उपाधिरहित तुरीय ही आत्मा है, निर्गुण ब्रह्म जब गुणवान् होता है उस समय वह सर्वेश्वर है, वह सबको जानता है, अन्तर्यामी है, सबके अन्तरात्मा में रहकर प्रेरणा करता है, यह प्राज्ञ पुरुष ही सबकी योनि अर्थात् कारणस्वरूप है, क्योंकि—यह सबकी उत्पत्ति और प्रलयस्थान है, श्रुति इसकी ओर को ही लक्ष्य (इशारा) करके कहतीं है, कि—"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।" यही अवतार धारण करता है, योगमाया से आच्छन्न होकर ही यह मनुष्य मच्छ कच्छप आदि रूपसे अवतीर्ण होता है और इसकी स्वरूपस्थिति क्षण

भर को भी विलग नहीं होती है, देह धारण तीनों गुणों के योग (मेल) से ही होता है, यह ही माया है, यह ही आत्मस्वरूप को ढके रहता है, मेरी माया मेरे वशमें है । मैं मायाधीश हूँ, परन्तु मनुष्य माया के वशमें है । इधर मैं माया से आच्छन्न हूँ, उधर जीव भी माया से मोहित है, इस कारण भक्त के सिवाय और कोई भी मुझे जानने नहीं पाता है । यह मूर्त्ति भी मैं ही हूँ इस बातको जानने के लिये भी उपासना करनेकी आवश्यकता है । उपासनाके द्वारा मेरा अनुग्रह होने पर मेरी मायाके परदेको फाड़कर भक्त पुरुष जन्ममरणसे रहित रूपमें मुझको जानसकता है, जो साधक भक्त नहीं है वह मुझे नहीं जानसकता । "त्रिभिगुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥„ इस मेरे उपदेशको स्मरणकर । अर्जुनने कहा कि-हे भगवन् ! तीनों गुणोंका योग कहिये एकत्र स्थिति क्यों होती है? । भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! "योगो मम सङ्कल्पः„ योग मेरा ही सङ्कल्प है । मेरे सङ्कल्प के वशमें रहनेवाली जो माया उसका ही नाम योगमाया है । भक्तजन मेरे सङ्कल्पके वशमें रहनेवाली मायासे ढकेहुए हैं । परन्तु इस बातको सब ही जानते हैं, कि-"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते„ भक्तजन अपने अहं अभिमानको त्याग कर मेरा आश्रय लेते हैं । हमारी कुछ शक्ति नहीं है, ऐसा जानकर मेरी शरण लेतेहुए मेरी उपासना करते हैं और मेरे अनुग्रहसे रजोगुण तथा तमोगुणको लांघ-

कर नित्य सत्त्वगुणमें स्थिति करते करते गुणातीत होकर मुझे पाजाते हैं। परन्तु अभक्त पुरुष अपने अहं अभिमानमें भर कर मेरे आश्रयमें आना ही नहीं चाहते। वह कभी मेरी राम कृष्ण आदि मूर्त्तियोंको परिच्छिन्न जानकर मूर्त्तिपूजा नहीं करते हैं, कभी किसी प्रकारकी भी उपासना न करके अपने अहङ्कारमें भरेहुए सोऽहं सोऽहं रटा करते हैं। यह गिरिगोवर्द्धनको भी धारण नहीं करते, मरे हुए गुरुपुत्रको भी जीवित नहीं कर सकते, किसी असुरका भी नाश नहीं करसकते तो भी सोऽहं सोऽहं करते हुए कृष्ण परमात्मा बनने को तयार होजाते हैं, इनके ऊपर यह मोहका परदा योगमाया ने ही डालरक्खा है। जो भक्तजन हैं वह परम दीन होकर गुरुकी बतायी हुई साधनाके द्वारा प्राणपणसे मेरी उपासना करते हैं, उपासनाके द्वारा मेरी प्रसन्नता पाते हैं, उस समय मैं अपनी मायाका परदा हटाकर उनको स्वरूपमें दर्शन देता हूँ॥ २५॥

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन॥ २६ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (अहम्) मैं (समतीतानि) बीते हुए (च) और (वर्त्तमानानि) वर्त्तमान (च) और

(भविष्याणि) आगेको होनेवाले (भूतानि) प्राणियोंको (वेद) जानता हूँ (तु) परन्तु (माम्) मुझको (कश्चन) कोई (न) नहीं (वेद) जानता है ॥ २६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आपने कहा, कि-योग मायासे आवृत हुए मुझको सब लोग नहीं देखसकते हैं तो उस योगमायाका प्रभाव आपकी दर्शनशक्ति पर भी होता है या नहीं ? । श्रीभगवान्ने कहा कि-हे सखे ! योगमाया मेरी दर्शनशक्तिको कभी नहीं रोकसकती, मायाके प्रभाव से सब लोगोंके मोहित होजाने पर भी मैं मायाके प्रभावके वशमें नहीं होता हूँ । यह ठीक है, कि-मनुष्यका ज्ञानचक्षु मायाके प्रभावसे ढकजाता है, परन्तु मेरा ज्ञान कभी नहीं ढकता है, क्योंकि-मैं मायाकी प्रभुतासे बाहर हूँ, मैं सबसे उत्तम मायावी और परमपुरुष हूँ । जो जो व्यापार बीतचुके हैं, कि-जिनका अब मानवी राज्यमें चिन्हमात्र भी नहीं रहा है, जिनका स्मरण भी मनुष्योंके चित्तमेंसे चिरकालसे विदा होचुका है, उन सब व्यापारोंके तत्त्वको भलेप्रकारसे जानता हूँ । जो जो व्यापार (घटनायें) आजकल होते रहते हैं उन को सब ही जानते हैं, यह ठीक है, परन्तु वर्त्तमानकालमें होनेवाली घटनाओंका जो जो अंश जिस २ मनुष्यके नेत्रों के सामने उपस्थित होता है अथवा जिस २ घटनाका समाचार उनके कानों तक पहुँचजाता है उसको ही वह जानते हैं, परन्तु ऐसा कोई सुयोग प्राप्त न होने पर भी मैं वर्त्तमान

कालकी सब घटनाओंको जानसकता हूँ तथा जो जो घटनायें आगे के समयमें होंगी उनके विषयमें मनुष्य अनेकों प्रकारकी झूठी और असम्बद्ध कल्पनायें करके बैठ रहता है, उनका आवृत (ढकाहुआ) ज्ञान भविष्यके परदेको हटाकर उन घटनाओंको प्रत्यक्षकी समान करके उनके वास्तविक तत्त्वको नहीं बतासकता, परन्तु मैं त्रिकालदर्शी वासुदेव हूँ आगेके समयमें जो जो कार्य होंगे, उनके तत्त्वको भी मैं अच्छे प्रकार से जानता हूँ। इन तीनोंकालमेंके स्थावर जङ्गम आदिका वृत्तान्त पूरा २ मेरे ज्ञानगोचर है। मनुष्यका क्षुद्र विज्ञान और नाममात्रकी अभिज्ञता (जानकारी) ऐसे परिपूर्ण ज्ञान के सामने चिरकालसे शिर झुकाये हुए है। मोहसे ढकाहुआ मनुष्यसमाज छोटीसी शक्तिके प्रभावसे अपनेको सर्वदर्शी और सर्वज्ञ मानता है तो भी पग २ पर उनका भ्रमरूप ज्ञान अनन्त ब्रह्माण्ड की कीर्त्ति और महत्त्वकी आलोचनामें प्रवृत्त होकर नीचेको शिर कियेहुए लौट आताहै और ज्ञानकी अत्यन्त ही हीनताके कारण वह आप ही अपनी दृष्टिमें हास्यके पात्र बनते हैं, तो भी वह मायाके मोहसे ढकेहुए मनुष्य, अज्ञानकी प्रबलताके कारण उस अज्ञानके ही आश्रयसे ज्ञान पानेका उद्योग करते हैं। परन्तु मैं सर्वेश्वर और सर्वज्ञ परमेश्वर हूँ, इस लिये मेरा ज्ञान मायाके प्रभावसे कभी भी आच्छन्न नहीं होता है, इसी लिये तीनों कालकी सकल घटनाओंके वास्तविक तत्त्वको मैं निःसन्देहरूपसे जानता हूँ। परन्तु हे अर्जुन! यह बड़े ही अचरजकी बात है, कि—मैं ऐसा सर्वज्ञ और सर्व-

दर्शी होने पर भी किसीके जाननेमें नहीं आता। मेरे कृपापात्र भाग्यवान् भक्तजनोंके सिवाय अन्य पुरुष मेरी मायासे ज्ञान ढकजानेके कारण न मुझे जानते हैं, न मुझे समझते हैं और न मेरा दर्शन ही पाते हैं। वह जब मुझे जानते नहीं, समझते नहीं और मेरी धारणा ही नहीं करसकते तो फिर वह मेरा भजन करनेमें लगसकें यह कैसे संभव होसकता है? वास्तव में मेरे तत्त्वको पानेवाले भक्तोंके सिवाय और सब ही माया मोहके परदेसे ढककर मेरी उपासनासे विमुख रहते हुए ही समयको बिताते हैं, करोड़ों पुरुषोंमें एक भी मेरा ज्ञानी मिलना बड़ा कठिन है, मैं सब प्रकारसे मायाके पार हूँ, माया मेरे तेजके प्रभावसे दबी रहती हैं, मेरे वशमें रहती हुई मेरी सेवा करती है, इसलिये वह मेरा कुछ विगाड़ नहीं करसकती, मेरे विशुद्ध ज्ञानको ढकनेकी शक्ति उसमें है ही नहीं इसकारण मैं सबको जानता हूँ और मुझे कोई मायामोहित जीव नहीं जानता, माया मुझमें भ्रमज्ञान उत्पन्न नहीं करसकती, जीव को ही भ्रमज्ञानमें डुबोती है। जैसे कोई बाजीगर इन्द्रजाल दिखाकर देखनेवालोंको मोहित करदेता है परन्तु अपने आप मोहित नहीं होता, स्वयं उस इन्द्रजालको इन्द्रजाल ही मानता है सच्चा नहीं जानता तैसे ही मैं भी अपने स्वरूपमें रहता हूँ, और जीव मेरी मायाके द्वारा मोहित होजाता है, परन्तु जो मेरे अनन्य भक्त होते हैं वह मायाके परदेको फाड़कर ज्ञानके प्रकाशमें पहुँचते हुए मेरा साक्षात् दर्शन पाते हैं॥ २६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन

भारत । सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(भारत) हे भरतवंशी (परन्तप) हे शत्रुओंको ताप देनेवाले (सर्गे) स्थूल शरीरकी उत्पत्ति होने पर (इच्छाद्वेषसमुत्थेन) अनुकूल विषयमें राग और प्रतिकूल विषयमें द्वेषसे उठे हुए (द्वन्द्वमोहेन) शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न हुए मोह करके (सर्वभूतानि) सकल प्राणी (संमोहम्) ज्ञानहीनताको (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आपने जो कहा, कि—आप सबको ही जानते हैं और आपको कोई नहीं जानता, इसका क्या कारण है ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! यद्यपि मैं पीछे पचीसवें श्लोकमें बताचुका हूँ कि—योगमाया से ढकजानेके कारण प्राणी भगवत्तत्त्वको नहीं जानसकते, अब इस बातको और स्पष्ट करके कहता हूँ, सुन—प्राणियों को शरीर इन्द्रिय आदिमें अभिमान होता है और संसारके विषयोंको भोगनेकी लालसा रहती है, यह दोनों बातें ही भगवत्तत्त्वको जाननेमें असमर्थ बनाये रखती हैं । जिस समय प्राणियोंके स्थूल शरीरकी उत्पत्ति होती है उसी समय इनको इच्छा और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं । किसी विषय को पाने के लिये मनमें अत्यन्त आग्रहके साथ वासना होनेका नाम

इच्छा है जो चित्तको अरुचि उत्पन्न करनेवाली वा अप्रसन्न करनेवाली है उस प्रतिकूल वासनाके विषयमें विराग का नाम द्वेष है। इन इच्छा और द्वेषसे सरदी गरमी सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंके द्वारा मोह उत्पन्न होता है। जब शीतको सुखदायक मानता है तब उष्णतामें आप ही विराग होता है, ऐसे समय शीतके बदले ग्रीष्मकी उत्पत्ति होने पर मनुष्य अत्यन्त दुःखित होता है। वास्तवमें यह द्वन्द्व कुछ भी नहीं हैं। यह सब मात्रास्पर्शीमात्र हैं, एक वार द्वितीय अध्यायके चौदहवें श्लोक पर ध्यान दे। उन सब मात्रास्पर्शरूप द्वन्द्वोंके मिथ्या होने पर भी मनुष्य आदि प्राणी उनसे सुख मिलने पर प्रफुल्ल और दुःख मिलने पर बड़े कातर होजाते हैं तथा अपनेको सुखी वा दुःखी मानकर मोहग्रस्त होजाते हैं। इस प्रकार सकल प्राणी मोहकी अधीनता रूप फांसीमें बँधकर विवेकसे भ्रष्ट होजाते हैं, इस कारण भगवत्तत्त्वको जाननेका फिर उनको कुछ अधिकार ही नहीं रहता, सब ही प्राणी ऐसी इच्छा और द्वेषके वशमें होरहे हैं। इच्छा और द्वेष जिसको ऊपर सवार होजाते हैं उसके पदार्थके बाहरी स्वरूप तकका तो ज्ञान रहता ही नहीं फिर आत्मतत्त्वका ज्ञान होना तो बड़ी ही दूरकी बात है। इच्छा और द्वेषकी प्रबलतासे मनुष्य किसी भी बाहरी वस्तुके वास्तविक स्वरूप का निर्णय नहीं करसकता। जो कुत्सित, अशुभ, विषैला और घृणित होता है, वह भी इच्छाकी प्रबलतासे उलटा ही दीखता है। द्वेषकी प्रबलता होने पर परमकल्याणकारी विषय

भी महा बुरा मालूम होता है जो इच्छा द्वेष बाहरी पदार्थों के विषयमें ऐसी बड़ीभारी अन्धता दिखाते हैं उनकी प्रबलता होने पर ज्ञानचक्षु खुलकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होगा, यह कैसे संभव होसकता है ? । ऐसे अनुराग और द्वेषके कारण से विकलचित्त हुए प्राणी मुझ आत्मस्वरूपके तत्त्वकी सुध नहीं रखसकते और यद्यपि उनको मुझ सर्वश्रेष्ठ भगवान् का भजन करना चाहिये, परन्तु वह मेरा भजन नहीं कर-सकते । इस श्लोकमें भारत और परन्तप,, संबोधन देकर भगवान् कहते हैं, कि—हे सखे अर्जुन ! तू ऐसे उच्चकुल में उत्पन्न हुआ है, कि—तू यथार्थ तत्त्वज्ञानको पाकर द्वन्द्व-जनित मोहरूप परमशत्रुको अवश्य ही दबा सकेगा ॥२७॥

येषामन्तगतं पापं जनानां पुण्य-कर्मणाम् । ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(तु) परन्तु (येषाम्) जिन (पुण्यकर्मणाम्) पवित्र कर्म करनेवाले (जनानाम्) मनुष्योंका (पापम्) पाप (अन्तगतम्) नाशको प्राप्त होगया है (ते) वह (द्वन्द्व-मोहनिर्मुक्ताः) रागद्वेषादि जनित मोहसे छूटेहुए (दृढव्रताः) अविचल नियमोंको धारण करनेवाले होकर (माम्) मुझको (भजन्ते) भजते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! यदि प्राणीमात्रशीतोष्ण सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंके कारण होनेवाले मोहसे विवेकहीन होरहे हैं, यदि सब ही मोहसे ग्रस्त होरहे हैं यदि कोई भी आपको आप आत्मस्वरूप हैं, ऐसा नहीं जानसकता है, इस लिये कोई भी आपका आत्मभावसे भजन नहीं करसकता, तो पहिले जो आपने कहा था, कि—"चतुर्विधा भजन्ते माम्.," वह आपका भजन किसप्रकार करते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! यह ठीक है, कि—सब ही मायासे मोहित होरहे हैं, परन्तु जो अनेकों जन्मोंमें किये हुए सुकर्मके कारणसे पुण्य सञ्चय करचुके हैं उनके सकल पाप दूर होजाते हैं और उनका द्वन्द्वमोह भी धीरे २ नष्ट होजाता है । पहिले सञ्चय कियेहुए पापका क्षय करनेके लिये पुण्यकर्म करनेकी आवश्यकता है । आसक्तिके साथ दूसरी ओरको दृष्टि करनेका ही नाम पाप है । सत्त्वगुणी भोजन और नियमके साथ नित्य कर्म करनेसे जिसप्रकार पुण्यका सञ्चय होता है, तैसे ही भगवान् सकल जीवोंमें हैं ऐसा मनमें विचार कर जीवोंकी सेवा करनेसे भी पुण्यका सञ्चय होता है, परन्तु वह सेवारूप कर्म निष्काम होना चाहिये, निष्काम कर्मके द्वारा पुण्य सञ्चय होने पर फिर द्वन्द्वमोह नहीं रहता है, उस समय भगवान् के सिवाय और कोई भजनीय नहीं होता है, ऐसे निश्चयज्ञान से वह सबको त्यागकर एक भगवान्का ही भजन करूँगा ऐसे दृढव्रतधारी होजाते हैं । पहिले जो चार प्रकारके भक्तोंकी

बात कही है, वह सब इसप्रकार ही मेरा भजन करते हैं ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्न-मध्यात्मं कर्मचाखिलम् ॥२९॥

अन्वय और पादर्थ

(ये) जो (जरामरणमोक्षाय) जरा और मरणसे छूटनेके लिये (माम्) मुझको (आश्रित्य) आश्रय करके (यतन्ति) यत्न करते हैं (ते) वह (तत्) उस (ब्रह्म) ब्रह्मको (कृत्स्नम्) समस्त (अध्यात्मम्) अध्यात्म वस्तुको (च) और (अखिलम्) समस्त (कर्म) कर्मको (विदुः) जानते हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! मनुष्य अन्य देवताओं का भजन तो छोटी छोटी कामनायें सिद्ध होनेके लिये करते हैं, परन्तु जो तुम्हारा भजन करते हैं उनकी क्या कामना होती है, यह बताइये ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! जरा (बुढ़ापा) और मरणसे छूटनेकी कामना सिद्ध होनेके लिये ही वह मेरा भजन करते हैं, इसके ही लिये उनको मेरा आश्रय लेना पड़ता है। विषयोंसे चित्तको हटाकर एकमात्र मुझमें ही मनको लगाते हुए जो मेरा आश्रय लेना है इसका ही नाम है मुझमें समाहितचित्त होना। अर्जुनने कहा

कि—हे भगवन्! आप जो कहते हैं "मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद् विदुः,, अर्थात् जो तुम्हारा आश्रय लेकर यत्न करते हैं वह परब्रह्मको जान लेते हैं। यहां क्या आपने "माम्,, पदसे सगुण ब्रह्मको कहा है?। क्या सगुण ब्रह्म जो आप तिन आपका भजन करनेसे निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान होजायगा? क्या आपके कहनेका यही तात्पर्य है?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! मेरे अवतार सगुण ब्रह्म हैं, वही श्री भगवान् हैं उनका आश्रय लेकर जरा मरणसे मुक्ति पानेके लिये जो याग यज्ञ आदि बहिरङ्ग साधन करेंगे तथा श्रवण मनन आदि अन्तरङ्ग साधन करेंगे वह साधक सगुण ब्रह्मकी उपासना करके जगत्‌के उपादान कारणरूप परब्रह्मको जान सकेंगे। आत्माका आश्रय लेकर जो कुछ विद्यमान है उस सब अध्यात्मको भी जानजायँगे और जितने भी साधनके कर्म हैं उन सबको भी जानजायँगे। वह परब्रह्मको जानते ही समझ जायँगे, कि—परब्रह्म ही अध्यात्म है और परब्रह्म ही सकल कर्म रूपसे विद्यमान है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! यहां आपने अध्यात्म और कर्म शब्दसे किस २ का ग्रहण किया है?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन! सगुण ब्रह्मकी उपासना करने पर तत्पदसे लक्षित निर्गुण ब्रह्म और त्वम् पदसे लक्षित शरीरी रूपसे भासनेवाला आत्मा और इन दोनों के साधनरूप निष्काम कर्म तथा श्रवण मनन आदि सकल कर्मतत्त्वको जानजायगा॥ २९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च

ये विदुः । प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

अन्वय और पदार्थ

(ये) जो (साधिभूताधिदैवम्) अधिभूत और अधिदैव सहित (च) और (साधियज्ञम्) अधियज्ञ करके सहित (माम्) मुझको (विदुः) जानते हैं (ते) वह (युक्तचेतसः) मुझमें आसक्त चित्त वाले [सन्तः] होतेहुए (प्रयाण काले अपि) मरणके समयमें भी (च) विना यत्न ही (माम्) मुझको (विदुः) जानते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! सगुण ब्रह्मकी उपासना करने पर क्या मरणकालकी मूर्छामें भी आपका विस्मरण नहीं होगा ? । भगवान्ने उत्तर दिया, कि—हे सखे ! जो उत्तम अधिकारी हैं उनके लिये ज्ञेय ब्रह्म है, जो मध्यम अधिकारी हैं उनके लिये ध्येय ईश्वर है । जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ मुझे जान लेते हैं वह मृत्युकालमें भी मुझे नहीं भूलेंगे मूर्छाकी दशामें भी मैं उनके हृदयमें दर्शन देता हूँ, मैं अपने भक्तको विपत्तिके समयमें कभी नहीं त्यागता हूँ । अधिभूत आदि शब्दोंका विस्तारसे अर्थ अगले अध्याय में दिखायाजायगा । अर्जुनने कहा कि—हे भगवन् ! इस सातवें अध्यायमें आपने यहां तक जो कुछ उपदेश दिया है उस सबको संक्षेपमें सरल करके सुनाइये ? । भगवान् बोले कि—

हे भैया अर्जुन ! सङ्कल्पसे होनेवाली कामनाओंको एकसाथ त्याग दे । मेरा यह उद्देश्य है—यह यह काम मुझे करने होंगे ऐसी भावनाका ही नाम सङ्कल्पोत्पन्न काम है । फिर उस उद्देश्यको साधनेके लिये उपायका अवलम्ब लेकर उसके अनुसार काम करना ही सङ्कल्पजात कामनाका कार्य है । शरीरकी रक्षाके लिये भोजन और निद्राकी व्यवस्था, ऋण चुकानेके लिये धन पानेकी चेष्टा और आश्रितोंकी रक्षाके लिये अनेकों प्रकारके काम इन सबको त्याग दे । जो गीता के लेखानुसार योगी वनना चाहे उसको सबसे पहिले सङ्कल्प से उत्पन्न हुई कामनाओंका त्याग करना चाहिये, जो ऐसा नहीं करसकते वह योगारूढ़ अवस्थाको नहीं पासकते जिस को अब भी अनेकों प्रकारके काम हैं वह योगारूढ़ नहीं हो सकेगा । इस पुरुषके लिये गीता सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवालीं शुभ कामनायें करनेको कहती है । वह शुभ कामनाओंके अनुसार कर्म करैं और साथ २ में जो कुछ आरुरुक्षुका काम है उसको भी करै, वह काम है, यथा समय पर कुम्भकका अभ्यास और दूसरे नियमित समयों पर उचित भोजन और विहारके जो काम आवश्यक हों उनको करै । कुम्भक आदि का अभ्यास करना जिनकी शक्तिके बाहर हो वह सन्ध्या वन्दन आदि नित्य कर्मको शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार करैं और श्रीभगवान्‌की प्रसन्नताके लिये जीवोंकी सेवारूप कर्म भी करै । भगवान् सकल जीवोंमें विराजमान हैं, इस इस बातको स्मरण रखकर मैं भगवान्‌की ही सेवा कर

रहा हूँ ऐसा समझता हुआ माता पिता भाई बन्धु और जितनी होसके अपनी जातिकी भी सेवा करै तथा वर्णाश्रमधर्मके द्वारा जातिका मङ्गल करै, वर्णाश्रम धर्मकी सेवा, संसारकी सेवा, जीवों की सेवा आदि भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये निष्काम भाव से करते २ चित्तमें एक प्रकारकी प्रसन्नता होगी उस समय श्रीभगवान् उसके कर्मका संक्षेप करके उसको आरुरुक्षु योगी दशामें पहुँचादेगे। वह कुम्भक आदि साधनके द्वारा योगारूढ़ अवस्थामें आवेगा, इस अवस्थामें पूर्ण रीतिसे स्थिर होजाने पर सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाले कामको निःशेषरूपसे त्याग देगा। (२) सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाले कामका त्याग होने पर स्वाभाविक काम नहीं जायगा। चक्षु रूपको देखते ही सुखी दुःखी होगा, कान शब्दको सुनते ही रागद्वेष करेगा, शरीर वायुका स्पर्श करते ही गरमी सरदीका अनुभव करेगा। इस प्रकार ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदि ऋतुओंमें इन्द्रियें सुखी दुःखी होगी। विषयोंके साथ इन्द्रियोंका योग होने पर जो सुख दुःख आदिका अनुभव होता है वही स्वभावजकाम है। मनोहर रूपको देखने पर वह अच्छा लगै और कुत्सित रूप में विराग हो, यह ही स्वभावज काम है। पूर्व पूर्वके अभ्यास के कारणसे ही यह स्वभावज होगया है, इस स्वभावज कामको त्यागने के लिये गीता कहती है, कि—"मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।" सब इन्द्रियोंको मनके द्वारा ही चारों ओरसे खेंचलेय। भीतर ध्यान होने पर इन्द्रियें बाहर काम कर ही नहीं सकतीं। भीतर सूर्यनारायणने प्रवेश किया है, मैं भीतर उनकी ओरको देखरहा हूँ, परन्तु आंखें बाहर

भी खुली हुई हैं। ऐसा अभ्यास करने पर ध्यानका अभ्यास होजाता है। ध्यानका अभ्यास होने पर इन्द्रियोंका संयम होजाता है। पहिले पहिले दुःखको दूर करनेका उपायन करके गरमी सरदी सुख दुःखको थोड़ा २ सहनेका अभ्यास करै, साथ ही साथ में भीतर भावना रखकर बाहरको बहती हुई इन्द्रियोंकी शक्तिको प्रत्यगात्माकी ओरको बहानेका अभ्यास करना चाहिये ऐसा करने पर ही स्वभावज कामका त्याग होगा, इन्द्रियनिरोध योगीका दूसरा काम है। (३) योगी का तीसरा काम उपरम है। धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा धीरे २ आत्माकी ओरको जाना होगा। मनको विषयोंसे एक साथ पूर्णरूपसे हटाना नहीं बन सकता। इसलिये नियम किये हुए समयपर सङ्कल्पको त्यागकर इन्द्रियोंका निरोध करते हुए समाधिका अभ्यास करना होगा। ऐसी अवस्थामें सर्वदा रहने में बड़ा भारी क्लेश होता है, इसलिये इस साधना को हठके साथ न करै, धीरे २ त्याग कर फिर ग्रहण करना होगा (४) योगीका चौथा काम है आत्मसंस्थ होना। आत्मा परम रसमय है, इसकी धारणाको प्रबल करके ऊपर कहे उपायसे मनको आत्मामें स्थिर करना होगा। विषयोंमें आकर विषयों का चिन्तवन करके मन बड़ा सन्ताप पाता है। जब मन आत्मामें स्थिर होगा और सकल चिन्ताओंको त्याग देगा तब सकल सन्तापोंसे छूटजायगा। सकल चिन्ताओंको त्याग कर आत्मसंस्थ होना ही योगी का अन्तिम काम है। यहां तक स्वतंत्र होने पर ही योगी सिद्ध होगा। यही बात छठे

अध्यायमें कहीगयी थी। सातवें अध्यायके संक्षेपमें सार यह है, कि—योगीको अपने आप युक्ततम बनना चाहिये। युक्ततम बननेके लिये इसप्रकार साधना करनी चाहिये—मुझमें मनको लगाकर योगका अभ्यास करते २ जिस ज्ञान और विज्ञानका उदय हो उसको पहिले सुनकर फिर मेरा भजन करना होगा। भगवान्के ऐश्वर्य और माधुर्यको जानना योगीके लिये बड़ा ही आवश्यक है। पहिले भगवान्की परा और अपरा प्रकृतिको जानो, फिर तीनों गुणोंके कार्यको जानो। तीनों गुणोंका योग ही योगमाया कहलाती है। इस योगमायाके प्रभावसे ही लोकमें भक्त होना कठिन होगया है। योगमायाके प्रभावसे लोग पापकर्म करने लगते हैं पापी कभी भक्त नहीं होसकता, किन्तु जब पुण्यकर्मके द्वारा पापोंका क्षय होजाता है, जब जीवोंकी सेवाके द्वारा भगवान्की सेवा करता हूँ ऐसा मानलेता है और साथ ही साथ नित्य कर्मके द्वारा भीतर आनन्द आनेलगता है तब भक्तोंकी गिनतीमें आसकता है। आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी यह सकाम भक्त हैं। एक ज्ञानी ही निष्काम भक्त है। जो छोटी २ इच्छाओंको पूरी करनेके लिये दूसरे देवताओंका भजन करते हैं और उन अन्य देवताओंको मुझसे अलग शक्ति मानकर भ्रममें पड़जाते हैं। वेदमें जो इन्द्र आदि देवताओंका वर्णन है वह सब परब्रह्मके ही नाम है। सब देवता परब्रह्मके ही अङ्गरूप हैं, सकल देवतारूप वह ही हैं। परमभावको न जाननेके कारणसे मूढ़ पुरुष देवताओंको

अलग शक्ति मानते हैं और इसकारणसे ही भगवान्के अवतारको देहाभिमानी साधारण मनुष्यकी समान मानकर उनको परमात्मा माननेका विश्वास नहीं करसकते, परन्तु जिन्होंने शास्त्रको सुना है वह जानते हैं, कि-तुरीय ब्रह्म ही सुषुप्ति में ईश्वर अन्तर्यामी और सबका प्रेरक है, वह ही प्राज्ञ पुरुष रूपसे पहिले ही विवर्त्तित होता है। स्वप्नावस्थामें वह पुरुष ही अन्तःप्रज्ञ है, वह निद्रावस्थामें सात अङ्गोंवाला होता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन बुद्धि चित्त यथा अहङ्कार इन उन्नीस द्वारा सूक्ष्म संसारको भोगता है, यह ही तैजस पुरुष है। और यह ब्रह्म ही जाग्रत् अवस्था में वैश्वानर है। यह भी सप्ताङ्ग है, उन्नीस मुखोंसे रूप रस आदि विषयोंको भोगता है। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिमें जो विवर्त्तित होता है, वह ही मायाके आश्रयसे अवतार रूपमें भी विवर्त्तित होता है तथापि वह क्षणभरको भी अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता है। अवतारकी उपासना करते २ वह ही सर्वत्र ब्रह्मरूपसे विराजमान हैं, ऐसा ज्ञान होजाता है, यह ही है-सगुण ईश्वरकी उपासनासे निर्गुण ब्रह्ममें स्थिति को पाना। जिसको इस प्रकारका ज्ञान होजाता है, मरण मूर्छा के समय इन्द्रियोंके विकल होजाने पर भी मैं उसके अन्तःकरणमें वर्त्तमान रहकर उस साधकको अपने निकट लेजाता हूं। ज्ञानविज्ञान योगमें यही बात कहीगयी है। यहां इस बातको भी स्मरण रक्खो कि-निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म वा मायाश्रयी पुरुष और जड़ जीव कर्माश्रयी चैतन्य, इन तीनों

को ही गीता क्षर अक्षर और उत्तम पुरुष नामसे कहती है। जो निर्गुण ब्रह्ममें स्थिति पासकते हैं उनका प्राण उत्क्रान्त नहीं होता है, वह सद्योमुक्ति पाजाते हैं। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते,, निर्गुण उपासकके प्राण उत्क्रान्त नहीं होते है, यहां ही अपने स्वरूपमें लीन होजाते हैं। जो ऐसा नहीं करसकते हैं, उनके लिये सगुण उपासना है सगुण उपासनामें क्रममुक्ति होती है। श्रुतिमें सगुण निर्गुण दोनों ही रूपसे ब्रह्म का वर्णन है। माण्डूक्य उपनिषद्की श्रुति निर्गुण ब्रह्मके विषयमें सब कुछ कहकर अन्तमें कहती है, कि-"प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।,, निर्गुण उपासनाका अधिकारी बड़ी कठिनतासे मिलता है, इस कारण गीता अर्जुनको भी सगुण उपासनाका अवलम्बन करनेके लिये ही कहती है ॥ ३० ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे हठयोगाभ्यासिस्वामिनर्मदानन्दब्रह्मचारिविरचितायां साम्वयपदार्थायां गीतातत्त्वप्रकाशिकाख्यायां भाषाव्याख्यायां ज्ञान-विज्ञानयोगो नामसप्तमोऽध्यायः समाप्त.

त्वदीयं वस्तु गोविन्दतुभ्यमेव समर्पितम् ॥

* श्रीहरिः *



अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किन्तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतञ्च किं प्रोक्त-माधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला (पुरुषोत्तम) हे पुरुषोत्तम (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म (किम्) क्या है ? (अध्यात्मम्) अध्यात्म (किम्) है ? (कर्म) कर्म (किम्) क्या है ? (च) और (अधिभूतम्) अधिभूत (किम्) क्या (प्रोक्तम्) कहा है (अधिदैवम्) अधिदैव (किम्) क्या (उच्यते) कहाजाता है ? ॥ १ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्‌ने पीछे छठे अध्यायकी समाप्तिके समय दो

श्लोकोंमें कुछ पारिभाषिक शब्द दिये हैं, उनके भलेप्रकारसे समझमें न आनेके कारण अर्जुन उनके विषयमें प्रश्न उठाते हैं। और उनके ही उत्तररूपसे भगवान् इस आठवें अध्याय को कहते हैं। अर्जुनने कहा कि–हे भगवन्! छठे अध्यायके अन्तिम दो श्लोकोंमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञ इन छः शब्दोंका आपने प्रयोग किया है और मरणके समय भगवद्–ज्ञानके विषयमें भी एक कठिनतत्त्व की बात उठायी है, परन्तु वह मेरी समझमें नहीं आया, हे भगवन्! मैं इन सात तत्त्वोंका मर्म जानना चाहता हूँ, आप जगत् भरके गुरु हैं और मुझ शिष्यके ऊपर तो आपकी बड़ीभारी कृपा रहती है, इस कारण मैं अत्यन्त ही विनयके साथ आपसे इस विषयको जाननेकी प्रार्थना करता हूँ, हे भगवन्! आप तो पुरुषोत्तम हैं अर्थात् सकल प्राणियोंकी न्यूनताओंको आप पूरी करते हैं और सब प्राणी अन्तको आपमें ही समाजाते हैं, अतः प्रलयकालमें एक आप ही रह जाते हैं इसकारण संसारका ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो आपसे छुपा हो इसकारण हे पुरुषोत्तम! आप मेरे हृदयकी सन्देह-रूप न्यूनताको पूर्ण करिये, हे करुणानिधान! आपने पहिले जिस ब्रह्मकी बात कही थी वह क्या पदार्थ है? वह उपाधि-युक्त सगुण है अथवा उपाधिशून्य निर्गुण है? कौनसे ब्रह्मको ज्ञेय कहते हैं?। दूसरा अध्यात्म क्या पदार्थ है, जो देहको अधिकार करके स्थित है वह ही तो अध्यात्म है यह अध्यात्म क्या चक्षु कर्ण आदि इन्द्रियें हैं अथवा प्रत्यक्

(प्रत्येक देह में वर्त्तमान) चैतन्य ही अध्यात्म है ? । यह बात मुझको स्पष्ट करके समझा दीजिये । मनुष्यकी सकल इन्द्रियों के द्वारा कर्म होता है और ज्ञान प्राप्त होता है तथा वह सब देहका आश्रय लेकर वर्त्तमान रहती हैं, इस लिये देहमें अधिष्ठित श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अध्यात्म नाम से कहा जासकता है अथवा हरएक मनुष्य के देह में प्रत्यक्‌चैतन्य नाम से कहा जाने वाला जो एक चैतन्य विद्यमान है उस को भी अध्यात्म नाम से कहा जासकता है, आप के मत में अध्यात्म कौन पदार्थ है,यह मुझे स्पष्ट करके समझा दीजिये। तुमने जो अखिल कर्म की बात कहीं थी, उसका तत्त्व भी भले प्रकार समझाइये ? श्रुति कहती है-" विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च । " विज्ञान अर्थात् जीव यज्ञकर्म का निर्वाह करते हैं, और लौकिक कर्मों को भी सिद्ध करते हैं । इस श्रुति के अनुसार दो प्रकार का कर्म देखने में आता है एक लौकिक कर्म और दूसरा यज्ञ आदि वैदिक कर्म । इन में से आप का अभिप्राय कौनसे कर्म से है ? । आधिभूतशब्द से आपका क्या अभिप्राय है, यह भी स्पष्ट करके समझाइये जो पृथिवी आदि सकल भूतों में विद्यमान है क्या वही अधिभूत है अथवा सब ही कार्य अधिभूत कहलाते हैं ? इसको भी स्पष्ट करके समझाइये । और अधिदेव शब्द से क्या समझाजाय ? । क्या देवतामात्रके विषय का अनुध्यान अधिदेव कहलाता है अथवा अतिविशाल सूर्यदेव से लेकर अतिछोटे देवतापर्यन्त में जो चैतन्य पुरा हुआ है वही अधिदेव है ? इसका निश्चय करने की शक्ति मुझमें नहीं है इस लिये

इस विषयमें मैं आपका भ्रान्तिरहित अभिप्राय जानना चाहता हूँ, कृपा करके मुझे समझा दीजिये ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन। प्रयाणकालेऽपि च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अन्वय और पदार्थ

(मधुसूदन) हे मधुसूदन (अत्र) इस (देहे) शरीर में (अधियज्ञः) अधिष्ठाता (कः) कौन है (अस्मिन्) इस देहमें (कथम्) किस प्रकार [स्थितः] स्थित है (च) और (प्रयाणकाले) मृत्यु के समय (नियतात्मभिः) चित्तको वशमें करने वालों करके (कथम्) किस उपायसे (ज्ञेयः असि) जाने जाते हो ॥ २ ॥

भावार्थ

सातवें अध्यायके ३० वें श्लोक में भगवान् ने कहा था, कि—अधियज्ञ के सहित जो मुझे जानता है वह मरणकाल में भी नहीं भूल सकता, इस विषयमें सन्देह में पडकर अर्जुन प्रश्न करता है, कि—हे मधुसूदन ! अधियज्ञ क्या वस्तु है ? इस देह में जो यज्ञ है वही अधियज्ञ है क्या उसका अधिष्ठाता कौन है ? उसका प्रयोग करनेवाला कौन है ? उसका फल देनेवाला कौन है ? अथवा यज्ञमें विद्यमान किसी देवताको अधियज्ञ कहते हैं ? और उस अधियज्ञका ध्यान किसप्रकार करना होगा ? क्या उनका अभेद चिन्तवन करना होगा

अथवा अत्यन्ताभेदरूप से चिन्तवन करना होगा ? वह अधियज्ञ देहके भीतर रहता है अथवा देहके बाहर रहता है ?। यदि देहके भीतर रहता है तो क्या वह बुद्धि आदि के रूप से विराजमान है अथवा और किसीरूप से ? । मूलमें जो "कथं" और "कोऽत्र" दो प्रश्नवाचक पद दिये हैं, उनसे अर्जुनने यहाँ दो प्रश्न नहीं किये हैं, वास्तवमें दो प्रकारसे एक ही प्रश्न किया है । पीछे सातवें अध्याय के तीसवें श्लोक में भगवान्ने "प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः" अर्थात्—मरणके समयमें भी मुझे नहीं भूलते हैं। ऐसा कहा है, परन्तु विचार कर देखा जाय यो उस परमदारुण मरणमूर्छाके समय जब कि चित्त और इन्द्रियें अत्यन्त ही व्याकुल और शिथिल होजाती हैं, जब कि—जीव पूर्ण अज्ञानमें डूब जाता है, उस समय चित्तको सावधान रखना एक प्रकार असम्भव है। उस समय साधक चित्तको वशमें रखकर आपको स्मरण रक्खे, यह कैसे होसकता है ? जो कृपाके वशमें होकर सर्वसाधारण के सब प्रकार के उपद्रवों को दूर करने में लगे रहते हैं वह अपने शरणागत शिष्य अर्जुन के हृदयमें के सन्देहरूप उपद्रवको सहजमें ही दूर करदेंगे इसमें कहना ही क्या है ? इस ही बात को सूचित करने के लिये 'मधुसूदन' पदसे संबोधन करता हुआ अर्जुन कहता है, कि—हे भगवन् ! आप सर्वज्ञ और परमदयालु हैं, इसलिये शरणागत जनके सकल सन्देहोंको दूर करनेके लिये वास्तविक तत्त्वका उपदेश दीजिये ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्म-मुच्यते । भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(श्रीभगवान्) भगवान् कृष्ण (उवाच) बोले (अक्षरम्) नाशरहित (परमम्) स्वप्रकाशपरमानन्दरूप (ब्रह्म) ब्रह्म (स्वभावः) निजस्वरूप (अध्यात्मम्) अध्यात्म (उच्यते) कहा जाता है (भूतभावोद्भवकरः) स्थावर जङ्गमरूप भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला (विसर्गः) देवताओंके लिये पदार्थ अर्पण करना (कर्मसंज्ञितः) कर्म नाम से कहा जाता है ॥३॥

भावार्थ

अर्जुनने पहिला प्रश्न किया था, कि—ब्रह्म क्या है? भगवान् उत्तर देते हैं, कि—परम अक्षर ही ब्रह्म है। "यन्न क्षीयते न क्षरतीति चाक्षरम्" जिसका क्षय कहिये नाश नहीं है, जिसमें क्षरण कहिये चलन नहीं होता वही अक्षर है, वही ब्रह्म है। बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में आठवें ब्राह्मण में ८ से ११ वें मंत्र तक इस अक्षर ब्रह्मका वर्णन है—"गार्गीने कहा, कि—जो स्वर्ग के ऊपर और पृथिवी के नीचे है तथा जो इन दोनों लोकों के मध्यमें है और जो भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान सब समयों में विद्यमान है, वह ही

सूत्रात्मक जगत् ओतप्रोत भाव से जिस आकाश में व्याप्त है वह आकाश ओतप्रोतभाव से किस में व्याप्त है ?। याज्ञवल्क्यने कहा, कि-"हे गार्गि ! जिसमें आकाश ओतप्रोतभाव से व्याप्त है वह ही तो अक्षर है। ब्रह्मज्ञानियों ने कहा है। कि-वह स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, छोटा भी नहीं है, बड़ा भी नहीं है, अग्नि की समान लाल २ दहकता हुआ भी नहीं है और जलकी समान पतला पदार्थ भी नहीं है। वह छायाशून्य और अन्धकारशून्य है, वह वायु भी नहीं है वह सङ्ग, रस और गन्ध से शून्य है। उसको जाननेके लिये चक्षु, कान वाणी वा मन काम नहीं देसकता। उसके जीवन के लिये सूर्य ताप वा प्राणकी आवश्यकता नहीं है उसके मुख आदि अवयव नहीं हैं। वह असीम और अन्तर बाहर भाव से शून्य है वह कुछ भी भोजन नहीं करता, उसको कोई खा भी नहीं सकता-"न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन" वह ही निर्गुण, अक्षर, अव्यय, अनिर्देश्य ब्रह्म है। यह ही जब माया के आश्रय से सगुण होता है तब श्रुति इस अक्षरको ही लक्ष्य करके कहती है, कि-"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" हे गार्गी ! इस अक्षर ब्रह्म के उत्तम शासनसे चन्द्रमा और सूर्य अपने २ स्थान पर टिके रहते हैं। अरी गार्गी ! इसके शासन से ही यह द्युलोक से लेकर भूलोक पर्यन्त अपने २ स्थान पर ठहरे हुए हैं। हे गार्गी ! इस शासनसे ही निमेष मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, और वर्ष अपने २

समय पर आवाजाई किया करते हैं । अरी गार्गी ! इसके शासन से ही श्वेत पर्वतों में से पूर्व देशकी सकल नदियें पूर्व देश में वह रही हैं, पश्चिम देशकी सब नदियें पश्चिम देश में ही वह रही हैं । अरी गार्गी ! इस ही अक्षर के उत्तम शासन से मनुष्य दानियों की प्रशंसा करते हैं, देवता यजमानों के मनोरथ पूरे करते हैं । पितृगण भी दर्वी होमके अनुगामी होते हैं यह ब्रह्म सकल उपाधियों से शून्य, सबों का शासन करने वाला और सबोंका धारण करने बाला है। यह अक्षर ब्रह्म और किस प्रकार का है ? इसके उत्तर में गीता कहती है, कि—यह परम अर्थात् स्वप्रकाश परमानन्द-स्वरूप है—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तरदेवास्य तद्भवाति ॥" हे गार्गी ! जो कोई इस अक्षर ब्रह्मको न जानकर इस लोक में यज्ञमें आहुतियें देता है या बहुत वर्षों तक तप करता है उसका कर्मफल नाशवान् होता है । श्रुति ब्रह्मको सगुण और निर्गुण दोनों ही प्रकार का कहती है । गीता क्षर और अक्षर इन दोनों पुरुषोंको जड़ और जीव, कर्माश्रयी पुरुष और मायाश्रयी पुरुष कहती है । जो इन दोनों से पृथक् है वह ही उत्तम पुरुष है, यह उत्तम पुरुष ही निर्गुण ब्रह्म है । कूटस्थ को अक्षर नामसे कहा है । जो माया उपाधिको ग्रहण करता है वह ही सगुण ब्रह्म है। जो निर्गुण है वह ही माया के अवलम्बन से सगुण होता है इस कारण सगुण ब्रह्मको भी अक्षर नाम से कहा है (देखो बारहवें

अध्यायका ३ । ४ श्लोक), ब्रह्म सब ही अवस्थाओंमें एक है, केवल उपाधि के कारण से भेदकी कल्पना है । श्रुतिने अक्षरके विषयमें बहुतसी बातें कही हैं। अक्षरको वा ब्रह्मको जानलेने पर ही मुक्ति होती है "नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यदि पहिले उस अक्षरमें विश्वास नहीं करेगा तो यज्ञ आदि वा जप पूजा आदि जो कुछ भी करेगा वह कभी सिद्ध नहीं होगा । विश्वास कर कि—वह है, ब्रह्म है, अक्षर है, सूर्य अग्नि वायु आदि सकल देवता वह ही है, सकल अवतार वह ही है । ऐसा विश्वास रखकर सन्ध्या उपासना जप यज्ञ आदि कर तो अवश्य ही तेरी सद्गति होगी । अर्जुनका दूसरा प्रश्न था कि—अध्यात्म कौन पदार्थ है? इस के उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि—हे सखे! स्वभावको अध्यात्म कहते हैं । परमात्माका स्वरूप 'तत्' है और उपाधिको ग्रहण करने पर जो उनका भाव वा अपना स्वरूप है, उसका नाम है 'त्वम् पदार्थ' यह ही प्रत्यक् चैतन्य है । आत्मा अपने स्वरूप में रहता हुआ भी देहके ऊपर अधिकार जमाकर जब भोक्ता रूपमें होता है उस समय उसको अध्यात्म कहते हैं । अध्यात्म का अर्थ इन्द्रिय आदि नहीं है । ब्रह्म ही देहके ऊपर अधिकार करके जब जीवस्वरूपसे भोक्ता होता है, उस समय ही वह अध्यात्म कहलाता है । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि—ब्रह्म परमात्मा है और अध्यात्म जीव है । अर्जुन ने तीसरा प्रश्न किया था, कि—हे भगवन् ! कर्म किसको कहते हैं ? । भगवान् उत्तर देते हैं, कि—हे सखे !

सकल भूतों का भाव कहिये उत्पत्ति और उद्भव कहिये उत्पत्ति को करने वाला जो विसर्ग कहिये त्याग है वही कर्म है। त्यागरूप जो यज्ञ है उस को ही कर्म नाम से कहा गया है। धर्मशास्त्र में लिखा है, कि—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"॥ अर्थात्-अग्निमें जो आहुति दीजाती है वह आदित्य में पहुँचती है, उससे वर्षा होती है वर्षा से अन्न होता है, अन्न से जीवों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। इस लिये ही कहा है, कि—सकल भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाला जो यज्ञ है वह ही कर्म है। जिस कर्म से जीवों की उत्पत्ति और वृद्धि (पालन) नहीं होते उस को गीता कर्म नाम से नहीं कहती। तीसरे अध्याय के चौदहवें श्लोकमें प्रजाकी उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। पञ्चाग्नि—विद्या में पाँच प्रकार की आहुति देनी होती है। जीव श्रद्धा के साथ होम करते समय जो आहुति देता है वह मरण के अन्त में जीव में सम्बद्ध रहती है। मृत्यु के अनन्तर उस जीव की इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवता उस श्रद्धा की आहुति के द्वारा होम करते हैं, उस समय जीव जलीय दिव्य देहको पाता है और वह जीव चन्द्रलोकमें अपने कर्म के फलको भोगता है। भोग के समाप्त होने पर जीवका जलीय शरीर मेघाग्निमें आहुत होता है उससे वृष्टि होती है। वृष्टिरूप आहुति पृथिवीरूप अग्निमें पड़ने पर व्रीहि अन्न आदि रूप से परिणामको प्राप्त होजाती है। वह अन्न-रूपा आहुति पुरुषाग्नि में होमी जाने पर रेत (वीर्य) रूप

परिणामको प्राप्त होजाती है। यह रेतरूपा आहुति स्त्रीरूपा अग्निमें होमी जाने पर जीवकी उत्पत्ति होती है। यह जो वाष्प, मेघ वर्षा, रसको ग्रहण करने पर उद्भिद् जीवन की रक्षा तथा उसके द्वारा प्राणी की रक्षा को साधारण से पुरुष प्राकृतिक नियम (कुदरत का कानून) देखते और मानते हैं। परन्तु साधक इसमें संसारचक्रका निर्वाह करने वाले कर्म को देखना है। साधारण पुरुष देखते हैं कि—मेघ में से वर्षा होती है, इससे अधिक और कुछ विचार नहीं करते, परन्तु साधक देखता है, कि—श्रीभगवान् संसारचक्रको किस प्रकार चला रहे हैं और जो ब्रह्मज्ञानी—अतिसूक्ष्मदर्शी हैं वह देखते हैं, कि इस वृष्टि आदि व्यापार के द्वारा जीव का परलोक में गमन और परलोक से वृष्टि आदि के द्वारा मर्त्यलोक में आगमन और वृद्धिरूप कार्य होरहा है। जो पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं, वह ही ब्रह्मज्ञानी हैं, वह ही सूक्ष्मदर्शी हैं और कर्म के स्वरूपको जानते हैं ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चा-
धिदैवतम्। अधियज्ञोऽहमेवात्र
देहे देहभृताम्वर ॥ ४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(देहभृताम्) सकल देहधारियों में (वर) श्रेष्ठ (क्षरः) विनाशी (भावः) देहादि पदार्थ (अधिभूतम्) अधिभूत

है (च) और (पुरुषः) हिरण्यगर्भ (अधिदैवतम्) अधिदैवत है (अत्र) इस (देहे) देहमें (अहम्—एव) मैं ही (अधियज्ञः) अधियज्ञ हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ

अर्जुनका चौथा प्रश्न था, कि—हे भगवन् ! अधिभूत किसको कहते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि—हे सखे ! जिनका स्वभाव क्षय होनेका है और जो कुछ वस्तु उत्पन्न होने के स्वभाव वाली है ऐसे जो देह आदि पदार्थ हैं, वह ही अधिभूत कहलाते हैं। भूत वा प्राणियोंका अधिकार करके (आश्रय लेकर) शरीर आदि ही उत्पन्न होते हैं, ऐसे उत्पत्ति और नाशरूप धर्मवाले नाशवान् पदार्थ ही अधिभूत हैं, नित्य परिवर्त्तनशील (बदलते रहने वाले) स्थूल सूक्ष्म आदि शरीर ही अधिभूत हैं। अर्जुनने पाँचवाँ प्रश्न किया था, कि—अधिदैव क्या है ?। इसका उत्तर देते हुए भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! पुरुष ही अधिदैव है। सकल देवता जिस के अङ्गरूप हैं, जो सकल देवताओंके ऊपर अधिकार करके विद्यमान है वह ही अधिदैव है, आदिपुरुष ही अधिदैव है। समस्त को पूर्ण करके स्थित है, इस कारण जो पुरुष है (पूर्णमनेन सर्वम्) अथवा पुरमें शयन करता है इस कारण जो पुरुष है (पुरि शयनात्पुरुषः), अथवा सकल पुर कहिये शरीरों में वास करता है इस कारण जो पुरुष है (पूर्षु वसति वा पुरुषः) इस आदि पुरुष के अनेकों नाम हैं। श्रुति भी कहती है, कि—"आत्मै-

वेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" पहिले एकमात्र पुरुषाकार आत्मा ही था। इस पुरुष को ही प्रजापति वा हिरण्यगर्भ कहते हैं। "स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तत ॥" अर्थात्—वह शरीरधारियों में प्रथम है, वही पुरुष नाम से कहा जाता है, वही सकल प्राणियोंका आदिकर्त्ता है और वह ब्रह्मासे पहिले विद्यमान था। "अग्रे हिरण्यगर्भः स प्रादुर्भूतः सनातनः आदित्वादादिदेवोऽसावजातत्वादजः स्मृतः ॥ देवेषु च महादेवो महादेव इति स्मृतः ॥ पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरिति स्मृतः। बृहत्वाच्च स्मृतो ब्रह्मा परत्वात्परमेश्वरः ॥ वशित्वादप्यवश्यत्वादीश्वरः परिभाषितः। ऋषिः सर्वत्र गत्वेन हरिः सर्वहरो यतः ॥ अनुत्पादात् चानुपूर्वात् स्वयम्भूरिति स स्मृतः नराणामयनं यस्मात्तस्मान्नारायणः स्मृतः ॥ हरः संसारहरणाद्विभुत्वाद्विष्णुरुच्यते। भगवान् सर्वविज्ञानादवनादोमिति स्मृतः ॥ सर्वज्ञः सर्वविज्ञानाच्छन्दः सर्वमयो यतः। शिवःस्यन्निर्मलो यस्माद्विभुः सर्वगतो यतः ॥ तारणात्सर्वदुःखानां तारकः परिगीयते। बहुनात्र किमुक्तेन सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥" अर्थात्— वह सनातन पुरुष ही पहिले हिरण्यगर्भरूप से प्रकट हुआ था आदित्य आदि देवता उस जन्म रहित पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं। देवताओं में वह सबसे श्रेष्ठ हैं इस कारण उनका नाम महादेव हैं। सकल प्रजाओंका पालन करते हैं इस कारण वह प्रजापति हैं। बड़े होनेके कारण वह ब्रह्मा नाम से कहे जाते हैं। श्रेष्ठ होनेके कारण से वह परमेश्वर हैं।

सबको वश में रखने और आप किसीके वश में न होने के कारण वह ईश्वर कहलाते हैं। वह सर्वत्र पहुँच सकते हैं इस कारण ऋषि कहलाते हैं। सबका हरण करते हैं इसकारण हरि कहलाते हैं। वह आदिकाल से अनुत्पन्न हैं इस कारण स्वयम्भू कहलाते हैं। नरोंका आश्रयस्थान होनेके कारण नारायण कहलाते हैं। संसारका हरण करनेके कारण हर कहलाते हैं। विभूतियों से घिरे रहते हैं इसकारण विष्णु कहलाते हैं। वह सकल विज्ञान के पार हैं इसकारण भगवान् हैं सकल विज्ञान और छन्द आदिके मर्म को जानते हैं इस कारण सर्वमय हैं। वह निर्मल होनेके कारण शिव हैं। सर्वगत होनेके कारण विष्णु हैं। सकल दुःखों से परित्राण कहिये रक्षा करने के कारण तारक हैं और अधिक क्या कहें यह सब ही जगत् विष्णुमय है। अर्जुन ने छठा प्रश्न किया था कि—हे भगवन् ? अधियज्ञ किसको कहते हैं ? इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते है, कि—हे सखे ! श्रुति कहती है, कि पुरुषो वै यज्ञः पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तेन तनुते,, पुरुष ही यज्ञ है, पुरुष के द्वारा यज्ञ सिद्ध होता है, यह पुरुष यज्ञ के द्वारा व्याप्त है। इस कर्ममय शरीरमें जो यज्ञ है उसका अधिष्ठात्री देवता मैं ही हूँ। विष्णु ही अधियज्ञ है। मैं वासुदेव ही विष्णु हूँ मैं ही परमात्मा हूँ, सकल यज्ञों का फल भी मैं ही देता हूँ देह में मैं ही अन्तर्यामी रूप से निवास करता हूँ। इस सब श्लोकका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि—स्थूल देह प्राणियोंका अधिकार कर के वर्त्तमान होता है इसकारण वह अधिभूत है। समष्टिपुरुष हिरण्यगर्भ है आदित्य आदि

देवताओं का अधिकार करके वर्त्तमान रहता है इसकारण वह अधिदैव है और इस कर्ममय शरीर में यज्ञ आदि कर्मों के प्रवर्त्तक रूपसे और फलदातारूपसे मैं ही वर्त्तमान होता हूँ इसकारण मैं ही अधियज्ञ हूँ। जो यज्ञ है वही कर्म है। सब कर्मों को यज्ञ नहीं कहते हैं किन्तु जिस कर्मको सिद्ध करनेके लिये वेदके मंत्रोंकी आवश्यकता पड़ती है जिस कर्मको सिद्ध करने के लिये वेद के ब्राह्मणभागका प्रयोजन होता है। (ब्राह्मण-भाग मंत्र के अर्थ को और उस मंत्र का विनियोग कहां करना चाहिये इस बात को बताता है), अर्थात्—जिस यज्ञ का सम्पादन करने के लिये मंत्र और ब्राह्मणरूप वेद की आज्ञाको मानना आवश्यक होता है वह ही यज्ञ है। वह यज्ञ कर्म है, कर्म—शक्ति की व्यक्त अवस्थामात्र होता है, कर्म ही शक्ति है। परन्तु वह शक्ति कहीं आकाश में नहीं लटकी रहती है, शक्ति शक्तिमान् में न रहकर और कहां रहेगी ?, इस लिये ही यज्ञको कर्म भी कहते हैं और विष्णु भी कहते हैं। यज्ञको अधिकार करके मैं ही हूँ इस कारण मैं ही अधियज्ञ हूँ। अधियज्ञ में जैसे यज्ञका अधिष्ठात्री देवता मैं हूँ तैसे ही अधिदैव भी मैं ही हूं। सकल देवताओं पर अधिकार करके भी मैं ही वर्त्तमान हूं। अधियज्ञ और अधिदैव में कुछ ही भेद है। जैसे भिन्न २ प्रकारके वस्त्राभूषण आदि वेषको धारण करने पर एक ही मनुष्य भिन्न २ रूपवाला देखने में आता है ऐसे ही अधियज्ञ और अधिदैव हैं, अधिदैव और अधियज्ञ अलग २ नाम पड़नेका भी यही कारण है।

इस श्लोकमें "देहभृताम्वर,, इस संबोधनसे अर्जुनको सब प्राणियों से श्रेष्ठ कहकर भगवान्ने यह सूचित किया है, कि—हे सखे ! तू इससमय मेरे साथ संभाषण करता है इस कारण तू कृतार्थ होगया है और इस तत्त्व को समझने का योग्य पात्र है ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्वय और पदार्थ

(अन्तकाले) मरण के समय (च) भी (माम्—एव) मुझको ही (स्मरन्) स्मरण करताहुआ (कलेवरम) शरीर को (मुक्त्वा) त्यागकर (यः) जो (प्रयाति) जाता है (सः) वह (मद्भावम्) मेरे रूपको (एति) प्राप्त होता है (अत्र) इसमें (संशयः) सन्देह (न) नहीं है ॥ ५ ॥

भावार्थ

अर्जुनने सातवां प्रश्न यह किया था, कि—हे भगवन् ! प्रयाण के समय आप किस प्रकार जाने जाते हैं? इसका उत्तर देते हुए भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! अन्तकाल में सब इन्द्रियें विकल होजाती हैं, मन भी ईश्वरका ध्यान नहीं कर सकता है, सर्वसाधारण ऐसा ही कहते हैं। परन्तु भगवान् का ध्यान करनेमें पटुता प्राप्त होजाने पर, इन्द्रियोंके शिथिल होजाने पर भी मन श्रीवासुदेव भगवान्का ही चिन्तवन

करता है। पुण्यात्मा पुरुष मरणके समय भी मुझ अधियज्ञ-स्वरूप वासुदेवका स्मरण करसकते हैं, मेरा स्मरण करते हुए देह को त्यागनेपर मेरे ही स्वरूपको पाजाते हैं। इस पर अर्जुनने कहा कि–हे भगवन् ! देहत्यागके पीछे तो आपको पाजाता है, परन्तु क्या शरीर को धारण करने की अवस्था में आपको कोई नहीं पासकता ?। इसपर भगवान् ने कहा, कि– हे भैय्या अर्जुन ! जो निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है। सगुण मूर्त्तिका ध्यान करते २ मृत्यु होने पर देहान्त में मुक्ति होती है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! इन सात प्रश्नों में तो जीवन्मुक्ति की वात भी तो है इसपर भगवान् ने कहा, कि–हे सखे ! तूने जो सात प्रश्न किये थे उनमें से पहिले के उत्तरके जान लेने से ही मुक्ति हो जाती है। तेरा पहिला प्रश्न था कि–ब्रह्म क्या पदार्थ है ?। जो ब्रह्मको जान जाते हैं उनका प्राण प्रयाण ही नहीं होता जो सर्वदा निर्गुण ब्रह्म ही का स्मरण करते हैं और जो निर्गुण ब्रह्मको जानते हैं, लोग देखते हैं कि उनका देहत्याग होगया परन्तु उनके प्राण ने उत्क्रमण नहीं किया यहां ही पूर्ण रूपसे लीन होगया। ऐसे सब साधक देह में स्थित पञ्चभूत को पञ्चभूतमें मिला सकते हैं। प्राणवायु को महावायु में मिला कर ब्रह्मरूपमें ही स्थित रहते हैं। निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान परिपक्क होजाने पर सर्व शक्तिमान्पना उत्पन्न होजाता है। जो पञ्चभूत इकट्ठे होकर शरीरकी रचना करते हैं, उन पञ्चभूतों को ऐसे महात्मा अलग २ करके अपने स्वरूपमें स्थिति कर सकते हैं और यह सब जीवन्मुक्त

पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे देह को भी धारण करसकते हैं। और एक बात है, जिस क्षण में ब्रह्मज्ञानका प्रकाश होता है उस क्षणमें ही देहात्मज्ञान शून्य होजाता है, इसलिये और आत्मस्वरूपका दर्शन होजाने के कारण उनका शरीर रहकर भी न रहनेकी समान होता है जिस समय देहमें अहं अभिमान नहीं रहता है उस समय शरीर चमड़ेके थैलेकी समान वा हाड़ोंके ढांचेकी समान होता है। सांपकी कैंचुलीकी समान इस खोलको किस समय छोडजाता है, इस बात की ओर को जीवन्मुक्तकी दृष्टि भी नहीं पड़ती, लोग उसको देहान्तकी समान देखते हैं यह सत्य है, परन्तु देहात्मबोध न होनेके कारण वह मुक्त होता है। स्वप्नमें अन्य शरीरको धारण तो सब ही करते हैं, परन्तु स्वप्नभङ्ग होते ही जैसे जो था वही रहता है तैसे ही बडेभारी अज्ञानस्वप्नका भङ्ग होते ही अपने स्वरूपमें स्थितिरूप जीवन्मुक्ति होगयी, जीवन्मुक्तका शरीर चला जाय चाहें रहे, एकसी बात है॥ श्रीधर स्वामी और मधुसूदन स्वामी इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं, कि—जो प्रयाणकाल में अन्तर्यामीरूप परमेश्वर का सगुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं वह पितृयान मार्ग से प्रयाण करके हिरण्यगर्भलोक को भोगकर फिर ब्रह्मभाव को पाते हैं। और जो निर्गुण ब्रह्मका स्मरण करके शरीरको त्यागते हैं उनकी पितृयान आदिमें गति नहीं होती है, क्योंकि—श्रुतिके मतमें उनका प्राण उत्क्रमण नहीं करता है "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति,, (बृहदारण्यक ४। ४। ६) वह एक साथ ब्रह्म होकर ब्रह्मको

प्राप्त होजाते हैं "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति,, (बृहदारण्यक ४। ४। ६) क्योंकि-उस समय सब संशय छिन्न होजाते हैं, उसका मायाबन्धन टूट जाता है, उस अवस्थामें उसको अपने अस्तित्वका ज्ञान ही नहीं रहता। उसमें जो अहम्भाव (अध्यात्म), जो चैतन्य (अधिभूत), जो कर्म (अधिकर्म), जो जैवक्रिया (अधियज्ञ), जो इन्द्रियादिकी क्रिया (अधिदैवत) होती है वह सब ही ब्रह्म होता है, ब्रह्मके सिवाय और कुछ है ही नहीं, ऐसा जान कर उसकी स्मृति में अहम्भाव ज्ञान वा परिच्छिन्न व्यक्तित्वका ज्ञान अर्थात् यह अज्ञानका आवरण दूर होकर उसके ज्ञानमें ब्रह्मतत्त्वमात्र भासता है। गीताके सातवें अध्यायके अन्तमें जो कहा है, कि-जो ब्रह्म, अध्यात्म, अधिकर्म, साधिभूत, साधिदैव और साधियज्ञ मुझको जान जाता है वह ही प्रयाणकालमें मुझ को जानसकता है, इस अध्यायके पहिले श्लोकसे लेकर अन्त पर्यन्त उस प्रयाणकालमें ब्रह्मको जाननेका उपाय बताया है तीसरे और चौथे श्लोकमें ब्रह्म। । अध्यात्म आदि भाव समझाया है, छठे श्लोकमें बताया है, कि-अन्तकालमें जिस भावका स्मृतिमें उदय होता है, मृत्युके पीछे जीव उस ही भावको प्राप्त होता है। मरणके समयमें केवल संस्कार मात्र शेष रहता है इस लिये सातवें श्लोकमें कहा है, कि-सब ही समय ईश्वरका चिन्तवन रखकर उसके स्वरूपका ध्यान करके ब्रह्मके विषयमें संस्कार प्राप्त करना चाहिये, नहीं तो समस्त जीवनमें ध्यान स्मरण न करके केवल मरणके समय कानमें

हरिनाम सुनाने पर उससे ब्रह्मका स्मरण नहीं होता अर्थात् ब्रह्मविषयक संस्कारका उदय नहीं होता। किसप्रकार अनन्य-चित्त होकर अभ्यासयोगसे नित्य ब्रह्मचिन्तवन करना चाहिये, किसप्रकार मृत्युकालमें ब्रह्मका चिन्तवन करनेसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, और इसप्रकार ब्रह्मका स्मरण न करनेसे क्या गति होती है, देवयानगति किसप्रकार होती है और पितृयान गति किसप्रकार होती है, यही इस अध्यायमें समझाया है ५

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६ ॥

अन्वय और पदार्थ

(कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन ! (सदा) निरन्तर (तद्भाव-भावितः) उनके चिन्तवनसे जिसका चित्त वसगया है ऐसा [सन्] होताहुआ (यम् यम्) जिस जिस देवता विशेष को (अपि वा) पदार्थ को (अन्ते) मरणकालमें (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (कलेवरम्) देहको (त्यजति) छोड़ता है (तम्) तम् एव) उस उस भाव को ही (एति) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! अन्तकाल में श्रीभगवान् का ध्यान करते २ मर सकने पर तो भगवत्प्राप्ति होगी, परन्तु यह तो बताइये, कि—यदि कोई अन्य देवता का स्मरण करके अथवा और किसी पार्थिव पदार्थ का स्मरण करता हुआ

शरीर को त्यागे तो क्या उस देवता का या उस पार्थिव पदार्थ का रूप पावेगा ?। भगवान् ने कहा, कि-हे भैया अर्जुन ! मरणकाल में मनुष्य जैसी भावना में लगा हुआ शरीर को त्यागेगा वह मरण के अनन्तर तैसा ही फल पावेगा मनुष्य प्राणवियोग के समय किसी देवता की या और किसी पदार्थ की चिन्ता में पड़कर शरीर को त्यागता है तो वह मरण के अनन्तर उस ही स्मरण किये हुए देवता को वा पदार्थ को पाता है। यह ठीक है, कि-मरण के समय देह इन्द्रियादि की विकलता होने के कारण मनुष्य के लिये परमात्मा के स्मरण का उद्योग करना बड़ा ही कठिन होजाता है, परन्तु देहकी स्वस्थ और सबल दशामें मनुष्य जिस देवता वा जिस विषय का वार २ स्मरण और चिन्तवन करता है, उस के विषय में उसका प्रबल अभ्यास पड़जाता है, उस अभ्यास से उत्पन्न हुई वासना की प्रबलता के कारण अन्तकाल में सकल इन्द्रियों के विकल और शिथिल होजाने पर भी उन विषयों के स्मरण में कोई बाधा नहीं पड़ती है। इस प्रकार निरन्तर किसी देवता के ध्यान से उत्पन्न हुई वासना के साथ जो पुरुष शरीर को त्यागता है वह उस २ भाव को ही प्राप्त होता है। कौन्तेय संबोधन से यह सूचित किया है कि-हे अर्जुन ! तू मेरी बुआ कुन्ती का पुत्र होने के कारण मुझे बड़ा ही प्यारा है, तुझ सरीखे प्रेमपात्र पुरुष के ऊपर परम अनुग्रह करने के सिवाय और कोई भाव उत्पन्न हो ही नहीं सकता और तुझ सरीखे स्नेहपात्र पुरुषके साथ धोखे

का व्यवहार कभी होही नहीं सकता। इस श्लोकमें तथा पिछले श्लोकोंमें परमदयालु भगवान्‌ने जिस परम तत्त्वको दिखाया है, उसके ऊपर मनुष्यको वास्तवमें बड़ी गहरी दृष्टि से विचार करना चाहिये। जीवन भर मनुष्य परम आसक्ति के साथ जिस जिस विषयके चिन्तवनमें लगा रहता है,जीवन के अन्तकालमें भी अभ्यासकी प्रबलताके कारण उस उस विषयकी ही चिन्तासे उसका अन्तःकरण घिरा रहता है और उस दशामें शरीर को त्यागने पर मनुष्य चिरकाल चिन्तवन किये हुए विषयको ही पाता है। बृहदारण्यककी श्रुति कहती है, कि-"सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तो महात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति" (बृ० ४ । ४) अर्थात् वह ध्यान करनेवाला मरण कालमें सविज्ञान होता है अर्थात्-भावनामय ज्ञानसे घिर जाता है और फिर वह सविज्ञान दशामें ही उत्क्रान्त होता है अर्थात् उस ग्रहण किये हुए शरीरको त्याग जाता है। सविज्ञान होना और भाविफल-स्फूर्त्तिरूप भावनामय आतिवाहिक शरीर को पाना एक ही बात है। मरणके समयमें चित्त जिस आकारमें स्थित होता है उसका मन उस समय उस ही आकारसे प्राणमें आता है, प्राण उत्क्रामणमार्गमें उदानमें आवेगा फिर वह जीवको सङ्कल्पके अनुसार लोकमें ले-जायगा। जीवन भर कुछ न करके मरणकालमें परमात्माके स्मरणका उद्योग होना भी असम्भव है, पहिले अभ्याससे उत्पन्न हुई वासना ही स्मरणका हेतु होती है. इसलिये इस

जीवनमें सदा जैसे देवता आदिकी भावनाका अभ्यास किया जाता है वह भावना ही अन्तकालमें स्मृतिमें आकर उदय होजाती है और उस भावनासे भावित होकर ही शरीरका त्याग होता है, उससे प्रकाशित हुए संस्कारके अनुसार ही दूसरा जन्म होता है। ऐसी चिन्ताकी प्रबलतासे ज्ञानी भरत मरणके अनन्तर मृगकी योनिको प्राप्त होगया था। भरतका वृत्तान्त इसप्रकार है, कि-भगवान् मनुजीका एक प्रियव्रत नामका परमगुणी पुत्र था, उसके ही रथके पहियेसे पृथिवी पर सात समुद्रोंकी उत्पत्ति हुई है। प्रियव्रतने अग्नीध्र नामवाले अपने पुत्रको राज्यका भार सौंप कर वानप्रस्थ आश्रम को धारण कर लिया और पृथिवी को नौ वर्षोंमें बांटदिया, उसका परलोकवास होने पर उसके पुत्र नाभिने यज्ञ करके भगवान्को प्रसन्न किया, भगवान्ने उसके पुत्ररूपसे अवतार धारण करना स्वीकार कर लिया। ऋषभनामके उस पुत्रको राज्यका भार सौंप कर नाभिने गृहस्थाश्रमको त्याग दिया ऋषभदेवका देहत्याग वनाग्निमें हुआ। पहिलेसे उसका परम गुणवान् पुत्र भरत पिताकी आज्ञाके अनुसार राज्यका कार्य भार चलानेलगा था। पृथिवीका यह वर्ष पहिले अजनाभ नामसे प्रसिद्ध था। सकल श्रेष्ठ गुणोंके मन्दिररूप राजा भरतके शासनकालसे यह भारतवर्ष नामसे प्रसिद्ध होगया है। चिरकाल तक राज्यका शासन करनेके अनन्तर धर्मचर्चाकी इच्छासे राजा भरत विषयवासनाको त्यागकर हरिक्षेत्रमें चलागया और शास्त्रमें लिखी विधिसे भगवान्का

ध्यान करनेलगा। एक दिन राजा भरत स्नान आदि नित्य कर्म से निबटकर आश्रमके पास बहने वाली नदीके किनारे बैठा हुआ भगवन्नाम का जप कर रहा था, उस समय तहाँ एक गर्भिणी हिरनी अकेली जल पीनेको आयी, अचानक तहाँ पहाड़, नदी और वनों को कम्पायमान करता हुआ एक सिंह बड़े जोर से दहाड़ा उसको सुन कर हिरनी भयसे काँप उठी, वह यद्यपि गर्भ के भारसे भागने में असमर्थ थी, तो भी प्राणों को वचाने की इच्छा से चौकड़ियें भरने का उद्योग करने लगी, उस के कूदने के वेगसे विचलित होकर तत्काल उस के गर्भ में से एक छोटासा बच्चा निकल कर उस नदी के जलमें गिरपड़ा और हरिणी भी असह्य पीड़ाके मारे तहां ही गिरकर मरगयी। राजर्षि भरतने देखा, कि—वह तत्कालका उत्पन्न हुआ हिरनका वच्चा नदीके प्रवाहमें बहा जाता है और उसके प्राणान्त होजानेका सन्देह है। तब तो वह भरत दयाके वशमें होकर तैरते २ नदीमें गये और उस हिरनीके बच्चेको पकड़ लाये तथा बड़े यत्नके साथ उसको अपनी गोदमें लिये हुए आश्रममें आगये। उन्होंने बड़े प्रेमके के साथ उस हिरनके बच्चेकी देखभाल और लालन पालन किया। इसप्रकार वह उस हिरनके बच्चेके स्नेहमें इतने बँध गये कि—उनकी धर्मचर्चामें भी बड़ी वाधा पड़नेलगी, अन्तमें वह हिरनका बच्चा ही उनके ध्यान और ज्ञानका पदार्थ हो-गया। इसके अनन्तर जब मरणका समय आया तब राजा भरत ध्यानमें मगन होकर देखनेलगे, कि—हिरनका बच्चा उन

की मरणशय्याके पास बैठकर बड़े ही शोकके साथ आंसू बहा रहा है। ऐसी दशामें भरतका मरण होने पर उनका अगला जन्म मृगकी ही योनिमें हुआ, परन्तु मृगका शरीर मिलने पर भी उनके ज्ञान और स्मरणका लोप नहीं हुआ। इस दृष्टान्त पर ध्यान देकर जबतक समय है, स्वस्थता है जीवको सावधान होजाना चाहिये, यही अच्छी व्यवस्था है। जिस समय शरीर और मन पूर्णरूपसे अपने वशमें रहे, जिस समय सकल इन्द्रियें मनुष्यके अधीन हों, उस ही समय परिणामका विचार करके सावधान होजानेकी आवश्यकता है और खोटी बातोंके चिन्तवनसे चित्तको जोराबरी हटा कर अच्छी बातोंके चिन्तवनके मार्गमें अवश्य ही लेजाना चाहिये। सत् विषयों के चिन्तवनका अभ्यास होजाने पर चित्तके खोटे मार्गमें को जानेका सन्देह नहीं रहता है और जीवनके अन्तमें मनुष्य की अधोगति होनेकी शङ्का भी दूर होजाती है। वास्तवमें वह अन्तिमकाल बड़ा ही डरावना होता है। जो चित्त निरन्तर अनेकों प्रकारके भोगसुखोंको इकट्ठा करनेकी कल्पनामें मतवाला होकर विलासवाटिकामें घूमा करता था, उस अन्त कालमें वही चटोरा चित्त पर कटेहुए पक्षीकी समान विकल और शक्तिहीन होजाता है। जो नेत्र निरन्तर शोभा के सार और सुन्दरता के समूह को खोजने में लगे रहते थे, उस भयानक दिनमें वह लालची दोनों नेत्र क्रियाहीन और शक्तिशून्य होजाते हैं, उनकी शोभा नष्ट होजाती है। इस प्रकार देह और उसके अधिकार में की इन्द्रियों के निर्जीव और अशक्त होजाने पर सावधान होने का कुछ अवसर

नहीं रहता है। उस समय, जिस चिरकाल से अभ्यास किये हुए विषय को खोजने में मनुष्य ने अपना समय विताया है वह ही उसके नेत्रों के सामने आकर दीखने लगता है। उस समय चारों ओर परिवार के लोग और मित्र बान्धव आदि आँसू बहाते २ घोर हाहाकार करके, कुछ काम न आने वाले विषयों की चिन्ताके अभ्यासी मरते हुए मनुष्य के विकल हृदयको और भी विकल करते हैं। अधर्म, बराबर बढ़ती हुई धन इकट्ठा करने की तृष्णा, बड़ी भारी भोगलालसा अटल विषयतृष्णा, उस मृत्युकी छायासे ग्रसेहुए पुरुषके दुर्बल निःसहाय और कातर हृदयको विलोड़डालती है और साथ२ में उसकी जन्मान्तरमें सद्गति पानेकी आशा अन्तर्धान होजाती है। या तो खिले हुए फूलोंवाले बगीचेकी चिन्ता करते करते, अथवा किसी सुन्दरीकी घुँघुराली लट या विलोल कटाक्षोंकी आलोचना करते २ अथवा किसी कीहुई चातुरी की सफलताकी चाहना करते २ अथवा अति प्यारे बेटी बेटे या बड़े प्रेमसे पाले हुए कुत्ते के बच्चे को याद करते२ प्राण पखेरू देहरूपी पिंजरेको छोड़कर उड़जाता है और उस अभागेकी पारलौकिक सद्गति की आशा पूर्णरूप से अन्तर्धान होजाती है। कानमें अति पवित्र हरिनामका शब्द पहुँचने पर वह मरता हुआ पुरुष श्रीहरि के चरणों का चिन्तवन करते २ देह को त्याग कर परलोक में सद्गति पावेगा इस आशा से उस के कुटुम्बी, उस कालके गालका ग्रास होनेवाले पुरुष को घेर कर ऊँचे स्वरसे करुणामय भगवान्‌के मधुर नामका गान

करते हैं। परन्तु हाय ! बान्धवोंकी शुभकामनाका प्रेरणा किया हुआ यह शुभसङ्कल्प उस समय कुछ लाभ नहीं देता। अभ्यास न होनेके कारण उस इन्द्रियोंके शक्तिहीन होजाने के समय अभागे मनुष्यके कानमें परमपवित्र हरिनामकी ध्वनि पहुँच कर उसके मरे हुएसे हृदयमें फिर अमृतरस को नहीं छिड़कती। इसलिये जबतक समय है उसके भीतर ही परलोकके उपायकी चिन्ता करलेनी चाहिये। हम संसार के सुखोंके साधनोंको जान कर जिस २ विषयमें अत्यन्त आसक्त होजाते हैं, वास्तवमें वह सब किसी कामके भी नहीं हैं किन्तु परलोकमें दुर्दशा करानेवाले हैं। जिन२ विषयोंको दुःखका कारण मानकर हम भयभीत और सुन्न होजाते हैं वास्तवमें वह सब भी सर्वथा मिथ्या हैं। विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख और दुःख सब ही केवल हमारी भ्रान्तिसे उत्पन्न होनेवाला मोह है। इस संसाररूप पान्थशाला (सराय) में हम थोड़ेसे समयके लिये प्रवेश करते हैं और यहांके असार पदार्थोंका आश्रय लेकर असंख्यों सुख दुःखोंकी कल्पनामें मतवाले होजाते हैं। जिन क्षणभरमें नष्ट होजानेवाले भौतिक पदार्थोंको हमे शीघ्र ही अवश्य ही छोडना पड़ेगा, उन सब पदार्थोंको चिरस्थायी मानकर हम पागलोंके सा व्यवहार करते हैं और सकल सुखोंके सार सकल आनन्दोंके भण्डार, अक्षय प्रेमके उत्पत्तिस्थान, शान्तिराशिके निवासस्थानरूप ब्रह्माण्ड-पतिके चरणोंका ध्यान नहीं करते। हे जीव! हे सुख दुःखमें डूबे हुए मनुष्य ! हे भ्रममें पड़ेहुए प्राणी ! जब तक समय है,

जबतक शरीर स्वस्थ है, जबतक रोगके चुङ्गलमें नहीं फँसता है और जबतक बुढापा अपने जालमें नहीं जकड़ता है उस से पहिले ही अपनी महायात्राके मार्गको देखले, और मैं मेरा करनेकी खोटी बुद्धिको त्याग कर संसारसागरसे तारने-वाली श्रीनारायणके चरणरूप अति दृढ़ नौकाका आश्रय लेले ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मा-मेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(तस्मात्) तिस कारणसे (सर्वेषु) सब (कालेषु) समयोंमें (माम्) मुझको (अनुस्मर) चिन्तवन कर (च) और (युध्य—युध्यस्व) युद्ध कर (मयि) मुझमें (अर्पित-मनोबुद्धिः) अर्पण करदिया है मन और बुद्धिको जिसने ऐसा तू (माम्—एव) मुझको ही (असंशयः) सन्देह-रहित होता हुआ (एष्यसि) प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जब अन्तसमयमें आप का स्मरण न करके मरनेवालेकी सद्गति नहीं होती है तो जिससे अन्तकालमें आपका स्मरण हृदयमें देदीप्यमान रहै यही तो सब मनुष्योंको अवश्य करना चाहिये, कृपा करके

यह बताइये कि—कौन उपाय करनेसे यह भावना सिद्ध होसकेगी ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! निरन्तर मेरा स्मरण रख । इस स्मरणके भीतर ही सब साधनायें समायी हुई हैं । आत्मविचार, ध्यान, जप, प्रार्थना सदा किया कर। दो घड़ी रात रहे, ब्राह्ममुहूर्त्तमें स्नानके अनन्तर, मध्यान्हके समय, सन्ध्याके समय नित्य नियमके साथ सन्ध्या और पूजामें तो मेरा स्मरण करेगा ही, परन्तु इसके सिवाय और समयमें भी 'हे नारायण ! मेरा उद्धार करो' ऐसी प्रार्थना करके मेरे नामका जप किया कर, हरएक श्वासमें मेरा स्मरण रक्खा कर । जीवनभर इस प्रकारका अभ्यास रखनेसे ही मृत्युके समय किसी प्रकारका भय नहीं रहेगा। अर्जुनने कहा, कि हे भगवन् ! यह तो आपका कहना ठीक है, परन्तु जो दृढ़ताके साथ ऐसा सङ्कल्प कर लेते हैं, कि—हम सदा निरन्तर भगवान्‌का ध्यान स्मरण करेंगे, वह भी भूलजाते हैं और सर्वदा ध्यान स्मरण नहीं करसकते । यह तो बताइये कि—वह क्यों नहीं करसकते और ऐसी कौनसी रीति है कि—जिसमें यह नियम निभसके ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! सर्वदा जो भगवान्‌का ध्यान स्मरण नहीं होसकता उसका कारण मनुष्यका पहिले किया हुआ पाप है । पापके होनेसे ही भगवान्‌का ध्यान स्मरण नहीं बनता है । पापको दूर करके चित्तको शुद्ध करनेके लिये मनुष्योंको वर्णाश्रम धर्मके अनुसार पुण्य-कर्म करने चाहियें । कर्म विना किये चित्तकी शुद्धि कभी नहीं होसकती । हे भैया अर्जुन ! तू क्षत्रिय है, युद्ध

करना ही तेरा पुण्य कर्म है। मेरी आज्ञा मानकर मुझे प्रसन्न करनेके लिये युद्ध कर। किसी फलको पानेकी इच्छा न रख कर केवल मेरी आज्ञाको शिरोधार्य मानकर अपने (क्षत्रिय के) धर्मका पालन रूप युद्ध कर। दूसरे लोग अपने २ वर्ण आश्रमके अनुसार जीवसेवा और नित्य नैमित्तिक कर्म आदि करें तो अवश्य ही उनका चित्त शुद्ध होगा ॥ चित्तशुद्धि होजाने पर सदा मेरा स्मरण करके भगवन्नामका जप कर सकेगा। ऐसा करनेसे मरणकालमें मेरा ही ध्यान करता हुआ सद्गतिको पाजायगा, मेरे ही सायुज्यको प्राप्त होगा। क्या इस बातको तू समझता है, कि कर्म करनेका क्या उद्देश्य है ?। कर्म करना केवल मुझमें अनुराग बढ़ानेके लिये है, जिस कर्मको करनेसे मुझमें अनुराग न बढ़े, उस कर्मसे लोकोंका उपकार होने पर भी उससे कर्म कर्त्ताको बन्धन ही होता है। मुझमें अनुराग बढ़ानेके लिये जो कुछ भी कर्म करेगा वह चाहे माता पिताकी सेवा हो, चाहे लोकसेवा हो, चाहे दान आदि हो और चाहे नित्य नैमित्तिक कर्म हो, उस सब कर्म से तेरे चित्तकी शुद्धि होगी और फिर तू सर्वदा मेरा स्मरण कसरकेगा। जो सर्वदा मेरा स्मरण करता है उसका मन बुद्धि मुझमें ही लगजाता है, इसलिये वह मृत्युके अनन्तर मुझको ही पाता है, मेरे पास ही पहुँचता है और चिरकालतक मेरे निकट ही रहता है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! यदि कोई इस जीवनमें ही आपको पाना चाहे तो वह कैसे पासकता है ?। भगवानने कहा कि—हे सखे! सगुण उपासक देहान्त होने पर मुझको पाता है, परन्तु जो

निर्गुण-ब्रह्मचिन्तवन का अभ्यास करते हैं वह इस जीवनमें ही क्यों तत्क्षण ही मुझे पासकते हैं, केवल अधिकारी होना चाहिये। सगुण ब्रह्मके उपासक मरणकालमें मेरा स्मरण करके मरणके पीछे मुझे प्राप्त होते हैं, परन्तु जो निर्गुण ब्रह्म का चिन्तवन करने के अभ्यासी होते हैं, वह पहिले बाहरी जगत्‌को अपने चित्तमें लाते हैं अर्थात् अपना चित्त ही हम को सुख दुःख देता है पहिले ऐसा ध्यान बाँधते हैं, जो सदा अपने चित्तको लक्ष्य करनेका अभ्यास रखते हैं उनको बाहरी दृश्य का दर्शन नहीं होता है। फिर वह विचार करते हैं कि-सुख दुःख चित्तका है, परन्तु चित्त तो मैं नहीं हूँ, फिर मुझे सुख दुःख कैसे ?। मैं चित्त नहीं हूँ तो फिर क्या हूँ ?। आहा ! मैं चेतन हूँ, मैं आत्मा हूँ, वह निश्चय करता है, कि-"नाहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे, नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे। नाहं चित्तं शोकमोहौ कुतो मे, नाहं कर्त्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ॥" अर्थात् जन्म और मरण तो उत्पन्न होने वाली जन्य वस्तु के होते हैं, आत्मा तो अज है, इसीसे मैं जन्म नहीं लेता हूँ, फिर जन्म मरण का भय मुझे कैसे हो सकता है?। भूख प्यास प्राण का धर्म हैं उनसे मुझे क्या ?। मोह शोक चित्त के धर्म हैं वह भी मुझे कैसे चिपट सकते हैं ?। जो कर्त्तापने का अभिमान करता है, उसको ही बन्धन और मुक्ति होते हैं, मैं तो कर्त्ता नहीं हूँ, फिर मुझे बन्धन और मुक्ति कैसी ?। यह अवस्था साधना के विना प्राप्त नहीं होती। केवल मुख की बकवादसे यह सिद्ध नहीं होसकती। पुण्य कर्म के द्वारा पाप का क्षय होकर जिनके चित्त में फिर

विषयों की भावना नहीं उठती है। उपासना के द्वारा चित्त निर्मल होकर जो सर्वदा ईश्वरके स्मरणसे शान्त होगये हैं। इस प्रकार चित्त ज्यों ज्यों आत्मदेव की आलोचना करने लगता है त्यों त्यों उसका अज्ञानरूप आवरण भी हटता चलाजाता है। इस प्रकार वह धीरे धीरे सदा अपने को प्रकृति से और चित्त से भिन्न अनुभव करसकता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का अभिमानी विश्वपुरुष, तैजसपुरुष और प्राज्ञ पुरुष स्थूल-विषयभोग को त्यागकर सूक्ष्म विषयभोगमें जाता है, सूक्ष्म विषयभोग को त्यागकर आनन्द को भोगता है और इस प्रकार अन्तमें ज्ञानी अपनेको समस्त विषयों से अलग जानकर शान्तभाव से स्थित होता है, यह ही जीवन्मुक्ति है ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्य-गामिना। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे अर्जुन (अभ्यासयोगयुक्तेन) अभ्यासरूप उपायसे एकाग्र हुए (नान्यगामिना) अन्य विषयमें न जाने वाले (चेतसा) चित्त करके (दिव्यम्) द्युतिमान् (परमं पुरुषम्) परम पुरुषको (अनुचिन्तयन्) निरन्तर स्मरण करता हुआ [तम्—एव] उसको ही (याति) प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! मरणकालमें आपका स्मरण किसप्रकार करना चाहिये, इस बातको और स्पष्ट करके कहिये? । भगवान्ने कहा कि—हे सखे! अभ्यासयोगके द्वारा चित्तको और विषयोंसे हटा कर सर्वदा द्युतिमान् परम पुरुषका स्मरण करना चाहिये। स्मरण साधनाका प्राण है।साधारण पुरुषोंके लिये सुगम मार्ग यही है, कि—श्रीभगवान्का सर्वदा स्मरण करनेका अभ्यास करें । जिसकी आज्ञाको मानकर चन्द्रमा और सूर्य अपने मार्गमें चलते हैं। जिसकी आज्ञा को मानकर वायु वहता है, नदियें अपने मार्गमें बहती हुई समुद्रमें जाकर मिलजाती हैं । जो अपनी शक्तिके साथ युगल होकर सर्वत्र विराज रहा है । जिन दो के सिवाय और कुछ है ही नहीं "युवाभ्यान्नास्ति किञ्चन" उनका स्मरण करके ही सन्ध्या पूजा जप आदि का अभ्यास करना होगा, अभ्यास ठीक ठीक होजाने पर मरणकालमें फिर भूल नहीं होगी। अर्जुनसे कहा, कि—हे भगवन् ! अभ्यामयोग किसको कहते हैं ? यह स्पष्ट करके समझाइये ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! चित्तमें एक ही प्रकारकी भावनाके प्रवाहको बहानेका नाम अभ्यास है। विजातीय प्रत्ययको दूर करके सजातीय प्रत्ययका प्रवाहित करना ही अभ्यास है।जब चित्तमें एकाकार प्रवाह होता है। एक चिन्तवनके प्रवाहकालमें दूसरी विरुद्ध चिन्ताका उदय न होनेसे ही दृढ़ अभ्यास कहलाता है। मान लो, कि—

दोनों भौंके मध्यमें स्थित जिसके चारों ओर तेजका घेरा है ऐसे द्युतिमान् परम पुरुषके चारों ओर घूम २ कर जो पुरुष प्रणाम करता हुआ पुष्पाञ्जलि अर्पण करने की भावना का अभ्यास करता है। वह पुरुष मनको सर्वदा ही दोनों भौंके बीचमें रखनेकी चेष्टा करता है। यदि मन दूसरी ओरको जानेकी चेष्टा करता है, तो भी तत्काल दोनों भौंके बीचमें अपने ध्यानकी वस्तुकी भावना रखता है, इसलिये ही उसकी प्राणशक्ति भी बार बार भौं के बीचमें स्थिति पाती है, क्योंकि–जहाँ भावना जाती है तहाँ ही प्राण प्रवेश करता है, इसप्रकार साधक मरणकालमें श्रीभगवान्को कभी नहीं भूलेगा। इस अभ्यासरूप योग वा समाधिके द्वारा चित्त विना ही प्रयत्नके निरोध समाधिमें आजायगा। इसप्रकार चित्त कभी भी इष्टदेवको छोड़कर नहीं जासकेगा, तब इस चित्तके द्वाराही परम पुरुषकी प्राप्ति होजायगी। भगवान् वासुदेवका चिन्तवन करते करते प्राणी वासुदेव ही होजाता है। यह स्मरणका अभ्यास सकल कल्याणों की खान है॥ ८॥

कविं पुराणमनुशासितारं,
अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपं,
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥९॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् १०

अन्वय और पदार्थ

(कविम्) सर्वज्ञ (पुराणम्) पुरातन (अनुशासितारम्) आज्ञा देनेवाले (अणोः) सूक्ष्मसे (अपि) भी (अणीयांसम्) सूक्ष्म (सर्वस्य) सबके (धातारम्) विधाता (अचिन्त्यरूपम्) जिनके रूपका चिन्तवन नहीं होसकता ऐसे (आदित्यवर्णम्) सूर्यकी समान जिनका वर्ण प्रकाशरूप है ऐसे (तमसः) प्रकृतिसे (परस्तात्) परे वर्त्तमान (प्रयाणकाले) मरणसमयमें (यः) जो (भक्त्या) परम प्रेम करके (युक्तः) युक्त होता हुआ (अचलेन) विक्षेप रहित (मनसा) मन करके (च) और (योगबलेन एव) चित्त की स्थिरतारूप योग के बल करके भी (भ्रुवोः) दोनों भौंके (मध्ये) आज्ञाचक्ररूप मध्यभागमें (प्राणम्) प्राण वायुको (आवेश्य) स्थापनकरके (अनुस्मरेत) निरन्तर चिन्तवन करै (सः) वह (तम्) उस (दिव्यम्) द्युतिमान् (परं पुरुषम्) परम पुरुषको (उपैति) प्राप्त होता है॥ ९ ॥ १० ॥

भावार्थ

अर्जुन ने कहा, कि–हे भगवन् ! अन्तकालमें भगवान् के ध्यान की निष्ठावाला पुरुष मरण के अनन्तर जिस परम

पुरुष को प्राप्त होता है, उसका विस्तारके साथ वर्णन करके समझाइये? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! वह पुरुष कवि कहिये सर्वज्ञ है, क्यों कि-वह भूत भविष्यत् वर्त्तमान अर्थात् जो होचुका, जो कुछ होगा और जो कुछ होरहा है, उस सब के आदि अन्तको देखता है तथा उसने सब प्रकार की विद्याओं की प्रतिष्ठा की है। वह पुरातन है, सनातन है, क्योंकि-वह सकल कारणों का कारणरूप तथा स्वयं अनादि सिद्ध है। वह सर्व-नियन्ता है अर्थात् भीतर बाहर सब जगत्‌का शासन कर्त्ता और नियामक है "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् शास्ता जनानाम्" वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है अर्थात् आकाश, काल, दिशा, अतिसूक्ष्म हैं, परन्तु परम पुरुष इनसे भी अधिक सूक्ष्म है। वह सबका विधाता अर्थात् सकल प्राणियोंके कर्मफलों का विभाग करनेवाला है। मन जिस पुरुषके रूपका चिन्तवन नहीं करसकता। जो पुरुष सूर्यकी समान अपना और दूसरेका प्रकाशक है। जो पुरुष अन्धकारके पार है। जो माया के पार है और अन्धकार का नाश करता है। उस पुरुषके सर्वदा स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। संपूर्ण जीवन भर योग आदि उपायसे उसका स्मरण कर सकने पर जब मृत्यु आक्रमण (हमला) करनेको आवे उस समय भक्तिके साथ योगबलसे शरीरका त्याग करे। ऐसा करसकने पर वह द्युतिमान् परमपुरुष प्राप्त होजाता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! "भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्" यह क्या आप योगमार्गकी कोई विशेष साधना कहते हैं?। भगवान्‌ने कहा

कि-हे सखे ! जो 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका विचार करसकते हैं उनके प्राणका उत्क्रमण नहीं होता है। अखण्ड सत् चित् आनन्दस्वरूप तत् वस्तुका चिन्तवन प्रथम है । खण्डचैतन्यस्वरूप त्वम् वस्तुका चिन्तवन द्वितीय है। खण्डचैतन्यका अखण्डरूपसे चिन्तवन करसकने पर जब खण्ड नहीं रहता है जब सब ही एक अद्वितीय अखण्डचैतन्य होजाता है उस समय वह परमपुरुषमात्र ही शेष रहता है ज्ञानी ही विचारके द्वारा उसको पाते हैं। भक्तजन नाम नामीके लीलाप्रवाहको हृदयमें रखकर तथा नाम और नामीके अभेदका अनुभव करके मानसपूजामें एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करते २ निरन्तर अन्तःकरणमें एक सरस चिन्तवनके प्रवाहको रखकर शरीरान्त के समय उसको ही पाते हैं। भक्तके एक चिन्तवनके प्रवाह कालमें भी प्राणवायु भौंके मध्यमें प्रवेश करजाती है, इसस्थलमें गीताके भाष्यकार और टीकाकारोंने सुषुम्ना नाड़ी और आज्ञाचक्र आदिकी बात उठायी है, उसको स्पष्ट करनेके लिये योगशास्त्रमें कहेहुए षट्चक्रभेदका वर्णन संक्षेपसे लिखदेना उचित प्रतीत होता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है, कि-भगवान् पिप्पलाद ऋषिसे ज्ञानोपदेश चाहनेवाले कौशल्य नामक एक ब्रह्मनिष्ठ महात्माने प्राणकी उत्पत्ति और स्थिति आदि के विषयमें प्रश्न किया, उसका उत्तर देतेहुए भगवान् पिप्पलादने आत्मा और प्राणका प्रसङ्ग उठाकर कहा, कि-मनुष्यके हृदयमें एक सौ एक प्रधान नाड़ी हैं। उनमेंसे हरएक नाड़ी के साथ एक २ सौ शाखानाड़ियें लगीहुई हैं और शाखा

नाड़ियों के साथ बहत्तर हजार सूक्ष्म नाड़ियें हैं। इस प्रकार मनुष्य के शरीर में की नाड़ियों की बड़ी भारी संख्या है। शास्त्र में जितनी नाड़िये बतायी हैं, उन में कितनियों ही के अलग २ नाम हैं। उन में इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना नाम की तीन नाड़िये प्रधान हैं। सुषुम्ना नाड़ी सब से श्रेष्ठ है। शास्त्रकारोंने इड़ा को गङ्गा, पिङ्गलाको यमुना और सुषुम्ना को सरस्वती नामसे कहा है। मनुष्य के देह में स्थित मेरुदण्ड के दोनों ओर इड़ा और पिङ्गला नाड़ी स्थित हैं। बाईं ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिङ्गला है, इन दोनों नाड़ियों के मध्यमें सुषुम्ना है। मेढ़ू अर्थात् लिङ्ग के ऊपर और नाभि से नीचे के स्थान को कन्द वा ग्रन्थिस्थान कहते हैं। उस स्थानसे सब नाड़ियें उत्पन्न होकर शरीरमें फैली हुई हैं। सुषुम्ना नाड़ी कन्द स्थान से उत्पन्न होकर मस्तक पर्यन्त फैली हुई है। यह सुषुम्ना नाड़ी इतनी सूक्ष्म है, कि—आँख से नहीं दीखसकती तो भी उसके मध्यमें एक अतिसूक्ष्म वज्रिणी नाड़ी और उस वज्रिणी के मध्यमें चित्रिणी नामकी नाड़ी और उस चित्रिणीके मध्य में ब्रह्म नाड़ी नामकी एक अतिसूक्ष्म नाडी मूलाधारमें स्थित शिवलिङ्गके मुखमें से उठकर मस्तक तक फैली हुई है। मेरुदण्डके मध्यमें मूलाधार, अधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र यह छः चक्र हैं। यह सब खिलेहुए कमल की समान हैं। ये कमल ब्रह्मनाडीमें गुथे हुए हैं। सबसे ऊपर सहस्रदल कमल है। कुलकुण्डलिनी आत्मशक्तिका नाम है "सा देवी वायवी शक्तिः" यह शक्ति, मूलाधार चक्र में जो स्वयम्भू लिङ्ग है उसको साढ़े तीन वार लपेट कर

ब्रह्मनाड़ीके सूक्ष्म मार्गको मुखसे वन्द किये हुए है। कुण्डलिनी सर्पके आकारकी है। प्राणयामके द्वारा इस शक्तिको जगा-सकने पर यह शक्ति और चक्रोंको भेद कर सहस्रारमें परम शिवके साथ जा मिलती है। यह मिलनका व्यापार षट्चक्र को भेदनेसे होता है, प्राणवायु के कार्यके साथ अतिसूक्ष्म भावना ही योग है। इस भावनाके द्वारा सहस्रारमें शिव शक्तिका मिलन षट्चक्रके भेदसे सिद्ध होता है। योगी मरण-समय में भक्तिके साथ योगबलसे प्राणको भौंके मध्यमें स्थित आज्ञाचक्रमें स्थापन करके परमशान्त भावसे प्राण त्यागनेकी घटनाको करसकता है। मृत्युकालमें इस योगके द्वारा देहान्त में परम पुरुषको प्राप्त होता है। जो मेरे स्वरूपका पूर्वोक्त चिन्तवन प्रवाहरूपसे नहीं रखसकते हैं। समस्त जीवन भर योग-मार्ग वा भक्तिमार्ग वा ज्ञानमार्गमें जिनकी चिन्ताका एक प्रवाह नहीं रहता है उनको परम पुरुषकी प्राप्तिरूप सम्पदा का लाभ नहीं होता है। भावना ही सकल साधनाओंकी सार है। तू इस ही क्षणमें कुलकुण्डलिनीके ब्रह्मस्वरूप मार्गमें प्रवेश और अनेकों रङ्गके कमलके मध्यमें भ्रमण करते २ बिजली की चमक से चारों दिशाओं को प्रकाशित करते २ आज्ञा चक्रके ऊपर प्रणव और विन्दुके पार होकर परम पुरुषका धीरे २ स्पर्श कर रहा हूँ, ऐसी भावना कर तो देखेगा, कि—इस ही क्षण में तू कितना शान्त होजाता है। जो योगी हैं वह प्राणायाम आदि साधना के द्वारा इस व्यापार को सिद्ध करके कितना आनन्द पाते हैं, उसका कुछ आभास तू भावनाके द्वारा शान्त होकर पासकेगा। शक्ति तू ही है, इसमें कुछ

सन्देह नहीं है। अव्यक्त शक्ति स्थूल होकर कार्य होता है कर्मकी प्रकट मूर्त्ति शरीर है। स्थूल देह भावनाको त्याग कर तू भावना कर, तू सूक्ष्म शक्ति है, यह शक्ति अतिसूक्ष्म नाडीके भीतर प्रवेश करती है। क्रमसे त्रिकोण मण्डलके पार होकर परम शिवका स्पर्श करती है। भावना करके देख इस क्षणमें ही एक अतिशीतल अवस्थाका अनुभव करसकेगा। जो योगी जीवनभर प्राणवायुको वशमें रखता है वह ही मृत्युकालमें प्राणवायुको आज्ञाचक्रमें लेजाकर काल के हाथसे रक्षा पाता है, विना साधना के मृत्युको जीतना नहीं वनसकता। ज्ञान और भक्तिके मिलनमें भगवत्स्वरूप के चिन्तवनका एक प्रवाह होता है वह भी उत्तम है। शास्त्र कहता है, कि–नारद, वशिष्ठ, व्यास आदि ज्ञानियोंने उसका ही वर्णन किया है, संन्यासी उसमें प्रवेश करके वडा ही सुख पाते हैं और ब्रह्मचारी उसके लिये ही ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, अगले श्लोकमें इस ही बातको कहतेहैं॥९॥ १०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

अन्वय और पदार्थ

(वेदविदः) वेद के अर्थ को जानने वाले (यत्) जिस

को (अक्षरम्) अविनाशी (वदन्ति) कहते हैं (वीतरागाः) निस्पृह (यतयः) संन्यासी (यत् विशन्ति) जिसमें प्रवेश करते हैं (यत्) जिसको (इच्छन्तः) चाहते हुए (ब्रह्मचर्यम्) गुरुके यहाँ रहकर इन्द्रियनिग्रहपूर्वक वेदाध्ययनरूप तपको (चरन्ति) करते हैं (तत्) उस (पदम्) पदको (ते) तेरे अर्थ (संग्रहेण) संक्षेप से (प्रवक्ष्ये) कहूँगा ११

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे कृष्ण ! तुमने भगवान्‌के स्मरण का बड़ा माहात्म्य कहा, इसलिये उस भगवत्स्मरणका जो सबसे श्रेष्ठ उपाय हो उसको बताइये ? भगवान्‌ने कहा, कि हे सखे ! भगवान्‌का स्मरण श्रुतिमें वर्णन किये हुए प्रणवरूप परम मंत्रके साथ होना चाहिये । ध्यानके विषयमें प्रणव मंत्रकी समान दूसरा कोई मंत्र है ही नहीं । वेदके अर्थको जाननेवाले महात्माओंने ॐकार नामवाले अक्षर (अविनाशी पुरुष) को निःसन्देहभावसे ब्रह्मरूप कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद्‌के आठवें ब्राह्मणमें भगवान् याज्ञवल्क्य और वाचक्नवी नामकी एक स्त्रीका ब्रह्मके विषयमें प्रश्नोत्तर हुआ है। विदुषी वाचक्नवी गर्ग गोत्रमें उत्पन्न हुई थी,इस कारण गार्गी कहलाती थी। उस प्रश्नोत्तरमेंकी एक श्रुति यह है, कि-
"एतद्वैतदक्षरं गार्गि । ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाङ्मनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।"

अर्थात्—हे गार्गि ! जिसको तूने पूछा है वही अक्षर है, ब्रह्मको जाननेवाले कहते हैं, कि—वह न मोटा है न दुबला है। न छोटा है न बड़ा है। न मोहित है न स्नेहवाला है। न छायावाला है न अन्धकारशून्य है। वह न वायु है न आकाश है। उसमें सङ्ग, रस वा गन्ध नहीं है। उसके चक्षु कान, वाणी वा मन नहीं है। उसको तेजवा प्राणकी आवश्यकता नहीं है। उसके मुख नहीं है, उसका परिमाण, भीतर वा बाहर नहीं है, वह कुछ भी भोजन नहीं करता है। तहाँ ही अगली श्रुति में भी कहा है, कि—"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। इत्यादि ॥" अर्थात् हे गार्गि ! इस अक्षर के ही शासन के प्रभावसे सूर्य और चंद्रमा किसी के पकड़े हुए से एक जगह ठहरे रहते हैं, इन श्रुतियोंके ऊपर विचार करनेसे मालूम होता है, कि—वेदके तात्पर्यको जाननेवालोंने उस अक्षर अर्थात् ॐकार को ही ब्रह्मरूप से वर्णन किया है। केवल वेदवेत्ताओंने ही अपनी पण्डिताई के प्रभावसे अक्षर पुरुषका माहात्म्य वर्णन नहीं किया है, किन्तु विषयोंसे विरक्त मुक्तिके लिये उद्योग करनेवाले संन्यासी भी सम्यक् दर्शन और स्वरूपज्ञानके साथ उसमें ही प्रवेश करते हैं अर्थात् अक्षररूप ब्रह्म में ही विलीन होते हैं। ज्ञानसूर्य के प्रकाशसे जिनके हृदयका अविद्यारूपी अन्धकार दूर होगया है ऐसे महापुरुष, विज्ञानमय एकरसरूप ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं। और केवल वेदवेत्ता और संन्यासी ही उसका अनुभव नहीं करते हैं किन्तु और

जो साधक हैं। उनका परिश्रम भी उसको ही पाने के लिये होता है। उसके तत्त्वको जानने की इच्छासे गुरुके यहाँ रहने वाले ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी (१) भी शास्त्रमें लिखी हुई रीति के अनुसार कठोर तपस्या करते हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! ऐसे दुर्ज्ञेय ॐकारतत्त्वका अनुभव मैं कैसे कर सकूँगा?। इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! इस

(१) और्व उवाच। बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः। गुरुगृहे वसेद्भूप ब्रह्मचारी समाहित। शौचाचारवता तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः। व्रतानि चरता ग्राह्यो वेदश्च कृतबुद्धिना॥ उभे सन्ध्ये रविं भूप तथैवाग्निं समाहितः। उत्तिष्ठेत तथा कुर्याद् गुरोरप्यभिवादनम्॥ स्थिते तिष्ठेद्व्रजेत् याति नीचैरासीत्तथा सति। शिष्यो गुरौ नृपश्रेष्ठ प्रातकूलं न सम्भजेत्॥ तेनैवोक्तः पठेद्द वेदं नान्यचित्तः पुरः स्थितः। अनुज्ञातश्च भिक्षान्नमश्नीयाद् गुरुणा ततः॥ अवगाहेदपः पूर्वमाचार्येणावगाहिता। समिज्जलादिकञ्चास्य कल्यं कल्यमुपानयेत्॥ गृहीतग्राह्यवेदश्च ततोऽनुज्ञामवाप्य वै। गार्हस्थ्यमावसेत्प्राज्ञो निष्पन्नगुरुनिष्कृतिः॥ (विष्णुपुराण ३ अंश ९ अध्याय) अर्थात्-और्वने कहा कि-यज्ञोपवीत होजाने पर वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये बालक ब्रह्मचर्यको धारण करके सावधानीके साथ गुरुके घर रहै। तहां शौचाचारके साथ गुरु की सेवा करता रहै और व्रत आदि धारण करता हुआ स्थिर बुद्धिके साथ वेदके उपदेशको ग्रहण करै। हे राजन्! ब्रह्मचारी दोनों सन्ध्याओंके समय सूर्य और अग्निदेवताका पूजन करै और फिर गुरुदेवकी सेवा भी करै। हे राजन्! गुरुके खड़े होने पर शिष्य खड़ा होजाय, चलने पर पीछे २ चलने लगै, बैठने पर बैठजाय, कभी गुरुके प्रतिकूल कोई काम न करै। गुरुके सामने बैठकर उनके पढ़ाये हुए वेदको एकचित्त होकर पढै, फिर उनकी आज्ञाके अनुसार भिक्षा करके लाये हुए अन्नका भोजन करै। गुरु स्नानसे निवट जायँ तब स्नान करै और प्रातःकालके समय गुरुके लिये कुश जल आदि लादेय। ग्रहण करने योग्य वेदविद्याको पढ़ चुकने पर गुरुको दक्षिणा देय और फिर उनकी आज्ञासे बुद्धिमान् शिष्य गृहस्थ आश्रमको स्वीकार करै।

अक्षर ब्रह्मके विषयको अब मैं उत्तम रूपसे और संक्षेपमें कहूँगा अर्थात् मैं इस विषयके अभिप्रायको इस प्रकार प्रकट करूँगा, कि-उसको समझनेमें जरा भी अड़चन नहीं होगी। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन् ! तत्त्वमसि आदि वेदान्तवाक्योंका ज्ञान होने पर भी तो परब्रह्मकी प्राप्ति होजाती है, फिर आप ॐकारको ही प्रधान और उपासनाके योग्य क्यों कहते हैं ? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि-हे सखे अर्जुन ! उत्तम अधिकारियोंको ध्यानोपासनाके विना भी महावाक्यके विचार के प्रभावसे ही ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होसकता है, परन्तु सब ही तो एकसी बुद्धिवाले उत्तम अधिकारी नहीं हैं। जो मध्यम अधिकारी वा अधम अधिकारी हैं उनके लिये ही क्रममुक्तिरूप फल देनेवाली यह ॐकारकी उपासना है। इस मार्गका आश्रय लेनेसे कुछ समयमें सब प्रकारके ही अधिकारियोंका मुक्तिके विषयमें मनोरथ सिद्ध होसकता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है कि-"स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमधिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति। यद्येकमात्रमभिध्यायीत। स तेनैव सम्वेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति। अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरीक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते । यः पुनरेतात्रिमात्रेणैवौमित्येतेनैवाक्ष-

रेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥" अर्थात्-पिप्पलाद ऋषिसे सत्यकामने पूछा, कि-हे भगवन्! मनुष्योंमें यदि कोई अन्तकाल तक ॐकारका ध्यान करे तो वह उस साधनाके प्रभाव से किस लोकको पाता है? पिप्पलादने उत्तर दिया, कि-हे सत्यकाम! यह ॐकार ही परब्रह्म है और अपर-ब्रह्म है। जो पुरुष ॐकारको इनमेंके जिस रूपसे जानता है वह उस ही एकरूपको पाता है। वह यदि एक मात्राका ध्यान करता है तो वह उसके द्वारा ज्ञानको पाकर शीघ्र ही जगत्में आता है, ऋग्वेदके मंत्र उसको मनुष्यलोकमें लाते हैं, वह तहां तप ब्रह्मचर्य और श्रद्धायुक्त होकर महिमाका अनुभव करता है। यदि दो मात्राका ध्यान करता है तो वह अन्तरिक्ष लोकमें जाता है, यजुर्वेदके मंत्र उसको सोमलोकमें लेजाते हैं, तहाँ सोमलोकके ऐश्वर्योंको भोगकर वह फिर लौट आता है, जो पुरुष त्रिमात्र अर्थात् ॐकार इस अक्षरके द्वारा परब्रह्मका ध्यान करते हैं, वह तेजोमय सूर्यलोकमें जाते हैं, जैसे साँप कैंचुलीको त्याग देता है तैसे ही वह भी पाप पुण्यसे छूटकर सामवेदके मंत्रोंके द्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचता है, तहाँ वह परमपुरुषका दर्शन करता है। मुण्डक उपनिषद्में भी कहा है-"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥" (२ मुण्डक २ खण्ड ४)

अर्थात्–प्रणव कहिये ॐकार ही धनुष है, आत्मा ही वाण है और ब्रह्म ही उसका लक्ष्य कहलाता है, अप्रमत्त कहिये धैर्यवान् पुरुष ही इसको वेध सकता है, जैसे वाण लक्ष्यमें घुस जाता है तैसे ही परब्रह्ममें प्रवेश करके तन्मय होजाय। इसप्रकार सब ही प्रकारके साधकोंके लिये केवल ॐकार ध्यान-मन्त्रके अवलम्बनसे उत्तरोत्तर उन्नतिके साथ किसी समय चरमोन्नातिकी प्राप्तिका उपाय दिखाया है ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् १२

ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मा-मनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(सर्वद्वाराणि) सब इन्द्रियोंको (संयम्य) विषयोंसे लौटा कर (च) और (मनः) मनको (हृदि) हृदयमें (निरुध्य) रोक कर (प्राणम्) प्राणवायुको (मूर्ध्नि) दोनों भौंके मध्यमें (आधाय) स्थापन करके (योगधारणाम्) योगकी विभूतिका (आस्थितः) आश्रय करता हुआ (ओमिति) ॐ इस (एकाक्षरम्) एक अक्षरको (व्याहरन्)

उच्चारण करता हुआ (माम्) मुझको (अनुस्मरन्) स्मरण करता हुआ (देहम्) शरीरको (त्यजन्) त्यागता हुआ (यः) जो (प्रयाति) मरता है (सः) वह (परमाम्) सब से उत्तम (गतिम्) गतिको (याति) प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आपने जो पीछे कहा कि–"तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये,, अर्थात–मैं तुझे ब्रह्मपद संक्षेप के साथ स्पष्ट करके सुनाता हूं, सो ब्रह्मपदको पानेके लिये योगशास्त्रमें जो उपाय कहा है, वह ही योगधारणाके साथ ॐकारकी उपासना है । अब यह बताइये, कि–उस उपासनामें क्या करना होगा ? पीछे भक्तिमार्गके उपाय सुनाइये । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन ! पहिले सब इन्द्रियोंके द्वारों को रोक । चक्षु कर्ण आदि इन्द्रियें हैं. जिसके ऊपर इन्द्र वा आत्माकी प्रभुता होती है, उसका ही नाम इन्द्रिय है । आत्मा शक्तिके ऊपर प्रभुता करता है. इसकारण इन्द्रिय शक्ति है । इन्द्रिय ज्ञानको पानेका द्वार है, पहिले इन्द्रियोंका दमन कर ऐसा उपाय कर कि–जिससे इन्द्रियें शब्द आदि विषयोंकी ओरको न जाने पावें । विषयोंमें अनेकों दोष भरे हुए हैं, इस बातको सदा ध्यानमें रख । विषयोंमें दोष देखनेका अभ्यास होजाने पर फिर चक्षु, रूप देखनेको नहीं दौड़ेंगे, क्योंकि–दीखनेवाली वस्तुओंमें अनेकों दोष दीखेंगे, फिर क्या देखेगा और सुनेगा ? बहुत कुछ देखलिया, बहुत कुछ सुनलिया,

देखते २ सुनते २ तो तृप्ति ही नहीं हुई। जो वस्तु कुछ क्षणको रहनेवाली है, उससे तृप्ति कैसे होसकती है ?, इसलिये रूप रस आदि विषयोंमें अब मेरी श्रद्धा नहीं है, इसप्रकार विषयोंमें जब वैराग्यका अभ्यास होजायगा, फिर इन्द्रियें बाहरको दौड़ २ कर नहीं जायँगी उस समय बाहरका कोई पदार्थ भी शक्तिरूप इन्द्रियोंको तृप्त नहीं करसकेगा। बाहर आनन्दका कुछ भी साधन नहीं है, ऐसा ज्ञान होजाने पर साधक भीतर शक्तिमान्‌की ओरको जानेकी चेष्टा करेगा, भीतरको प्रवेश करनेकी चेष्टा करते समय भी एक प्रकारका सुख पावेगा। जब जप, ध्यान, आत्मविचार आदिका अनुष्ठान करेगा, उस समय इन्द्रियें चलायमान नहीं होंगी। बाहरके विषयोंमें वैराग्य और भीतरके आत्माराममें विश्रामका अभ्यास इन दो उपायोंसे सब द्वार बन्द होजाते हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! इन्द्रियोंको रोक लेनेसे ही सब काम सिद्ध होजायगा, फिर आप "मनो हृदि निरुध्य च" मनको हृदयमें रोककर, ऐसा किसलिये कहते हैं ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेने पर भी मन पहिले २ संस्कारोंको उठाकर सदा असम्बद्ध प्रलाप किया करता है, मनकी इस चिन्ताको अवश्य ही दूर करदेना चाहिये। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! तो वह मनका प्रलाप कैसे छूट सकता है ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! जिस समय मन भगवान्‌का चिन्तवन न करके, उनका स्मरण न करके, उनकी चर्चा न करके और ही चिन्ता और ही स्मरण तथा और हि

बातों की ओर जाय, उसी समय मनको उपदेश देनेका तथा उस का तिरस्कार करनेका अभ्यास करै। एक बालकको सच्चरित्र बनानेके लिये जैसे उसको हरसमय उपदेश दियाजाता है, अन्याय करने पर जैसे उसको ललकारा जाता है, तैसे ही अपने चित्तरूप बालकको सदा उपदेश दो, असम्बद्धप्रलाप करने पर मनको ललकारो। ऐसा करने पर मन हृदयकमल में इष्टदेवताका ध्यान तथा मानसपूजा आदि कर सकेगा और ऐसा करते २ निरुद्ध होजायगा। एक दिन वा दो दिनमें यह सिद्धि नहीं होसकती, इसका बहुत दिनों तक अभ्यास करो, जबतक मन असम्बद्ध-प्रलाप करना न छोड़ै, जबतक मन निश्चल न हो, स्वस्थ न हो, उतने दिनों तक इस साधना में लगे रहो, मनको विरागी बनाओ, इसको आत्मारामके रूपगुणमेंको खेंचकर लेजाओ, इससे आत्मारामकी प्रार्थना कराओ, वस काम सिद्ध होजायगा। जिसकी इच्छा हो, कि-'मृत्यु मेरे वशमें होजाय' उसको योगधारणाका अभ्यास करना चाहिये। वायुको रोककर दोनों भौंके मध्यमें प्राणोंको लेजाकर स्थिर करना, यह बात योगीके ही वशमें होती है, अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! क्या हृदयकमलमें ही मन को रोकना होगा और स्थानमें रोकनेसे काम सिद्ध नहीं होगा? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! आधारकमलसे लेकर सहस्र-दल कमलपर्यन्त सर्वत्र ही मनको धारण करनेकी विधि है, तिनमेंसे नाभि, हृदय और भौंके मध्यमें ध्यान करनेसे भी कार्य सिद्ध होजाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सन्ध्या करते समय इन तीन स्थानोंमें ही मनकी धारणा करते हैं। हृदय

कमलमें इष्टदेवका ध्यान करनेमें सुभीता है, यह ध्यान कुम्भक में होता है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! बाहर इन्द्रियोंके द्वारोंको और भीतर मनोद्वारको बन्द करनेके अनन्तर क्या करना चाहिये?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! इन्द्रियोंके द्वारोंमेंको होकर बाहरकी वस्तुएं ज्ञानमूर्त्तिमें भीतर प्रवेश करती हैं और मनोद्वारमेंको होकर उनके विषयके सङ्कल्प विकल्प भी निश्चय ही होते हैं, फिर क्रियाद्वारमेंको होकर ज्ञानका कार्य होता है। क्रियाका मुख्य द्वार प्राण है। इन्द्रियोंका निरोध होजाने पर और मनके हृदयकमलमें निरुद्ध होजाने पर प्राणायाम और कुम्भकके द्वारा प्राणको पहिले कण्ठकूप में, फिर दोनों भौंके मध्यमें अथवा सहस्रारमें स्थित करने पर योगधारणाका आश्रय सिद्ध होगया। ऐसी अवस्थामें जो मेरा स्मरण करते २ और ॐकारका उच्चारण करते २ शरीर को त्यागता है वह देवयानमार्गसे जाता है और परमगति को पाता है। यह देहको त्यागनेकी विधि कही, परन्तु ज्ञानी के प्राणका उत्क्रमण नहीं होता है, इसलिये ही वह जीव-न्मुक्त होते हैं। उनको देहान्त समयकी बाट नहीं देखनी पड़ती है। ज्ञान होजाने पर प्रारब्धके क्षय पर्यन्त देह कर्म करता रहै तो भी उस कर्मसे बन्धन नहीं होता है ॥१२॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अनन्यचेताः) जिसका और किसी विषयमें चित्त नहीं है ऐसा (यः) जो (माम्) मुझको (सततम्) निरन्तर (नित्यशः) जीवन भर (स्मरति) स्मरण करता है (पार्थ) हे कुन्तीनन्दन ! (तस्य) तिस (नित्ययुक्तस्य) सदा सावधान रहनेवाले (योगिनः) योगीको (अहम्) मैं (सुलभः) सुखसे प्राप्त होजाता हूँ ॥ १४ ॥

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! जो पहिले योगधारणा नहीं कर सका है वह तो अपनी इच्छानुसार देहको त्याग नहीं सकेगा, उसका क्या परिणाम होगा ? भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! वायुको रोक कर दोनों भौंके मध्यमें प्राणको लाकर ॐकारका उच्चारण करते२ शरीरका त्याग सब ही नहीं कर सकते हैं किन्तु जो पुरुष मुझको ही चाहता है, जिसका चित्त मेरे सिवाय और किसी विषयमें आसक्त होना ही नहीं चाहता ऐसा विषयोंसे वैराग्यको प्राप्त हुआ और मेरा प्रेमी पुरुष जीवन भर जब प्रति दिन प्रतिक्षण मेरे ही स्मरणका अभ्यास करता है तो वह पुरुष मुझमें ही नित्य-युक्त है, उस योगी को मैं सहज में ही प्राप्त होजाता हूँ। हे अर्जुन ! तू अनन्यचित्त होकर हर समय मुझमें ही चित्तको लगानेका अभ्यास कर। मार्ग में चलते हुए, शय्या पर सोते हुए, चाहे जिस समय किसी दशामें हो, सुखमें, दुःखमें, विपत्तिमें, सम्पत्तिमें, सब अवस्थामें मेरा स्मरण कर और स्मरण करतेमें प्रार्थना कर, प्रार्थना करने के पीछे मेरे नामका जपकर। मुझे याद करके

मेरा नाम लेकर पुकारने पर मैं उस भक्तके पास जाकर दर्शन देता हूँ। जप, ध्यान और आत्मविचार के द्वारा मेरे स्मरणका अभ्यास कर। जीवन भर धाराप्रवाहसे खातेमें, सोतेमें, बैठतेमें, उठतेमें सर्वदा मेरी याद रख। सुख दुःखमें, विपत्तिमें सम्पत्तिमें, राजद्वार (कचहरी) में, मरघटमें जहाँ हो, जिस दशामें हो मुझे पुकारे जा, फिर क्या तुझे मृत्युका भय रहसकता है ?, मैं ऐसे योगी को सहजमें ही मिलजाता हूँ। "शय्यासनस्थोऽथ परिव्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्क-जालः। संसारबीजक्षयक्षीणमानः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृत-भोगभोगी॥" हे सखे ! जिसके हृदयके सकल सन्देह दूर होजाते हैं, संसार के बीजभूत अज्ञानका क्षय होनेके कारण जिसमें अभिमान का नाम भी नहीं होता है वह चाहे शय्या पर सोता रहे, चाहे आसन पर बैठा रहे, चाहे भ्रमण करता फिरे चाहे एक स्थान पर बैठ जाय, वह नित्यमुक्त है और अमृतको भोगने वाला है। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन् ! प्रतिदिन प्रतिक्षणमें क्या आपका स्मरण रक्खा जा सकता है ?। भगवान्ने कहा, कि हे भैया अर्जुन ! मैं पहिले ही कहचुका हूँ, कि—"मामनुस्मर युध्य च (८ । ७) अब फिर भी कहता हूँ। कि—सकल धर्म कार्यों में ही मुझ को स्मरण करके कर्म किया जाता है, अधर्म के कामों में मेरा स्मरण नहीं होसकता। यदि अधर्म के काम नहीं करता है तो जागते समय में जितने कालतक पुरुषार्थ बना रहे तब तक मेरा स्मरण कर। निद्राके समय पुरुषार्थ नहीं रहता

है, इसलिये शयन करने से पहिले मेरा स्मरण करो पीछे सोओ, ऐसा अभ्यास कर फिर मृत्यु का भय नहीं रहेगा, क्योंकि-जिनके पास मैं रहता हूँ उनके पास मृत्यु कैसे आसकता है ? ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम-शाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

अन्वय और पदार्थ

(परमाम्) सबसे उत्तम (संसिद्धिम्) मुक्तिको (गताः) प्राप्त हुए (महात्मानः) शुद्धान्तःकरण यति (माम्) मुझको (उपेत्य) प्राप्त होकर (पुनः) फिर (दुःखालयम्) दुःखों के स्थान (अशाश्वतम्) चिरकाल न रहनेवाले (जन्म) शरीरसम्बन्धको (न) नहीं (आप्नुवन्ति) प्राप्त होते हैं १५

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! जो जीवन भर आपमें ही चित्तको लगाये रहा, उसको यदि आप सहजमें मिल भी गये तो इससे क्या होगा ? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! जो महात्मा मोक्ष नामवाली सबसे उत्तम गतिको पाजाते हैं उनको फिर इस संसारमें आकर जन्म धारण नहीं करना पड़ता है, इस संसारमें जन्म लेकर जो शरीर मिलता है वह बहुत ही थोड़े समय ठहरता है, तिस पर भी वह असंख्यों

दुःखोंका भण्डार होता है। मेरे परम भक्त शुकदेवने भी मुझ से प्रार्थना की थी, कि—"गतागतेन श्रान्तोऽस्मि दीर्घसंस्कारवर्त्मसु। गर्भवासे महद् दुःखं त्राहि मां मधुसूदन ॥" अर्थात् हे मधुसूदन ! संसारके लंबे २ मार्गोंमें चक्कर लगाते २ मैं थक गया तथा गर्भवासमें बड़ा ही दुःख उठाना पड़ता है अब आप मेरी रक्षा कीजिये। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! पुनर्जन्ममें जो महादुःख उठाने पड़ते हैं, वह तो आप ८ वें और ९ वें श्लोकमें मुझे सुना चुके हैं, अब आप वह उपाय बतों रहे हैं, कि—जिससे इस संसारमें फिर जन्म न हो वास्तवमें मृत्युसे बढ़ कर और कोई क्लेश नहीं है। जो कहते हैं कि—वृद्ध अवस्थामें मृत्यु होनेसे कुछ क्लेश नहीं होता है, वृद्धावस्थाकी मृत्यु स्वाभाविक है—वह वास्तविक बातको समझते नहीं अथवा छिपाते हैं। मृत्युसे पहिले सबको ही शय्या काँटोंसे बिछी हुई सी मालूम होगी, शिरमें सैंकड़ों विच्छुओं के काटने कीसी पीड़ा अवश्य ही होगी। यह विक्षेप अवस्था है, इसके पीछे लय अवस्था आवेगी, तब मृत्यु होगी। ऐसे जरा मरणसे रक्षा पानेके लिये ही प्राणी आपका आश्रय लेते हैं। सहजमें देहत्याग किस प्रकार किया जासकता है, यह बात आपने बड़ी ही उत्तम रीतिसे सुनायी है, अब यह वात और बता दीजिये, कि—ज्ञानी, योगी और भक्त किस उपायसे मृत्युके पार होते हैं ?। भगवान्‌ने कहा कि—हे भैया अर्जुन ! तूने बड़ी ही आवश्यक बात बूझी है। इसका तत्त्व सबोंको ही जान लेना चाहिये और जानकर इसका अनुष्ठान भी करना चाहिये। अब मैं तेरे प्रश्नका उत्तर देता हूँ, सुन

ज्ञानी जिस प्रकार मृत्युको जीतते हैं वह रीति यह है-जो ज्ञानी होते हैं शरीरत्यागके समय उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है, ज्ञानी तो इस जन्ममें ही मृत्युको लांघ कर जीवन्मुक्त होजाते हैं, उनकी सद्योमुक्ति होती है। उनको इस जन्ममें ही सकल दुःखोंका दूर होजानारूप परमानन्दकी प्राप्ति होजाती है। यह अवस्था इस जन्ममें ही किसप्रकार मिलती है सो सुन ज्ञानी अनुभव करते हैं, कि-हम चेतन हैं, हम न देह हैं न मन हैं। देह मन और अज्ञान इन तीनको स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर कहते हैं। चेतन कोईसा भी शरीर नहीं है, देह और देहका जो कुछ कार्य है वह सब प्रकृतिका है। कर्म प्रकृति करती है। ज्ञानी जानते हैं, कि-प्रकृतिके साथ उनका वा चेतनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा प्रकृतिसे जुदा है, रोग, शोक, जरा, आधि, व्याधि यह सब ही देह और मन को होते हैं। मृत्यु भी देहकी होती है आत्माकी नहीं होती है। रोग शोक जरा आधि व्याधि भी आत्माको नहीं होते हैं। आत्मा तो सदा आनन्दमय सुखमय है। ज्ञानी आत्मस्वरूपमें रहते हैं इसकारण देहकी व्याधि और मनकी आधि से उनको क्लेश नहीं होता है। सकल कर्मोंको प्रकृति ही करती है इसकारण आत्मा किसी कर्ममें कर्ता नहीं है। मैं कर्त्ता हूँ, ऐसा अभिमान ज्ञानीको नहीं होता है, उसको मृत्यु में अभिमान नहीं होता है। सुख दुःखमें भी अभिमान नहीं होता है। हे सखे ! तू आत्मा है, तू देह नहीं है, इस अभ्यास को दृढ कर, तो देखेगा, कि-तू भी जीवन्मुक्त होगया है। तू आत्मा है, तू चेतन है, ऐसा अभ्यास दृढ करनेके लिये तू

देह भी नहीं है, तू मन भी नहीं है, इसकी साधना करनी होगी। प्राणायामके द्वारा मनको विषयोंसे हटाकर देहमें हृदय-कमल आदि किसी स्थानमें ठहरा। मनको ठहरनेका अभ्यासी बनाकर, परमशिवके वामभागमें परमशक्ति विराजमान हैं, ऐसी भावना करके तहां मानसी पूजा कर। यह अभ्यास जमजाने पर उस निर्जन स्थानमें शान्तभावसे बैठकर विचार कर, कि–आत्मा कौन है ? प्रकृति कौन है ? तथा प्रकृतिसे आत्मा भिन्न किस प्रकार है ? तू आत्मा है, तू प्रकृति नहीं है, इसका अनुभव विचारके द्वारा ही होगा। शास्त्र और गुरुके मुखसे तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके विचारको सुनकर जब अपने आप इस विचारमें पहुँचजायगा उसी समय तू परमा-नन्दमें स्थिति पाजायगा। इस ज्ञानमें ऐसी साधना करसकेगा तो इस जन्ममें ही जीवन्मुक्त होजायगा। शरीर चला जाय चाहे बना रहै इससे जीवन्मुक्त अवस्थामें तेरा कुछ हानि लाभ नहीं है। ज्ञानीके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है, शरीरत्यागके कारणसे ज्ञानीको कुछ भी क्लेश नहीं होता है।

ज्ञानका अनुष्ठान करनेके समय ज्ञानी सब प्रकारके क्लेशोंके पार पहुँच जाता है। प्रथम अवस्थामें अपमानका क्लेश, रोग का क्लेश, शोकका क्लेश, भोजनका क्लेश, निद्राका क्लेश, हरएक क्लेशमें ज्ञानीका ऐसा विचार होता है, कि–क्लेश मनको वा शरीरको होता है, मैं तो न मन हूँ, न शरीर हूँ, किन्तु मैं चेतन आत्मा सच्चिदानन्द पुरुष हूँ, इसप्रकार उसको सकल क्लेशोंके सहनेका अभ्यास होजाता है। सकल क्लेशों

को सहकर भी वह विचारके द्वारा अनुभव करता है, कि—मैं चेतन हूँ, मैं जड़ नहीं हूँ, इस लिये शरीरके त्यागकी घटना किस समय होजाती है, इस बातको वह जानता ही नहीं। वह आत्मामें क्रीड़ा करने वाला, आत्मामें अनुराग करने वाला और सदा आत्मानन्दमें ही स्थित रहता है, इस कारण खाना, पीना, सोना और मृत्युको तक उसके वशमें होजाती है। ज्ञानीका मृत्यु जीतना ही सबसे श्रेष्ठ अवस्था है। दूसरी योगी की मृत्यु होती है जो इस ही जन्ममें ज्ञान पानेको समर्थ नहीं होते हैं वह योगधारणाका अभ्यास करते हैं। कुम्भकमें प्राणवायु को हृदयकमलमें धारण करके फिर प्राणको भौंके मध्य में वा सहस्रारमें स्थापनका अभ्यास करना ही योगीका कर्म है प्राणको भौंके मध्यमें स्थापन करके ज्ञानके साथ ॐकारका उच्चारण करते २ शरीर को त्याग सकते हैं इस कारण मृत्यु में योगीको कोई क्लेश नहीं होता है। मृत्युके अनन्तर योगी को फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता है। तीसरी भक्तकी मृत्यु है। जो योगधारणा नहीं कर सकते वह यदि भक्ति की साधना करते हैं तो मृत्युमें उनको भी कोई क्लेश नहीं होता है। जो भक्त एक क्षणभरके समयको भी वृथा नहीं खोते हैं, जो जीवन भर हर समय सब अवस्थामें श्रीभगवान् का स्मरण करते हैं। सोतेमें, स्वप्नमें, विचरतेमें, भोजन करते में तथा विहार करतेमें एक क्षणको भी जो विना स्मरणके नहीं रह सकते है, श्रीभगवान्का स्मरण न करना ही जिन को सबसे बढ़कर क्लेश है। ऐसी अवस्थावाले भक्त भी मृत्यु को जीत लेते हैं। श्रीभगवान् ही मृत्युकालमें प्रकट होकर उस

के कष्टको दूर कर देते हैं। मृत्युके अनन्तर उनको भी फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता है। सब ही योगधारणा नहीं करसकते हैं। ज्ञानके अधिकारी भी सब ही नहीं होते हैं। परन्तु विश्वासके साथ भगवान्को पुकारनेमें सबका अधिकार है। सर्वदा स्मरण करनेमें सब ही विश्वासियोंका अधिकार है। यह ही मृत्युको जीतनेका सबसे सहज उपाय है। यह ही परमासिद्धि है ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्ति-
नोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय
पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुन) हे अर्जुन (आब्रह्मभुवनात्) ब्रह्मलोक पर्यन्त (लोकाः) लोक (पुनरावर्त्तिनः) पुनर्जन्म देनेवाले हैं। (तु) किन्तु (कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन (माम्) मुझको (उपेत्य) प्राप्त होकर (पुनर्जन्म) फिर जन्म (न) नहीं (विद्यते) होता है ॥ १६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! क्या नित्यकर्म करनेसे ही आपकी प्राप्ति होजायगी, फिर जन्म नहीं होगा ? । इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि—हे सखे अर्जुन ! कर्मके द्वारा साधक ब्रह्मलोक पर्यन्त पहुँच सकता है, परन्तु तहांसे भी पतन होता है,

क्योंकि-ब्रह्मलोक पर्यन्त सब भोगभूमि हैं, इन सब लोकोंसे फिर मृत्युलोकमें आना पड़ता है, इसकारण ब्रह्मलोक भी विनाशी है। किसी सत्कर्मके फलरूपसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्णता विना हुए मोक्ष नहीं होसकती, इस लिये जिनको पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है वह ब्रह्मलोकमें जाकर भी फिर लौटते हैं, परन्तु जो उत्तरोत्तर अधिकतर ज्ञानप्राप्ति के साथ मुक्तिफल देनेवाली उपासनाके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं वह उस ब्रह्मलोकमें ही क्रमसे ज्ञानकी पूर्णताको पाकर समय आने पर ब्रह्माके साथ मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं, कर्म और उपासनाके प्रभाव से ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानकी प्राप्ति होते ही मेरी प्राप्ति हो जाती है और मेरी प्राप्ति हुई कि-फिर जन्म नहीं होता। इस लिये जिनको मेरी प्राप्तिरूप ज्ञानकी पूर्णता प्राप्त नहीं होती है वह ब्रह्मलोकमें पहुँचकर भी पुनर्जन्मके चुङ्गलसे नहीं बच सकते। केवल मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्मसे छुटकारा होता है। ज्ञानमार्गमें प्राणका उत्क्रमण नहीं होता है किन्तु ज्ञानी इस जीवनमें ही मुझको पाजाता है। योग और भक्तिके मार्गमें प्राणका उत्क्रमण होने पर भी शरीरपात होने पर मेरी प्राप्ति होजाती है॥ १६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

अन्वय और पदार्थ ।

(सहस्रयुगपर्यन्तम्) सहस्र युगोंके अन्तपर्यन्तके (ब्रह्मणः) ब्रह्माके (यत) जिस (अहः) दिनको (युगसहस्रान्ताम्) चतुर्युगसहस्रपर्यन्त (रात्रिम्) रात्रिको [ये] जो (विदुः) जानते हैं (ते) वह (जनाः) मनुष्य (अहोरात्रविदः) दिन और रातके तत्त्वको जानते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ

अर्जुन ने कहा, कि-हे भगवन् ! पुराणमें लिखा है कि- "तपस्विनो दानशीला वीतरागास्तितिक्षवः । त्रैलोक्यस्याप्यवस्थानं लभन्ते शोकवर्जितम् ॥" अर्थात्-तपस्यामें लगे हुए, दानपरायण, विषयों में आसक्तिशून्य और तितिक्षाकी साधना करने वाले महात्मा पुरुष त्रिलोकी के ऊपर स्थित शोकरहित स्थानको पाते हैं, इन प्रमाणोंसे तो महर्लोक आदिकी श्रेष्ठता सिद्ध होती, और आपने तो सब ही लोकों को विनाशी बताया है, तब तो इन लोकों में कोई विशेषता नहीं रही ? क्या वास्तवमें ब्रह्मलोकपर्यन्त चढ़कर भी फिर तहाँ से पतन होजाता है ? । अर्जुन की इस शङ्का का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, कि-हे सखे अर्जुन ! यह ठीक है, कि-ब्रह्मलोक बहुत समय तक स्थायी है, परन्तु वह उसकी स्थिति भी मनुष्यों की कालगणना के भीतर ही है, इसप्रकार जब एक दिन ब्रह्मलोक का भी अन्त आवेगा ही तब तो यदि ब्रह्मलोक पर्यन्त पहुंचने पर भी मुक्ति न हुई तो अवश्य ही तहांसे पतन होगा । अर्जुन ने कहा, कि हे भगवन् ! मनुष्योंकी गणना के अनुसार ब्रह्मलोक की स्थिति कितने दिनोंतक रहेगी ? ।

भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! "चतुर्युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिञ्च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥," अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगीका ब्रह्माजीका एक दिन और इतने ही परिमाणकी रात्रि होती है । तीस दिन रातका कृष्ण पक्ष और शुक्लपक्ष होता है । इस एक शुक्लपक्षका पितरोंका एक दिन और कृष्ण पक्षकी पितरोंकी एक रात्रि होती है। इस प्रकार मनुष्योंके एक मासका पितरोंका एक दिन रात होता है । छः महीनेका एक अयन और बारह महीनेका उत्तरायण और दक्षिणायन वा मनुष्योंका एक वर्ष होता है । उत्तरायण देवताओंका एक दिन दक्षिणायन देवताओंकी एक रात होती है । मनुष्योंके एक वर्षका देवताओंका एक दिन रात होता है । मनुष्योंके ३६० वर्षका देवताओंका एक वर्ष होता है । देवताओंके ४००० वर्ष और मनुष्योंके १४४०००० वर्षोंका एक सत्ययुग होता है । देवताओंके ३००० वर्ष और मनुष्यों के १० ८०००० वर्षोंका एक त्रेतायुग होता है । देवताओं के २००० वर्ष और मनुष्योंके ७२०००० वर्षका एक द्वापर युग होता है । देवताओंके १०००वर्ष और मनुष्योंके ३६०००० वर्षका एक कलियुग होता है । देवताओंके १२००० वर्ष और मनुष्योंके ४३२०००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है । एक हजार चतुर्युगी वा १४ मन्वतर वा देवताओंके १२० लाख वर्षका वा मनुष्योंके ४३२ करोड़ वर्षोंका ब्रह्माजीका एक दिन वा कल्प होता है । एक हजार चतुर्युगी वा महा-युगमें ब्रह्माजीकी एक रात होती है । ७२०००० चतुर्युगी का ब्रह्माजीका एक वर्ष होता है । ब्रह्माके १०० वर्ष ही ब्रह्मा-

जीकी परमायु है । ७२०००००० महायुगमें वा मनुष्योंके ३११०४०००००००००००० वर्षोमें ब्रह्माकी परमायु समाप्त होजाती है । यही कालतत्त्व है । सहस्र युग पर्यन्त जो ब्रह्मा का दिन है और इतनी ही जो ब्रह्माकी रात्रि है, इस काल-तत्त्वको हम इस गणनाके द्वारा जानसकते हैं । ब्रह्माके दिन रातके विभागका यह तात्पर्य है, कि—ब्रह्माके दिनभरके समय में यह सृष्टि रहती है और ब्रह्माकी रात्रि आने पर प्रलय हो जाता है । ब्रह्माके दिनके आरम्भमें जो सृष्टि होती है उस को दैनन्दिन वा काल्पिक सृष्टि कहते हैं और ब्रह्माके दिन के अन्तमें जो प्रलय होती है, उसको दैनन्दिन वा काल्पिक वा नैमित्तिक प्रलय कहते हैं । पुराणोंके मतसे इस प्रलयके समय भूः भुवः स्वः यह तीन लोक भस्म होजाते हैं, उस समय महर्लोक उत्तप्त होकर जन लोकमें प्रवेश करता है और नारायण वा परम पुरुष कारणजलमें वा अव्यक्तसूक्ष्म कारणरूपा परा और अपरा अथवा मूलप्रकृतिमें शयन करते हैं ब्रह्माजी उनके नाभिकमलमें शयन करते हैं ब्रह्माकी रात्रि का अन्त होने पर ब्रह्माजी जागते हैं और फिर पहिले की समान ही सृष्टिका आरम्भ होता है, "यथापूर्वमकल्पयत् ।" पुराणोंमें लिखा है, कि—तपस्या, दान, वैराग्य, तितिक्षा आदि साधनोंके द्वारा साधक अक्षय स्वर्गको पाते हैं । यहां अक्षय स्वर्गसे, पीछे कहे चिरकाल तक रहनेवाले लोक लिये जाते हैं । क्योंकि—भूः, भुवः, स्वः महः, जनः, तपः और सत्य इन सातों लोकोंमेंका एक लोक भी सदा काल रहनेवाला नहीं है, किन्तु बहुत समय तक रहनेवाले हैं, एक ब्रह्म ही सदाकाल रहता है

और सब ही नाशवान् हैं। सत्यलोक ब्रह्मलोकके ही अन्तर्गत है अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! पृथिवीसे ब्रह्मलोक कितनी दूर है ? शास्त्रमें उसका परिमाण कितना कहा है ? भगवान्‌ने कहा, कि–चन्द्रमा और सूर्यकी किरणोंसे सकल जगत् प्रकाशित होता है अर्थात् सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें जहांतक पड़ती हैं वही पृथिवी है। पृथिवीसे एक लाख योजन ऊपर सूर्यमण्डल है, उससे लाख योजन ऊपर चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमण्डलसे लाख योजन ऊपर नक्षत्रमण्डल है। उससे दो लाख योजन पर बुध है। बुधसे दो लाख योजन ऊपर शुक्रमण्डल है। उससे दो लाख योजन ऊपर मङ्गल है, उससे एक लाख दूर बृहस्पति है। उससे दो लाख योजन शनैश्चर है शनैश्चरसे एक लाख योजन ऊपर सप्तर्षिमण्डल है। सप्तर्षिमण्डलसे लाख योजन दूर ध्रुवलोक है । उससे एक करोड़ योजन दूर महर्लोक है। महर्लोकसे दो करोड़ योजन दूर जनलोक है, उससे आठ करोड़ योजन दूर तपोलोक है। तपोलोकसे छः गुनी दूरी पर सत्यलोक वा ब्रह्मलोक है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मनुष्योंके दिन रात और प्रजापति ब्रह्माके दिन रात में तो यह बड़ा भारी अन्तर है। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! यह तेरा कहना ठीक ही है ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अन्वय और पदार्थ

(अहरागमे) ब्रह्माके दिनका समय आने पर (अव्यक्तात्) ब्रह्माकी शयन अवस्थारूप अव्यक्तसे (सर्वाः) सब (व्यक्तयः) स्थावर जङ्गमरूप प्रजायें (प्रभवन्ति) उत्पन्न होती हैं (रात्र्यागमे) ब्रह्माके शयनका समय आने पर (तत्र) तिस (अव्यक्तसंज्ञके-एव) अव्यक्त नामवाले कारणमें ही (प्रलीयन्ते) अन्तर्धान होजाती हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मनुष्योंकी दृष्टिमें तो ब्रह्मा का अहोरात्र बहुत ही करोड़ों वर्षका है, फिर ब्रह्माके जीवितकाल अर्थात् ब्रह्माके सौ वर्षका समय कितना बड़ा होगा, वह तो मनुष्यके चिन्तवनमें भी कठिनसे आसकेगा, यह तो बताइये, कि-ब्रह्माके दिनमें और रात्रिमें क्या २ काम होता है? भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! ब्रह्माके एक दिनको कल्प कहते हैं। ब्रह्माके एक दिनमें मनुष्योंके चार सौ बत्तीस करोड वर्ष होते हैं, इस समय वा कल्पमें जो कार्य होते हैं, उन कार्योंका वर्णन जिसमें हो वही पुराण कहलाता है। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगोंका एक महायुग होता है। ऐसे एक हजार महायुगका ही ब्रह्माका एक दिन वा एक कल्प होता है। एक २ कल्पमें चौदह २ मन्वन्तर होते हैं हर एक मन्वन्तरमें इकहतर २ वार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग आते हैं। इस समय जो कल्प चल रहा है यह वराह कल्प है। ब्रह्माके जीवनका एक परार्द्धकाल वीतचुका है,

इस समय बराह कल्पके द्विपरार्द्धका आदिकाल है। वराह कल्पके छः मन्वन्तर बीत चुके हैं, अब सातवें मनुके अधिकारका समय चलरहा है। सातवें मनुका नाम वैवस्वत है, इस लिये यह वैवस्वत मन्वन्तर है। इस मन्वन्तरमें अट्ठाईस अट्ठाईस वार सत्ययुग, त्रेता द्वापर बीत चुके और अट्ठाईसवां कलियुग चलरहा है। कलियुग चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष रहेगा। अभी कलियुगके थोड़े ही वर्ष बीते हैं, बहुतसे बाकी हैं, अभी बड़े २ कुकर्म होंगे। इस कलियुगमें बुद्धिमानोंको चाहिये, कि—बड़ी सावधानीसे शास्त्रके अनुसार आचरण करें। गीता में जो मैंने अपना मत कहा है, उसका खण्डन करनेके लिये ब्राह्मणवंशमें ही ऐसे २ कुलाङ्गार उत्पन्न होंगे, कि—जो भगवान् व्यासदेव तकको मूर्ख कहनेमें नहीं सकुचेंगे। ऐसे क्रूरकर्मा नराधम आसुरी सम्पदा के साथ उत्पन्न होंगे, उनको मैं वार २ आसुरी-योनियों में डालूँगा, ऐसे मनुष्यों को तू सहजमें ही पहचानसकता है। यह हिंसाके कामोंसे नहीं बचेंगे, शौचाचार को कुछ नहीं मानेंगे और बड़े २ उग्र कर्म करेंगे, इनका जन्म ही जगत्के नाशके लिये होगा, ऐसे लोग कहेंगे, कि—"ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।" इन सोऽहं पापियोंका वर्णन मैं १६ वें अध्याय में करूँगा। ब्रह्मा जब बहिर्मुख होकर निद्रासे उठने लगते हैं, जब उनके दिनका आरम्भ होने को होता है, उस समय सब जीव जन्तु स्थावर जङ्गम अव्यक्त अवस्थासे व्यक्त अवस्था में आते हैं तथा फिर रात्रिकाल आनेपर ब्रह्माकी निद्रावस्थारूप

अव्यक्त कारणमें विलीन होजाते हैं। ब्रह्माका रात्रिकाल आनेपर पृथिवी जलमें डूबजाती है। हरएक मन्वन्तरमें एक वार सृष्टि का संहार और नयी सृष्टिकी रचना होती है। मन्वन्तरके अन्तमें देवता और सात ऋषि तपस्या, ब्रह्मचर्य और शास्त्र-ज्ञानको लेकर स्थित रहते हैं। परन्तु ब्रह्माकी एक सौ वर्षकी आयु समाप्त होने पर फिर कुछ भी नहीं रहता है, उस समय आदित्य सकल जीव और स्वयं ब्रह्मा नारायणके शरीरमें लीन होजाते हैं। इसप्रकार। ब्रह्माजी अपने निद्रा और जागने के द्वारा इस जगत्की सृष्टि और संहार करते हैं। मनुजीने कहा है "यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥" जब ब्रह्माजी जागते हैं तब यह जगत् चेष्टा करने लगता है और जब शान्तरूप हो कर सोते हैं तब यह सब सोयाहुआ (चेष्टाहीन) होजाता है। अर्जुनने कहा कि—हे भगवन्! सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और पुनर्जन्मकी बात फिर समझाइये। भगवान्ने कहा कि हे सखे! ज्ञानीके प्राणोंका तो उत्क्रमण होता ही नहीं। योगी और भक्त देहान्त होने पर मुक्ति पाते हैं, जो उपासना करते हैं उनकी क्रममुक्ति होती है, ब्रह्माकी आयु समाप्त होने पर ब्रह्माके साथ उनकी मुक्ति होती है, परन्तु जो युद्ध आदि में मारे जाते हैं और पञ्चाग्निविद्याका साधन करते हैं वह ब्रह्मलोकमें पहुँचजाने पर भी कर्मफल भोगका समाप्त होने पर फिर जन्म धारण करते हैं। अपने निद्रासे उठनेकी भावना करो तो कुछ आभास मिलेगा ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। राव्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे अर्जुन ! (सः--एव) यह ही (अयम्) यह (भूतग्रामः) प्राणिसमूह (भूत्वा भूत्वा) उत्पन्न हो होकर (रात्र्यागमे) ब्रह्माका शयनकाल आने पर (प्रली-यते) प्रलयको प्राप्त होजाता है [पुनः] फिर (अहरागमे) ब्रह्माके जागनेका समय आने पर (अवशः) विवश हुआ (प्रभवति) प्रकट होजाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि--हे भगवन् ! ब्रह्माके जागनेके समय जो जीवोंका जन्म और सोनेके समय लयरूप सृष्टि--संहार का व्यापार होता है, उसमें और नये जीवोंकी रचना होती है या नहीं ? । भगवान्‌ने उत्तर दिया, कि—यह जगत् माया के व्यापारमें सत्य है, परन्तु इस मायाके आडम्बरका भी एक नियम है । "विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।„ विश्वको रचनेकी शक्ति रखनेवाले ब्रह्माजीने पहिले २ कल्पोंमें जैसे २ प्राणियोंको रचा था ठीक तैसी ही सृष्टि आगेके कल्पोंमें भी की, वही चन्द्रमा और वही सूर्य रचे । नये किसी भी जीव वा किसी भी पदार्थकी सृष्टि नहीं होती है । एक

ही जीव वार २ जन्मता है और वार २ मरता है तथा फिर जन्मता है और फिर मरता है। सब ही प्राणी प्रकृतिके हाथमें पड जाते हैं और उनका कुछ वश नहीं चलता। विवश होकर ही वारंवार जन्म मरण की धारामें गोते खाते फिरते हैं, परन्तु जो पुरुषार्थ करके मेरा आश्रय पाजाते हैं वह मेरे आश्रित पुरुष फिर जन्म मरणके चक्रमें नहीं पड़ सकते। जब तक मेरे पास नहीं पहुँचेंगे तब तक जन्म मरणरूप अपार दुःखसागर से नहीं छूटेंगे। एक ही प्रकारकी यातना वार २ आती है, वार २ आयी है और वार २ आवेगी। जो भोगके अधीन हुआ मनुष्य ऐसी यातनाओं को वार २ भोगता है वह मनुष्य यदि सृष्टि संहारके व्यापारका विचार करे तो उसको अवश्य ही विषयभोगसे वैराग्य होगा। जो पशु हैं उनको सकल पुरुषार्थों से शून्य होनेके कारण वैराग्य नहीं होसकता है। ब्रह्मा यज्ञ वा कर्मके साथ प्रजाओं को रचता है। शरीर वाणी और मनको सन्मार्ग में यथेच्छ चेष्टा करने देना ही ब्रह्माका दिया हुआ कर्म है, यही पुरुषार्थ है। जिस समय मनुष्य भोगवासना को त्यागकर इस पुरुषार्थ का अवलम्ब लेता है तब ही यह जरा मरण से छूटसकता है। मनुष्य में पुरुषार्थ है, पशु में नहीं है। पशु प्रकृति के चक्रमें अनेकों यातनाओं को भोगकर जब फिर मनुष्य-योनिको प्राप्त होता है तब उसमें अति क्षीणभावसे पुरुषार्थ का उदय होता है। इस पुरुषार्थको सत्सङ्गके द्वारा प्रबल करके मनुष्य उच्च अवस्थाको पाता है, और अन्तमें पुरुषार्थ मय

होकर मुक्ति पाजाता है। वह पुरुषार्थ वैराग्य ही है और कोई नहीं है। सृष्टि और संहारका विचार करनेसे इस श्रेष्ठ पुरुषार्थ वैराग्यका उदय होता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् इस विषयको ऐसा सरल करके कहिये, कि-जिसमें सहजमें ही समझ में आजाय। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! नयी सृष्टि कुछ भी नहीं होती है। तू जब रात्रिमें सोता है, तब तेरे देहमेंके सकल जीवपुञ्ज परवश होकर तेरी प्रकृतिमें लीन होजाते हैं। वह सब अपने २ संस्कारोंको लेकर लयको प्राप्त होते हैं, इस कारण फिर तेरा जागनेका समय आने पर वह सब उन ही संस्कारोंके अनुसार उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही ब्रह्माजीके जागनेके समय भी सब जीव अपने २ पुराने संस्कारोंको लेकर ही उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माजीके निद्राकालमें उन संस्कारोंको लेकर ही लीन होते हैं। बुढ़ापा, मनके दुःख, शरीरके रोग यातना और मरण इनका अन्त है ही नहीं। यातनाओंसे तो सब ही छूटना चाहते हैं, यह तो स्वाभाविक बात है। सब ही भोग तो भोग लिये, चाबेहुएको चाबने की समान संसारके विषयोंको भोगनेके लिये वार वार जन्म मरणसे क्यों पिसूँ ?। जीवको कैसे घोर कष्ट भोगने पड़ते हैं? हाय! मोहके कारणसे ही जीवको यह दुःख होते हैं, भोग के कारणसे ही मोह होता है, भोगको त्याग देना ही वैराग्य है। सहस्रों जन्मोंमें इकट्ठी हुई विषयभोगकी वासनायें घनी होकर मनुष्यके अन्तःकरणमें ऐसा दृढ़ आसन जमा लेती हैं, कि-फिर मनुष्य भीतर और बाहर भोग ही भोग देखता है।

और क्या देखूंगा, और क्या सुनूंगा, और कहां जाऊँगा, और क्या खाऊंगा, और क्या विचारूँगा ? इसप्रकार मनुष्य सकल विषयोंमें अश्रद्धाका अभ्यास नहीं करता। भीतर बाहर अज्ञानका ही अनुभव करता है। स्थिर होने पर भी आप ही आप चित्तके संस्कारोंको देखा करता है, स्वप्नमें चित्तके खेलों को ही देखता है। जीव चित्तरूप भोगवासनामयी प्रकृतिको जगाकर उसके भीतर प्रविष्ट होता हुआ एकसे बहुत होजाता है मनुष्य स्वप्नमें भी अविद्यासे कल्पित अनेकों भोगकी वस्तुओंको ही देखता है। जागतेमें भी जो कुछ देखता है और जो कुछ सुनता है वह भी अविद्यासे कल्पित भोगके पदार्थ हैं, वह वासनाके स्थूल आकार हैं। इस भोगवासनाको नहीं छोड़ता तभी तो वार २ असह्य दुःख भोगता है, वार २ जन्म लेता है, वार २ मरता है ? प्रलयकालमें जीवके ऊपर पड़ने वाले दुःखोंका विचार कर, करोड़ों जीवोंके हाहाकार को याद कर, इस दुःखको दूर करने के लिये अवश्य ही भोगोंको त्यागने की इच्छा होगी। एक वार विचार कर देख, कि—एक २ जगत्में कितने कितने जीव हैं, ब्रह्मा इनकी सृष्टि करता है इस अपनेसे उत्पन्न हुए प्रजापुञ्जका संहार भी ब्रह्मा ही रुद्र मूर्तिसे करता है, यह ही प्रलयकाल होता है, यह ही ब्रह्माकी रात्रि होती है। सृष्टिको समेटनेकी इच्छा होते ही सौ वर्षतक वर्षा न होकर घोर समय आगया। "पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन्न वर्षति।" विचार कर देख कि—सौ वर्ष तक वर्षा न होनेसे जीवोंकी क्या गति होती होगी। सकल प्राणियों

को भय देनेवाली सूर्यकी प्रचण्ड तपनमें कितने ही जीव मरगये हैं और कितने ही अधमरे होकर सिसक रहे हैं। सकल अन्न भस्म होगये हैं "तदा निजघ्ने ह्यन्योन्यं भक्षमाणः क्षुधार्दितः।" जीव उस समय भूखसे पीड़ित होकर अन्न न पाने के कारण आपसमें एक दूसरेको खाने लगते हैं, सूर्य अपनी भस्मकारिणी सात किरणों को बखेरते हुए आकाशमें को उठते हैं, उन किरणों को कौन सहसकता है ? वह प्रचण्ड सात किरणें उस समय महासमुद्र को पीने लगती हैं, समुद्रको पी लेने पर सूर्यदेव सात मूर्त्तियों में प्रकट होते हैं तव चौदहों लोक भस्मीभूत होने लगते हैं। प्रचण्ड मार्त्तण्डकी किरणमाला जिस आगको वरसाती है उससे पृथिवी झुलसने लगती है। पहाड़ नदी, द्वीप, कहीं भी रस नहीं रहता, चारों ओर घोर अग्निकी लपटें दहकने लगती हैं, जीव जन्तु हाहाकार करतेहुए प्राण त्यागने लगते हैं। "ततः प्रलीने सर्वस्मिन् जङ्गमे स्थावरे तथा। निर्वृक्षा निस्तृणा भूमिः कूर्मपृष्ठे प्रकाशते ॥", स्थावर, जङ्गम वृक्ष, तृण सब ही भस्म होगये हैं। टापू, पहाड़, नदी, समुद्र सब ही जलकर खाक होगये हैं। स्वर्ग और पातालमें फैली हुई एक अग्निज्वालाके सिवाय और कुछ है ही नहीं। यह कालाग्नि सकल लोकोंको दग्ध करके, पृथिवीको भस्म करके और रसातलको सुखाकर ऊपरको लपटें फैला रहा है, संसार मानो एक विशाल अग्निशाला बनगया है, विचार कर देख यह दृश्य कितना भयानक है ? इसके सिवाय-"योजनानां

शतानीह सहस्राण्ययुतानि च। उत्तिष्ठन्ति शिखास्तस्य वायोः सम्वर्तकस्य च ॥ गन्धर्वांश्च पिशाचांश्च सयक्षोरगराक्षसान्। तदा दहत्यसौ दीप्तः कालरुद्रप्रचोदितः ॥" जब सहस्रों लक्षों योजन ऊँची लपटोंको फैला कर वह प्रलयाग्नि फैलने लगता है उस समय गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस और सर्प आदि सब ही भस्म होजाते हैं। भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक और महर्लोक पर्यन्त भस्म होजाते हैं। उस समय जगत् एक अग्निकी भट्टीसा प्रतीत होने लगता है। फिर एक गम्भीर भयानक गर्जनासे दिशायें उलट पुलट होने लगती हैं। संवर्त्तक आदि प्रलयके मेघ मतवाले हाथीकी समान शब्द करते २ आकाशमण्डलमें आकर छाजाते हैं। यह सब महाप्रलयके मेघ वारंवार महागर्जना करते हुए सौ वर्षतक जलकी बड़ी २ धारायें बरसाते हैं तब वह प्रचण्ड अग्निका समूह निरन्तर जलकी धारायें पड़नेसे बुझ जाता है और सब विश्व जलमय होजाता है। "तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावर जङ्गमे। योगनिद्रां समास्थाय शेते देवः प्रजापतिः ॥,, स्थावर जङ्गम जगत्के नष्ट होजाने पर उस घोर समय एक समुद्रमें योग-निद्राका आश्रय लेकर प्रजापति सोते हैं। ऐसे प्रलयके चिन्तवनमें जीवोंके हाहाकार और विनाशको सुनकर किस प्राणी के हृदयमें भय नहीं व्यापेगा ?। कौनसा प्राणी इस महाघोर अवस्थासे छूटनेकी चेष्टा नहीं करेगा ?, कौन पुरुष अपने मनमें यह विचार नहीं करेगा, कि—यह पुत्र कन्या, और सम्पदा किसके लिये हैं ? यह जगत् तो महातुच्छ है, विषय तो किसी

कामके ही नहीं हैं ! इनमें श्रद्धा करनेका तो कोई कारण ही नहीं दीखता। उस समय जीव जब पूर्ण वैराग्यमें भर कर मेरी ओरको देखता है तब मेरी ओरको देखने मात्रसे ही उसका सब भय दूर होजाता है, उसका हृदय शीतल होजाता है।

"आदित्यवर्णो भुवनस्य गोप्ता नारायणः पुरुषो योगमूर्त्तिः। मां पश्यन्ति यतयो योगनिष्ठा ज्ञानात्मानममृतत्वं व्रजन्ति॥,,

आदित्यकी समान तेजस्वी, सकल लोकोंके पालनकर्त्ता योग मूर्त्ति मुझ नारायणको सब नहीं देखपाते हैं। केवल योगाभ्यासी योगी ही मुझ सर्वव्यापकका ज्ञानचक्षुसे साक्षात् दर्शन करके मृत्युसंसारसागरके पार होजाते हैं॥ १९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

अन्वय और पदार्थ

(तु) किन्तु (तस्मात्) तिस पहिले कहे हुए (अव्यक्तात्) कारणरूपसे (परः) विलक्षण (अन्यः) और (अव्यक्तः) अतीन्द्रिय (सनातनः) अनादि (यः) जो (भावः) परब्रह्मस्वरूप है (सः) वह (सर्वेषु) सकल (भूतेषु) स्थावर जङ्गमोंके (नश्यत्सु) नष्ट होने पर (न) नहीं (विनश्यति) नाशको प्राप्त होता है॥ २०॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आप इस ही अध्यायमें

पीछे कहचुके हैं, कि-"अक्षरं ब्रह्म परमम्,, तथा "आब्रह्म-भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनः,, अर्थात् ब्रह्मलोक पर्यन्त सब ही मृत्युके वशमें हैं और "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते,, अर्थात् मेरे पास पहुँचने वालेको फिर जन्म और मरण के जालमें नहीं पड़ना पड़ता है, सो हे भगवन्! आप अपने नित्यस्वरूपको तो बताइये ?। भगवान्ने कहा कि-हे सखे! प्रलयके समय सब ही नष्ट होजायगा, परन्तु जो मेरा आश्रय लेलेंगे उनका प्रलयकालमें भी नाश नहीं होगा। मैं परम भाव रूप हूँ, भाव सत्ताको कहते हैं, उस भावको ही मैंने 'अक्षरं परमं ब्रह्म, कहा है। यह स्थावर जङ्गमरूप व्यक्त है, इसका कारणरूप जो अव्यक्त पुरुष है, जिसको हिरण्यगर्भ कहते हैं, उस हिरण्यगर्भसे भी विलक्षण (श्रेष्ठ) जो परम भाव वा सत्ता है, उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, उसका माप (नाप वा वजन) करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है "न तस्य प्रतिमा अस्ति,, यह बात श्रुति कहती है। परमभावका किसी के द्वारा भी कुछ भी परिमाण नहीं होसकता, यह परमभाव ही परमेश्वर है, यह ही अक्षर पुरुष और यह ही नारायण है। "अक्षरात्संभवतीह विश्वम्,, अक्षर पुरुषसे ही यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है। हिरण्यगर्भ पर्यन्त लय होता है, क्योंकि-उसका भी कर्म है, कर्ममें अभिमान है; इसलिये जब उसके कर्मका नाश होजाता है तब उस कर्म के कर्त्ता अभिमानी हिरण्यगर्भका भी नाश होजाता है, परन्तु परमभाव परमेश्वरका नाश नहीं है, उसका कोई कर्म

भी नहीं है, इसीसे कर्त्तापनका अभिमान भी नहीं है। इसका ही आश्रय ले कर्त्तापनेके अभिमानसे मुक्त होकर स्थित होना सीख, फिर तेरी मृत्यु नहीं होगी। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! ब्रह्मा, विराट, हिरण्यगर्भ और परमपुरुष इनका स्पष्टरूपसे वर्णन करिये। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! जो प्रलयकालके महासमुद्रमें स्थित रहते हैं वह नित्य पुरुष ही परमपुरुष परमात्मा हैं। उनसे ही सृष्टिके सकल पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, वह इन्द्रियों के अगोचर हैं, सत् और असत् शब्दसे कहे जाते हैं। यह पुरुष ही अपने शरीर से "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।" मनुजीने अनेकों प्रकारकी प्रजाकी सृष्टि के लिये, जलकी सृष्टिके अनन्तर उसमें जो बीज डाला, वह बीज ही एक अण्डेके आकारका बन गया, उस अण्डेमेंसे एक पुरुष उत्पन्न हुआ वही ब्रह्मा था। और सब पदार्थोंको उस ब्रह्माने ही रचा है। परमपुरुष ही अण्डेके भीतर ब्रह्मारूपमें आगये। स्थूल सृष्टिके देहोंमें जो अभिमान करता है वही विराट पुरुष है, वह जाग्रत्का अभिमानी चैतन्य है। जो सूक्ष्म देहमें अभिमान करता है वह हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भका भी कारण अव्यक्त, रूप आदि से रहित सत्तामात्र जो भाव पुरुष है वही परमेश्वर है॥ २०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

अन्वय और पदार्थ

(अव्यक्तः) इन्द्रियोंके गोचर न होने वाला (अक्षरः) जन्म आदिसे रहित (इति) ऐसा (उक्तः) कहा है (तम्) उसको (परमाम्) श्रेष्ठ (गतिम्) पहुँचनेका स्थान (आहुः) कहते हैं (यम्) जिसको (प्राप्य) पहुँचकर (न) नहीं (निवर्त्तन्ते) लौटते हैं (तत्) वह (मम) मेरा (परमम्) सबसे श्रेष्ठ (धाम) पद है ॥ २१ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! सब सृष्टि के नष्ट होजाने पर भी जो रहता है, जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होगी तब तक तो कोई मृत्यु के पार पहुँच ही नहीं सकता ?। भगवान् ने कहा, कि–हे सखे ! विराट हिरण्यगर्भ आदि रूपसे वह अव्यक्त अक्षय पुरुष ही प्रकट होता है। पहिले श्लोकमें जो परमभाव की बात कही है, उस भावका नाम अव्यक्त है। उसको प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं जाना जासकता। वही अक्षर है–वही प्रकृति के संसर्ग से शून्य अपने स्वरूप में स्थित आत्मा है। वह अक्षर नाम वाला अव्यक्त भाव ही परम गति है। वही मेरा उत्तम निवासस्थान है , उसके ही विषय में श्रुति कहती है, कि–"तद्विष्णोः परमं पदम्"। इस के एक पादके बहुत ही सूक्ष्म देशमें यह सृष्टिरूप तरङ्ग है शेषके तीन पाद चलनरहित हैं, अवधिरहित और परम शान्तरूप हैं, यही परम पद है । यह भावरूप सत्तामात्र है, यह इन्द्रियों के अगोचर और अविनाशी है। यह

सत्-चित्-आनन्दरूप परमात्मा ही जीव की परमविश्रामभूमि है। इसको पाजाने पर फिर प्रलयका भी भय नहीं रहता है तथा फिर कभी संसारमें भी नहीं आना पड़ता है। साधक जब सब समय लय विक्षेप से शून्य दशाको पाजाता है, उस समयसे ही उसको मृत्युका भय नहीं रहता है ॥ २२ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्य-स्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे कुन्तीनन्दन (भूतानि) सकलकार्य (यस्य) जिस पुरुष के (अन्तःस्थानि) मध्य में स्थित हैं (येन) जिस पुरुष के द्वारा (इदम्) यह (सर्वम्)सब (ततम्) व्याप्त है (सः) वह (परः पुरुषः) परमेश्वर (तु) निःसन्देह (अनन्यया) एकान्त (भक्त्या) भक्ति करके (लभ्यः) प्राप्त होने के योग्य है ॥ २२ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! "तद्विष्णोः परमं पदम्" जो सर्वत्र व्याप्त है उसका परमपद तुम ही हो। ऐसे तुम भावरूपी सत्तामात्र हो, तुम साकारमूर्त्ति श्रीकृष्ण हो, परन्तु अपने निराकाररूपको लक्ष्य करके कहते हो, कि—तुम असार अव्यक्त भावरूप सत्तामात्र हो। इससे मैं यह समझता हूँ,

कि—तुम सर्वदा ही सर्वव्यापी, अपरिच्छिन्न और भावरूप हो। तुम सर्वदा अपने स्वरूपमें रहकर भी परिच्छिन्न, साकार मायामानुषमूर्त्तिमें भी विराजमान रहते हो, नहीं तो इस परिच्छिन्न साकार श्रीकृष्णमूर्त्तिमें कैसे कहते, कि—मैं अव्यक्त अक्षर हूँ, मैं ही परमा गति हूँ और मैं ही जगत्का कारण पुरुष हूँ, सब भूत मुझमें ही हैं और मैं सब वस्तुओंमें व्याप रहा हूँ। सो हे भगवन्! यह तो बताओ, कि—यह सब भूत आपमें किस प्रकार हैं और तुम कृष्णमूर्त्तिमें विद्यमान होकर भी सर्वव्यापी भावरूपी पुरुष किसप्रकार हो? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन! मैं एक क्षणको भी अपने सर्वव्यापी सच्चिदानन्द स्वरूपसे च्युत नहीं होता हूँ, सर्वदा अपने स्वरूपमें रहकर भी अपनी मायासे मायामनुष्य होकर विराजमान रहता हूँ। सूर्य पृथिवीकी अपेक्षा कितना बड़ा है? तो भी वह पृथिवीके सर्वत्र व्याप्त होकर भी सब स्थानों से सब लोकोंको जड़ दृष्टिसे दीखता है। अनेकों योजनोंका सूर्य यदि एक कालमें अति बृहत् आकारका होकर भी अत्यन्त छोटेसे आकारमें दीख सकता है तो मैं अपनी मायासे सर्वव्यापी होकर भी, सच्चिदानन्दस्वरूप होकर भी भावरूपी इस परिच्छिन्न साकार कृष्णमूर्त्तिको क्यों नहीं धारण कर सकूँगा?। मूर्त्तिको धारण करने पर मेरे स्वरूपका संहार क्यों होगा?। समुद्र कितना बड़ा है? परन्तु तुम जितना बड़ा देखते हो, वह छोटासा होने पर भी उस छोटेसेमें अनन्त समुद्रकी धारणा करलेनेमें कोई बाधा नहीं पड़ती है। मैं

भावरूपी हूँ, इसलिये जो मुझे निराकार कहते हैं वह मुझे सकल कार्योंका कारण कहते हैं और कार्यमात्र कारण के भीतर समाया रहता है, इस कारण सब ही भूत मुझमें समाये हुए हैं। वह यहाँ 'भूतानि' का अर्थ 'सकल कार्य भूत' करते हैं अर्थात् जगत्के सकल कार्य मुझ कारणभूत में समाये हुए हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! जो आप को साकार कहते हैं वह 'यस्यान्तः सर्वभूतानि, येन सर्वमिदं' इसका क्या अर्थ करते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! जैसे आकाश घटको व्याप कर (अपनेमें) समाकर स्थित होता है तैसे ही यह परिच्छिन्न श्रीकृष्णमूर्त्ति ही सर्वव्यापी है, इस खण्ड श्रीकृष्णमूर्त्तिके भीतर ही पहाड़, समुद्र आकाश, देव, दानव, मनुष्य आदि विद्यमान हैं, इस बातको वह नहीं समझ सकते हैं वह कहते हैं कि-मैं अपनी किसी विभूति के बलसे खण्ड होकर भी, सर्वव्यापी मायामनुष्य होकर भी अनन्तको ब्रह्माण्डोंको अपने भीतर भरे रहता हूँ, परन्तु वह विभूति क्या पदार्थ है, इस बातका ठीक २ पता वह नहीं बता सकते और वेदका प्रमाण देकर कहते हैं, कि-श्रीकृष्ण ही परमात्मा हैं। श्रुति कहती है-"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्मृतः॥" अर्थात्-जिससे और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, जिससे छोटा भी कुछ नहीं है, जिससे बड़ा भी कुछ नहीं है, वृक्षकी समान

निस्पन्द भावसे आकाशमें है, उस पुरुषसे ही सब पूर्ण हो रहा है। इस जगत्में जो कुछ देखनेमें या सुननेमें आता है, वह सब दे..ने वा सुननेमें आनेवाला प्रपञ्च भीतर बाहरसे एकमात्र नारायणके द्वारा ही व्याप्त होरहा है। नारायण साकार हैं। और सर्वव्यापी निराकार है। सर्वव्यापी नारायण कहनेपर वह एक ही कालमें साकार और निराकार हैं। मैं केवल साकार हूँ, निराकार नहीं हूँ, जो ऐसा कहते हैं वह श्रुतियों का समन्वय नहीं करसकते। वह केवल अपने विश्वाससे ही ऐसा कहते हैं, इसमें कोई युक्ति नहीं देसकते। वह श्रुतिका प्रमाण दिखाकर कहते हैं, कि–श्रीकृष्ण ही जगद्व्यापी हैं। किसप्रकार खण्ड श्रीकृष्णमूर्त्ति जगद्व्यापी है इस बातको प्रमाणके द्वारा नहीं दिखासकते किन्तु वह सब विश्वासी मनुष्य कहते हैं, कि–हम सब बातोंमें युक्ति नहीं दिखासकते, यही उनकी दुर्बलता है। इससे तो जो मेरा वास्तविक रूप है उसको कहनेमें तो कोई शङ्का उठ ही नहीं सकती, क्योंकि–जो सत्य है उसमें युक्तिकी कुछ कमी नहीं होसकती। श्रुति कहती है–"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥" तब तो सर्वव्यापी निराकार परिपूर्ण अधिष्ठान चैतन्य ही अपनी शक्तिके प्रभावसे अपनेको खण्ड श्रीकृष्ण मूर्त्तिकी समान जहाँ तहाँ दिखाता है, यही तत्त्व बात है, यही यथार्थ रहस्य है। अपने स्वरूपमें रह कर भी खण्डकी समान दिखाई देना कोई असम्भव बात नहीं

है। देखो बहुत छोटी शक्तिवाला मनुष्य भी अपनेको वृद्ध जानकर भी बालककी समान दिखासकता है अथवा अति-दुर्जन भी सदा अपनेको दुर्जन जानकर भी साधु बनता है और साधुकेसी बातें कर सकता है, जब मनुष्य ऐसा करसकता है तो सर्वशक्तिमान् त्रिलोकीपति मैं स्वयं अपने अखण्ड-स्वरूपमें रहकर भी अन्य मायामनुष्य बनकर क्रीड़ा क्यों नहीं करसकूँगा ?। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! जो आपको केवल निराकार कहते हैं वह पुरुष शब्दका क्या अर्थ करते हैं ? भगवान्ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन! पुर कहिये सकल चराचर शरीरोंमें शयन कररहा है और सर्वत्र परिपूर्ण होरहा है, इसकारण अधिष्ठान चैतन्य ही पुरुष है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आप अपनी श्रीकृष्णमूर्त्तिसे मेरे सामने खड़े होकर जब कह रहे हो, कि-मैं सर्वव्यापी हूँ, तो तुम सर्व-व्यापी निराकार होकर भी साकार हो, इसमें सन्देह करनेकी कौनसी बात रहगयी और श्रुति भी यही बात कहती है। अब यह कहिये, कि-आपको पानेका उपाय क्या है?। भगवान् ने कहा, कि-हे सखे! "भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः" मैं अनन्य भक्तिसे मिलता हूँ। जो ज्ञानके पक्षपाती हैं वह यहाँ भक्ति का अर्थ ज्ञानरूपा भक्ति करते हैं, वह कहते हैं, कि-"मोक्ष-कारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्ति-रित्यभिधीयते ॥" अपने स्वरूपकी खोज करना ही भक्ति है, आत्माका अनुसन्धान करना ही भक्ति है, वह ज्ञानके पक्षपाती 'अनन्यया' का अर्थ करते हैं 'आत्मविषयया' अर्थात् जिसमें आत्माके सिवाय और कुछ भी न देखाजाय न सुना

जाय, उस अनन्य भक्तिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति होती है, ज्ञानी यह नहीं कहते हैं, कि–कर्मको सर्वथा करे ही नहीं, किन्तु वह कहते हैं, कि–जब तक कर्म है तब तक 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होसकता, परन्तु ज्ञानप्राप्तिके लिये तो कर्म करना ही होगा। कर्म करते २ कर्मत्याग होकर नैष्कर्म्य वा ज्ञान उत्पन्न होगा। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! यह बताइये, कि–आप किस क्रमसे मिलसकते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! मैं सर्वत्र हूँ। जब वायु बिलकुल नहीं मालूम होता तब भी वायु होता है, परन्तु वह पंखा झलनेसे मिलता है। ऐसे ही मैं सर्वत्र हूँ और साधना करनेवालेको मिल जाता हूँ विना साधनाके मैं नहीं मिलसकता। सत्सङ्ग और सत् शास्त्रके द्वारा मुझे हृदयमें जान, इसको परोक्षज्ञान कहते हैं। मैं ही आत्मतत्त्व हूँ, अपनी मायाके द्वारा प्रतिदिन स्वप्न, सुषुप्ति और जागरण अवस्थामें जाता हूँ, किसप्रकार जाता हूँ, इस बातको गुरुके मुखसे सुन। आत्मा क्या है, आत्मदेव क्या है, इस बातको वार २ गुरु और शास्त्रसे सुनकर साधना कर। वैराग्यके द्वारा मनको विषयोंसे लौटा और अभ्यासके द्वारा मनको आत्माकी ओरको लगा। यह अभ्यास अधिकारके भेदसे अनेकों प्रकारका है। सबसे पहिले हृदयकमल में वा त्रिकोणमंडलके पार मनको ठहरानेका अभ्यास कर। सदा तहां ही रहकर जप, पूजा, प्राणायाम, प्रदक्षिणा, प्रणाम आदिका अभ्यास कर। जबतक कर्म है तबतक सकल कर्म मुझे जता कर। भीतर बाहर सब मुझे ही अर्पण करते २ सकल जीव नारायणरूप प्रतीत होने लगेंगे। इसप्रकार चित्त

जब एक मुझको ही लेकर बैठना सीखजायगा तब तू विचारवान् कहलावेगा। उस समय तू धारणा कर कि—बाहरकी सकल वस्तुएं चित्तके स्पन्दनकी कल्पनामात्र हैं। इसके बाद चित्तको भी अधिष्ठान चैतन्यकी तरङ्गरूप मान। उस समय प्रकृति प्रथमपुरुषमें लीन होगी, पुरुष भी अव्यक्तमें लीन होगा। केवल भावरूप—सत्तारूप वह परमपुरुष ही रहजायगा, तू ही वह परम पुरुष है। ऐसा जान, कि—पहिले सर्वव्यापी भर्ग दीपककी समान सब लोकोंको प्रकाशित कर रहा है, फिर ऐसी भावना कर, कि—वह भर्ग तेरे हृदयमें स्थित जीवको अखण्ड आत्मस्वरूपमें लेगया है, खण्ड अखण्डमें मिल गया है, तू ही वह अधिष्ठान चैतन्य होगया है। इस भावसे परमपुरुषका ध्यान कर। इसप्रकार क्रमसे 'तत्त्वमसि' आदिके विचारको गुरुके मुखसे सुनते २ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभव होजायगा। श्रीमती शबरीसे मैंने जो सत्सङ्ग, मेरी कथा का कहना सुनना, मेरे गुणोंका स्मरण करना, मेरे वचनों की व्याख्या करना, गुरुकी सेवा करना, यम नियम मेरी पूजा और मुझमें श्रद्धा रखना, मन्त्रका जप करना, शम दमके साथ तत्त्वोंका विचार करना यह नौ प्रकार की भक्ति की साधना कही है, यह ही पूर्णरूपसे भक्ति की साधना है। प्रतिमा आदिका दर्शन करने पर जब तक तेरे मनमें यह भाव न हो कि—जैसे तू प्रतिमा को देखरहा है, तैसे ही प्रतिमा भी तुझको देखरही है तब तक यह समझे रह, कि—प्रतिमाका दर्शन अभी हुआ ही

नहीं। अनुभव कर कि—मैं प्रतिमाके भीतर चेतनभावसे विराजमान हूँ। ऐसा जानकर अपने हृदयमें स्थित होकर भी मैं तुझे देखरहा हूँ, ऐसा अनुभव कर, फिर मेरे साथ विचार कर तब मुझे जानकर मुझे ही पाजायगा ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्ति-ञ्चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ २३

अन्वय और पदार्थ

(भरतर्षभ) हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन (यत्र काले) जिस कालमें (तु) तो (प्रयाताः) गये हुए (योगिनः) योगी (अनावृत्तिम्) मोक्षको (च) और (आवृत्तिम्—एव) जन्मको भी (यान्ति) प्राप्त होते हैं (तम्) तिस (कालम्) कालको (वक्ष्यामि) कहूँगा ॥ २३ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! मृत्युके अनन्तर किस मार्गसे जानेपर पुनरावृत्ति वा पुनर्जन्म नहीं होता है ? तथा किस मार्गसे गमन करने पर फिर संसारमें गिरना पड़ता है यह बात बताइये ?। भगवान्ने कहा, कि—पीछे कहचुके हैं, कि—जबतक मैं नहीं मिलता तबतक जन्म मरणके चक्कर से छुटकारा नहीं होता है। जो योगी ध्याननिष्ठ हैं वे ही दहर-विद्याके साधक हैं, वह मरणके अन्तमें देवयान मार्गसे जाते हैं, यह क्रमसे मुक्ति होने का मार्ग है। क्रममुक्तिका मार्ग

होने पर भी ब्रह्मलोक तक पहुँचजाने पर सम्यक् दर्शन न होनेके कारण किसी २ साधकका पतन होजाता है, परन्तु ध्याननिष्ठ साधकका प्रायः पुनरावृत्ति वा संसारमें पतन नहीं होता है। परन्तु जो कर्मयोगी हैं, जो पञ्चाग्निविद्याके साधक हैं, जो कूआ बाग लगाना आदि तथा यज्ञ आदि कर्म करने में लगे हुए हैं वह अपने २ कर्मके अनुसार मृत्युके अनन्तर पितृयान मार्गमें जाते हैं, इन सब साधकोंको फिर संसारमें पड़ना होता है। इन देवयान और पितृयान दोनों मार्गोंकी बात कहता हूँ उसको सुनो। अर्जुनने कहा कि—हे भगवन्! मूलमें तो 'यत्र काले, पद है, जिसका अर्थ है 'जिस समय-में, आपने 'जिस मार्गमें, ऐसा अर्थ किया है, यह कैसे हो गया?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! यहां 'काल, का अर्थ समय नहीं है, किन्तु—मरणके अनंतर जाते हुए जीव को जो देवता एक स्थानसे दूसरे स्थान पर लेजाता है उस कालाभिमानी देवताके द्वारा जिस मार्गका पता लगता है उस मार्गको ही यहां काल शब्दसे कहा है, ऐसा अर्थ न करनेसे श्रुति और स्मृतियोंके साथ विरोध आवेगा (देखो वेदान्तसूत्र ८। २। २१ का भाष्य)। अर्जुनने कहा कि हे भगवन्! आपने जो कहा, कि—दहरविद्या के साधक देव-यान मार्गसे जाते हैं और पञ्चाग्निविद्याके साधक पितृ-यान मार्गसे जाते हैं, यह क्या बात है?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! "ललाटमध्ये हृदयाम्बुजे वा,, "हृत्पुण्डरीक-मध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम्।,, "हृदयकमलमध्ये निर्विशेषम्" इत्यादि ध्यानमें देखते हैं, कि हृदयकमलका जो शून्य आकाश

है उसमें सगुण ब्रह्मका ध्यान कियाजाता है। जिस विद्या के द्वारा हृदयकमलमें सगुण ब्रह्मकी उपासना कीजाती है वह ही दहरविद्या है। "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।,, (छा० ८ प्र० १ खण्ड) प्रणवमें साधना कीहुई ब्रह्मबुद्धिवाले ध्यानयोगीके हृदयकमल में अथवा ललाटमें जो ब्रह्मकी उपासना होती है, वह ही दहरविद्याका विषय है। इस दहरविद्याके प्रभावसे व्यापक आत्मा इस शरीरके अभिमानको छोड़ परम ज्योतिको पाकर अपने स्वरूपको पाता है। ब्राह्मण जिस गायत्रीकी उपासना करते हैं, उसमें भी त्रिकोणमण्डलके ऊपर सीमाशून्य ज्योतिर्मय विन्दुरूप स्थानमें जो रमणीय भर्ग (तेज) का ध्यान किया जाता है, जिस समय कहाजाता है, कि--जो दीपककी समान सातों लोकोंमें प्रकाश करके मेरे जीवात्माको अपने ब्रह्मरूप में मिला लेते हैं। खण्ड अखण्डमें मिलकर जो कुछ होता है मैं वही हूँ, इसप्रकारका जो चिन्तवन है वह ही उत्तम उपासना है। जीवचैतन्य परमज्योतिमें मिलकर अपने स्वरूपको पाजाता है, यह ही ब्रह्मोपासना है, यह ध्यान है। जीवात्मा मायाके वशमें आपड़ता है, इस कारण उसमें सच्चिदानन्द के भाव संकुचित होजाते हैं। शास्त्रके वाक्य और गुरुके उपदेशके अनुसार साधना करते करते जब आत्माको जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिके पार तथा स्थूल सूक्ष्म और कारणशरीर से अलग समझ जाता है, जब आत्मा जाग्रत् स्वप्न आदि

अवस्थाओंमें अभिमान करना छोड़ देता है, स्थूल सूक्ष्म आदि शरीरोंमें भी अभिमान नहीं करता है तब अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपमें स्थित होता है। पहिले रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सदा सत्त्वगुणमें स्थित रहनेके लिये करना होता है, फिर आत्मा की अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। दहरविद्या इस स्वरूपमें स्थितिका ही पता बताती है।यह जो कहा था, कि-जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके पार है, इससे यह समझना, कि-माया वा शक्तिके अतिसूक्ष्म स्पन्दनमें सुषुप्ति अवस्था होती है, इसमें स्वरूपानन्दका कुछ एक स्फुरण होता है। सूक्ष्मस्पन्दनमें स्वप्न अवस्था और स्थूल स्पन्दनमें यह जाग्रत् अवस्था है वह अवस्थायें मानो सफेद, लाल और काले कांचके भीतर होकर आत्माका स्फुरण हैं। पञ्चाग्निविद्यामें तू देखेगा, कि-अग्निहोत्र आदि यज्ञके विषैं अग्निमें जो आहुति दीजाती है वह अन्तरिक्षमें जाती है और फिर जल होकर पृथिवी पर गिरती है। फिर वह अन्न आदि रूप होकर सुधा रूपमें पुरुषके भीतर आती है, वही स्त्रीमें प्रवेश करके सन्तानरूपसे उत्पन्न होती है। जल, आकाश, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इस पांच प्रकार की अग्निमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्यरूपसे आहुति का वर्णन पञ्चाग्निविद्यामें पायाजाता है। जीवके देहको त्यागनेसे लेकर फिर देहको धारण करने तकका व्यापार इन अग्नि और आहुतियोंके द्वारा होता है। कर्मयोगी इसप्रकार यज्ञ आदि करते हैं, इसकारण वह पितृयान मार्गसे जाते हैं। पुण्यक्षीण होजाने पर उनको फिर पृथिवी पर दुःख

भोगनेके लिये आना पड़ता है। अर्जुनने कहा, कि—तो क्या पञ्चाग्नि विद्याके उपासक दहरविद्याके अधिकारी नहीं होसकते। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! गृहस्थमें जो लोग पञ्चाग्निविद्याके अर्थ को न जानकर केवल इष्टापूर्त्त में ही लगे रहते हैं। अग्निहोत्र आदि वैदिक नित्यकर्मको इष्ट कहते हैं, तथा दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये वापी कूप तालाब और धर्मशाला आदि बनवाने का नाम पूर्त्त है। और जो अन्न गौ ग्राम आदि का दान करते हैं, वह भी पितृयान मार्गसे ही गमन करते हैं। परन्तु जो गृहस्थ पञ्चाग्नि-विद्याके अर्थ को जानते हैं वेही दहरविद्याके अधिकारी होते हैं। पञ्चाग्नि विद्याका अर्थ यह है, कि—अग्निहोत्री गृहस्थ भावना करे, कि—मैं द्युलोक आदि पञ्च अग्निमेंसे क्रमके अनुसार उत्पन्न हुआ हूँ, मैं पञ्चाग्नि परिणाम हूँ। अग्नि और आहुति के साथ अपनेको तन्मय विचार कर मैं अग्नि-रूप होगया हूँ, ऐसा विचार कर लेय द्युलोक, पर्जन्य (मेघ) पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पांच अग्निये हैं इन पांचों अग्नियों की आहुति है श्रद्धा, सोम, वृष्टि अन्न और रेत। अपने को जिस प्रकार अग्नि और आहुतिरूपसे भावना करनेकी यह रीति है, कि—शरीरधारी पुरुष मैं कहांसे आया हूं? (१) स्त्रीरूप अग्निमें रेतरूप आहुति पड़ने पर मैं शरीरधारी हुआ हूं। रेत (वीर्य) किसप्रकार आया? (२) पुरुषरूप अग्निमें अन्नरूप आहुति पड़ने पर मैं रेतरूप हुआ हूँ। अन्नमें किसप्रकार आया?

(३) पृथिवीरूप अग्निमें वर्षारूप आहुति पड़ने पर मैं अन्न रूप हुआ हूँ। वर्षा कहांसे आयी ? (४) पर्जन्य वा मेघरूप अग्निमें सोम वा जलमय आहुतिके द्वारा वर्षा होती है। सोम कहां से होता है ? (५) जीव इस लोकमें जलमय दधि-आदिके द्वारा श्रद्धाके साथ होम करता है। उसमें अप-श्रद्धा आहुतिरूपसे जीवमें सम्बद्ध होता है। जीवका मरण होने पर उसको इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री देवता उस श्रद्धारूप आहुतिका द्युनामके अग्निमें होम करते हैं। उसमें जीव सोमरूप दिव्यदेहधारी होजाता है। उस देहको धारण करके वह जीव उस स्थानमें ही कर्मफलको भोगता है। फिर वह जलमय देह पर्जन्यरूप अग्निमें होमा जाने पर वर्षा होती है। फिर क्रमसे वर्षासे अन्न, अन्नसे रेत होता है और रेत स्त्री में पहुँच कर देहधारी जीव होता है। मनुष्य पञ्चाग्निविद्या का परिणाम (फल) है, इस बातको समझ जाने पर उच्च-विद्याका अधिकार प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षाण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप (अग्निः) अग्नि (अहः) दिन (शुक्लः) शुक्ल पक्ष (षण्मासाः) छः मासरूप

(उत्तरायणम्) उत्तरायण (तत्र) तिसमें (प्रयाताः) प्रयाण करनेवाले (ब्रह्मविदः) सगुण ब्रह्मके ज्ञाता (जनाः) पुरुष (ब्रह्म) सगुण ब्रह्मको (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आपने जो कुछ कहा, उससे मेरी समझमें यह आया, कि—जो सद्योमुक्ति पाते हैं, उनके विषयमें श्रुति कहती है, कि—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" उनके प्राणोंका उत्क्रामण नहीं होता है अर्थात् उनको प्राण निकलने के कष्टका अनुभव नहीं होता है, 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ' ऐसा बोध होजानेके कारण उनके प्राण ब्रह्म में लग जाते हैं, वह ब्रह्ममय होजाते हैं, फिर वह देवयान वा पितृयान किसी मार्गसे भी नहीं जाते हैं, परन्तु क्रममुक्तिके काम करते हैं, सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, प्राणप्रयाण के समय उनको देवयान मार्गसे जाना पड़ता है। इस मार्ग में उनको ज्योतिःस्वरूप अग्निके अधिष्ठात्री देवता, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणरूप छः मास के अधिष्ठात्री देवता मार्ग दिखाते हुए लिवाजाते हैं, इसप्रकार वह क्रमसे ब्रह्म को पाते हैं। यहां मैं यह प्रश्न करना चाहता हूँ, कि—सम्यक् दर्शन कहिये आत्मस्वरूपका ज्ञान न होनेसे साधक के प्राणोंका उत्क्रामण होता है। उनकी चित्तशुद्ध होती है ध्यानयोगका अभ्यास होता है, कूटस्थ वा त्रिकोणमण्डलके पार सहस्रारमें धारणाके वह अभ्यासी होते हैं, परन्तु 'तत्त्वमसि' महावाक्यके द्वारा उसने अज्ञानका नाश नहीं

होता है, इसकारण 'मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा आत्मस्वरूपका साक्षात् अनुभव भी नहीं होता है, इसकारण ही वह देव-यान मार्गसे जाते हैं, परन्तु उनके प्राणप्रयाणके समय क्या २ घटना होती है, यह बताइये ? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! इन सब साधकोंके मरणकालमें जब प्राण उखड़कर ऊपरको आने लगता है, प्राण नाभिको छोड़कर हृदयमें आपहुँचता है उस समय हृदयमें एक ज्योतिका प्रकाश होता है, उस ज्योतिके प्रकाशमें सुषुम्नामार्ग दीखने लगता है, उस समय प्राण सुषुम्ना नाड़ीमें प्रवेश कर जाता है, सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक चलीगयी है, ब्रह्मरन्ध्रमें सदा सूर्यकी किरणोंकी आवाजायी होती है। इसलिये ही रातके समय वा दक्षिणायनमें यद्यपि इन साधकोंमेंसे किसी २ की मृत्यु होती है तो भी उनके प्राण सूर्यकी किरणोंका आश्रय लेकर ही ऊपरको चढ़ते हैं। ये पहिले अर्चिरादि मार्गमें पहुँचते हैं। इस अग्नि और ज्योतिके मार्ग अर्थात् इस ज्योतिर्मय मार्गमें साधक तेजके अधिष्ठात्री देवताको प्राप्त होता है। अर्चिर-भिमानिनी देवता दिव्याधिष्ठात्री देवताको प्राप्त होता है। फिर वह शुक्लपक्षके देवताको प्राप्त होता हैं। शुक्ल पक्षका अधिष्ठात्री देवता फिर माघसे आषाढ़ पर्यन्त जो उत्तरायण के छः महीने हैं उनके अधिष्ठात्री देवताको प्राप्त होता है। उत्तरायणके देवतासे,संवत्सरके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है, उससे सूर्यको, सूर्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होता है। उस समय एक पुरुष ब्रह्माका मानसपुत्र ब्रह्मलोकसे आकर साधकको सत्यलोकमें स्थित ब्रह्माके पास लेजाता

है, इस ही मार्गको देवमार्ग वा देवयान मार्ग कहते हैं। अर्जुन ने कहा, कि-हे भगवन्! इतनी बातें तो मूलमें नहीं हैं "षण्मासा उत्तरायणम्,, तक ही है, आपने उसके बाद सम्वत्सर, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् और दिव्य पुरुषकी बात कही इसका क्या प्रमाण है?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! छान्दोग्य उपनिषद्‌के ४ र्थ प्रपाठकके १५ वें खण्डमें इस देवयानका वर्णन है, उसका भाव यह है, कि-जो दहरविद्या की सहायतासे सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं उनका मरण के अन्तमें अग्निसंस्कार हो चाहे न हो, वह इस उपासना के प्रभावसे अर्चिरभिमानिनी देवताको प्राप्त होते हैं, फिर दिनके अधिष्ठात्री देवताको फिर "आपूर्यमाणपक्षम्,, अर्थात् शुक्ल पक्षके देवताको, फिर उत्तरायणके अभिमानिनी देवता को, फिर सवत्सरके अधिष्ठात्री देवताको फिर सूर्यको, फिर चन्द्रमाको और फिर विद्युत्‌को प्राप्त होता है और उसके अनन्तर ब्रह्माका मानस पुरुष ब्रह्मलोकसे आकर उसको ब्रह्मलोकमें लेजाता है, यही देवयान मार्ग है। उस ही छान्दोग्यके ५म प्रपाठक दशम खण्डमें कहा है, कि- "तद् हृदयं इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यार्चिषोऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षड्डुदङ्ङेति मासांस्तान्"। जो पञ्चाग्नि विद्याके अर्थको जानते हैं और जो वनमें जाकर श्रद्धा तपकी उपासना करते हैं वे आर्चि कहिये ज्योतिको प्राप्त होते हैं, आर्चि से दिनको, दिनसे शुक्लपक्षको और शुक्लसे छः मासरूप

उत्तरायणको प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है, कि–गृहस्थ पञ्चाग्नि विद्याके प्रभावसे अपने को अग्निकी भावना नहीं करसकते, किन्तु केवल अग्निहोत्र इष्टापूर्त्त और दान आदि कर्म को करते हैं अपने को किसी भावसे भावित नहीं करसकते उनकी गति पितृयान मार्गसे होती है, परन्तु 'ये चेमेऽरण्ये' इत्यादिमें जो वानप्रस्थ संन्यासी की बात कही है। जो हिरण्यगर्भ वा प्रणव आदि सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे अर्चिरादि मार्गको पाकर उत्तरायण गतिको पाते हैं। और जो यज्ञोपवीत संस्कारके अनन्तर आजन्म विवाह न करके ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके रहते हैं, जो नित्य गुरुके घर निवास करते हैं जिनका वीर्यपात कभी भी नहीं होता है ऐसे उर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारि ब्रह्मचर्यके प्रभावसे उत्तरायण मार्गमें पहुँचते हैं। और जो यज्ञोपवीत संस्कारके बाद वेदाध्ययन करके ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और उससे निवटने पर गृहस्थाश्रमी होकर ऋतुकालमें स्त्रीसहवासके अनन्तर पुत्र उत्पन्न करते हैं वह भी उपकुर्वाण ब्रह्मचारी हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वनवासी वानप्रस्थ और संन्यासीकी समान तथा उपकुर्वाण ब्रह्मचारि ग्रामवासी गृहस्थकी समान है। श्रुति आगे कहती है कि–"मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति,, महीनेसे सम्वत्सरको, सम्वत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होता है, फिर ब्रह्माका मानस पुरुष उसको

ब्रह्मलोकमें लेजाता है, यह ही देवयान मार्ग है। इसप्रकार चारों ही आश्रमोंमें विद्वान् तपस्वी उपासक ब्रह्मलोकसे आये हुए पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचता है, तहाँ देवतारूप होकर उत्तमभावको पाता है। तहाँ अनेकों दिव्य वर्षों पर्यन्त निवास करता है अर्थात् जब तक ब्रह्माजी ब्रह्मलोक में रहते हैं तबतक तहाँ रहता है, ब्रह्मलोकमें पहुँचजाने पर फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता है, उस समय साधक अमर होजाता है। परन्तु ब्रह्माजीकी जो सौ वर्षकी आयु है, उसके अन्तमें जब महाप्रलय होती है, उस समय ब्रह्मा के साथ उनका लय होजाता है फिर सृष्टिकाल आने पर उनका आगमन ब्रह्माके साथ ब्रह्मलोकमें ही होता है। तहाँ ब्रह्मलोकमें वह कितने समय तक रहते हैं, इसको भी याद करो मनुष्योंके चार सौ बत्तीस करोड़ वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन होता है और चार सौ बत्तीस करोड़ वर्षकी ही ब्रह्माकी एक रात होती है, ऐसे दिनरात्रिके सौ वर्षों की ब्रह्माकी आयु होती है। इसके बाद ब्रह्माके साथ क्रममुक्त साधक का लय होता है, इसलिये क्रममुक्तको ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप जो मोक्ष है वह भी सद्योमुक्त ज्ञानीके मोक्षकी अपेक्षा गौण है॥ २४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तथा चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥२५॥

अन्वय और पदार्थ

(धूमः) धुआं (रात्रिः) रात (तथा) तैसे ही (कृष्णः) कृष्ण पक्ष (षण्मासाः) छः मासरूप (दक्षिणायनम्) दक्षिणायन (तत्र) तहां (योगी) योगी (चान्द्रमसम्) चन्द्रमाकी (ज्योतिः) ज्योतिको (प्राप्य) पाकर (निवर्त्तते) लौटता है ॥ २६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जो गृहस्थ आश्रममें रहकर ज्ञानको पानेका उद्योग नहीं करते हैं, केवल यज्ञ, दान, तपस्या, व्रत, कूपोत्सर्ग आदि पुण्य कर्म करते हैं उनको देहपात होने पर पितृयान मार्गसे जाना पड़ता है और उनको फिर लौटकर संसारमें आना पड़ता है । इनका मरण होजाने पर इनके भ्रमणके विषयमें श्रुति क्या कहती है सो बताइये तथा यह भी बताइये, कि—जो शास्त्रके उपदेशके अनुसार नहीं चलते हैं, शास्त्रसे निषिद्ध कर्म करते है, जिस समय जो कुछ इच्छा होती है, उस समय विधि निषेध कुछ न मान कर जब जी में आता है प्रार्थना उपासना करते हैं और जबजी में नहीं आता तब नहीं करते तथा जब चाहते हैं तब खोटा कर्म भी करने लगते हैं, ऐसे पुरुषोंकी कौन गति होती है, यह बताइये ? । भगवान्ने कहा, कि—सुनों सखे ! छान्दोग्य उपनिषद्के प्रपाठक ५ खण्ड १० में लिखा है, कि—"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति

मासांस्तान्नैते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद् देवानामन्नं ते देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥ तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते। यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ५ अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद् भूय एव भवति ॥ ६ ॥ तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिम्वा क्षत्रिययोनिम्वा वैश्ययोनिम्वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ७ अथैतयोःपथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज् जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥ स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरꣳस्तैरिति ॥ ९ ॥ अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद न तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यश्लोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥ इन श्रुतियोंका अर्थ यह है, कि—सकल ग्रामवासी गृहस्थ पञ्चाग्नि विद्याको नहीं जानते हैं, किन्तु अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म और वृक्ष कूप, वापी, तालाब आदिकी प्रतिष्ठा अन्नसत्र आदि रूप इष्टापूर्त्तमें दान देते हैं वह धूमको प्राप्त

होते हैं, धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनके छः मासको और दक्षिणायनसे संवत्सरको प्राप्त होते हैं। यहाँ धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष आदिसे उनके अधिष्ठात्री देवता लिये जाते हैं। उन मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको, आकाशसे चन्द्रमाको, पहुँचते हैं। यह चन्द्रमा ही ब्राह्मणोंका राजा सोम है, यह देवताओंका अन्न है, देवता इस अन्नको भक्षण करते हैं। तात्पर्य यह है कि–केवल कर्मानुष्ठान करनेवाले गृहस्थ ही पितृलोकमें पहुँचते हैं, तहां के आकाशके अभिमानी देवताके पास पहुँचते हैं, फिर चन्द्रमाके पास पहुँचते हैं, वह चन्द्रमा ही सोम नामवाला ब्राह्मणोंका राजा है और आकाशमें प्रत्यक्ष दीखता है। यही देवताओंका अन्न है, इसको ही इन्द्र आदि देवता भक्षण करते हैं। दक्षिणमार्गको जानेवाले चन्द्रमाके साथ मिलते हैं, इस कारण देवताओंके भक्ष्य होते हैं। देवता हमारी समान भक्षण नहीं करते हैं, किन्तु स्त्री पशु सेवक आदिकी समान भोगकी सामग्रीसे कार्यसाधन मात्र कर लेते हैं, यह देवताओंके भोगके साधन होनेके कारण चन्द्रमण्डलमें निवास करनेके उपयोगी शरीरको धारण करके देवताओंके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥ ४ ॥ जबतक कर्मक्षय नहीं होता है तबतक चन्द्रमण्डलमें भोग्यको भोग कर कर्मका क्षय होते ही जैसे तेल निवड़ जाने पर दीपक एक क्षणको भी नहीं जलता है, तैसे ही जिस मार्गसे चन्द्रमण्डलमें गये थे उस ही मार्गसे फिर पृथिवी पर आजाते हैं। जिसप्रकार यह कहा गया तैसे ही दूसरे प्रकार

से भी कहा जा सकता है। यथा–आकाशमें आवेगा, आकाश से वायुमें, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर फिर मेघ होता है। तात्पर्य यह है कि–चन्द्रमंडलमें सब कर्मोंका एकसाथ क्षय नहीं होजाता है, क्योंकि–सब कर्मोंका क्षय होजाय तो फिर जन्म ही न होय, कुछ एक कर्म बाकी रहनेकी दशामें ही जीव चन्द्रलोकसे भौतिक आकाशमें आजाता है। कर्म करने वालेके, चन्द्रमण्डलमें निवासके योग्य शरीरको आरम्भ करने वाला जो जल है वह चन्द्रलोकमें उपभोगके लिये जो कर्म है उसका क्षय होजाने पर विलीन होजाता है। जैसे अग्निका ताप लगने पर घीका पिण्डा अपनी कठिनता को छोड़कर तय जाता है तैसे ही आकाशमें विलीन हुए जलके साथ लिपटा हुआ यह कर्मी जीव पहिले अन्तरिक्ष में के भूताकाशमें सूक्ष्मरूपसे विलीन होता है। फिर अन्तरिक्षरूप आकाशसे वायुरूप होजाता है और वायु में ही लीन होजाता है अर्थात् आकाश की अपेक्षा वायु स्थूल है इसकारण यह कर्मी चन्द्रलोकसे अति सूक्ष्म जलरूपसे आकाशमें लीन होता है, फिर आकाशसे उसकी अपेक्षा कुछ स्थूल रूप वायुमें आकर तद्रूप होजाता है, वायुसे धूमरूप होता है। यहां यह प्रश्न उठता है, कि–अग्नि और काठका संयोग हुए विना धूम कैसे हो-सकता है? और यहां कहागया है, कि–'वायु से धूमरूप होता है' सो इसका तात्पर्य है, कि–वायु वर्षाका कारण है, इसकारण वायुमें सूक्ष्म परमाणुरूप वाष्प रहता है। आकाशसे वायु

स्थूल है और वायुसे वाष्प स्थूल है, इसलिये कर्मी वायुकी अपेक्षा स्थूल धूम अर्थात् वाष्परूप होजाता है। धूमसे अभ्र होता है, अभ्र वाष्पका ही विशेष रूप है ॥ ५ ॥ अभ्र से मेघ होता है और मेघ होकर वर्षा करता है। फिर वह व्रीहि (धान्य) जौ, औषध, वनस्पतियें, तिल उड़द आदि रूपसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह निश्चय होगया, कि–जीवको बड़े दुःखसे इस स्थूलरूपमें बाहर आना मिलता है। जो जिस अन्न को खाकर जिस रेतको स्त्रीमें छोड़ता है उसके ही आकार का होता है। इसको और सरल कर के कहते हैं, सुनो–जीव अभ्रसे मेघ होता है और मेघ वर्षा करता है, उस समय जल,पर्वत नदी समुद्र बन आदि स्थानों में पड़ता है और उन ही स्थानों में प्रवेश करता है, इसालिये निश्चयरूप से कहाजासकता है, कि–जीव अनेकों स्थानोंमें प्रवेश करता हुआ न जाने कितना क्लेश भोगता है और उन सब स्थानों से बाहर निकलने में और भी अधिक क्लेश उठाता है। मानलो, कि–पर्वतके ऊपर जलकी वर्षा हुई, वह जल अनेकों सोतों में मिलकर नदीरूप होगया, नदी समुद्र में जाकर मिलगयी, उस जल के साथ में क्षीणकर्मा जीव है। उस जलको मगर मच्छ आदि ने पिया, उस मगर मच्छको दूसरे प्राणी ने खालिया, इसप्रकार जीव कितनी योनियों में घूमता फिरा, इस दुःखका तो अन्त ही नहीं है। जलरूप, जीव को जब वृक्ष आदि पीजाते हैं तो वृक्ष योनि मिलती है। वृक्षसे बीज होता है और बीजसे फिर वृक्ष होता है। कभी कभी वृक्षके सूखजाने पर वह रसरूप जीव फिर सूर्य

के द्वारा खिचकर मेघ रूप होजाता है, मेघसे फिर जलरूप में आजाता है, इसप्रकार कर्मकी न्यूनता अधिकता के अनुसार जीव स्थावर जङ्गम आदि अनेकों योनियों में भ्रमण करके कर्म का क्षय करता है। ब्रीहि आदि से बाहर आना जीवके लिये बड़ा ही कठिन होता है तथा जङ्गमभाव से निकलना और भी कठिन होता है। अन्न आदि के साथ पुरुष के शरीरमें प्रवेश करना और भी अधिक क्लेश देता है। और भी देखो–जीव जिस प्राणी के रेतरूपसे रूपान्तर को प्राप्त होता है उसके से ही आकार को पाता है। श्रुति कहती है, कि–"सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतिमिति" अर्थात् सकल अङ्गोंका सारभूत रेत सब अङ्गोंमें से इकट्ठा होकर जब स्त्री के गर्भमें पहुँचता है, उस समय जिसके सकल अङ्गोंमें से निचुड़कर आवेगा, उस रेतको छोड़नेवाले का जो आकार होगा उस आकार को ही जीव पावेगा। कोई २ ऐसा भी मानते हैं, कि–वीर्य स्खलित होनेके समय पुरुषके नेत्रोंके द्वारा स्त्रीके मुखकी छाया वीर्यके ऊपर पड़ने से कन्या उत्पन्न होती हैं। और जो अत्यन्त पापी होते हैं वह ब्रीहि जौ आदिके भीतर प्रविष्ट होकर जितने दिनों तक पाप का क्षय नहीं होता है तवतक उस शस्य के भीतर ही रहते हैं, फिर घुन नामका कीड़ा होजाते हैं, जब घोर पाप का भोग हो चुकता है तब मनुष्य आदि योनि में जन्म लेते हैं॥ ६॥

जो इस पृथिवी पर अच्छे आचरण का अभ्यास करते हैं वह शुभ योनि पाते हैं, उनको ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि

वा वैश्ययोनि मिलती हैं, जो खोटा आचरण करते हैं वह अशुभ योनि पाते हैं, उनको कुत्तेकी योनि वा शूकर की योनि अथवा चाण्डाल योनि मिलती हैं। जिनका स्वभाव सुन्दर होता है वे ही शुभ कर्म करते हैं, वे ही रमणीय चरण कहलाते हैं। जो अशुभ कर्म करते हैं वे कपूयचरण कहलाते हैं। इसप्रकार प्राणी मरणके पीछे चन्द्रमण्डलमें पहुँचते हैं, तहां से जल रूपमें जब ब्रीहि जौ आदि में प्रवेश करते हैं तब उस ब्रीहि जौ आदि को शूकर कूकर वा चाण्डाल आदिखाते हैं, इसलिये कपूयचरण इन अधम योनियोंमें जन्म लेते हैं॥ ७॥ इन दोनों मार्गोंसे न जाकर जो और ही किसी मार्गसे जाते हैं वे अनेकों वार कीडे मच्छर आदि की योनियोंमें जाते हैं, वह केवल मरते और जन्मते ही रहते हैं। तात्पर्य यह है, कि-जो पञ्चाग्नि विद्या की सेवा नहीं करते हैं, इष्टापूर्त्त आदि भी नहीं करते हैं, किन्तु जिस समय जो जी चाहता है सो ही करते हैं, जो शास्त्रविहित कर्म को करते ही नहीं किन्तु शास्त्रविरुद्ध काम करते हैं वे कीट पतङ्ग मच्छर आदि होकर वारंवार जन्मते और मरते हैं। जो कर्म उपासना से रहित हैं, जो मनमाना पापाचरण करते हैं वे मनुष्यके आकारमें कीट पतङ्ग के सिवाय और कुछ नहीं हैं। इन दोनों मार्गोंसे भ्रष्टहुए जीव निरन्तर जन्म लेते हैं और मृत्युके मुखमें पड़ते रहते हैं 'जायस्व म्रियस्वेति' ॥ ८॥ सोना चुराने वाला, मद्य पीनेवाला, गुरुपत्नीगामी और ब्रह्महत्या करनेवाला ये चार महापातकी हैं, ये अवश्य ही खोटी योनियों में पड़ते हैं, जो इनके साथ संसर्ग रखते

हैं 'अर्थात् भोजन, विहार और सहवास आदि करते हैं वे भी पतित हैं ॥ ६ ॥ इस प्रसिद्ध पञ्चाग्नि विद्याको जो जानते हैं, उनके साथ जो संसर्ग करते हैं वे पापसे लिप्त नहीं होते हैं किन्तु वे सब पुण्यलोकोंमें पहुँचते हैं ॥१०॥ हे अर्जुन! संसार के जीवों की गतिका एक वार विचार कर। जो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कर्म नहीं करते हैं वह कीट पतङ्ग आदि का जन्म पाते हैं। जो इष्टापूर्त आदि लोकहित-कारी कर्म करते हैं वे भी वार २ जन्म मरण आदि के चक्र में पड़ते हैं। जो पञ्चाग्नि विद्या के बल से अपनी अग्नि मय भावना करते हैं वे दहर विद्या का अधिकार पाकर क्रम २ से मुक्ति के मार्ग में को बढ़ सकते हैं। और जो विचारवान् हैं, जो सदा विचार करते हैं, कि—मैं चेतन हूँ, जड़ नहीं हूँ, चेतनस्वरूप अखण्ड, केवल अज्ञान के कारण खण्ड सा प्रतीत होता है, जो विचार के द्वारा इस जीवन में ही इस अज्ञान के पर्दे को हटा सकते हैं वे ही सद्योमुक्ति पाते हैं ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः
शाश्वते मते। एकया यात्यना-
वृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥२६॥

अन्वय पदार्थ

(एते) ये (शुक्लकृष्णे) देवयान और पितृयान

(गती) दोनों मार्ग (हि) निश्चय (जगतः) जगत् के (शाश्वते) नित्य (मते) माने गये हैं (एकया) एक के द्वारा (अनावृत्तिम्) मोक्ष को (याति) प्राप्त होता है (अन्यया) दूसरे के द्वारा (पुनः) फिर (आवर्त्तते) लौटता है ॥ २६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! देवयान और पितृयान को छोड़कर क्या और कोई मार्ग नहीं है ? भगवान् ने कहा, कि–हे सखे ! वेद में और २ मार्गों का वर्णन भी देखनेमें आता है सही, परन्तु सत् मार्ग ये दो ही हैं। जो अभागे जीव इन दोनों मार्गों में से किसी के भी अधिकारी नहीं होते हैं वे अति कष्टदायक अन्य किसी एक मार्ग का अवलम्ब लेते हैं। कलियुग की जितनी अवस्था बढ़ती जायगी उतने ही अधिक लोग इन दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट होकर किसी एक तीसरे मार्ग में को चलते जायँगे । जो तीसरे मार्ग में को चलते हैं वह अति भयानक नरक में जा पड़ते हैं। अर्जुन ने कहा, कि– हे भगवन् ! मरण को तो मूर्छा की समान मान सकते हैं। मरण मूर्छा के समय जीव गमन आगमन किस प्रकार करता है ? भगवान् ने कहा, कि हे सखे! अर्चिरादि मार्ग के द्वारा जो कुछ कहा गया है वह सब स्थान मार्ग भी नहीं हैं और मार्गमें के भोगस्थान भी नहीं हैं अर्चि से विद्युत् पर्यन्त सब ही चेतन हैं वह देवता हैं । मरण के अनन्तर जीव जड़ की समान हो

जाता है, उस समय ये देवता ही जीव को उठाकर ले जाते हैं। अर्जुन ने कहा, कि–हे भगवन् ! इन देवयान और पितृयान मार्गों के विषय में यदि कोई और बात जानने योग्य हो तो बताइये ?। भगवान् ने कहा कि–हे सखे ! देवयान का ही नाम अर्चिरादि मार्ग है। जिन के हृदय में ज्ञान का प्रकाश होजाता है वह इस ज्ञान के प्रकाश से दिपते हुए मार्ग में जाते हैं। पितृयान धूम मार्ग है। जिनको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है वह इस अन्धकारमय मार्गमें को जाते हैं। पहले पक्ष के साधक क्रम से एक लोक से दूसरे लोक में पहुँचते हैं और अन्त में मुक्ति पा जाते हैं। उनका फिर पतन नहीं होता है। दूसरे मार्ग वाले कर्मियों को स्वर्ग आदि को भोगने के अनन्तर फिर इस संसार में आना पड़ता है और कलियुग के पापी जीव तो दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर कर्मवश बड़ा भारी क्लेश भोगते हुए अनेकों योनियों में भटकते फिरते हैं। बार बार जन्म लेते हैं और बार बार मरते हैं, तथा न जाने कितनी यातनाओं को भोगते हैं। जीवको बड़ा साव-धान होकर इस संसार में शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चल-ना चाहिये, नहीं तो अवश्य ही भयानक नरक को भोग-ना पड़ेगा ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे कुन्तीनन्दन! (एते) इन (सृती) मार्गों को (जानन्) जानता हुवा (कश्चन) कोई योगी उपासक (न) नहीं (मुह्यति) मोह को प्राप्त होता है (तस्मात्) तिस कारण से (अर्जुन) हे अर्जुन! (सर्वेषु) सब (कालेषु) समयों में (योगयुक्तः) सावधान चित्त (भव) हो ॥ २७ ॥

भावार्थ

भगवान् ने कहा, कि—हे सखे! इन दोनों मार्गों को जान लेने पर कोई योगी मोह में नहीं फँसता है अर्थात् संसार की माया से मोहित होकर केवल धूम आदि को प्राप्त कराने वाले कर्म ही करने चाहिये ऐसा निश्चय नहीं कर बैठता है, किन्तु कर्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये हैं, एसा निश्चय करके ज्ञान का यत्न करता है। इसलिये हे अर्जुन! तू सदा योगयुक्त कहिये सावधान चित्त रह। अर्जुन ने कहा, कि हे भगवन्! आपने यहां योगी किसको कहा और मोह को प्राप्त होने का वर्णन भी और स्पष्ट करके करिये। भगवान् ने कहा कि—हे सखे! अर्चिरादि मार्ग से गमन करने पर मोक्ष होती है और धूमादि मार्ग से गमन करने पर फिर संसार में आकर पड़ना होता है, इन दोनों गतियों के तत्त्व को जान लेने पर कोई धारणाभ्यासी वा कोई ध्याननिष्ठ वा कोई उपासक अथवा कोई भक्त मोह को नहीं प्राप्त होता है। योगी का अर्थ है धारणाभ्यासी। मनुष्य

तीन प्रकार के होते हैं—विषयी, धारणाभ्यासी और विचारवान्। विषयी इन दोनों में से एक मार्ग में को भी नहीं जाता है किन्तु वार २ भयानक नरक की यातनाओं को भोगता है। जो विचारवान् है वह भी 'मैं चेतन हूँ जड़ नहीं हूं' जो चेतन होता है वह अनन्त और अपरिच्छिन्न होता है, वही चितस्वरूप और आनन्दस्वरूप होता है' ऐसा वार २ विचार करके इस सत्यका इस जीवन में ही अनुभव करता हैं। ऐसे विचारवानों के प्राणका उत्क्रामण नहीं होता है, किन्तु वह जीवन्मुक्त होजाते हैं। परन्तु जो धारणाभ्यासी होते हैं वह भक्तिमार्गके साधक हैं। वारंवार मणिमण्डप में अपने इष्टकी धारणा करना ही धारणाभ्यासी का काम है। ये ही उपासक और ये ही भक्त कहेजाते हैं। मूलमें जो 'मुह्यति' क्रिया है उससे यह समझना होगा, कि—धारणाभ्यासी जानते हैं, कि—केवल कर्मानुष्ठान करने पर धूमादि मार्गमें पड़ना होगा। वारंवार स्वर्ग आदि को भोगने के अनन्तर फिर संसारमें गिरना होगा। इस तत्त्व को जानकर वह कभी भी निरवच्छिन्न कर्म में ही नहीं लगे रहते हैं, किन्तु सदा त्रिकोणमण्डल के पार मणिमण्डप में चित्तकी धारणा करते हैं। चित्तको सदा ध्येय विषयमें समाहित करना ही योग-युक्त होना है। समाधिका अभ्यास करने पर वा सदा समाहित चित्त होनेका अभ्यास करने पर फिर संसारमें लौट कर नहीं आना पड़ता है। हे अर्जुन! तू सब समय योगयुक्त हो—और शरीर मन वाणी से कर्त्तव्य कर्म कर॥ २७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् २८

अन्वय और पदार्थ

(वेदेषु) वेदोंमें (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (तपःसु) तपोंमें (च) और (दानेषु-एव) दानोंमें भी (यत्) जो (पुण्यफलम्) पुण्यका फल (प्रदिष्टम्) शास्त्रमें कहा है (तत्) उस (सर्वम्) सब (इदम्) इसको (योगी) योगी (विदित्वा) जानकर (अत्येति) लाँघ जाता है (च) और (परम्) श्रेष्ठ (आद्यम्) कारणरूप (स्थानम्) स्थानको (उपैति) प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

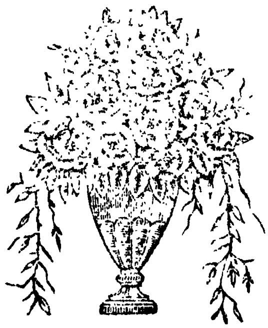
भावार्थ

हे सखे अर्जुन ! शास्त्रमें बताई हुई विधिके अनुसार वेदोंका अभ्यास करने पर, अनेकों प्रकारके यज्ञ करने पर और नाना प्रकारके दान करने पर जो २ पुण्यफल मिलना शास्त्रमें लिखा है, इस अध्यायमें कहे हुए तत्त्वको जान लेने पर योगी उन सब पुण्यफलोंको लाँघकर आदिस्वरूप परम श्रेष्ठ स्थानको पाता है। अर्जुनने कहा, कि हे भगवन् ! आपने इस आठवें अध्यायमें जो कुछ उपदेश दिया, उस सबका अभिप्राय क्या है ?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे !

ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या है ? अधिदेव क्या है ? देहमें अधियज्ञ क्या है ? प्राण प्रयाण के समय में किसप्रकार जानाजाता हूँ ? तूने आठवें अध्यायकी आदिमें ही यह सात प्रश्न किये थे इस अध्याय में मैंने उन प्रश्नोंका उत्तर ही दिया है। सब शास्त्र ईश्वरके दो रूप वर्णन करते हैं। एक ध्येय ईश्वर और दूसरा ज्ञेय ईश्वर। जो धारणाभ्यासी हैं वह ध्येय ईश्वर की शरण लेते हैं। त्रिकोण मण्डलके पार होकर मणिमण्डपमें अथवा दोनों भौंके मध्यमें अथवा हृदय आदि स्थानमें ध्येय ईश्वर के विषैं चित्तसमाधान किया जाता है। ध्येय ईश्वर में समाधि करने पर क्रममुक्ति की प्राप्ति होती है और फिर संसारमें नहीं लौटना पड़ता है। पञ्चाग्नि विद्या के कर्मको जानकर अपने को अग्निमय भावना करसकने पर दहरविद्या में अधिकार होता है। हृदय में वा कूटस्थ में अथवा सहस्रार में जो आकाश है तहां सगुण ईश्वरके विषैं धारणा, ध्यान और समाधि कर सकने पर ही क्रममुक्तिकी प्राप्ति होती है। ध्यान-निष्ठ योगी ईश्वरमें चित्तको समाहित करके जो आनन्द पाते हैं, उसके सामने वेदपाठ, यज्ञ, दान, तपस्यादि के फलको तिनुके की समान समझते हैं, यह क्रमसे तत्त्वज्ञान को पाजाते हैं, इस अध्यायमें उस ही क्रममुक्ति का वर्णन किया गया है अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! तो क्या वेदाध्ययन आदि ऐसे तुच्छ हैं ? भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! तुच्छ किसने कहा है ?। जिसके लिये वेदपाठ किया जाता है उस वस्तु को पाजाने पर फिर वेदपाठ करके क्या होगा ? आवश्यकता

तो ब्रह्मज्ञान की ही है ब्रह्मज्ञान के तुल्य तो और कुछ है ही नहीं। यज्ञ, दान, तपस्या आदि के द्वारा स्वर्गादि भोग मिलते हैं सही, परन्तु इन सात प्रश्नोंके उत्तरमें जो ध्येय ईश्वरकी बात कहीगयी है उसका फल—"नित्य ज्ञानानंद में स्थिति है, इस सर्वानन्दके प्राप्त होजाने पर फिर पतनका भय नहीं हाता है तथा फिर संसारमें भी लौटकर नहीं आता है। इस अध्यायमें ध्येय ईश्वरका वर्णन किया गया, अगले अध्यायमें ज्ञेय ईश्वरका वर्णन किया जायगा। ब्राह्मण जिस गायत्री की उपासना करते हैं उसमें प्रधानरूप से ज्ञेय ईश्वरका ही वर्णन है। परन्तु जो ज्ञेय ईश्वरका ध्यान आदि नहीं कर सकते हैं, उनके लिये ही ध्येय ईश्वर है। ध्येय ईश्वर क्रममुक्ति की प्राप्ति कराता है और ज्ञेय ईश्वरके द्वारा सद्यो-मुक्ति मिलती है॥ २८॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे हठयोगाभ्यासि-ब्रह्मचारि-नर्मदानन्द-विरचितयां सान्वयभाषाटीकया सहितो अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः समाप्तः



नवम-अध्याय

मूर्धामें रहने वाली सुषुम्ना नाड़ीका आश्रय लेकर, सब इन्द्रियद्वारोंका संयमरूप जो योग तिस योग के प्रभावसे अपनी इच्छा के अनुसार जिसके प्राणोंका उत्क्रमण होता है उसको अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार क्रममुक्तिका तत्त्व आठवें अध्यायमें वर्णन किया है, इसपर हे अर्जुन ! तेरे मनमें यह शङ्का उठी, कि– अधिकारी पुरुषको इसप्रकार ही मुक्ति प्राप्त होती है अथवा किसी और मार्गसे भी मुक्ति मिल सकती है, अथवा कोई यह शङ्का करने लगे,कि–भगवान्‌ने जो यह मुक्ति का क्रम और रीति कही है यह तो बड़े दिनोंमें सध सकेगी तथा इसके साधनमें बड़ाभारी कष्ट भी उठाना पड़ेगा, ऐसा सन्देह करने वाले के चित्तको सन्तोष देनेके लिये परमदयालु भगवान्‌ने साक्षात मोक्ष देने वाला तथा शीघ्र ही फल देने वाला और उपाय भी पीछे १४ । १५ । १६ वें श्लोकमें बताया है,– "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः । मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ इत्यादि वाक्यमें यह भी दिखाया है, कि–तैसी मुक्तिको पाने में अनन्य भक्ति मुख्य कारण है। पीछे कही हुई क्रममुक्तिकी रीतिके अनुसार योगधारणा-

पूर्वक प्राणोंका उत्क्रमण होनेके अनन्तर अर्चिरादि मार्गसे मुक्तिमार्गमें को आगे बढ़नेमें बड़ाभारी समय लगता है और महान् क्लेश भोगना पड़ता है, और भगवद्भक्तको साक्षात् मोक्षरूप असीम सौभाग्यको पानेकी प्रबल इच्छा होती है, ऐसे योगनिष्ठ भाग्यवान् भगवद्भक्तोंको विस्तारके साथ भगवत्तत्त्वका ज्ञान करानेके लिये इस नवम अध्यायका आरम्भ होता है। आठवें अध्यायमें संक्षेपसे ध्येय (सगुण) ब्रह्मका निरूपण करके, उसके ध्यानमें तत्पर हुए पुरुषको मुक्ति मिलनेका विषय वर्णन किया गया, अब इस नवम अध्यायमें ज्ञेय ब्रह्मका निरूपण करके ज्ञाननिष्ठ पुरुषोंकी गतिको कहते हैं। अब भगवान् अपने अचिन्त्य ऐश्वर्य और जिस ज्ञान के प्रभावसे ब्रह्मकी प्राप्तिरूप शुभ परिणाम होता है उस ज्ञानकी स्तुति करते हुए कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यन-
सूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञा-
त्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

अन्वय और पदार्थ

(श्रीभगवान्) श्रीकृष्ण (उवाच) बोले (इदम्-तु यह तो (गुह्यतमम्) परम गोपनीय (विज्ञानसहितम्) अनुभव सहित (ज्ञानम्) ज्ञान (अनसूयवे) दोषदृष्टि

रहित (ते) तेरे अर्थ (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा (यत्) जिस ज्ञानको (ज्ञात्वा) जानकर (अशुभात्) संसारबन्धनरूप अमङ्गलसे (मोक्ष्यसे) छूटजायगा ॥ १ ॥

भावार्थ

पहिले जो "किन्तद् ब्रह्म किमध्यात्मम्" यह ज्ञेयब्रह्मके विषयमें दो प्रश्न किये थे, उनका ही उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, कि–हे सखे अर्जुन ! जिस अपरोक्ष ज्ञानकी बात इस अध्यायमें कहूँगा, ध्यान आदिका अभ्यास इस ज्ञानकी समान कभी नहीं होसकता, क्योंकि–ध्यानसे चित्तकी शुद्धि के सिवाय साक्षात् रूपसे अज्ञान दूर नहीं होता है, ध्यान तो आत्मज्ञानकी प्राप्तिका एक अवान्तर उपायमात्र है, अनुभवसाहित जिस ज्ञानका इस अध्यायमें वर्णन किया जायगा वह अति गुह्य है । जब चित्तमें चिरकाल से जमे हुए रागद्वेष भले प्रकारसे धुल जाते हैं तब ही साधक इसका अधिकारी होता है, मैं तुझे अधिकारी बनाकर यह ज्ञान सुना रहा हूँ। याद रख, पहिले निष्काम कर्म करने होंगे, फिर आरुरुक्षु योगी बनकर योगारूढ़ वनना होगा, तब ही गीतामें वताया हुआ योगी कहला सकेगा, योगीको युक्त-तम बनना होगा, यही धारणाभ्यासी कहलाता है, ध्येय ईश्वरमें धारणाभ्यास करने वाले क्रममुक्ति पाते हैं । सखे ! इस नवम अध्यायमें कहेहुए अनुभव सहित ज्ञानको पाकर तू संसारबन्धनरूप अशुभ से छूटजायगा । संसारमें वारंवार आनाजाना और भली बुरी योनियोंमें वारंवार जन्म मरण

के दुःखको भोगना ही अशुभ है। विज्ञान सहित ज्ञानको पाजाने पर उसके फलसे संसारसे छुटकारा होजाता है, फिर संसारमें आवागमन नहीं करना पड़ता है, क्योंकि—इस विज्ञान सहित ज्ञानको पाजाने पर मरणके समय भी इस ज्ञानमें अविचल स्थिति रहती है और ईश्वरका स्मरण रहकर आठवें अध्यायमें कहेहुए मार्गसे देहको त्याग कर परा गति मिलती है तथा फिर संसारमें लौट कर नहीं आना पड़ता है ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्र-मिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥

अन्वय और पदार्थ

(इदम्) यह ज्ञान (राजविद्या) विद्याओंका राजा (राजगुह्यम्) गुप्त रखने योग्य पदार्थोंमें राजा (उत्तमम्) श्रेष्ठ (पवित्रम्) पवित्र करने वाला है (प्रत्यक्षावगमम्) साक्षात् फल देनेवाला (धर्म्यम्) धर्मसे युक्त (कर्त्तुम्-सुसुखम्) सुखसे साधन करने योग्य (अव्ययम्) अक्षय फल देने वाला [अस्ति] है ॥ २ ॥

भावार्थ

अर्जुनके चित्तको पूर्णरूपसे इस परम फलदायक ज्ञानकी ओरको झुकाने के लिये भगवान् ब्रह्मविद्या नामक ज्ञानकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं, कि—हे सखे! यह सकल विद्याओं

में श्रेष्ठ होनेके कारण सब विद्याओंका राजा है सकल प्रकारकी अविद्याओंका नाशक होनेके कारणसे भी यह सब विद्याओंका राजा है तथा सकल राजाओंको बलदायक होने से भी यह राजविद्या कहलाता है, भगवान् वशिष्ठजीने कहा है, कि-सकल गुप्त वस्तुओंसे भी यह अधिक गुह्य है, क्योंकि-जब अनेकों जन्मोंका पुण्य इकट्ठा होजाता है तब इस ब्रह्मविद्यारूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसकारण बहुतसे प्राणी इसको नहीं जानते, इसकारण ही यह गुप्त वस्तुओंका राजा है और राजगुह्य नामसे कहाजाता है। और हे सखे! यह उत्तम पवित्र करनेवाला है। जो पापोंका क्षय करता है वही पवित्र कहलाता है, प्रायश्चित्तसे भी पापका क्षय तो होता है, परन्तु जड़मूलसे पापक्षय नहीं होता है, वह निवृत्त होकर भी उसका बीज सूक्ष्मरूपसे अपने कारणमें रह जाता है, इसकारण ही पुरुषकी फिर पापमें प्रवृत्ति होने लगती है, परन्तु इस आत्मविद्यारूप ज्ञानकी प्राप्ति होजाने पर अनेकों जन्मोंसे सञ्चित और इस देहसे किया हुआ सकल स्थूल सूक्ष्म पापसमूह अपने कारण अज्ञानके सहित क्षणमात्रमें ही नष्ट होजाता है और आगेको पाप होने नहीं पाता, क्योंकि ज्ञानका उदय होने पर अज्ञानका एक साथ नाश होजाता है, जब तक अज्ञान नहीं जाता है तबतक पाप रहता ही है, इस कारण यह सकल पावन पदार्थोंमें उत्तम है। तथा हे सखे! यह ब्रह्मविद्या साथ २ अनुभवमें भी आती है, जैसे सुखका अनुभव प्रत्यक्ष होता है तैसे ही आत्माके विषयमें जो ज्ञानका लाभ होता है वह भी प्रत्यक्ष है, सत्सङ्गका

सुख साथ२ में अनुभवमें आता है। हे सखे ! श्येनयागका फल भी बहुत होता है, परन्तु उसमें श्येन (पत्ती) की हिंसा करनी पड़ती है, इसकारण वह धर्मके अनुकूल नहीं होता है परन्तु आत्मज्ञानमें किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती है, इस कारण यह धर्म्य है अर्थात् वेदमें कहे हुए सकल धर्मोंका फल दे सकता है तथा अनेकों जन्मोंमें सञ्चय किये हुए निष्काम धर्मका फलरूप है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! जिसका फल ऐसा है उस ब्रह्मज्ञानका अनुष्ठान तो बड़ा ही क्लेश-दायक होगा ?। भगवान्ने उत्तर दिया, कि-हे सखे ! ऐसा नहीं है, किन्तु 'कर्तुं सुसुखम्, अर्थात् अनायास ही प्राप्त कियाजासकता है। फूलकी एक पत्तीको पीसनेमें भी परि-श्रम होता है, परन्तु ब्रह्मज्ञानको पानेमें कुछ आयास नहीं होता है, ज्ञानके पानेको कहां जाना है ? ज्ञान तो सर्वत्र है, ज्ञानके ऊपर एक परदा पड़ा हुआ है, उसका नाम अज्ञान है, अज्ञानको हटा देने मात्रकी आवश्यकता है। गुरु ने समझा दिया, कि-तू ज्ञानानन्दस्वरूप है, वस आत्म-स्वरूपका ज्ञान होगया, इसमें करना धरना क्या है ?। अर्जुन ने कहा, कि-हे भगवन् ! जो इतनी सहजमें मिलजाता है उस आत्मज्ञानका फल भी साधारण ही होगा, क्योंकि-बहुतसा परिश्रम किये विना बहुतसा फल कैसे मिलसकता है ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! ब्रह्मज्ञान अनायासमें प्राप्त होने पर भी अक्षय फल देता है, ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे ही सद्यःमुक्ति होती है, जीवन्मुक्ति प्राप्त होने पर नित्य आनन्द

सागरमें गोता लगता है, किसी प्रकारका भय नहीं रहता है और उस आनन्दका कभी नाश नहीं होता है, अनन्तकाल तक अनन्त आनंदका भोग होता है। जैसे जड़ में जल देनेसे शाखा प्रशाखा आदि सबकी पुष्टि होती है, जैसे प्राणोंको पुष्टि देने पर सकल इन्द्रियोंकी पुष्टि होती है तैसे ही अज्ञान की निवृत्तिके बाद ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उससे ही सकल साधनाओंका फल मिल जाता है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप। अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(परन्तप) हे शत्रुनाशन (अस्य) इस (धर्मस्य) आत्मज्ञानरूप धर्मके [साधने] साधनमें (अश्रद्दधानाः) श्रद्धा न करनेवाले (पुरुषाः) मनुष्य (माम्) मुझको (अप्राप्य) न पाकर (मृत्युसंसारवर्त्मनि) मृत्युसे युक्त संसारमार्गमें (निवर्त्तन्ते) निःसन्देह भ्रमते रहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आप ने जिस ब्रह्मज्ञान की बात कही यह तो जैसा परमफल देने वाला है तैसा ही अनायासमें सिद्ध भी होसकता है, ऐसे सुसाध्य उपायके होते हुए भी मनुष्य इस धोखादेहीसे भरेहुए सकल दुःखोंके

भण्डाररूप संसारमें पड़कर असीम क्लेशोंको क्यों भोगते हैं? और ऐसे सर्वोत्तम तथा सहज उपायके होते हुए भी मनुष्य अविचल चित्तसे और अनन्य मनसे इसका ही साधन क्यों नहीं करते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! इस सुलभमार्ग का स्वरूप क्या है, इसकी साधना और इसका फल क्या है? इस बातकी श्रद्धा नहीं रखते हैं, इसकारण ही ऐसी दुर्गति भोगते हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मनुष्योंको श्रद्धा क्यों नहीं होती है ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! इस आत्मज्ञान नामक धर्मका स्वरूप इसकी साधना और फल शास्त्रोंमें बहुत कुछ कहा है,तो भी बहुतसे पुरुष इस पर श्रद्धा नहीं करते क्योंकि-उसका हृदयाकाश वेदविरोधियोंकी कुतर्कों के कुहरेसे ढकगया है, उनकी उत्तम दृष्टिकी शक्ति नष्ट होगयी है, अनेकों शास्त्रविरुद्ध युक्तियोंके जालमें फँसकर इस सनातन तत्त्वकी प्रामाणिकताके विषयमें उनके चित्त सन्देहोंके भण्डार होगये हैं, वह आसुरी सम्पदाको पाकर पहिले २ अच्छा दीखनेवाले और शीघ्र ही कुछ देरको सुख देनेवाले पापके कामोंमें मग्न रहते हैं, ऐसे भ्रष्टबुद्धि हतभाग्य ही करुणामय वेदभगवान्के दिखाये हुए इस भक्तिसहित ज्ञानमार्गमें चलनेके लिये श्रद्धावान् नहीं होते। ऐसे दुराचारी पुरुष यद्यपि कभी २ अपने मनसे कल्पना किये हुए उपायका अवलम्ब लेकर ब्रह्मज्ञानको पानेके लिये उद्योग करने लगते हैं, परन्तु शास्त्रमें लिखे उपायका ज्ञान न होनेके कारण उन का मनोरथ कदापि सफल नहीं होता है। ऐसे नास्तिक

किसी उपायसे भी मुझे नहीं प्राप्त होते हैं और मेरी प्राप्तिके साधनरूप भक्तिभरे ज्ञानसे शून्य रहकर सदा जन्म मरणरूप बन्धनमें ही बँधे रहते हैं और नरककी यातना देनेवाली पशु पक्षी आदि योनियोंमें घूमा करते हैं। हे सखे अर्जुन! इस समय विचार कर देख, कि-मनुष्य अपनी बुद्धिके दोषसे कैसा बड़ाभारी अनर्थ कर लेता है, ऐसे सहजमें सिद्ध होने वाले और अनायासमें प्राप्त होनेवाले ब्रह्मलाभरूप परमफल के दाता उपायके सामने पड़ जाने पर भी मनुष्य भ्रमसे और मोहसे अन्धे होकर और उपायोंमें लगजाते हैं, जान बूझ कर अपने ही हाथसे अपना सर्वनाश कर लेते हैं, इससे अधिक आश्चर्य तथा शोककी और कौनसी बात होगी ?। चौथे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें मैं कह ही चुका हूँ, कि-अनभिज्ञ श्रद्धाहीन और जिसका चित्त सन्देहोंसे व्याकुल होरहा है उस पुरुषका नाश होजाता है, ऐसे संशयात्माका यह लोक तथा परलोक बिगड़ जाता है तथा उसको कुछ भी सुख नहीं मिलता। सार यह है, कि-श्रद्धाका न होना गुरुके उपदेश और शास्त्रकी आज्ञामें अविश्वास तथा अपनी बुद्धिका भरोसा करके खोटे मार्गको पकड़ बैठना, ऐसे २ कारणोंसे ही मनुष्य जानबूझ कर अपने आप अपना सर्वनाश कर लेता है और इस लोककी सुख शांति तथा परलोककी सद्गतिको खोकर तथा जन्ममरणरूप दुःख दुर्गतिमें जकड़ कर अनेकों कष्टोंके साथ अधोगतिको भोगता है ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-

मूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(इदम्) यह (सर्वम्) सब (जगत्) दीखने वाला संसार (मया) मुझ (अव्यक्तमूर्त्तिना) सकल इन्द्रियोंके अगोचर रूपवाले करके (ततम्) व्याप्त होरहा है (सर्वभूतानि) स्थावर जङ्गमरूप सकल प्राणी (मत्स्थानि) मुझमें स्थित हैं (च) और (अहम्) मैं परमेश्वर (तेषु) उन भूतों में (न) नहीं (अवस्थितः) स्थित हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! ध्येय ईश्वरकी उपासना से क्रममुक्ति और ज्ञेय ईश्वरको जानलेने पर सद्यः मुक्ति होती है, सो आप ज्ञेय ईश्वरका वर्णन विस्तारके साथ कहकर सुनाइये । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! ध्येय ईश्वर सगुण साकार है और ज्ञेय ईश्वर निराकार है। इस विषयमें "ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती" इत्यादि प्रमाण हैं । जो कहते हैं, कि—ईश्वर साकार है और साकार ही सर्वव्यापी है वह भ्रममें पड़े हुए हैं, मैं साकार कृष्णमूर्त्ति से जगत्को व्याप कर स्थित नहीं हूँ,किन्तु अपनी अव्यक्त मूर्त्ति के द्वारा व्याप कर स्थित हूँ, वह अव्यक्त मूर्त्ति मेरा परमभाव है-"अव्यक्तमूर्त्तिना मया—मम यः परमो भावस्तेन,,।निराकार रूप में जगत्को व्याप कर स्थित हूँ। साकार रूप में मैं परि-

च्छिन्नमूर्त्तिमात्र हूँ, जगद्व्यापी नहीं हूँ, इस बातको सब ही जानते हैं। जो परमभाव है वह जड नहीं है, वही अन्तर्यामी है। साकार निराकार होकर भी मैं अन्तर्यामि हूँ। लोग साकार निराकार वादका झगड़ा वृथा ही करते हैं। ब्रह्मस्वरूपसे अव्यक्तमूर्त्ति है, वह परमभाव रूप है। सत् चित् आनन्द ही उसका परमभाव है और वह सर्वशक्तिमान् है। जिस समय शक्तिका कार्य नहीं होता है, जव शक्ति शक्तिमान्में मिल जाती है, उस समय शक्ति है और शक्ति नहीं है ये दोनों ही बातें नहीं कही जासकतीं हैं, उस शक्तिका नाम माया है। यह भावरूप होकर भी यत्किंचित् है अर्थात् इसके स्वरूपका कहना नहीं बनता, इसको न सत् ही कहाजासकता है और न असत् ही कहा जासकता है। जैसे मणिकी झलक स्वभाव से ही होती है तैसे ही ब्रह्मकी शक्तिका स्पन्दन स्वभावसे ही होता है। इस स्पन्दनके होने पर ब्रह्म अव्यक्त अवस्थासे व्यक्त अवस्थामें आता है, सगुण होजाता है। क्रमसे और भी जितना माया का परिणाम होता है, उतना ही वह मूर्त्तिमान् होता है। ब्रह्ममें सव शक्तियें हैं, वह अपनेको मूर्त्तिमान् कर सकता है। जो कहते हैं—ब्रह्म साकार नहीं होसकता उनकी भी युक्ति सुनो—वह कहते हैं, कि—"सृष्टि आदिके विषयमें ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, परन्तु उसमें अपने स्वरूपका नाश करनेकी शक्ति है, इस बातको मानने में तो जगत्की समान ब्रह्मका नाश होनेकी संभावना स्वीकार करनी पड़ेगी। परन्तु जिस का नाश होसकता है वह ब्रह्म नहीं होसकता। इसलिये जगत्

के विषयमें ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, अपने स्वरूपका नाश करने में शक्तिमान् नहीं है, इसलिये स्वभावसे अमूर्त्त ब्रह्म कभी भी मूर्त्तिमान् नहीं होसकता। क्योंकि—मूर्त्तिमान् होने पर उस के स्वरूपका विपर्यय अर्थात् परिणाम और आकाश आदि का व्याप्यत्व आदि ईश्वरके विरुद्ध सकल धर्म उसमें आजा-यँगे।,, परन्तु यह युक्ति विचारकी कसौटी पर नहीं ठहर सकती मूर्त्ति धारण करनेसे ही स्वरूपका नाश होजाता है यह कौन कहता है ?। एक मनुष्य सदा भीतर अपने मनुष्य आकार में रहकर भी नानाप्रकारके चेहरे और वस्त्र आदि धारण करके अनेकों मूर्त्तियें धारण करसकता है, तैसे ही ब्रह्म भी अपने सच्चिदानन्द स्वरूपमें सर्वदा रहकर भी मायारूपी वस्त्रको ओढ़कर बहुतसी मूर्त्तियें धारण कर सकता है। ऐसा होनेको असम्भव न समझना, जैसे स्फटिक मणिकी किरणें अपने आप ही बाहरको निकलती हैं तैसे ही इस आत्माकी ऐसी ही एक स्वाभाविक उज्ज्वल शक्ति है वही हमारे भीतर जगत्-रूपसे प्रकाशित हुआ करती है। जिस समय जगत्रूपसे शक्तिका प्रकाश हुआ, उसी समय शक्तिका आधार जो शक्तिमान् है उसके सदा अपने स्वरूपमें रहने पर भी माया ने उसको मूर्त्तिमान्सा दिखादिया। जैसे जगत् उसकी माया-मय मूर्त्ति है, तैसे ही राम कृष्ण आदि भी उसकी मायिक मूर्त्ति हैं। ब्रह्म सकल भूतोंका चेतन और नेत्रान्द्रियका अगो-चर है इसलिये सत् भी है और असत् भी है। चेतनरूपसे सत् है और इन्द्रियके अगोचर रूपसे असत् है। अच्छे प्रकार विचार करके देखो तो समझमें आवेगा, कि—जैसे द्रवत्व जल

से, स्पन्दन वायुसे और शून्य आकाशसे भिन्न नहीं होता है तैसे ही द्वैत और अद्वैत ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जो दोनों भावसे रहित केवल सत् है, शास्त्रकार उसको ही पर-ब्रह्म कहते हैं, इसलिये वह सर्वदा अपने स्वरूपमें स्थित रहकर भी द्वैत साकार मूर्ति और अद्वैत निराकार मूर्तिको धारण करता है तथा यह दोनों भावसे रहित भी है। मैं निराकार भावकी बात भी कहता हूँ और विश्वरूप भी दिखाता हूँ, और विश्वरूपको देखकर जब तू व्याकुल होकर मेरे मनुष्यरूपको देखकर कहेगा, कि—"दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥" उस समय मैं साकार हूँ यह बात भी सबके सामने प्रत्यक्ष हुई जाती है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! आपकी कृपासे मनुष्य साकार—निराकार—वादके तत्त्वको समझ कर निरर्थक वाद विवादको त्याग दें और त्यागकर "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना" इस परमभावसे आप सर्वत्र विराज-मान हैं, इसका निरन्तर अनुभव करें। मनुष्य जब विश्वास कर लेता है कि—श्रीभगवान् सर्वत्र हैं, सर्वत्र अन्तर्यामी हैं, उस समय बड़ा निर्भय होजाता है। मायाके आश्रयकी मूर्त्ति दीखै या न दीखै परन्तु मनुष्यको विश्वास करना चाहिये, कि—तुम अन्तर्यामी हो, तुम आस पास ऊपर नीचे सर्वत्र समान भावसे वर्त्तमान हो! जैसे आकाश सर्वत्र व्याप रहा है तैसे ही तुम मनुष्योंके हृदयोंमें व्यापरहे हो, सकल जीवोंके हृदयोंमें ईश्वररूपसे हृदयोंके राजा हो रहे हो, ऐसा विश्वास

रखकर मनुष्य साधना करै, साधना करते २ ही अनुभव कर सकेगा । तुम साकार हो, तुम निराकार हो तुम द्वैत अद्वैत भावसे अलग हो । जब तक साधक सच्चिदानन्द भावका साक्षात् अनुभव नहीं कर पाता है उतने दिनों तक 'तुम तुरीयभावसे सर्वत्र हो, तुम प्राज्ञपुरुषके रूपसे हृदयमें हो' ऐसा विश्वास करके मनुष्य प्रार्थना करै, सदा स्मरण करै, सदा तुम्हारे नामका जप करै, सदा तुम्हें प्रणाम करनेका अभ्यास करै तो वह साकार निराकार सब ही भावोंमें तुमको लेकर स्थिति कर सकेगा ? । हे भगवन्! आहा ! आप कैसे सुन्दर हैं, मैं तुम्हारी कथारूप अमृतको पीकर तृप्त होरहा हूँ, अब बताइये, कि-"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः" इसका अभिप्राय क्या है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! मत्स्थानि इत्यादिकी व्याख्याको ध्यान लगाकर सुन, मैं कहता हूँ । मैं आत्मा हूँ, सकल भूत मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं सकल भूतोंमें स्थित नहीं हूँ, क्योंकि-तरङ्गें समुद्रके ऊपर स्थित होती हैं, समुद्र तरङ्गों पर स्थित नहीं होता है । भूमा पुरुषके किसी एक विन्दु स्थानमें ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भासरहे हैं। इस लिये ही कहा जाता है, कि-ब्रह्ममें व्यवहार-दशामें सकल भूत स्थित होते हैं, परन्तु विन्दुसे भी सूक्ष्म ब्रह्माण्डमें महान् ब्रह्म किस प्रकार स्थित होसकता है ? कोई भूत भी आत्मासे शून्य होकर व्यवहारदशामें स्थित नहीं होसकता, इसलिये "मत्स्थानि"के अर्थसे यही प्रतीत होता है, कि-मैं सबमें आत्मारूपसे हूँ, इस लिये ही सब आत्मवान्

हैं, इसलिये ही सबका अस्तित्व है। मेरे न होनेसे किसी भी जीवका वा किसी भी भूतका अथवा किसीका भी अस्तित्व नहीं होसकता, इस लिये ही कहा है, कि-सब मुझमें स्थित हैं। मैं सकल भूतोंका आत्मा हूँ, इसलिये ही सकल भूतोंमें मैं हूँ, यह तो केवल मूढ़बुद्धि पुरुषोंका ही कहना है। मैं व्यापक हूँ, फिर व्याप्य वस्तुमें कैसे रहसकता हूँ, ? जैसे तरङ्गोंमें समुद्र स्थित है, ऐसा नहीं कहा जासकता तैसे ही अति क्षुद्र भूतोंमेंसे प्रत्येकमें अखण्ड असीम मैं स्थित हूँ, ऐसा कहना नहीं बन सकता। एक मनुष्यके शरीरमें जो रुधिरकी बूँदें हैं, उनमें करोड़ों जीव रहते हैं, मनुष्यके शरीर में ये जीव रहते हैं यह तो ठीक है, परन्तु उन रुधिरकी बूँदों में स्थित जीवोंमें मनुष्य रहता है, ऐसा कहना नहीं बन-सकता जो कहते हैं कि-सकल भूतोंमें मैं (परमात्मा) स्थित हूँ, वह मूढ बुद्धि हैं, इसलिये ही मैं कहता हूँ, कि-"नचाहं तेष्ववस्थितः" ॥ ❀ ॥ मेरा स्वरूप सत् है और मायिक रूप स्फुरण होता है। मैं जिस भावसे स्थित हुआसा प्रतीत होता हूँ, सकल भूत भी मुझमें उस ही भावसे स्थित हैं। सकल भूतोंकी मुझमें स्थिति मायिक है, परमार्थ भावसे देखाजाय तो मैं उन कल्पित भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। मैं अकल्पित हूँ और सब जीव कल्पित हैं। भूतोंके साथ मेरा कुछ सम्पर्क नहीं है। कल्पित और अकल्पितका योगायोग नहीं होसकता, क्योंकि जिसमें जो अध्यस्त है (जैसे रज्जुमें सर्प अध्यस्त है) उस के गुण दोषके साथ इस वस्तुका कुछ सम्पर्क नहीं हैं रज्जुमें सर्प अध्यस्त होने पर भी सर्पका गुण वा दोष रज्जुको स्पर्श

नहीं करसकता। जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, ऐसे ही मुझ प्रत्यक् आनन्दमें जो सकल भूतोंका भासना है वह भी भ्रम ही है। क्योंकि-मैं चेतन हूँ और सब जड़ हैं, जड़के साथ चेतनका कुछ सम्पर्क नहीं है ॥ * ॥ हे सखे! देख-सत्मात्र है, और जो कुछ स्फुरण होता है वह वास्तविक न होने पर भी भ्रमसे 'मानो है, ऐसा दीखता है कल्पना ही यह जगत् है, कल्पना मुझमें भासती है, यह ठीक है, परन्तु मैं किसी कल्पना में भी नहीं भासता हूँ, वास्तवमें जगत् है ही नहीं, स्फुरण भी कुछ नहीं होता, जो हैं वही हैं। जो कुछ दिखाई देता है वह भ्रम वा स्वप्न है, इसलिये ब्रह्म ही सत्य है, जगत् इन्द्रजाल है ॥ * ॥ जो जगत्को असत्य नहीं कहसकते हैं वे 'अव्यक्तमूर्त्तिना' के अर्थसे तुरीय ब्रह्मको न लेकर मायिक अन्तर्यामी ब्रह्मको लेते हैं। जो अन्तर्यामी हैउसको श्रुति सुषुप्तिका अभिमानी चैतन्य कहती है, यह सुषुप्तिका अभिमानी चैतन्य ही ईश्वर है, यही सर्वज्ञ है, यही अन्तर्यामी है, इससे ही जीवकी उत्पत्ति होती है, इसमें ही जीवका लय होता है। श्रुति कहती है- "यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येऽष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्, 'मत्स्थानि सर्वभूतानि, इसके अर्थमें टीकाकार बलदेव कहते है, कि-"मैं अन्तर्यामी हूँ, मुझमें सकल भूत स्थित हैं। मैं व्यापक, धारण करनेवाला और सर्वोंको नियममें चलाने वाला हूँ। सब भूत मुझमें स्थित हैं अर्थात् सब भूतोंकी स्थिति

मेरे अधीन है। 'न चाहं तेष्ववस्थितः' भूतोंके अधीन मेरी स्थिति नहीं है। इस सकल जगत्में मुझ अन्तर्यामी पुरुषका अंश प्रवेश किये हुए है और वही इसको धारण किये हुए है इनके मतमें जगत् मिथ्या नहीं है किन्तु जगत् ब्रह्मका देह है, सत्य है। जाग्रत जगत् स्वप्न सुषुप्तिमें नहीं रहता है, यह ठीक है, परन्तु प्रवाह क्रमसे नित्य है।,, परन्तु इन टीकाकार को विचार करना चाहिये था, कि–ईश्वर और जगत् एकरूप नहीं हैं। चेतन और जड़ बड़े ही विरुद्ध हैं। प्रकाश और अन्धकार जैसे एकरूप नहीं होसकते तैसे ही चेतन और जड़का एक रूप होना असम्भव है। इसलिये ही जिसको जड़ कहाजाता है वह वास्तवमें इन्द्रजाल होने पर भी अघटनघटनापटीयसी मायाके द्वारा सत्यसा दीखता है। जैसे स्वप्नके समय जो कुछ देखनेमें आता है वह सत्य न होने पर भी जितने समय स्वप्न दीखता रहता है उतने समय सत्यसा प्रतीत होता है, परन्तु स्वप्नभङ्ग होते ही मालूम होता है, कि–मिथ्या है। ऐसे ही जबतक अज्ञान रहता है तबतक जगत् सत्यसा प्रतीत होने पर भी ज्ञानका उदय होने पर जगत्‌रूप स्वप्नभङ्ग होजाता है, उस समय इसका अस्तित्व (नामनिशान) तक नहीं रहता केवल निर्मल ब्रह्ममात्र रहता है, वह ही तुरीय ब्रह्म है, वह ही अव्यक्त मूर्त्ति है। मूर्त्तिका अर्थ है स्वरूप, इसका स्वरूप अव्यक्त है। इस इन्द्रियोंके अगोचर तुरीय ब्रह्मसे मणिकी झलककी समान स्वभावसे जो स्फुरण होता है, वह स्फुरण स्पन्दन वा सङ्कल्प वास्तविक नहीं है, किन्तु है की समान प्रतीतमात्र होता है यह अज्ञानसे ही होता है–मायाके प्रकाशमें ही होता है।

मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं, जो कुछ है की समान प्रतीत होता है, इसलिये जो कुछ अज्ञानकी दशामें स्थित प्रतीत होता है वह ज्ञानकी दशामें स्थित कैसे रह सकता है? इसलिये ही कहता हूँ, कि—मेरी माया मुझमें भौतिक इन्द्रजाल दिखाती है, परन्तु मैं उस भौतिक इन्द्रजालमें स्थित नहीं हूँ। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! आपने जो मुझे ब्रह्मज्ञान का तत्त्व सुनाया, इससे मेरी सद्यःमुक्ति कैसे होगी?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! एकमात्र आत्मा ही है, उस का स्थूल, सूक्ष्म और कारण (अज्ञान) शरीर वास्तविक नहीं है, इसलिये शरीर और मनके सब व्यापारोंमें अश्रद्धा करके तू आत्मस्वरूपमें स्थित हो जा। किसीमें भी आस्था न रख, किसी प्रकार भी विचलित न हो, तू ही परम शान्त आत्मा है, और सब इन्द्रजाल है, मिथ्या है, इन जगत्‌के पदार्थोंका कुछ अस्तित्व है ही नहीं। ऐसा अनुभव करके आत्म-तत्त्वमें स्थिति प्राप्त कर, इस अवस्थाको पानेके लिये ही साधना है। मिथ्याको मिथ्या जान कर त्यागनेके लिये योग भक्ति और ज्ञानमार्गका अनुष्ठान है, अनायासमें ही आत्मपद पाने के लिये वारंवार यत्न कर, इस पदको पाजाना ही सद्यः मुक्ति है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! मुझे और एक बात बूझनी है, जैसे तुम सत् हो तैसे ही तुम चित् भी हो। तुम चित्स्वरूप हो, तुम ज्ञानस्वरूप हो। तुममें सकल भूत स्थित हैं अर्थात् ज्ञानमें सकल भूत दीखते हैं, तुम ज्ञानस्वरूप हो तुम सकल भूतोंको जानते हो, किन्तु सकल भूत ज्ञानस्वरूप आपको नहीं जानते, इस भावसे समझना

क्या ठीक नहीं है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! ज्ञानस्वरूपसे अव्यक्त मैं सब भूतोंको जानता हूँ। सब कुछ जाननेको लोग ज्ञान मानते हैं जगत्को जानना ज्ञान नहीं है। आत्मा से भिन्न और कुछ है, यह जानना तो अज्ञान है। मैं सकल भूतोंको जानता हूँ। यह मायामुक्त तुरीय ब्रह्मके विषयमें नहीं कहा जा सकता। यह मायाधीश ईश्वरके ही विषयमें कहा,जा सकता है। जो स्वरूपसे तो नहीं है परन्तु मायामें है, ईश्वर उसको जानते हैं, परन्तु मायाधीन भूतोंमें ज्ञानस्वरूप ब्रह्म स्थित नहीं है। भूतोंका ज्ञान खण्डज्ञान है,इस खण्डज्ञानमें अखण्डज्ञान नहीं रह सकता। सुषुप्तिका अभिमानी ईश्वर ही सर्वज्ञ है। यह मायाधीश ईश्वर सकल मायिक व्यापारोंको जानता है,परन्तु मायिक भूत उस ईश्वरके स्वरूपको नहीं जानते । तुरीय ब्रह्मके विषयमें भूत कहां हैं? तहां तो भूत कल्पनामात्र हैं, मैं ही सत्य हूँ। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! तो श्रुति जो कहती है, कि-"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।" वारुणि भृगुने पिता वरुणके पास जाकर कहा, कि-मुझे ब्रह्मका उपदेश दीजिये। पिताने कहा, कि-जिससे सकल भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा ठहरे रहते हैं और प्रलयकालमें सब प्राणी जिसमें प्रवेश करजाते हैं, वह ही ब्रह्म है, उसको ही जाननेकी इच्छा कर। इसका तात्पर्य क्या है ? आपने भी कहा है, कि-"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।" यह सब क्या बात है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे !

अरुन्धतीका तारा बड़ा ही सूक्ष्म है, एक वारमें नहीं दीखता इस कारण पहिले पासके बड़े २ ताराओंको दिखाकर कहा जाता है, कि-यही अरुन्धतीका तारा है, जब उस तारे पर दृष्टि जम जाती है तब बतलाया जाता है, कि-यह अरुन्धती नहीं है उसके पासका छोटासा तारा अरुन्धती है। इसप्रकार स्थूलसे सूक्ष्म पर पहुँचनेका नाम अरुन्धतीन्याय है। ब्रह्म पदार्थको जाननेके लिये पहिले तटस्थलक्षणाके द्वारा ब्रह्म को जान अर्थात् जिससे सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है उसको ब्रह्म जान। फिर सृष्टि स्थिति और प्रलयको मायिक वा इन्द्रजाल समझ, मैं मायाके अवलम्बनसे ऐसा स्थूल दीखता हूं परन्तु मैं वास्तवमें सत् चित् आनन्द स्वरूप हूँ, जगत् नहीं हूँ। मेरा परमभाव सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप ही है, जगत् मिथ्या है "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय" यह जो भ्रमरूप जगत्को देख रहा है, इसका उपादान कारण मेरी माया वा शक्ति है। मेरे ऊपर यह मायाका आडम्बर रज्जुके ऊपर साँपके भ्रमकी समान है। अज्ञानी पुरुष कहते हैं, कि-मैं सकल भूतोंका आत्मा हूँ अतः सकल भूतोंमें स्थित हूँ। मिथ्या-कल्पना किये हुए भूतमें सत्यरूप मैं कैसे रह सकता हूँ?। मुझमें यह भ्रम जगत् भासता है सही, किन्तु सरसों के दानेकी समान अतिक्षुद्र जगत्में परिपूर्ण मैं कैसे आ-सकता हूँ?। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! तुरीय ब्रह्मकी बात तो रह ही गयी, जब तुम मायाके आश्रयसे सगुण अन्तर्यामी होते हो उस समय ज्ञानस्वरूप आपके विषैं जगत् रहता है अर्थात् जगत्में जो कुछ है या होगा उसको तुम

जानते हो। ऐसा कहने पर तो भूतोंके संसर्गसे उत्पन्न हुई मलिनता भी आपके विषैं रहनी चाहिये ?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! मैं ही हूँ, नानाप्रकार के आवरणों के कारण नाना रूपका भासता हूँ, परन्तु मूलमें मेरे सिवाय और कुछ नहीं है, सार यह है, कि-भूतोंका कर्मजनित संसर्ग मुझमें नहीं हो सकता। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! इन सकल भूतोंको आपने ही रचा है, तुम ही भूतोंका पालन करते हो और फिर भी तुम सकल भूतोंमें स्थित नहीं हो यह कैसे होसकता है?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! जड़के साथ चेतन का संसर्ग कैसे होसकता है?, यह जो कुछ दीखता है सो सब मेरी मायाका पसारा है। मेरी मायाकी सहायतासे कल्पना-मात्र है। जब तू स्वप्न देखता है, उस समय जो कुछ देखता है वह क्या है ? केवल मन ही अनेकों रूपसे भास जाता है निद्राके भङ्ग होते ही स्वप्न नहीं रहता, ऐसे ही यह जगत् मेरा स्वप्न है, जब इच्छा होती है, इसको गढ़ लेता हूँ और जब इच्छा होती है इसको भङ्ग कर देता हूँ। सब मिथ्या होने पर भी तेरे देहमें जो जीव है-देहात्मज्ञानी जीव समझता है कि-वही इस देहका पालन करता है, वही धारण किये हुए है, परन्तु अहम्भावका त्याग होने पर प्रतीत होता है, कि-जीव देहसे सर्वथा भिन्न है। मैं अहं अभिमानसे शून्य हूँ, इसीसे भूतोंके साथ मेरा संपर्क नहीं है, केवल मैं मायाकी सहायता से सृष्टि स्थिति और प्रलय करता हूँ। परन्तु तू यदि मायिक जगत्‌को मिथ्या नहीं समझ सकता तो यह समझना, कि

में अनासक्त और अभिमानशून्य हूँ इस कारण भूतोंके साथ मेरा कुछ संसर्ग नहीं है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! व्यक्त और अव्यक्तका क्या अर्थ है ?। भगवान्ने कहा, कि हे सखे ! जो जो वस्तु इन्द्रियोंसे ग्रहणकी जासकती है वह वह व्यक्त है और जो इन्द्रियोंके गोचर न होकर अनुमानसे जानी जासकती है वह ही अव्यक्त है ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५॥

अन्वय और पदार्थ

(मे) मेरे (ऐश्वरम्) ईश्वरसंबन्धी (योगम्) योग को (पश्य) देख (भूतानि च) भूत भी (मत्स्थानि) मुझमें स्थित (न) नहीं हैं (मम) मेरा (आत्मा) परम स्वरूप (भूतभृत्) भूतोंको उत्पन्न करनेवाला है (भूत-भावनः) भूतोंका पालन करनेवाला है (च) और (भूतस्थः) भूतोंमें स्थित (न) नहीं है ॥ ५ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! सकल भूत आपके विषें स्थित नहीं हैं, आपका आत्मा भी सकल भूतोंमें स्थिति नहीं करता है, फिर भी तुम सृष्टिको रचते हो और उसका पालन करते हो यह कैसे होसकता है ? और पहिले आप

कह चुके हैं, कि–"मत्स्थानि सर्वभूतानि,, सकल भूत मुझमें स्थित हैं। आपके ऐसा कहनेका क्या अभिप्राय है? । भगवान् ने कहा, कि–हे सखे ! मैं अधिष्ठान चैतन्य हूँ, मैं परिपूर्ण व्यापक सच्चिदानन्द हूँ। यह सब इन्द्रजाल मेरे ऊपर स्फुरण होता है, मुझमें ही भासता है, इसकारण ही तो कहा, कि– "मत्स्थानि सर्वभूतानि" परन्तु कल्पित सब भूत परमार्थतः मुझमें नहीं हैं। मुझ परिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूपमें यह जगत् रूप आडम्बर कहां से आया ?, सुईके जरासे नकुए (छिद्र) में हाथी कैसे चल सकता है ? रज्जुमें सर्पका ज्ञान सर्वथा मिथ्या है। मैं पहिले ही कहचुका हूँ, कि–"मत्स्थानि सर्वभूतानि" सब पसारा मैं ही हूँ, तथापि माया मेरे ऊपर अनेकों आकार के प्राणरूप असंख्यों तरङ्ग फैलाती हैं। मायिक दृष्टिसे सब दीखता है, परन्तु वास्तवमें और कुछ नहीं है, सब मैं ही मैं हूँ। इस अभिप्रायको ही लेकर कहा है कि–'न च मत्स्थानि भूतानि।" वास्तवमें मुझमें कुछ है ही नहीं तो भी जो अनेकों दृश्यं देख रहा है यह सब मेरी मायाकी अघटनघटनाचातुरी है, यह ही मेरा योगैश्वर्य है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! जिसको आप ममात्मा अर्थात् अपना आत्मा कहते हैं वह क्या पदार्थ है ?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! शिर का ही नाम राहु है, उसके और कोई अङ्ग नहीं है तो भी लोग कहते हैं, कि–राहुका शिर। ऐसे ही मैं ही आत्मा रूप हूँ, परन्तु फिर भी कोई २ परमात्माका आत्मा ऐसी कल्पना कर लेते हैं, वास्तवमें मुझसे भिन्न कोई और मेरा आत्मा नहीं है ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ६

अन्वय और पदार्थ

(यथा) जैसे (सर्वत्रगः) सर्वत्र गतिवाला (महान्) बड़ाभारी (वायुः) वायु (नित्यम्) सदा (आकाशस्थितः) आकाशमें स्थित है (तथा) तैसे ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) भूत (मत्स्थानि) मुझमें स्थित हैं (इति) ऐसा (उपधारय) समझ ॥ ६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! इस विषयको आप कोई दृष्टान्त देकर समझाइये । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! जैसे वायु आकाशमें स्थित होता है, परन्तु आकाशके साथ वायुका संसर्ग नहीं होता है, इसी प्रकार आकाश आदि मेरे विषें स्थित हैं, परन्तु मैं असङ्ग हूँ, मुझ असङ्गमें कुछ भी स्थित नहीं है । और एक बात पर ध्यान दे वायु और आकाश दोनोंका ही कोई अवलम्बन नहीं है, केवल मेरा सङ्कल्प ही इनको धारण किये हुए है "तस्य तस्य च निरालम्बतया स्थितिर्मत्स्वरूपादेव प्रवृत्तिश्च" यह श्रुतिने भी कहा है । मैं कहता हूँ कि—मुझमें सकल भूतोंके होते हुए भी मेरे साथ उनका कुछ लगाव नहीं है, क्योंकि—मैं असङ्ग हूँ । अर्जुनने कहा,

कि—हे भगवन् ! आपकी बातें तो बड़ी लपेटकी हैं, आपने एक वार कहा—"मत्स्थानि भूतानि अहं तेषु न अवस्थितः,, फिर कहा—"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्,, इसके बाद फिर कहते हो, कि—'तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि' भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! एक ओर देखता है, कि—जैसे वायु आकाशमें है तैसे ही सकल भूत मुझमें हैं, तो भी मैं निर्लिप्त हूँ। यह सब इन्द्रजाल मेरे ही ऊपर भास रहा है, मेरा सङ्कल्प ही आकाश आदिका अवलम्बन है, परन्तु वास्तव में सकल भूत मेरी मायाके कल्पना किये हुए हैं अतः मिथ्या हैं, इसकारण ही मैं कहता हूँ कि—हैं ही नहीं। मैं तो सत्य-स्वरूप हूँ। माया जिस जगत्को दिखला रही है वह केवल इन्द्र-जाल है, वास्तविक नहीं है। सत्य वस्तुमें मिथ्या नहीं रह सकता। वास्तविक नहीं है तो भी अज्ञानीको मालूम होता है, कि—है। इसकारण ही कहता हूँ कि—यह मेरा ऐश्वर्य है। अर्जुनने कहा' कि—हे भगवन् ! चन्द्रमा, सूर्य, वायु और मृत्यु आदि सब ही मायिक हैं तो फिर श्रुति इन मायिक पदार्थोंको लेकर इतनी व्याख्या क्यों करती है ? मिथ्या वस्तुओंकी आलो-चना करनेसे क्या लाभ है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! "भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च-मृत्युर्धावति पञ्चमः।,, (तै० २।७) इस श्रुतिके कथन पर ही ध्यान देकर तू कहता है, कि--उसके भयसे वायु चलता है, उसके भयसे सूर्य उदय होता है, उसके ही भयसे अग्नि, चन्द्रमा और पांचवां मृत्यु इधर उधर दौड़ा फिरता है। सुन—वेद जैसा पर-

ब्रह्मके विषयमें कहता है तैसा ही मायाके विषयमें भी कहता है। ब्रह्मके सत्भाव और स्फुरणभाव दोनोंको ही लेकर वेद चलता है। सत्भाव स्वरूप है और स्फुरणभाव रूप मायाको त्याग कर सत्भावमें स्थित होना ही परमार्थ है। ब्रह्म जब अपने स्वरूपमें स्थित होता है उस समय सृष्टि नहीं रहती। माया को अङ्गीकार करने पर ही सृष्टि होती है, माया ही स्फुरण-भाव है। मायाके अवलम्बन पर ही ब्रह्म सर्वदा अपने स्वरूप में रहकर भी सगुण ब्रह्मरूपमें विवर्त्तित होता है। जो तुरीय है वह परम शान्त है। उसमें किसी प्रकार का चलन नहीं होता है, उसमें कोई उपाधि भी नहीं होती है। फिर मायाका अव-लम्बन होने पर वह सुषुप्तिके अभिमानी चैतन्यस्वरूपमें विव-र्त्तित होता है। यह सुषुप्तिका अभिमानी चैतन्य ही प्राज्ञ पुरुष है, यह ही ईश्वर है, यह ही अन्तर्यामी है, यह ही सृष्टि स्थिति और प्रलय करने वाला है, यह ही सगुण ब्रह्म है, यह ही मायाधीश है सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु और मृत्यु इस के ही समीपमें अपना २ काम करते हैं। "मेघोदयः सागर-संनिवृत्तिरिन्दोर्विभागः स्फुरणानि वायोः। विद्युद्विभङ्गो गतिरूष्मरश्मेर्विष्णोर्विचित्राः प्रभवन्ति मायाः ॥" मेघका उदय, समुद्रका मर्यादामें रहना, चन्द्रमाका घटना बढ़ना, वायु का स्फुरण (धीरेसे या वेगसे चलना,) विजलीका चमकना और सूर्यका पूर्वसे पश्चिमको जाना आदि सब विष्णुकी विचित्र माया है ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति

मामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन (कल्पक्षये) कल्पके अन्त में (सर्वभूतानि) सकल भूत (मामिकाम्) मेरी (प्रकृतिम्) प्रकृतिको (यान्ति) पाते हैं (पुनः) फिर (कल्पादौ) कल्पकी आदिमें (अहम्) मैं (तानि) उनको (विसृजामि) रचता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! जैसे वायु आकाशमें रहता है तैसे ही मरुत् व्योम आदि सकल भूत स्थितिकाल में तो मानों आपमें रहे, परन्तु प्रलय काल में क्या ये कहीं और रहते हैं? इनका लय कैसे होता है और इनकी फिर सृष्टि कैसे होती है?। भगवान्ने कहा, कि—सखे अर्जुन ! आदिमें सच्चिदानन्द परिपूर्ण परमशान्त एक मैं ही रहता हूँ। मणिकी झलक की समान सत्मणिकी झलक स्वभावसे उठती है ऐसा प्रतीत होता है, उससे ही मैं सगुणकी समान विवर्त्तित होता हूँ और अपनी मायाके द्वारा सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करता हूँ। सृष्टि और स्थितिके समय मैं सकल भूतोंसे पृथक् रहता हूँ "न चाहं तेष्ववस्थितः,, । प्रलयकालमें भी सकल भूत मेरी शक्तिके प्रभावसे कल्पित मेरी प्रकृतिमें लीन रहते हैं ।

मेरी प्रकृति वा मायासे जगत् प्रकाशित होता है। माया सत्त्व रजः तमः गुणकी समष्टि है, सकल भूत अपनी कारणरूप मायामें प्रविष्ट होते हैं और मेरी प्रकृति मुझमें लीन होजाती है। शक्ति नाचती नाचती अपने उत्पत्तिस्थानमें पहुँचकर परमशान्त सच्चिदानन्द सत्स्वरूपको स्पर्श करती है, उस समय ही प्रलय होती है। फिर सृष्टिका समय आनेपर "एकोऽहं बहु स्याम्" मैं एक बहुत होजाऊँ, ऐसे सङ्कल्पमात्रसे ही मैं अपनी मायाके द्वारा, मायामें सोयेहुए संस्काररूपसे स्थित सकल भूतोंको अनेकों रूपोंमें रचता हूँ। मैं सत् हूँ, स्फुरण अर्थात् मायाको सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कहसकते। सृष्टिका व्यापार इस मायाके द्वारा ही होता है। माया स्पन्दनमात्र है। स्पन्दन जब मुझमें से उठकर मुझे ही ढकता हुआ सा भासने लगता है तब ही सृष्टि होती है और जब माया उलटा नाच नाचती हुई मुझे स्पर्श करती है उस समय ही प्रलय होती है॥ ७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि
पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्न-
मवशः प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(स्वाम्) अपनी (प्रकृतिम्) प्रकृतिको (अवष्टभ्य) वशमें करके (प्रकृतेः) प्रकृतिकी (वशात्) सामर्थ्यसे (अवशः) विवश (इमम्) इस (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (भूत-

ग्रामम्) भूतसमूहको (पुनः पुनः) वार वार (विसृजामि) रचता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! तुम तो असङ्ग निर्विकार हो, तुम सृष्टि क्यों करते हो, और किसकी सृष्टि करते हो ? जो एक और निर्विकार है वह बहुत कैसे होता है ? आपके ऐसा कहनेका क्या अभिप्राय है ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! मेरे चार पादोंको सदा स्मरण रख । जाग्रत्का अभिमानी वैश्वानर, स्वप्नका अभिमानी तैजस, सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ, पुरुष, ईश्वर, अन्तर्यामी, सृष्टि स्थिति प्रलयका कर्त्ता और अभिमानशून्य तुरीय मेरे ये चार रूप हैं। तुरीय अवस्थामें सृष्टि नहीं है, ईश्वर अवस्थामें ही सृष्टि आदि है। श्रुति कहती है–"मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि ।,, इसको याद रख । अर्जुन–यह तो बताइये, कि–आप सृष्टि किस लिये करते हैं? । भगवान्–तू नहीं जानता कि सृष्टिका क्या प्रयोजन है। अर्जुन–क्या आप अपने भोगके लिये सृष्टि करते हैं ? । भगवान्–मुझमें तो भोक्तापन है ही नहीं मैं तो पूर्ण हूँ, मुझे कोई कमी है ही नहीं फिर भोगकी इच्छा ही कैसे होसकती है ? । अर्जुन–तो क्या इस सृष्टिको किसी दूसरेके भोगके लिये रचा करते हो ? । भगवान्–केवल मैं ही चैतन्य हूँ और सब ही जड़ हैं, जड़को भोग होता ही नहीं । अर्जुन तो क्या मुक्ति पानेके लिये यह सृष्टि है? । भगवान्–मैं नित्य-मुक्त हूँ, चैतन्यको बन्धन होता ही नहीं, मैं असङ्ग हूँ, जब

बन्धन ही नहीं तो मुक्ति किसको होगी ?। अर्जुन—तो यह सृष्टि किस लिये है ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! मेरे निजस्वरूप तुरीय अवस्थामें सृष्टि नहीं है । जब मैं मायाके अवलम्बनसे ईश्वरभावमें विवर्त्तित होता हूँ तब ही सृष्टि होती है मैं मायाको वशमें रखता हूँ, परन्तु माया दर्पणमें जो मैं प्रतिविम्ब डालता हूँ वह स्वरूपसे कुछ न होने पर भी चेतनस्वरूप मेरा प्रतिविम्ब होनेके कारण खण्ड जीवरूपसे मायामें ही भासता है । ये सब जीव मायाके वशमें होकर नानाप्रकारके कर्म करता है । ये प्राचीन कर्मवासनाके प्रभाव से राग द्वेषके वशमें होजाते हैं, इसकारण मैं जितनी वार प्रकृतिको ग्रहण करता हूँ उतनी ही वार इस जीवपुञ्जको भी रचता हूँ, इस कारण यह सब सृष्टि मायिक है । रज्जुमें सर्पके भ्रमकी समान तू भ्रमको ही देख रहा है। यह मेरा भलेप्रकार सजाया हुआ इन्द्रजालमात्र है, जो कुछ देख रहा है यह सब स्वप्नकी समान कुछ देरके देखने भरको है स्वप्नमें तेरा मन न जाने क्या क्या देखता है, परन्तु वह सब मिथ्या ही होता है । ऐसे ही मेरा सङ्कल्प भी न जाने कितनी रचनायें करता है वह सब भी मायाका खेल है । यदि तू स्वरूपको जानना चाहता हो तो समझले कि—यह सब जगत् स्वप्नरूप है । यह सब कल्पना कहिये मेरी मायाके द्वारा रचा हुआ है । मैं निर्विकार और रज्जुके टुकड़ेकी समान अचल हूँ, मेरे ऊपर कल्पनाके द्वारा—मेरी मायाके द्वारा यह इन्द्रजाल दीख रहा है जो सकल भूत संस्काररूपसे मेरी मायामें लीन रहते हैं उन

को ही रचता हूँ। जैसे माया इन्द्रजाल है तैसे ही सकल भूत भी इन्द्रजाल हैं। जैसे स्वप्नमें देखी हुई नगरी मिथ्या होती है तैसे ही यह जगत् भी मिथ्या है। मैं तुरीय ब्रह्मभाव में आकर भी अपनी अचिन्त्यशक्तिको अपने वशमें रखता हूँ शक्तिके द्वारा क्रीड़ा होने पर भी मेरा जो सकल सङ्गसे रहित-पनेका स्वभाव है उसमें अन्तर नहीं पड़ता है। मैं सदा निःसंग रहकर भी सङ्कल्पमात्रसे मायाके द्वारा इस जगत्को रच देता हूँ अथवा माया मेरे ऊपर क्रीड़ा करते २ मुझमें महाविचित्र सृष्टिकी रचना करती है लोग अज्ञानवश कहते हैं, कि-मैं करता हूँ, मैं तो निःसङ्ग सर्वदा शान्त और सत् चित् आनन्द स्वरूप हूँ, मैं तो कुछ करता ही नहीं हूँ, कहीं जाता भी नहीं हूँ। मेरी माया मेरी समीपतासे जगत्की सृष्टि करती है, अज्ञानसे अन्धा हुआ जीव मायाके कामोंको मुझमें आरोपण कर बैठता है। मेरा ईश्वरभावको ग्रहण करना भी इस माया-कार्यका आरोपमात्र है ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय । उदासीनवदासीन-मसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(धनञ्जय) हे अर्जुन (उदासीनवत्) उदासीनकी समान (आसीनम्) वर्त्तमान (च) और (तेषु) तिन

(कर्मसु) कर्मोंमें (असक्तम्) आसक्तिरहित (माम्) मुझ को (तानि) वह (कर्माणि) कर्म (न) नहीं (निबध्नन्ति) बन्धनमें डालते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! अनेकों प्रकारके कर्म करनेके कारणसे जीवको उनके फलाफलके वशमें होना पड़ता है और कर्मपाशमें बँधकर जीवको नानाप्रकारकी दशाओंके चक्करमें पड़ना होता है। इसी प्रकार आप भी सृष्टि आदि व्यापारमें अनेकों प्रकारके कर्म करते हैं तो फिर आप जीव की समान कर्मफलके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते हैं? तथा आप रचे हुए सकल भूतोंको अनेकों प्रकारका ऊँचा नीचा फल देते हो इस विषमताके कारण आपको धर्माधर्मका सम्बन्ध क्यों नहीं होता है?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! सृष्टि आदि व्यापारके कर्म मुझे करने तो अवश्य पड़ते हैं परन्तु उनके कारणसे मुझे पाप पुण्यका भागी नहीं होना पड़ता है क्योंकि-वह सब मिथ्या हैं, जो मिथ्या हैं, जो मिथ्या को मिथ्या जानता है उसको बन्धन कैसे होसकता है। यदि मेरा वृक्ष लता पशु पक्षी आदि नाम धर लो तो क्या मैं वृक्ष लता आदि होजाऊँगा? भ्रममें पड़े हुए मनुष्य नामरूप को सत्य कहते हैं, परन्तु मैं उनको मिथ्या जानता हूँ, इस मायिक व्यापारमें मैं उदासीनकी समान रहता हूँ। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! एक वार फिर बतलाओ, आप कहते हो, कि-मैं वार २ सृष्टि आदि कर्म करता हूँ, परन्तु उस कर्म

से मैं बन्धनमें नहीं पड़ता हूँ। जीव कर्म करते ही सुख वा दुःखका अनुभव करता है इसलिये जीव बद्ध होता है। जिस में न सुख होता है न दुःख होता है उस अवस्थाको उदासीन अवस्था कहते हैं। तुम कर्म भी करते हो और उससे तुमको सुख वा दुःख कुछ भी नहीं होता, इसलिये तुम उदासीन हो, परन्तु तुम तो अपनेको उदासीन न कहकर उदासीनकी समान कहते हो, इसका क्या अभिप्राय है सो स्पष्ट करके समझाइये ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! कर्म मुझे बन्धन में नहीं कर सकता, कर्म करके यदि सुखका या दुःख अनुभव होय तब ही कर्मका बन्धन होता है, मुझे तो कुछ भी नहीं होता, इस लिये ही बन्धन भी नहीं होता है। क्योंकि– मैं इन सब कर्मोंमें उदासीन नहीं किन्तु उदासीनकी समान रहता हूँ। जहां दो जने आपसमें विजय पानेकी इच्छासे कुश्ती लड़ते होते हैं, तहां तमाशा देखनेके लिये खड़े हुए दर्शकोंके मनमें स्वभावसे ही उन लड़ते हुए पुरुषोंके हारने जीतनेके कारणसे प्रसन्नता और दुःख हुआ करता है, परंतु उन दर्शकोंमेंसे यदि निष्पक्ष उदासीन पुरुष उन दोनोंकी कुश्तीको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है, जैसे उसको उस लड़ाई में एकके जय और दूसरेके पराजयके कारणसे कुछ हर्ष शोक नहीं है, तैसे ही मेरा भी निजपक्ष वा परपक्ष कोई नहीं होता है। मुझमें सब शक्ति है, सुख दुःखका अनुभव करनेकी शक्ति भी है, तो भी मैं सदा अपने आनन्दस्वभावमें रहता हूँ, इस कारण आत्माके अतिरिक्त जो कुछ भी है उन सब अनात्म-

पदार्थोंको मिथ्या जानकर उनकी उपेक्षा करता हूँ, इसकारण मैं उदासीनकी समान हूँ। अनात्मामें मेरी आसक्ति नहीं है, मैं आत्मरति और आत्मक्रीड हूँ, इसीसे आत्माके अतिरिक्त मायिक व्यापारमें उदासीनसा रहता हूँ। अर्जुनने कहा, कि हे भगवन् ! तुम तो सृष्टिके कर्त्ता हो, देवताओंको केवल सुख-भोगी, पशुओंको केवल दुःखभोगी और मनुष्योंको सुख दुःख दोनोंका भोगी करके तुमने सृष्टिको रचा है, इससे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि–तुम देवताओंसे प्रेम करते हो, पशु आदिकों से घृणा करते हो तब तो आपमें विषमदृष्टिपनेका और निर्दयीपनेका दोष आगया, फिर आप उदासीनकी समान कहां रहे ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! सत्व रज और तमोगुणवाली मेरी प्रकृति मेरी समीपतासे विषमताको प्राप्त होती है तब ही सृष्टिका व्यापार होता है। सृष्टिकी तरङ्गके अहं पर्यन्त पहुँचजाने पर जो चैतन्य अहं अभिमान करके परिच्छिन्नसा होजाता है वही जीव है। ये जीव ज्यों ज्यों प्रकृतिमें अभिमान करते हैं त्यों २ बन्धनमें पड़ते चले जाते हैं। बन्धनमें पड़ा हुआ जीव सकल गुणोंमें अभिमान कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता है, इस विषयमें जीव स्वाधीन है, यह शक्ति मैंने उसको देदी है। जीव मेरी दीहुई शक्तिसे काम लेय या न लेय यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। इतना कर सकनेके कारण ही जीव सर्वथा जड़ नहीं है। मैं कर्त्ता न होकर भी करता हूँ क्योंकि–प्रकृतिमें लीन हुआ जीव मेरी समीपतामें ही अपने २ कर्मको भोगते हैं। देख मेघ भले बुरे सब ही बीजोंके ऊपर समान भावसे जल बरसाता है,

उस जलकी वर्षासे जो जैसा बीज है उससे तैसा ही फल उत्पन्न होता है। बबूलके वृत्तके बीजसे बबूलका वृत्त और आमके बीजसे आम का वृत्त उत्पन्न होता है आमके बीजके ऊपर मेघका प्रेम नहीं और बबूलके बीजसे द्वेष नहीं है, इसलिये भला वृत्त उत्पन्न हुआ या बुरा वृत्त उत्पन्न हुआ इसके लिये मेघको दोष नहीं दिया जासकता। इसी प्रकार जीवोंके विषयमें विषमता वा निर्दयताका दोष मुझको नहीं लग सकता, इस कारण ही मैं उदासीनकी समान हूँ ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥ १० ॥

अन्वय और पदार्थ

(कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन (अध्यक्षेण) नियन्तारूप (मया) मेरे द्वारा (प्रकृतिः) माया (सचराचरम्) स्थावर जङ्गमरूप सकल जगत्को (सूयते) उत्पन्न करती है (अनेन) इस नियन्तापनरूप (हेतुना) हेतुसे (जगत्) संसार (विपरिवर्त्तते) अनेकों प्रकारसे प्रवृत्त होता है ॥ १० ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! आप कहते हैं, कि-मैं ही इस विश्वव्यापारकी रचना मायाकी सहायतासे करता हूँ और फिर कहते हो कि-मैं उदासीनकी समान स्थित हूँ, यह

दोनों बातें तो परस्पर विरुद्ध और असङ्गतसी मालूम होती हैं। अर्जुनके इस सन्देहको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं, कि-हे सखे! मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ, और मैंने यह जो कहा, कि-"मैं सृष्टिको रचता हूँ, इसके अर्थका स्थूल-भावसे समझनेमें तो तू बड़े संदेहमें पड़ जायगा, इसलिये इस तत्त्वको जरा सूक्ष्म विचारसे समझनेकी आवश्यकता है। मेरी सहायतासे वा मेरी अध्यक्षतामें मेरी अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणात्मिका अनिर्वचनीया माया इस चराचर अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डकी रचना करती है, मैं तो साक्षीरूप अविकारी आत्मा हूँ। श्रुति भी कहती है-"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च।" (श्वेता० ६। ११) अर्थात् एक देवता सकल भूतोंमें गूढ़रूपसे विद्यमान है, वह सर्वव्यापी सकल भूतोंका अन्तरात्मा है, वह है इसलिये ही सकल भूत आत्मवान् हैं, वह ही सकल कर्मोंका अध्यक्ष, सकल भूतोंका अधिवास, साक्षी, सबोंको चेतनता देनेवाला केवल कहिये सकल उपाधियोंसे शून्य और सत्त्व आदि गुणों के पार है। व्यक्त अव्यक्त रूप जगत्को माया वार २ रचती है और फिर मेट देती है, मैं निर्लेप द्रष्टारूप हूँ, परन्तु सृष्टिरचना में मेरी अध्यक्षताकी आवश्यकता है, यदि मैं उपस्थित न होऊँ तो माया कुछ नहीं कर सकती, इसी लिये कहा है, कि-मैं सृष्टि भी करता हूँ और उदासीन भी हूँ, इसमें विरोधकी कौन बात है और असङ्गत ही क्या है? मैं अद्वितीय साक्षीरूपसे सर्वत्र अधिष्ठित हूँ, सबका अध्यक्ष चैतन्यमात्र हूँ, मैं स्वयं

किसी फलको नहीं भोगता हूँ और न किसीको सुख दुःख ही देता हूँ, सब अपने २ कर्मोंके अनुसार नानाप्रकारके सुख दुःखोंके अधीन होरहे हैं, इसलिये मेरे ऊपर उसका कुछ दायित्व नहीं है। मूढ पुरुष मेरे इस परमभावको न जान कर मोहसे ग्रस्त होजाते हैं, यही बात पीछे पांचवें अध्यायमें कही जाचुकी है, कि—"नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥" प्रकृति सृष्टिको रचती अवश्य है परन्तु मुझ परमात्मा के अधिष्ठानके विना माया एक पत्तेको भी नहीं हिला सकती, सृष्टिरचनामें प्रकृतिको अधिष्ठानमात्रकी अपेक्षा है, मेरी समीपतामात्रसे ही मेरा अधिष्ठानपना सिद्ध होजाता है। इस लिये सृष्टिरचनामें मेरे कर्त्ता होकर भी उदासीन होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि—सृष्टिके कामका निर्वाह प्रकृति के द्वारा होता है, मैं तो निर्लिप्तभावसे समीपमें अधिष्ठित रहता हूँ। मेरे विना प्रकृति सृष्टिकी रचना नहीं कर सकती, बस सृष्टिके साथ मेरा इतना ही संबन्ध है, इसलिये मैं कर्त्ता होकर भी उदासीनकी समान हूँ, यह बात असङ्गत नहीं है। जैसे सिंहासनका अधिष्ठाता राजा विद्यमान न हो तो उसकी प्रकृति (मंत्री आदि) कुछ काम नहीं कर सकती, ऐसे ही मेरे समीपमें न होने पर प्रकृति भी अपना कुछ काम नहीं कर सकती। देखो अम्बरीष आदि कितने ही ऐसे राजे होगये हैं जो विषयभोगसे अत्यन्त उदासीन रहते थे इस कारण उनकी प्रकृति कहिये मंत्री आदि ही सब राज-

काज करते थे, परन्तु राजसिंहासनके ऊपर उनकी सत्ता थी तब ही मंत्री आदि सकल कामोंको चला सकते थे। यदि उन राजाओंका संबन्ध न होता अथवा उनका अधिष्ठानमात्र न होता तो मंत्री आदि प्रकृतिमण्डल कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसे ही जड़ प्रकृति भी मुझ परमेश्वरकी अधिष्ठानरूप अध्यक्षतासे शून्य होकर कुछ काम नहीं कर सकती। मेरे उदासीनकी समान रहने पर भी मेरा अधिष्ठान होने से ही यह जगत् वार वार उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ११

अन्वय और पदार्थ

(भूतमहेश्वरम्) सकल भूतोंके महान् ईश्वर (मम) मेरे (परम्) उत्तम (भावम्) तत्त्वको (अजानन्तः) न जानते हुए (मूढाः) अविवेकी पुरुष (मानुषीम्) मनुष्योंकेसे (तनुम्) शरीरको (आश्रितम्) ग्रहण किया है जिसने ऐसे (माम्) मुझको (अवजानन्ति) निन्दा करते हैं ११

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! जव आप साक्षात् ईश्वर हैं तो लोग आपकी अवज्ञा क्यों करते हैं? भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन! मैं मनुष्यशरीरको धारण करता हूँ

और मनुष्यकेसे कर्म करता हूँ इस लिये अज्ञानी पुरुष मेरे परमभावको न जाननेके कारणसे साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं। जिनका अन्तःकरण भ्रान्तिसे ढक रहा है,वह इस बातको नहीं समझते, कि—मैं योगमाया के बलसे मनुष्यरूपको धारण करता हूँ। भक्ति शास्त्र और मेरे भक्त जिसको लक्ष्य करके कहते हैं, कि—"गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गं" "परं ब्रह्म नराकृतिः" यह सब केवल भक्तोंके ऊपर अनुग्रह दिखानेके लिये है। राम कृष्ण आदि माया-मानुष रूपोंको धारण करने पर भी मैं ही किसप्रकार सबके घट २ में समारहा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सकल प्राणियोंका महेश्वर हूँ, इस सूक्ष्मभावको वह अपनी बुद्धिमें धारण नहीं कर सकते, इस कारण ही मूढ पुरुष मेरा अनादर करते हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! आप अपने परमभावका वर्णन एक वार और स्पष्टरूपसे समझाइये, भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! आत्मतत्त्व ही मेरा परमभाव है, यह आकाशकी समान वा आकाशसे भी अन्तरतम है। परमभाव एक है, क्षुद्र क्षुद्र भाव बहुतसे हैं। तू जो इस कृष्णमूर्तिको देखरहा है, यह वही परमभाव भक्तको दिखानेके लिये आकारवाला होगया है। भाव तो कभी दीखता ही नहीं है, भावका कोई नाम वा रूप भी नहीं है। परन्तु नाम रूपके विना मेरे भक्त मेरी धारणा नहीं कर सकते, इसलिये भावमें ही नाम रूपकी कल्पना है। सत् चित् आनन्द यह मेरा स्वरूप है और सृष्टि, स्थिति प्रलयकी सामर्थ ही मेरी शक्ति है। इनके एकत्र होजाने पर—शक्ति और शक्तिमान्के एकत्र मिल जाने पर जो

अखण्ड पदार्थ है वही परमभाव है, परन्तु जब इसको सत्त्व रजः तमः ये तीनों गुण ढक लेते हैं तब मैं जीवभाव को धारण करता हूँ। यह जीवभाव बहुत है, क्योंकि—प्रकृतिमें बहुत्व है। राम कृष्ण शिव पार्वती आदिमें जो परमभावको नहीं देखता है वह चिरकालतक इस संसारचक्रमें भटकता रहता है ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

अन्वय और पदार्थ

(मोघाशाः) मिथ्या आशावाले (मोघकर्माणः) मिथ्या कर्मवाले (मोघज्ञानाः) मिथ्या ज्ञानवाले (विचेतसः) अविचारी (राक्षसीम्) राक्षसी (च) और (आसुरीम्) आसुरी (एव) भी (मोहिनीम्) मोहमें डालनेवाली (प्रकृतिम्) प्रकृतिको (श्रिताः) आश्रय किये हुए हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जो आपको मानते नहीं किन्तु आपकी निन्दा करते हैं उनकी क्या गति होती है ?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! जो मेरी निन्दा करते हैं उनको किसी प्रकार भी ज्ञानरूप प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती है किन्तु वह रातादिन अपने कर्मदोषसे पापका पुञ्ज

ही बढ़ाया करते हैं, वह समझते हैं मुझ सर्वान्तर्यामीको छोड़कर और देवताओंकी उपासनासे शीघ्र फल पाजायँगे, परन्तु मुझे भूलकर किसी देवताकी भी उपासना उनको फल नहीं देसकती। वह तो निरन्तर नरकमें ही रहनेके योग्य होते हैं। मुझ परमात्माकी आराधनाके विना और कोई कर्म अभीष्टफल नहीं देसकता। इसलिये जो मुझसे विरोध करते हैं वा मेरी निन्दा करते हैं उनकी आशा किसी कर्मके भी अनुष्ठानसे सफल नहीं हो सकती, वह अग्निहोत्र आदि चाहे जितने यज्ञ करें सब निष्फल होते हैं, उनका ज्ञान निरर्थक और निन्दनीय होता है, क्योंकि–उनका वह ज्ञान मुझ ईश्वरकी विरोधी कुतर्कोंसे भरे ग्रन्थोंसे पाया हुआ होता है। ऐसा ज्ञान केवल विडम्बना ही कराता है। वह पुरुष मेरी निन्दा और अवज्ञा करने के कारण से विवेक और विज्ञान से भ्रष्ट होकर भ्रममें अन्धे हों जाते हैं॥ १२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे अर्जुन (दैवीम्) दैवी (प्रकृतिम्) प्रकृतिको (आश्रिताः) आश्रय करके रहने वाले (अनन्यमनसः) अनन्य मनवाले (महात्मानः–तु) महात्मा तो (माम्) मुझको (भूतादिम्) भूतोंका कारणरूप (अव्ययम्) नाशरहित (ज्ञात्वा) जानकर (भजन्ति) भजते हैं॥ १३॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा कि–हे भगवन्! उनकी ऐसी उलटी बुद्धि होनेका और प्रत्यक्ष सत्यका विरोध करनेका क्या कारण है?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! उनको मेरे परमभावका ज्ञान नहीं होता, इस कारण जिसमें शास्त्रसे निन्दित हिंसा द्वेष रूप तमोगुण भरा हुआ है, जिसमें धर्मशास्त्रसे निन्दित राक्षसों केसा निन्दित भोगानुराग भरा हुआ है जो उत्तम ज्ञान और विवेकका नाश करनेवाली है ऐसी नीच प्रकृतिका आश्रय लिये रहते हैं, ऐसी मोहमें डालनेवाली प्रकृतिके कारणसे वह हतभाग्य देहको ही आत्मा मानने लगते हैं। उसको काट डालूँगा, उसको मार डालूँगा, खूब मद्य पीऊँगा, उत्तम स्वादु भोजन खाऊँगा, उसका स्थान छीन लूँगा ऐसे २ चीत्कार करते हुए बड़े ही घृणित कामोंमें अपने समयको विताते हैं। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! जो आपकी अवज्ञा नहीं करते हैं उनकी क्या गति होती है?। भगवान्ने कहा, कि हे सखे! अनेकों जन्मोंमें इकट्ठे किये हुए पुण्योंके फलसे जिनके हृदयमें कामनाओंको स्थान नहीं मिलता है वह सब महात्मा दैवी प्रकृतिको पाते हैं अर्थात् वह शम दम दया श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त होते हैं, वह मुझे सकल भूतोंका कारण और अविनाशी जानकर एकाग्र चित्तसे मेरी ही उपासना करते हैं। अनेकों जन्मोंके पुण्यफलसे लोग गुरु और शास्त्रके विश्वासी होते हैं, वे ही मेरे स्वरूपको जान कर मेरे भक्त होते हैं॥ १३॥

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते १४

अन्वय और पदार्थ

(सततम्) निरन्तर (माम्) मुझको (कीर्त्तयन्तः) कीर्त्तन करते हुए (च) और (यतन्तः) यत्न करते हुए (च) और (दृढव्रताः) दृढ़ व्रतवाले होकर (माम्) मुझ को (नमस्यन्तः) प्रणाम करते हुए (भक्त्या) भक्तिके साथ (नित्ययुक्ताः) नित्य सावधान चित्तवाले होकर (उपासते) उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जो तुम्हारे भक्त हैं तुम्हारे परमभावमें श्रद्धा रखते हैं वह किस प्रकारकी साधना करते हैं ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! जो दैवी प्रकृतिको पागये हैं वह मेरे परमभाव परोक्ष ज्ञानमें जान कर जिस साधनके द्वारा अपरोक्ष ज्ञानको पाते हैं और सद्यः-मुक्त होते हैं, वही मैं तुमसे कहूँगा, यह मैंने तुमसे कहा था "इदं ते गुह्यतमं" इत्यादिको याद कर । इनके लिये दोनों भौंके मध्यमें प्राण लेजाकर सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा प्राणोत्क्रमणके अनन्तर अर्चिरादि मार्गसे गमन, फिर ब्रह्मलोकमें गमन आदि परम कल्याणकारी है, क्योंकि—मेरे सत्त्वगुणी भक्त

ऐसे कालविलम्बको नहीं सहसकते, उनकी सद्यः मुक्ति होने की यह रीति है-(१) ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाकर ब्रह्म-विचारको श्रवण करे (२) शेष समयमें प्रणवजपके द्वारा वेदान्त विचारसे उत्पन्न हुए भावकी वार वार आवृत्ति करे (३) वेदान्तके अनुकूल तर्कके द्वारा संशय और विपर्ययको एक साथ जड़मूलसे उखाड़ कर निरन्तर मेरे स्वरूपको धारण करनेका यत्न करता रहे। (४) फिर शारीरिक, मानसिक और वाचिक कामोंसे किसीमेंसे अनिष्ट न हो इसके लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों का दृढ़तासे पालन करे। (५) गुरुरूप, इष्टदेवतारूप, मुझ सगुण ब्रह्मको शरीर वाणी और मनसे प्रणाम करे। साथ २ स्मरण, मेरी लीलाओंका चिन्तवन, मेरा अर्चन, वन्दन, दासभाव और मुझको आत्मनिवेदन, भक्तिके प्रकार का आश्रय लेय (६) सदा परमभक्तिसे मुझ प्राणेश्वरमें जुटा रहे। इन छः प्रकारोंमेंसे पहिले दो प्रकारोंके द्वारा श्रवण मनन होता है और शेष चार प्रकारोंके द्वारा और सब प्रकारके विजातीय प्रत्यय दूर होजाते हैं, चित्तमें सजातीय प्रत्ययोंका प्रवाह बहने लगता है अर्थात् सांसारिक विषयवासनायें दूर होकर आत्मविचारके अनुकूल भावोंकी धारा बहने लगती है, तब साधक निरन्तर अनन्यचित्त होकर मेरा स्मरण करते हैं। इसप्रकार वेदान्तवाक्योंने जिनका वर्णन किया है ऐसे मेरे परमभावमें दृढ़ निदिध्यासन होजाने पर साधक जिस भाव की उपासना करता है वही भाव प्राप्त होता है। उस समय

'अहं ब्रह्मास्मि' वा 'तत्त्वमसि' आदि अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है और एक साथ सकल अज्ञान दूर होकर सद्यः मुक्त होजाता है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! जो आपके राम कृष्ण आदि नामोंका जप करते हैं, भक्तिमें भरकर तुम्हारे विग्रहकी पूजा करते हैं, जहाँ कहीं भी तुम्हारी मूर्त्ति मिल जाती है उसको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं, सच्चे भक्तको पाकर तुम्हारे भावका आस्वादन करते हैं और सत्सङ्गमें आपके स्वरूप का अनुभव करते हैं, तुम्हारी आदिके चिन्तवनकी दृढ़ चेष्टा करते हैं, एकादशी जन्माष्टमी रामनवमी आदिके व्रत रखते हैं और देश काल शुद्धि अशुद्धिकी ओरको ध्यान न देकर हर समय तुम्हारा नाम लेते रहते हैं, ऐसे प्राणियोंको जविन्मुक्ति की प्राप्ति होगी या नहीं ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! ऐसे भक्तोंकी मुक्ति क्यों नहीं होगी ?, ऐसी भक्तिकी साधना से भी अज्ञान दूर होकर भगवद्भावकी प्राप्ति होती है। ज्यों ही भगवद्भाव अपना हुआ कि—सब दुःख दूर होकर परमानन्दकी प्राप्ति होजाती है। भगवान्—अक्षय, अव्यय, जन्म—मरणरहित, ज्ञान और आनन्दस्वरूप हैं, उनका चिन्तवन जब भक्तको ऐसे ही आकारमें ढाल देता है, उसी समय भगवत्स्वरूपके साथ अपना स्वरूप एक है ऐसा ज्ञान होजाता है, परन्तु भक्त उस समय सेवकभाव रखना चाहता है, इसकारण हरि होकर भी हरि हरि कहनेमें ही उसका प्रेम होता है। और एक बात है, ऐसी भक्ति इस जीवनमें पाऊँगा वा सौ जन्ममें पाऊँगा, इसकी कुछ परवाह नहीं करता है।

जीवन्मुक्ति हो चाहे न हो, इससे वह घबड़ाता नहीं है, वह तो भावको पाते ही सन्तुष्ट होजाता है। भक्तिमार्गमें प्राण चले जाने पर भी मैं ऐसे भक्तोंकी सकल अभिलाषाओंको पूर्ण कर देता हूँ। मेरे भक्त प्रल्हादने जो कुछ कहा है उस को सुन–"यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति। यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्। मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्मरतिर्गतत्रपः। तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्वभावभावानुकृताशयाकृतिः। निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥" जब परमानन्दके कारणसे शरीरके रोमाञ्च खड़े होजायँ नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहनेलगे गद्गद स्वरसे कभी रोवै और कभी नाचने लगै, ग्रहबाधा वाले मनुष्यकी समान कभी हँसै और कभी डकराने लगै, कभी जिसको देखै उसको ही प्रणाम करने लगै, वारं वार गहरे श्वास भरै, लज्जाको छोड़ चिल्ला २ कर हे हरे! हे नारायण! हे जगत्पते! इसप्रकार रटना लगावै, उस समय मनुष्य मुक्त होकर भगवद्भावको पाता है, उस समय प्रबल भक्तिके कारण से उसके अज्ञानका नाश होजाता है, यह ही उस भक्तकी भगवत्प्राप्ति है॥ १४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

अन्वय और पदार्थ

(अपि च) और (अन्ये) दूसरे (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञान-यज्ञके द्वारा (यजन्तः) पूजा करते हुए (माम्) मुझको (उपासते) भजते हैं [तेषाम्, केचित्] उनमेंसे कोई (एकत्वेन) अभेदभावनाके द्वारा [केचित्] कोई (पृथक्त्वेन) भेदभाव रखकर [केचित्] कोई (विश्वतोमुखम्) सर्वात्मा [माम्] मुझको (बहुधा) अनेकों रूपोंसे [उपासते] उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जिनमें श्रवण मनन और निदिध्यासनकी शक्ति है, उनकी साधना तो आपने कही, परन्तु जो इस साधनाको नहीं कर सकते, वह आपकी उपासना किस प्रकार करते हैं ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! दूसरे प्रकारके साधक उत्तम मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारके हैं, ये सब ही ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी उपासना करते हैं । उनमें जो उत्तम हैं वह कहते हैं, कि—"त्वम्वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" अर्थात् तुम और मैं समान हैं, इस ज्ञानका नाम अहंग्रहोपासना ज्ञान है । इसके द्वारा ईश्वरका भजन होता है, इस कारण इसका नाम यज्ञ है, इसके कितने ही प्रकार भेद हैं । उपास्य और उपासकका अभेद है इस चिन्तवनके द्वारा यह एकत्वसे उपासना करते हैं । जो मध्यम उपासक हैं वह उपास्य और उपासक में भेद जानकर प्रतीकोपासना नामक यज्ञके द्वारा मेरी उपा-

सना करते हैं और जो मन्द अधिकारी हैं वह अनेकों देवताओंकी उपासना में लगकर जिसको देखते हैं उसको ही परमात्मा समझकर उपासना करते हैं। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! जो सद्यः मुक्त होना चाहते हैं उनकी उपासना "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" है, यह बात पहिले कहचुके हो। जो ऐसा नहीं करसकते वह ज्ञानयज्ञके द्वारा तुम्हारी उपासना करते हैं। इन यज्ञोपासकोंको आपने तीन प्रकारका बताया। मैं ही श्रीकृष्ण हूँ, ऐसी भावनारूप जो उपासना है वह अहंग्रहोपासना है। श्रुति कहती है, कि–"देवो भूत्वा देवानप्येति" अर्थात् भावनाके बल से देवाभिमानी होकर देवताको प्राप्त होता है। इसका नाम है एकत्व भावसे उपासना दूसरी पृथक्भावसे उपासना है, उसमें उपास्य और उपासकका भेद होता है। तीसरी उपासना आपने यह बतायी, कि–तुम ही विश्वरूप हो, इसलिये सब ही देवताओंकी उपासना करनी चाहिये, यह नीची श्रेणीके उपासकोंका मत है, आपने यही तो तीन प्रकारकी बात कही है ?, परन्तु यह तो बताइये, कि–इन सब उपासकोंकी उपासनाकी रीति ज्ञानयज्ञ क्यों कहलाती है ?। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे! प्रथम श्रेणीके उपासकोंको जितना ज्ञान होता है, दूसरी श्रेणीके उपासकोंको उनसे कम ज्ञान होता है और तीसरी श्रेणीके उपासकोंको उनसे भी कम ज्ञान होता है। जबतक पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तबतक अज्ञान दूर नहीं होसकता, अपरोक्ष

(साक्षात्) ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। उसमें कमी रहनेसे कुछ ना कुछ अज्ञान रहकर अवश्य ही कुछ ना कुछ दुःख रहजाता है। सकल अज्ञानका मूल अहम् ऐसा बोध है। जिनका अहम् फैलकर 'अहं ईश्वरः' मैं ईश्वर हूँ, यहांतक पहुँचगया है, उनका देहमें अहंबोध और दृश्य (दीखनेवाली) वस्तु का अनुभव यह दोनों प्रकारका निकृष्ट अहङ्कार छूटगया है। और जिनको अहंबोध है तथा एक ईश्वर ही मेरा उपास्य है ऐसा बोध भी है, उनका अहं बोध भी अधिक रहा, परन्तु समस्त ही ईश्वर है, मैं समस्तका उपासक हूँ, इस बोधमें अहं की मात्रा तो अधिक है, किन्तु आत्मदर्शनके अनन्तर जब मोहनिद्राका भङ्ग होजाता है उस समय आत्माका लम्बा स्वप्न भी भङ्ग होजाता है, जाग्रत् होकर अपना स्वरूप जो ज्ञान और आनन्द है केवल वही रहजाता है। इसमें अहं बोध होता ही नहीं, केवल ज्ञान और आनन्दका ही प्रवाह होता है, शक्तिमान्में उसकी अपनी शक्ति लीन होगयी है, समुद्रमें कोई तरङ्ग उठती ही नहीं। शान्त परिपूर्ण आनन्द स्वरूपमें कोई प्रकारका चलन वा सृष्टि है ही नहीं यही जीवन्मुक्ति है। और दैववश ब्रह्मसमुद्रमें तरङ्ग उठरही है, उस समय जीवन्मुक्त जानता है, कि—मैं स्वयम् ही अपनी शक्ति के द्वारा क्रीड़ा कररहा हूँ। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! यह तो बताइये, कि—सर्वसाधारणके लिये चित्तशुद्धिके निमित्त कौनसे प्रकारकी उपासना श्रेष्ठ है ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! "विद्यातपःप्राणनिरोध मैत्रात्यर्थाभिषेकव्रतदानजाप्यैः। नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥"

अर्थात् भगवान्को हृदयमें धारण करनेसे जैसी चित्तशुद्धि होती है तैसी विद्या, तप, प्राणायामसाधन, व्रत, दान, जप आदि और किसीसे नहीं होती ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौ-षधम् । मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमह-मग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (क्रतुः) वेदोक्त यज्ञ हूँ (अहम्) मैं (यज्ञः) स्मृतियोंमें कहा हुआ यज्ञ हूँ (अहम्) मैं (स्वधा) पितरोंके निमित्त दिया हुआ अन्न हूँ (अहम्) मैं (औषधम्) औषध हूँ (अहम्) मैं (मन्त्रः) शास्त्रमें देवताओं के लिये उच्चारण करनेको बताया हुआ वाक्य आदि हूँ (अहम् एव) मैं ही (आज्यम्) घी हूँ (अहम्) मैं (अग्निः) हवि छोड़नेका स्थान रूप अग्नि हूँ (अहम्) मैं (हुतम्) होम हूँ ॥ १६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आपने प्रसङ्गसे अनेकों प्रकारकी उपासनाकी बात कही, परन्तु वह सब आपकी ही उपासना कैसे है ? भगवान्ने कहा कि-हे सखे ! मेरे विना तो जगत्में किसी वस्तुका अस्तित्व है ही नहीं, मुझे लेकर ही जगत्में सब आत्मवान् हैं अर्थात् अपने स्वरूपमें दीख-रहे हैं, इसलिये इस जगत्में जो कोई जो कुछ अनुष्ठान उपा-

सना करेगा वह सब मुझे ही प्राप्त होगा, वेदमें लिखा अग्नि-ष्टोमादि यज्ञ तथा वैश्वदेव यज्ञ मैं ही हूँ, स्वधा कहिये पितृ-लोकके लिये अन्नदान और सकल प्राणियोंके खानेका अन्न वा औषध मैं ही हूँ, जिसको बोलकर हवि दियाजाता है वह स्वाहा आदि मन्त्र भी मैं ही हूँ, होमका साधन घृत अग्नि और हवि अर्पण करना रूप होम कर्म भी मैं ही हूँ, जब सब मैं ही हूँ तो विश्वतोमुखी उपासना उचित ही है ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता
पितामहः । वेद्यं पवित्रमोङ्कार
ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (अस्य) इस (जगतः) जगत्का (पिता) उत्पन्न करनेवाला हूँ (माता) माता हूँ (धाता) कर्मफल देनेवाला हूँ (पितामहः) पिताका भी पिता हूँ (वेद्यम्) जानने योग्य हूँ (पवित्रम्) पावन हूँ (ओङ्कारः) प्रणव हूँ (ऋक्) ऋक् हूँ (साम) साम हूँ (च) और (यजुः एव) यजुर्वेद भी हूँ ॥ १७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आप और कौन २ रूप हैं ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! व्यष्टि और समष्टि रूप सब जगत् मुझसे ही उत्पन्न होता है इसकारण मैं जगत

का पितारूप हूँ, जैसे माता सन्तानको अपनी कोखमें धारण करती है तैसे ही मैं जगत्को धारण किये हुए हूँ इसकारण मैं जगत्की माता-रूप हूँ। मैं ही कर्मानुसार फल देकर सब प्राणियोंका पोषण करता हूँ इसकारण मैं जगत्का धाता हूँ। सब जगत्को रचने वाले ब्रह्माको मैंने ही उत्पन्न किया है, इसकारण मैं जगत्का पितामह हूँ। संसारमें मुझे जानलेने पर फिर कुछ जाननेके लिये शेष नहीं रहता है, इसकारण एकमात्र मैं ही जगत्में जानने योग्य हूँ। जगत्में गङ्गाजल गायत्री जप आदि जितने पदार्थ हैं सब मेरा स्वरूप हैं, इसकारण मैं पवित्र हूँ। ब्रह्मज्ञानके जितने उपाय हैं उनमें ॐकारका जप ही श्रेष्ठ है वह ॐकार मैं ही हूँ. ऋक्, साम, यजु और अथर्ववेद मैं ही हूँ, सार यह है, कि-जगत्में सर्वत्र सब कार्यों में मैं विश्वेश्वर विश्वरूप ही विराज रहा हूँ। परम दयालु पितारूपसे मैं ही सबकी रक्षा करता हूँ, परमस्नेहमयी जननी रूपसे मैं ही सर्वत्र अमृतकी धारायें वहाता हूँ. मैं ही पुण्यका अनुष्ठान और मैं ही पुण्यका साधन हूँ तथा मैं ही ज्ञान और मैं ही ज्ञातव्य हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः
शरणं सुहृत् । प्रभवः प्रलयः
स्थानं निधानं वीजमव्ययम् १८

अन्वय और पदार्थ

[अहम्] मैं (गतिः) कर्मका फल (भर्त्ता) भरण

करनेवाला (प्रभुः) स्वामी (साक्षी) देखनेवाला (निवासः) भोगका स्थान (शरणम्) रक्षक (सुहृत्) हितकारी (प्रभवः) रचनेवाला (प्रलयः) संहार करनेवाला (स्थानम्) आधार (निधनिम्) लयका स्थान (बीजम्) कारण (अव्ययम्) अविनाशी [अस्मि] हूँ ॥ १८ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! जगत्के साथ आपका और कितने प्रकारका सम्बन्ध है ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! मैं इस जगत्की गति कहिये कारण हूँ, मैं ही प्रकृति के लय पर्यन्त कर्मफल रूप हूँ, कोई कुछ भी करो अन्तिम गति मैं ही हूँ, चाहे जितना इन्द्रजाल फैलता चलाजाय, जो इसको गति है, तरङ्गकी गति समुद्रके सिवाय क्या और कुछ है ? । भरणपोषण करते हैं वही भर्त्ता हैं। कर्म फल देकर मैं ही पोषण करता हूँ, इसलिये भर्त्ता हूँ । मैं प्रभु कहिये स्वामी हूँ अर्थात् यह सब मेरा है इसप्रकार स्वीकार करनेवाला हूँ अथवा मेरे ही प्रभावसे सूर्य चन्द्रमा आदि अपना २ कार्य करते हैं इसकारण मैं स्वामी हूँ । मैं अन्तर्यामी रूपसे सबके अन्तःकरणोंमें विद्यमान हूँ और सकल प्राणी अशुभ जो कुछ करते हैं उस सबको देखता हूँ, इसकारण मैं साक्षी हूँ। सकल भूत मुझमें ही निवास करते हैं इसलिये मैं निवास हूँ अथवा कार्य कारणरूप सकल प्रञ्चका अधिष्ठान होनेसे होनेसे मैं निवास हूँ । आर्त्त पुरुष विपत्तिमें पड़ते ही मुझे पुकारते हैं तो मैं उनके सकल दुःखोंको दूर कर आंसू पोंछ देता

हूँ इस कारण मैं शरण कहिये आर्त्तिहर कहलाता हूँ। बदले में उपकारकी आशा न रखकर लोकोंका उपकार करता हूँ इस कारण मैं सुहृत् हूँ। मुझसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है, इस कारण मैं प्रभव हूँ, मुझसे ही जगत्का संहार होता है इस कारण प्रलय हूँ। मुझमें ही सकल जगत् स्थित रहता है इस कारण स्थान हूँ। प्रलय होनेके अनन्तर भी सकल जीव सूक्ष्म बीजरूपसे मुझमें रहते हैं इसकारण मैं निधान हूँ और जगत्का अविनाशी बीज मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च। अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुन) हे अर्जुन (अहम्) मैं (तपामि) ताप देता हूँ (अहम्) मैं (वर्षम्) वर्षाको (निगृह्णामि) खेंचता हूँ (च) और (उत्सृजामि) छोड़ता हूँ (अहम्-एव) मैं ही (अमृतम्) जीवन (च) और (मृत्युः) मृत्यु (च) और (सत्) स्थूल दृश्य (च) और (असत्) सूक्ष्म अदृश्य [अस्मि] हूँ १६

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! आप और कौन २ से रूपसे विराजमान हैं। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! मैं गरमियोंमें सूर्यरूपसे जगत्को ताप देता हूँ, और उस तापके

द्वारा मैं ही पृथिवी परसे पहिले गिरे हुए वर्षाके जलको खेंच लेता हूँ और वर्षाकालमें आषाढ़से लेकर चार महीने वर्षारूप से मैं ही भूमि पर जल सींचता हूँ। मैं शुभ कर्म करनेवालों के लिये अमृत कहिये जीवनरूप हूँ और मैं ही दुष्कर्म करने वालेके लिये भयानक मृत्युरूप हूँ। जिसके लिये जो विद्यमान है तहां वही सत् है और जिसके लिये जो नहीं है तहां वही असत् है। सत् और असत् दोनों मैं ही हूँ। तू जिस समय जगत्को देखता है, यह जितनी देर दीखता है उतने समय स्वरूपसे असत् होने पर भी तेरे लिये सत् है और भूत भविष्यत् जो कि-तेरे लिये विद्यमान नहीं है वह असत् हैं। आत्मा रूपसे मैं सत् हूँ और मेरा यह शरीर अनित्य जगत् रूपसे व्यक्त है इसकारण मैं असत् हूँ। हे सखे ! इस जगत्में सब कुछ मैं ही हूँ, सर्वात्मारूप मेरे भावको जानकर साधक पुरुष अपने २ अधिकारके अनुसार ज्ञानयज्ञके द्वारा नाना प्रकार से मेरी उपासना करते हैं ॥ १६ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम-श्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्

अन्वय और पदार्थ

(त्रैविद्याः) वेदत्रयीमें कहेहुए कर्ममें परायण पुरुष (यज्ञैः)

अग्निष्टोम आदि यज्ञोंके द्वारा (माम्) मुझको (इष्ट्वा) पूज कर (सोमपाः) यज्ञशेष सोमको पनिवाले (पूतपापाः) जिनके पाप धुलगये हैं ऐसे [सन्तः] होते हुए (स्वर्गतिम्) स्वर्गमें जानेकी (प्रार्थयन्ते) प्रार्थना करते हैं (ते) वह साधक (पुण्यम्) पुण्यफलरूप (सुरेन्द्रलोकम्) देवेन्द्रके लोकको (आसाद्य) पाकर (दिवि) स्वर्गमें (दिव्यान्) दिव्य (दिव्यभोगान्) देवताओंके भोगोंको (अश्नन्ति) भोगते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! ज्ञानयज्ञके द्वारा एकत्व वा बहुत्वरूपसे जो आपकी उपासना करते हैं वह सब निष्काम हैं और चित्तशुद्धि होकर क्रमसे मुक्ति पाते हैं, परन्तु सकाम-भावसे भी आपसे आपकी उपासना होसकती है या नहीं ? भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! जो कामनाओंके वशमें होकर पीछे लिखीहुई किसी भी रीतिसे उपासना न करके अपनी २ कामनाके अनुसार उन कामनाके साधनरूप काम्यकर्ममात्रका ही अनुष्ठान करते हैं वह अन्तःकरणकी शुद्धिसे होनेवाले ज्ञान साधनके अधिकारी नहीं होते हैं, इसलिये उनको सदा जन्म मरणके वशमें पड़कर संसारके दुःखोंका अनुभव करना पड़ता है, यही बात आगेके दो श्लोकोंमें दिखाई है । ऋक् साम और यजुर्वेदमें बताये हुए अग्निष्टोम आदि यज्ञ करने वाले पुरुष मेरी वसु रुद्र आदित्य आदिरूपसे उपासना करते हैं । ऐसे यज्ञोंसे मुझे सन्तुष्ट करके वह यज्ञसे बचेहुए सोमरस को पीते हैं । ऐसे अनुष्ठानसे वह स्वर्ग में जानेमें रुकावट डाल-

नेवाले पापसे छूटजाते हैं, ऐसे निष्पाप पुरुष कामनाके वशमें होनेके कारण चित्तकी शुद्धिसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्ति के उपायको न खोजकर भोग सुखदायक स्वर्गलोकमें जानेकी अभिलाषा करते हैं । वह पुण्योंके फलरूप देवराज इन्द्रके लोकमें पहुँच कर मनुष्योंको न मिल सकनेवाले, देवताओंके भोगने योग्य दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गता-
गतं कामकामा लभन्ते २१

अन्वय और पदार्थ

(ते) वह सकाम पुरुष (तम्) उस (विशालम्) बड़े भारी (स्वर्गलोकम्) स्वर्गलोकको (भुक्त्वा) भोगकर (पुण्ये) पुण्यफलके (क्षीणे) न्यून होजाने पर (मर्त्य-लोकम्) इस पृथिवी पर (विशन्ति) आजाते हैं (एवम्) इसप्रकार (त्रयीधर्मम्) तीनों वेदोंमें बताये हुए काम्य कर्म को (अनुप्रपन्ना) आग्रहके साथ करते हुए (कामकामाः) भोगोंको चाहनेवाले पुरुष (गतागतम्) आवाजाईको (लभन्ते) पाते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! आपने कहा, कि–सकाम

कर्म करनेवाले पुरुष पुण्यफलसे स्वर्गलोकको पाते हैं, सो यह तो बड़ी उत्तम बात है, इसमें बुराई ही क्या है ?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! बुरा नहीं होता यदि चिरकालतक भोग होता यदि स्वर्गकी प्राप्ति अक्षय होती। यह ठीक है, कि—वह कामनावाले वेदविहित यज्ञादिका अनुष्ठान करनेवाले सकाम पुरुष, अपने २ काम्य कर्मसे उत्पन्न हुए पुण्यफल के द्वारा बड़ेभारी स्वर्गलोकको पाकर तहांके देवताओंके भोगने योग्य पदार्थोंको भोगते हैं, परन्तु उनका वह स्वर्गीय भोग देनेवाला पुण्य चिरकाल तो नहीं रहसकता, नियमित समय के अन्तमें उसका क्षय अवश्य ही होजाता है, उस समय उनके उस स्वर्गीय शरीरका पात होजाता है और उनको फिर नया शरीर धारण करनेके लिये इस पृथिवी पर आना पड़ता है, इसलिये फिर गर्भवास आदि रूप न जाने कितने दुःखोंके अधीन होना पड़ता है, इस प्रकार मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करके वह वेदत्रयीमें बताये हुए कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। इसप्रकार कर्ममार्गकी अधीनताकी फांसीमें बँधकर उन भोगोंकी इच्छाओंके वशीभूत हुए मनुष्य निरन्तर केवल आवाजाई ही किया करते हैं, वह कर्मानुष्ठानके फलसे स्वर्ग-लोक पाते हैं और स्वर्गको भोगनेके अन्तमें फिर पृथिवी पर जन्म लेते हैं, फिर केवल सकाम कर्मोंमें ही समयको विता कर स्वर्गमें जाते हैं, और फिर लौट आते हैं इसप्रकार वह निरन्तर आवाजाईकी डोरीमें बँधकर गर्भ-वास आदिके दुःखप्रवाहमें गोते खाते रहते हैं।

पहिले जो पञ्चाग्निविद्याकी रीति कही है, उस ही क्रमसे सकाम कर्मी पुरुष स्वर्गमें जाकर फिर भूतल पर आजाते हैं। श्रुति कहती है, कि–"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥" अर्थात् सोलह यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण, यजमान और उसकी पत्नी इन अठारहके द्वारा होनेवाले यज्ञ आदि अदृढ़ कर्मका जो आश्रय लेते हैं उन मूढ़मतियोंको फिर जरा मरणके वशमें होना पड़ता है और वह संसारचक्रसे नहीं छूटने पाते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अनन्याः) जिनका और कोई उपास्य वा कामनाका विषय नहीं है ऐसे (माम्) मुझको (चिन्तयन्तः) चिन्तवन करते हुए (ये) जो (जनाः) पुरुष (परिउपासते) मेरी उपासना करते हैं (नित्याभियुक्तानाम्) नित्य मुझमें ही निष्ठा रखने वाले (तेषाम्) उनके (योगक्षेमम्) अप्राप्तकी प्राप्तिरूप योगको और प्राप्तकी रक्षारूप क्षेमको (अहम्) मैं (वहामि) पहुँचाता हूँ ॥ २२ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आपने सकाम कर्मियों

के कर्म फलकी बात तो कही, परन्तु जो निष्कामकर्मी वा भक्त हैं उनको कौनसी सिद्धि प्राप्त होती है ? भगवान् ने कहा, कि—हे सखे ! जो मुझे आत्मभाव से जानकर मेरी उपासना करते वह सर्वदा मुझमें ही लगे रहते हैं इस कारण मेरी समान ही होजाते हैं। इस पर अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन् ! एकान्त भगवन्निष्ठ और सर्वथा कामनाशून्य, स्वयं सकल प्रयत्नों से शून्य उन महापुरुषों की जविनयात्रा के लिये जिन आवश्यक पदार्थोंकी कमी पड़ती है वह उन को कैसे मिलती हैं ! । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! ऐसे सदा ध्यानमें मग्न रहनेवाले महात्माओंकी जीवनयात्राके निर्वाहके लिये मैं ही ध्यान रखता हूँ, उनके शरीरकी रक्षाके लिये जिन २ अप्राप्य वस्तुओंकी आवश्यकता होती है उन को मैं पहुँचा देता हूँ और जिन २ प्राप्त पदार्थोंकी रक्षाकी आवश्यकता होती है उनकी रक्षा भी मैं ही कर देता हूँ। उनको कोई भी कामना न होने से वह अपने योगक्षेम के निर्वाह की प्रार्थना भी नहीं करते हैं तो भी मैं स्वयं उनके प्रयोजन आदिकी ओरको दृष्टि रखकर आवश्यक पदार्थों का प्रबन्ध कर देता हूँ। मैं सातवें अध्याय में भी कहचुका हूँ कि—प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।,,तथा आगे १७ वें अध्याय में भी बताऊँगा, कि—" उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥ " अर्थात् मैं ज्ञानियोंको बड़ा ही प्यारा हूँ। और ज्ञानी मुझे प्यारे हैं। सब ही भक्त श्रेष्ठ हैं परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मारूप है, इस लिये ऐसे सर्वथा

भगवन्निष्ठ ज्ञानियोंके सकल अभावोंको मैं पूरा करदेता हूँ, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। अर्जुनने कहा,कि–हे भगवन्! आप तो पुण्यात्मा, पापी, साधु, असाधु,ज्ञानी,अज्ञानी सबों के ही योगक्षेमका निर्वाह करते हो, आपकी कृपाके विना तो किसीका जीवन रह ही नहीं सकता चींटीसे लेकर हाथी पर्यन्त सब ही शरीर धारण और रक्षा के विषय में आपके अधीन हैं, क्योंकि–आप विश्वम्भर हैं, फिर आप यह क्यों कहते हो, कि–मैं केवल अनन्य भावसे निष्काम भक्ति करने वालोंका ही योगक्षेम करता हूँ ?। भगवान् ने कहा कि–हे सखे अर्जुन ! इसका उत्तर तो सहज में ही समझमें आसकता है, और प्राणियोंमें तो प्रयत्न उत्पन्न करा देता हूँ उसके द्वारा उनका कार्य सिद्ध होजाता है, परन्तु अनन्य भाव से नित्य मुझमें ही मग्न रहनेवाले भगवन्निष्ठोंको तो प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता है ऐसे ही उनके योगक्षेमका प्रबन्ध होजाता है। जैसे गृहस्थ अकातरता के साथ अपने कुटुम्ब के भरण पोषणका भार उठाता है,जैसे पुरुष परमप्रसन्न मनसे अपनी प्रियाका पालन लालन करता है तैसे ही मैं भी अपने भक्तोंको भोजनादि पहुँचाता हूँ और उनकी रक्षा करता हूँ। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आप सरीखे परम आराध्य इष्टदेवके ऊपर अपने निर्वाह और रक्षाका भार रखनेसे तो उन भक्तोंकी प्रेमशून्यता सिद्ध होती है। भगवान् ने कहा, कि–हे सखे ! वह भक्त मेरे ऊपर अपना भार नहीं रखते हैं, किन्तु मैं अपनी इच्छासे इस भारको अपने ऊपर

लेता हूँ। वह तो जीवन, मरण, सुख, दुःख आदि सब ही बातोंमें उदासीन होते हैं, मैं स्वयं ही उन भक्तोंके प्रेममें बँधकर उनके योगक्षेमके भारको अपने ऊपर लेता हूँ, इसमें भक्तोंका कुछ अपराध नहीं है। इसके सिवाय हे सखे! जिस की वासनासे जीवोंकी स्थिति की रक्षा होती है, जिसकी इच्छा-मात्रसे सकल वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है, ऐसा मैं यदि अपने भक्तोंके पालन और रक्षाका काम अपने ऊपर लेलूँ तो क्या वह मेरे लिये भार होसकता है ? कदापि भार नहीं मालूम होसकता, इस कामसे तो मुझे बड़ी ही प्रसन्नता होती है, यह भक्तोंका नहीं, मेरा अपना काम है ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्ध-यान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन ! (श्रद्धया) आस्तिक बुद्धि से (अन्विताः) युक्त (भक्ताः) भक्त [सन्तः] होतेहुए (ये) जो (अन्यदेवताः–अपि) और देवताओंको भी (भजन्ते) भजते हैं (ते–अपि) वह भी (अविधिपूर्वकम्) विधिहीनता से (माम्–एव) मुझको ही (यजान्ति) पूजते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! यदि आपके सिवाय

और कुछ है ही नहीं तब तो चाहे जिसकी पूजा करो, उस के फलमें भेद नहीं होना चाहिये ? । भगवान्‌ने कहा, कि हे सखे अर्जुन ! भेदबुद्धि ही फलके भेदका कारण है । जो श्रद्धाके साथ आस्तिकताकी बुद्धि रखकर ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके द्वारा इन्द्रादि देवताओंका पूजन करते हैं वह भी मेरे ही भक्त माने जाने योग्य हैं, क्योंकि-मैं ही उनके पूजे हुए तिस २ देवताके रूपमें स्थित हूँ, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, इस प्रकार सकल देवताओंकी पूजा प्रकारान्तरसे मेरी ही पूजा सिद्ध होती है, परन्तु उनकी यह पूजा गौणरूपसे मेरी पूजा होने पर भी वास्तवमें वह विधिपूर्वक नहीं है, किन्तु अज्ञानके साथ होती है, क्योंकि-मैं सर्वात्मा हूँ, इस बातको न समझ कर वह इन्द्रादि को मुझसे भिन्न देवता मानते हुए उनकी पूजा करते हैं, इससे उनकी बड़ीभारी अज्ञता सिद्ध होती है । इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण आदि जो कुछ भी है सो सब मैं ही हूँ । यह साधारण ज्ञान जिनको नहीं है वह निःसन्देह अज्ञानी हैं, इसलिये अज्ञानियोंकी अन्य देवताकी पूजाको अविधिपूर्वक पूजा कहना होगा, जिस विधिके अनुसार पूजा करने पर आवागमन रूप अशुभ फल दूर होता है वह ही विधिपूर्वक पूजा है, अन्य अविधिपूर्वक है ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(हि) क्योंकि-(सर्वयज्ञानाम्) सकल यज्ञोंका (भोक्ता) स्वीकार करनेवाला (च) और (प्रभुः-एव) फल देने वाला भी (अहं एव) मैं ही [अस्मि] हूँ (तु) किन्तु (ते) वह अन्य देवताओंका पूजन करनेवाले (माम्) मुझको (तत्त्वेन) यथावत् (न) नहीं (अभिजानन्ति) जानते हैं (अतः) इस मेरे स्वरूपको न जाननेके कारणसे (च्यवन्ति) संसारमें गिरते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आपने पहले श्लोकमें कहा है, कि-जो और देवताओंका पूजन करते हैं वह भी वास्तवमें मेरा ही पूजन करते हैं, परन्तु वह पूजन अविधिपूर्वक है, कहिये उस अविधिपूर्वक पूजनका क्या फल होता है ? । भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! वेद और स्मृतियोंमें जितने प्रकारके यज्ञोंके करनेकी विधि है, मैं भगवान् वासुदेव उन सब यज्ञोंमें पूजे जानेवाले देवताके रूपसे अधिष्ठित हूँ और उन यज्ञोंमें तिन पूजनीय देवताओंके उद्देश्यसे जो घृत सोमवल्लीका रस आदि दिया जाता है उस सबका भोक्ता मैं ही हूँ । मैं अन्तर्यामी रूपसे यज्ञ करनेवाले यजमानकी अभिलाषाको जानकर उसको यथोचित फल देता हूँ । इसलिये मैं ही सकल यज्ञोंका प्रभु अर्थात् स्वामी हूँ । जो दूसरे देवताओं के उपासक हैं अर्थात् जो यज्ञ आदि कर्मोंके द्वारा इन्द्र रुद्र आदि देवताओंको प्रसन्न करना चाहते हैं, उन सब यज्ञोंमें

मैं भगवान् वासुदेवरूप ही भोक्तारूपसे और प्रभुरूपसे स्थित होता हूँ, इस बातको वह नहीं जानते हैं। किसी प्रकारकी उपासना भी भगवान्के सिवाय और कहीं जाकर नहीं पहुँचती है, यह ज्ञान भी उनको नहीं होता है। इसप्रकार मेरे स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण तत्त्वदृष्टिसे शून्य उन अन्य देवताओंके उपासकोंको वारंवार संसारमें आना और जाना पड़ता है, वह पीछे कही हुई रीति से धूम आदि मार्ग में होकर देवलोकमें जाते हैं और तहाँ के सकल भोगोंको भोग चुकने पर भोगजनक कर्मोंका क्षय होजाने के कारण फिर मनुष्यशरीरको धारण करनेके लिये मृत्युलोकमें लौटकर आते हैं। परन्तु जो यज्ञ आदिको करते समय भी उन यज्ञादिका देवता मुझ भगवान् वासुदेव के सिवाय और कोई नहीं है, ऐसा जानते हैं और जो सकल क्रियाओंमें सर्वान्तर्यामी, सकल फलोंके दाता मुझ श्रीभगवान्का ही अधिष्ठान देखते हैं वह मुझ भगवान्को सकल कर्म अर्पण करने वाले महात्मा, अर्चिरादि देवयान मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर सम्यग् दर्शनको पाते हैं और क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं। जो अविधिपूर्वक भगवद्भजन करते हैं वह जिस २ देवताकी उपासना करते हैं उस उस देवताको ही परमेश्वर मान बैठते हैं। वह जब सूर्यकी उपासना करते हैं उस समय सूर्यको ही सकल फलोंका दाता मानकर उससे ही इच्छित फलकी कामना करते हैं। वह सूर्यको ही परमेश्वर मानते हैं, इस कारण ही उनके चित्तमें ऐसा भ्रम उत्पन्न होजाता है। सूर्य परमेश्वर नहीं है,

किंतु परमेश्वर ही सूर्य है तथा मैं परमेश्वर ही उपासकको सूर्योपासनाका इच्छित फल देकर कृतार्थ करता हूँ, ऐसा मेरा अभिज्ञानरूप तत्त्व ज्ञान न होनेके कारण वह उपासक फिर संसार में ही आपड़ते हैं, परन्तु जो सूर्य आदि रूपसे विश्वतोमुख भगवान्‌की ही आराधना करते हैं और ऐसा ही निश्चितरूप से जानते हैं वह मुक्त होजाते हैं, सब श्रीभगवान्‌की ही विभूति है ऐसे ज्ञानके साथ मेरी सूर्य आदि विभूतियोंकी उपासना करनी चाहिये, उन विभूतियोंको परमेश्वर जानना कदापि उचित नहीं है ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम्

अन्वय और पदार्थ

(देवव्रताः) देवताओंको पूजनेवाले (देवान्) देवताओंको (यान्ति) प्राप्त होते हैं (पितृव्रताः) पितरोंको पूजनेवाले (पितॄन्) पितरोंको (यान्ति) प्राप्त होते हैं (भूतेज्याः) भूतोंको पूजनेवाले (भूतानि) भूतोंको (यान्ति) प्राप्त होते हैं (अपि) और (मद्याजिनः) मेरा पूजन करने वाले (माम्) मुझको (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! आपने अविधिपूर्वक

उपासना और उसके फलको तो समझाया, परन्तु यह तो बताइये, कि—वह अविधिपूर्वक उपासना होती कितने प्रकार की है ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! वह अविधिपूर्वक उपासना तीन प्रकारकी है—सात्विक, राजस और तामस । जो सात्विक उपासना करते हैं वह देवव्रत होते हैं अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य और इन्द्र आदि देवताओंकी उपासना करते हैं, वह बलि नैवेद्य आदि सामग्रीके साथ देवताओंकी पूजामें बड़े प्रेमके साथ लगे रहते हैं, उन देवपूजकोंको देव-लोक मिलते हैं । श्रुति कहती है "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" अर्थात् जिस २ भावसे उपासना करते हैं तद्रूप ही होजाते हैं । जो राजसी उपासना करते हैं वह पितृव्रत हैं अर्थात् शास्त्रमें कही हुई रीतिके अनुसार अटल भावसे श्राद्ध आदि क्रियाके द्वारा पितरोंकी उपासनामें मग्न रहते हैं वह उपासक पितृलोकमें पहुँचते हैं । जो तामसी उपासना करते हैं वह भूतपूजनमें लगे रहते हैं अर्थात्—यक्ष राक्षस आदि भूतपूजा करते हैं, उन उपासकोंको भूतलोक मिलते हैं । परन्तु जो मेरी पूजामें लगे रहते हैं अर्थात् जो तत्त्वज्ञानको पाजानेके कारण सकल देवताओंमें परमात्माका दर्शन करके भगवान्‌की आराधना करते हैं, वह परमानन्दरूप मुझको ही प्राप्त होते हैं । मुझ परमात्माकी आराधनासे जो फल प्राप्त होता है वह असीम अक्षय और अनन्त धारासे बहता हुआ होता है । तथा अन्य देवताओंकी उपासनासे जो फल प्राप्त होता है वह बहुत ही साधारण नाशवान् औरसीमा (हद्द) के भीतर बँधा हुआ होता है । जो परम हतभाग्य होते हैं वह

ही इस दीखते हुए परम सत्यमें चित्तको ठहरानेमें असमर्थ होकर भगवत्पूजन रूप सन्मार्गसे भ्रष्ट होजाते हैं तथा अन्य देवताओंकी पूजारूप कुमार्गका अवलम्बन लेकर तुच्छ फलके अधिकारी होते हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! जो अन्य देवताओंके उपासक हैं वह तो उन देवताओंके लिये लिखी हुई पूजनविधि के अनुसार ही उन देवताओंकी पूजा करते हैं, उसमें उनका क्या दोष है ?। इन्द्र विष्णु आदि देवताओंके पूजनकी जो विधि है, उसके अनुसार ही तो वह उनकी उपासना करते हैं,फिर उनकी उपासना अविधिपूर्वक कैसे कहलासकती है ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! यह बात ठीक है, तो भी वास्तवमें उनकी वह पूजा विधिपूर्वक नहीं मानीजासकती अन्तके फलाफलको लेकर ही कर्मका विचार होता है। वह शास्त्रमें लिखी हुई विधिका अवलम्बन करके अन्य देवताओंका भजन तो अवश्य करते हैं, परन्तु वह विधि उनको परमफल नहीं देसकती, इसलिये वह उत्तम विधि नहीं मानी जासकती। उपासकके आवागमनको रोककर परम पद मोक्षको देनेकी जिसमें शक्ति है वह ही उत्तमविधि है और जो ऐसी विधिसे उपासना करते हैं वह ही उत्तम उपासक हैं; और देवताओंके उपासकोंको फल तो मिलता है, परन्तु उस उपासनाके फलसे वह तिन देवताओंके लोकोंको पाते हैं। पहिली पहल ऐसा फल अशुभ नहीं मालूम होता है, परन्तु वास्तवमें वह शुभ-फल नहीं मानाजासकता। उपास्य देवताके लोककी प्राप्तिरूप वह फल सदा रहनेवाला नहीं है। जब अन्य देवता नाशवान् हैं तो उनके लोक भी नाशवान्

हैं, इसलिये उन देवताओंके उपासक नाशवान् फलको पाते हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, एकमात्र मैं वासुदेव भगवान् ही अविनाशी और नित्य हूं। मेरे सिवाय विश्वके सब देवता, सब लोक, स्थावर, जङ्गम आदि सब पदार्थ और मनुष्य आदि जीव नाशवान् और अनित्य हैं। इसलिये अन्य देवताओंकी उपासना करने वाले विशेष विधिके अनुसार अन्य देवताओंकी उपासना करके अन्तमें उन देवताओंके लोककी प्राप्तिरूप फलको पाते हैं, परन्तु वह फल भी नाशवान् और बहुत थोड़े समय रहने वाला है, इस कारण वह परम फल नहीं है। शास्त्र कहता है-"अहन्त्वनश्वरो नित्यो मद्भक्ता अप्यनश्वराः।,, अर्थात् मैं भी अविनाशी और नित्य हूँ तथा मेरे भक्त भी अविनाशी और नित्य हैं। जिस समय ब्रह्मा और शिव आदि कोई देवता विद्यमान नहीं रहता है उस समय भी मैं विश्वेश्वर विद्यमान रहता हूँ तथा मैं जब चाहता हूं तब ही और देवता प्रकट होजाते हैं। प्रलयके समय सबका ही तिरोधान होजाता है, परन्तु मैं सनातन पुरुष अविनाशी हूं, एक मैं ही एकरस रहता हूं। मुझ अविनाशी परम पुरुषकी समान ही मेरे अनन्य भक्त भी अविनाशी अवस्थाको पाजाते हैं। इसलिये विधिपूर्वक मेरी उपासना करनेसे ही वारंवार आवागमन रूप दुःखकी जंजीर टूटती है। अन्य देवताओंके उपासक उन देवताओंके लोकोंमें तो पहुँच जाते हैं, परन्तु ध्यान देकर देखनेसे मालूम होगा, कि—वह फल प्रार्थनीय परम फल कदापि नहीं है, क्योंकि—वह नाशवान् और थोड़े समय रहने

वाला है। इस संसारमें सब ही मिथ्या और असार है, कोई कर्म ही कर्म नहीं है, कोई ज्ञान ही ज्ञान नहीं है और कोई विधि ही विधि नहीं है। केवल मैं सनातन वासुदेव ही सत्य और सार हूँ, मेरी सेवा ही सार कर्महै और मेरे विषैका ज्ञान ही परम ज्ञान है तथा मेरे चरणोंका आश्रय लेनेकी विधि ही एकमात्र विधि है ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतम-श्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

अन्वय और पदार्थ

(यः) जो (मे) मेरे अर्थ (भक्त्या) प्रेमभरी आस्तिकताकी बुद्धिसे (पत्रम्) पत्र (पुष्पम्)फूल (फलम्) फल (तोयम्) जल (प्रयच्छति) देता है (अहम्) मैं (प्रयतात्मनः) शुद्धचित्त पुरुषके (भक्त्युपहृतम्) भक्तिके साथ अर्पण किये हुए (तत्) उस पत्र आदिको (अश्नामि) स्वीकार करता हूँ ॥ २६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! मैं समझ गया, कि–एकमात्र आपकी ही उपासना करनी चाहिये, परन्तु यह तो बताइये, कि–वह आपकी उपासना किसप्रकार कीजाती है ? भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे! अन्य देवताओंकी पूजा करनेमें

बड़ा परिश्रम पड़ता है, बड़े २ मूल्यकी सामग्रियें इकट्ठी करनी पड़ती हैं, परन्तु भगवान्‌की उपासनामें बहुत कष्ट नहीं पड़ता अनायासमें मिलनेवाली सामग्रीसे ही प्रयोजन सिद्ध होजाता है। तुलसीदल, विल्वपत्र, मार्गमें जहां तहां खड़ीहुई दूब आदि पत्र, आंगनमें लगेहुए पुष्प, बेल बेर रम्भा आदि फल और गङ्गाजल आदि साधारण सामग्रीसे भी मेरी पूजा होसकती है। जो कोई भी पुरुष मुझ महाविभूतिमान् अनन्त परमेश्वरको भीतरी भक्तिके साथ पत्र पुष्प फल आदि समर्पण करता है उस शुद्धचित्त पुरुषके अर्पण किये हुए उन सब पदार्थोंको मैं बड़े प्रेमके साथ स्वीकार करता हूँ। मैं सर्वेश्वर, सर्वात्मा और सर्वत्र विराजमान हूँ, मुझे किसी पदार्थका अभाव नहीं है तथा किसी पदार्थकी इच्छा भी नहीं है तो भी भक्तकी भक्ति और प्रीतिके प्रभावसे कृपाके वशमें होकर भक्तके अर्पण किये हुए साधारण पदार्थोंको भी सर्वोत्तम पदार्थोंकी समान बड़े आनन्दके साथ ग्रहण करता और भोगता हूँ। मुझे भूख वा प्यास नहीं लगती है, मुझे शरीरके पोषणकी आवश्यकता नहीं है, फिर मुझे किसी खाने पीनेके पदार्थकी क्या आवश्यकता होसकती है ?। श्रुति कहती है—"न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतावदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।" अर्थात्-देवता न भोजन करते हैं, न जल पीते हैं किन्तु वह अमृतको देखकर ही तृप्त होजाते हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! तो वह भक्तकी दी हुई सामग्रीको ग्रहण क्यों करते हैं? भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! उन सब पदार्थोंको भक्त परम-

भक्तिके साथ समर्पण करते हैं इसकारण मैं भक्तवत्सलताके वशमें होकर उनको ग्रहण करता हूँ, भक्तकी भक्ति ही उस के उन पदार्थोंको स्वीकार करनेका कारण है। जो भक्तिहीन है वह चाहे ब्राह्मण हो, चाहे ऋषि हो और चाहे तपस्वी हो उसके अर्पण कियेहुए पदार्थको मैं कदापि ग्रहण नहीं करता हूँ। देख सखे ! एक श्रीदामा नामवाले ब्राह्मणके साथ मेरी बालकपनसे मित्रता थी, ब्राह्मण बड़ा ही दरिद्र था और भीख मांगकर अपना निर्वाह किया करता था। एक दिन सांसारिक क्लेशसे पीडित होकर श्रीदामाकी स्त्रीने उससे कहा, कि-हे स्वामी ! श्रीकृष्ण तुम्हारे बालकपनके मित्र हैं, तुम उनके पास जाओ, ब्राह्मण अपनी स्त्रीके कहनेसे मेरे पास आनेका निश्चय करके अपने मनमें विचारने लगा, कि-राजराजेश्वर रुक्मिणीवल्लभके पास खाली हाथ मिलने को जाना ठीक नहीं है और जब उसको और कुछ हाथ नहीं लगा तो वह दीन ब्राह्मण अपने फटेहुए और मैले वस्त्र के ठेकमें थोड़ीसी चावलकी किनकी बांधकर मेरा दर्शन करनेको चल दिया, धीरे २ वह द्वारकापुरीके फाटकमें घुसकर नगरके भीतर आपहुँचा और पूछता २ रुक्मिणीके पास बैठे हुए मेरे पास आगया। दूरसे ही उस मलिनवेष, कातर और खिन्न भक्तको देखकर मैं आश्चर्यके साथ पलँग परसे उठ बैठा और उस दरिद्रताके दुःखसे पीड़ित हुए मलिनवेष ब्राह्मणके पास पहुँचकर बड़े प्रेमके साथ उसको हृदयसे चिपटा लिया, फिर उस को अपने आसन पर बैठा कर अपने हाथसे उसके

पैर धोकर सत्कार किया और कुशल समाचार पूछने लगा। रुक्मिणी आदि लक्ष्मीरूपा नारियें भी मेरे इस व्यवहारको देखकर अनेकों प्रकारसे उस मेरे मित्र ब्राह्मणका सत्कार करने लगीं, बड़ीभारी लज्जाके कारण दुःखी हुआ श्रीदामा बड़े यत्नसे लायी हुई वह चावलोंकी किनकी अतुल ऐश्वर्यवाले मुझको भेट करनेमें संकुचित होने लगा और उसको छुपाना चाहा। मैंने अपने अन्तर्यामी भावसे अपने सखा श्रीदामाके हृदयकी बात जानली और कुछ हँसकर प्रेमके साथ उससे कहा, कि हे सखे! तुम तो मुझसे मिलने को बहुत ही दिनोमें आये हो, अवश्य ही मुझे देनेके लिये कुछ प्रेमका उपहार लाये होओगे, क्या लाये हो मुझे दो मैं भोजन करूँ। लज्जाके मारे मरासा हुआ सुदामा उस चावल की किनकीको देनेका साहस न करसका, परन्तु मैं समझगया, कि—यह बड़ी भक्तिके साथ लाया है, उस उसय मुझे बड़ी क्षुधा लग आयी, मानो बहुत दिनोंसे भोजन ही नहीं मिला है, इसलिये मैंने जोराबरी श्रीदामाकी वगलमेंसे पोटली निकाल ली और उस चावलों की किनको ही खानेलगा उसमें मुझे बड़ा ही आनन्द आया। पाठकों! भक्तोंके ऊपर भक्तवत्सल भगवान्‌की बड़ी ही दया रहती है। कोई भी पुरुष भक्ति के साथ उनको जो कुछ भी अर्पण करै वह बड़े आदरके साथ उसको स्वीकार करते हैं। भूख प्याससे रहित होने पर भी भक्तके प्रेमके कारण उनमें भूख प्यासकी तरङ्ग उत्पन्न होजाती है और उस समय वह उस प्रेमसे दी हुई तुच्छ वस्तु का भी बड़े प्रेमसे भोग लगाते हैं, मनुष्य जिनकी समान कोई है ही नहीं, ऐसे, कृपा-

सिन्धु दीनबन्धु भगवान्की शरणागत न होकर अनेकों दुःखजालोंमें फँसते है और असीम क्लेशोंको भोगते हैं। क्षुद्र, कुछ प्रयोजन सिद्ध न करनेवाले और चिरकाल न रहनेवाले सुखकी आशामें मतवाले होकर वह बड़ेभारी अविनाशी अनन्त सुखकी ओरको कुछ ध्यान ही नहीं देते। मायामयी मृगतृष्णासे मोहाच्छन्न होकर वह परमशीतल, पीने योग्य जलसे भरे हुए सरोवर की ओरको देखते ही नहीं हैं। असार घृणित मार्गकी ओरको दौड कर वह परम सुखमय, प्रीति और आनन्दसे भरी हुई व्यवस्थाका तिरस्कार करते हैं। मोहकी मारसे विकलचित्त होकर काँटोंसे भरे वनमें घूमते २ उनका शरीर घायल होजाता है, तो भी शान्तिदायिनी सुशीतल छाया से छाये हुए, परम कोमल फूलोंसे भरे, मनोहर बगीचेकी ओरको नहीं जाते हैं। ओः! जीवों की कैसी घोर दुर्गति है!, बडी प्रसन्नताके साथ दो फूल चुन कर सामने जाकर खडे होनेसे ही जिनकी कृपादृष्टि पायी जासकती है, भक्ति भरे हृदयसे तुलसीके दो पत्ते लेकर सामने पहुँचनेसे भी जिनकी करुणाको खेंचा जासकता है। अनुराग भरे हृदयसे वृक्षमेंसे दो फल तोड़कर सामने पहुँचनेसे भी जिनकी वत्सलताको बढ़ाया जासकता है, परम आसक्त चित्तसे एक अंजुलि गङ्गाजल लेकर शरणमें जाने से ही जिनका आश्रय प्राप्त होसकता है और निरन्तर उन के ध्यानमें मनको मग्न करके सहजमें मिलने वाली साधारण सामग्री लेकर समीपमें जाने पर भी जिनका अनुग्रह पाया जा सकता है, उनही सकल इच्छित फल

देने वाले भगवान् से विमुख होना बड़ी भारी भूल है। भक्तिरससे हृदय को द्रवीभूत करके, प्रेमभाव से देह और मन को भिगो कर, हृदयमें के अनुराग को उछाल कर तथा प्रेमासक्ति से सकल इन्द्रियों को कोमल और मननशील करके उन पुरुषोत्तम के दरबार में जाकर खड़े होजाओ तो सकल सम्पदाओंका सार, सकल सुखों में श्रेष्ठ सुख, सकल आनन्दों का सोता, सकल मांगने योग्य पदार्थों में परम पदार्थ तुम्हारे वशमें आजायगा। धनकी आवश्यकता नहीं है, बड़े भारी आडम्बरकी आवश्यकता नहीं है, सहायक की आवश्यकता नहीं है, सहज में ही मनकी कामना सिद्ध होजायगी। देश, काल वा पात्र आदि कुछ भी भक्त की भगवत्पूजामें बाधा नहीं डालसकता। अगाव सागरके जलमें डूबेजाते हो, मार्ग भूल कर घोर वन पहाड़ोंमें पहुँच गये हो, ग्रीष्मकालके प्रचण्ड मार्तण्डकी तेज़ीसे झुलसे जारहे हो, अथवा घोर आंधी के झपेटेमें पड़गये हो, चाहे फटी गुदड़ी ओढ़कर देश विदेशमें घूमरहे हो अथवा सकल सुखदायक ऐश्वर्यसे युक्त होकर महलकी अटारी पर बैठे हो, सब ही दशाओंमें स्वच्छन्दरूप से उन सनातन पूर्ण पुरुष की उपासना होसकती है। ऐसे सहजमें सध सकनेवाले साधनमार्ग की उपेक्षा करके जीवन को वृथा मत खोओ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय

तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन ! (यत्) जो (करोषि) करै (यत्) जो (अश्नासि) खाय (यत्) जो (जुहोषि) होम करै (यत्) जो (ददासि) देय (यत्) जो (तपस्यसि) तप करै (तत) वह (मदर्पणम्) मेरे अर्पण (कुरुष्व) कर ॥ २७ ॥

भावार्थ

अर्जुन ने कहा कि—हे भगवन् ! क्या पत्र पुष्प, फल और जल अर्पण करने मात्रसे ही भगवान् की पूजा होती है ? । भगवान्ने उत्तर दिया, कि—हे सखे ! तू स्वभावसे अथवा शास्त्र को मानकर जो कुछ करै जो कुछ खाय जो कुछ होम करै, जो कुछ दान करै और जो कुछ तपस्या करै वह सब मुझे अर्पण करदे । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! 'जो कुछ करै, जाकुछ खाय' इससे आपने लौकिक कर्म को कहा और 'जो कुछ होम करै, जो कुछ दान करै तथा जो कुछ तपस्या करै' इससे आपने वैदिक कर्म को कहा, परन्तु यह तो बताइये, कि—आपको अर्पण करै इसका क्या अर्थ है ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! मन आदि सकल इन्द्रियों को वश में करके मनन करने योग्य, सुनने योग्य, देखने योग्य, स्पर्श करने योग्य और सूंघने योग्य सकल विषयों को ब्रह्माग्निमें होम दे । अब यह भी देख कि-

लौकिक और वैदिक कर्म मुझको अर्पण करना क्या बात है? पहिले ही कहे देता हूँ कि—साधनाकी प्रथम अवस्था में इस श्लोक के अनुसार कर्म करना बड़ा ही आवश्यक है, इस बात पर खूब ध्यान देना अर्जुन ने कहा कि-भगवन् ! कहिये मैं खूब सावधान होकर सुनूँगा। भगवान् ने कहा, कि—हे सखे ! गमन भोजन आदि लौकिक कर्म मुझमें अर्पित होगा, पहिले इसको ही देख। पहिले ही याद रख, कि—गीतामें मैं अपनी यज्ञपुरुषमूर्त्ति, देवतामय—मूर्त्ति और अध्यात्मभाव तथा ब्रह्मभाव इन सबकी ही बातें कहता हूँ। यज्ञपुरुष मूर्त्ति अधियज्ञ है। "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।" अर्थात् इस शरीरमें मैं अधियज्ञ कहिये यज्ञका अधिष्ठात्री देवता हूँ। देवतामय मूर्त्ति हिरण्यगर्भ है, सब देवता मेरे अङ्गरूप हैं। "पुरुषश्चाधि दैवतम्" और जो ब्रह्मका स्वभाव है वा प्रत्यक् चैतन्यभाव है वह ही अध्यात्म है। "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते" "स्वभावः प्रत्यगात्मभावः"। ब्रह्मभाव अक्षर स्वप्रकाश है। यह बात आठवें अध्यायमें पीछे कह चुके हैं, अब देख, मैं गमन करता हूँ, यह गमन का व्यापार श्री भगवान् के अर्पण किस प्रकार किया जाता है ? मैं गमन कर रहा हूँ ऐसा बोध न होकर इसमें यदि 'यज्ञपुरुष ही गमन करता है' ऐसा बोध होय तब ही गमनव्यापार भी उसका गमन होगया, वह मेरा गमन नहीं रहा। जो यज्ञपुरुष सहस्रशीर्षा, सहस्रबाहु और सहस्रचरण है, वही गमन करता है और वही भोजन करता है यह भावना असं-

भव कैसे होसकती ?। यह व्याष्टिमनुष्य उस समष्टि यज्ञपुरुषका अङ्गमात्र है। समष्टि विराट पुरुषका कार्य ही व्याष्टि मनुष्य का कार्य है। जैसे समस्त फुसफुस यंत्रमें जो क्रिया होती है फुसफुसके किसी अङ्गको काट कर रख लेने पर उस काटे हुए अंशमें भी यही क्रिया होती है, यहां तक कि–फुसफुस यंत्रके हरएक अणुमें फुसफुसकी ही क्रिया होती है। यज्ञपुरुषका कार्य ही मनुष्यका कार्य है, इसलिये फुसफुस यंत्रके जड़ होनेसे उसका अणु परमाणु भी केवल समष्टिका कार्यमात्र ही कर सकता है। परन्तु मनुष्य जड़ नहीं है, इसलिये समष्टिका कर्म करके भी यह अपनी सीमाबद्ध स्वाधीनतामें और कर्म भी कर सकता है। शक्तिका सुव्यवहार और कुव्यवहार दोनों ही बातें मनुष्य करसकता है, इसीसे मनुष्यको स्वाधीन कहा जाता है। अब देख यज्ञपुरुषका वा विराटपुरुषका कर्म यदि मनुष्य करता है तो फिर मनुष्यका पतन नहीं होता है। इस लिये ही श्रुति गमन भोजन आदिको यज्ञरूपसे कहती है। मनुष्यके शरीरमें जो करोड़ों जीव इधर उधरको घूमते हैं उनकी अपेक्षा जैसे मनुष्य महान् है, ऐसे ही मुझ विराट पुरुषके शरीरमें मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्ग आकाश वायु अग्नि इधर उधर घूमते रहते हैं इसकारण मैं अधियज्ञ विराट पुरुष मनुष्य आदि सबोंकी अपेक्षा महान् हूँ। हर एक ऋतु में और हर एक दिन रातमें प्रकृतिमें जो काम होता है वह ही विराट पुरुषका काम है। ग्रीष्ममें रसको सुखाना, वर्षामें रस को देना इत्यादि व्यापार तथा दिनको लाना और फिर रात्रि को लाना यह विराट पुरुषका ही काम है। तू जब उनके

शरीरमें है तो उनके कार्यको अपना कार्य भावना करना स्वाभाविक ही बात है। इसलिये तेरा कार्य कुछ भी नहीं है, सब कार्य उनका ही है, ऐसी भावना कर, इसका ही नाम गमन आदिका अर्पण तथा सब ही अर्पण इसी प्रकार होता है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! स्नान भोजन आदि व्यापारमें यज्ञ होता है, ऐसी भावना करने पर–वही विराट पुरुष सहस्रों चरणोंसे गमन करता है, सहस्रों नेत्रोंसे देखता है इत्यादि भावना करें सकने पर मनुष्य अपने क्षुद्र अहं को भूलकर अपनी सत्ताको विराटपुरुषकी सत्तामें मिला सकता है, अब आप यह बताइये कि–भक्त अपने कर्मको उनमें किस प्रकार अर्पण करते हैं और ज्ञानी किसप्रकार अर्पण करते हैं?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन ! मेरे सच्चे भक्तके कर्म और वाक्यको सुन। "आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं, पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः। सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो, यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥" मेरा भक्त जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, व्रत करै चाहे दान करै, इन्द्रियोंका दमन करै चाहे कोई सांसारिक काम करै उस सब में वह भावना करता है, कि–हे भगवन् ! मैं आपके चरण-देशमें हूँ, मेरे सब कर्मोंमें मानो आपकी ही आराधना होती है। 'मैं करता हूँ, ऐसा बोध मेरा शीघ्र ही दूर नहीं होता है, इसलिये ही आपका स्मरण करके मैं अभिमानका त्याग करने के लिये ही आपकी आराधना करता हूँ, जब मुझे यह अनु-भव होगा कि–आप प्रसन्न होते हैं, तब ही मेरे सब कर्म

आपको अर्पण होंगे, धाराप्रवाहरूपसे आपका ध्यान करके जो कर्म करूँगा उस कर्ममें मेरा अहम्भाव नहीं रहेगा, केवल आप ही आप रहेंगे। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! मेरे चित्तमें और भी दो एक बातें उठती हैं। एक तो यह कि– शिवकी उपासना करनेवाला आपका उपासक कहला सकता है या नहीं। कोई २ ऐसा भी आग्रह करते हैं, कि–केवल आपकी ही उपासना करनी चाहिये, अन्य देवताकी उपासना करनी ही नहीं चाहिये, इस विषयमें ठीक बात क्या है?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! शिव पार्वती और मैं क्या भिन्न २ हैं? मेरे परमभावका नाम कभी कृष्ण, कभी राम, कभी शिव, कभी पार्वती चाहे सो कह सकते हो, जिसका परमभावकी ओरको लक्ष्य होता है, उसको तो कभी भेद-भावकी बाधा होही नहीं सकती, नाम रूपकी बाधा तो अज्ञानीको ही होती है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! यह तो समझ गया, अब दूसरी बात यह है, कि–बहुतसे लोग मद्य पीते हैं और पीतेमें कहते हैं, कि–'श्रीकृष्णार्पणमस्तु, तो क्या यह भी अर्पण है?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन! जब विराट पुरुषके कर्मोंको अपने कर्म भावना करता है तो मदिरा आदि नशा पीना बन ही कैसे सकता है?। विराट पुरुष तो नशा पीता नहीं, तू स्वाधीनभावसे जो कुछ करता है उसमें ही शक्तिका कुव्यवहार होता है, उसमें ही निषिद्ध–कर्म होता है, विराटपुरुष मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मुझ ज्ञानस्वरूपको जान लेने पर क्या अज्ञानका कर्म बन सकता है? पिता माता और गुरुजनोंके समीपमें ही लोग अनुचित कर्म

सन्तान के लिये उसके प्राणों में कितना कष्ट होता है? इस बातको जिसने अनुभव किया है वही जानता है। इसप्रकार ही जो मुझसे प्रेम करते हैं उनके प्राण मेरे लिये कहां तक व्याकुल होते हैं, यह बात कह कर नहीं बताई जासकती जिस समय चित्त पर चोट खाता हुआ निवेदन करता है उस समय उसका जो मेरे ऊपर अनुराग होता है उसको ही मैं ग्रहण करता हूँ, यह भक्ति ही मुझे अर्पित होती है। मुझे तीव्रभाव से स्मरण करके जो कुछ अर्पण किया जाता है उसको ही मैं ग्रहण करता हूँ, वही मुंझे अर्पित होता है। कयाधूने मुझे स्मरण करके प्रल्हाद के अन्नमें विष मिलाया था, प्रल्हादने जिस समय उसका ही निवेदन किया, उस समय मैंने साक्षात् सम्बन्ध से उस विष को खालिया था। मेरे स्पर्श से विष अमृत होगया और भक्त की कातरताको दूर करने के लिये मैं उसके पास उपस्थित रहा था, यह काम क्या मेरे लिये भार था? ज्ञानीके व्यवहारको भी देख ज्ञानी किसप्रकार अर्पण करता है? । ज्ञानी भोजन करनेको बैठकर देखता है, कि–मैं बाहर नाग आदि पञ्च प्राण हूँ और भीतर भी प्राण आदि पञ्च प्राण हूँ फिर मैं ही अग्निरूपसे सबको पचाता हूँ। ज्ञानीने सर्वस्व मुझे अर्पण कर दिया है, वह जो अहं (मैं) का व्यवहार करता है, वह अहं उसका नहीं है, मेरा है। जिनका देहमें आत्मज्ञान छूट गया है वह जानते हैं, कि–मैं स्वरूपावस्था में भोजन नहीं करता हूँ। वह जानते हैं, कि–"नाहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे, नाहं प्राणः

क्षुत्पिपासे कुतो मे । नाहं चित्तं शोकमोहौ कुतो मे, नाहं कर्त्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ॥" अर्थात् मैं उत्पन्न ही नहीं हुआ तो मेरा जन्म मरण कहां ? मैं प्राण नहीं हूं फिर मुझे भूख प्यास कहांसे लग सकती है ?, मैं चित्त नहीं हूं इस लिये मुझे शोक मोह कहांसे होसकते हैं ? और मैं कर्त्ता नहीं हूं फिर मुझे बन्धन और मोक्ष कैसे होसकते हैं ?। निरन्तर अभ्यास के द्वारा ज्ञानी इस देहसे स्वतन्त्र होजाते हैं, वह अनुभव करते हैं, कि–सर्वदा मुझ में ही लगे हुए हैं। आंखके निमेष उन्मेष (मीचने खोलने) की समान, शरीर का भोजनादि व्यवहार अभ्यासके अनुसार चलता रहता है, इनका अर्पण और क्या होगा ? यह तो सर्वथा मेरा ही रूप होजाते हैं । परन्तु जो इनकी अपेक्षा ज्ञानकी नीची भूमिकामें होते हैं उनके ही लिये अर्पणकी विधि है । वह समझते हैं, कि–मैं ही देहके मध्यमें प्राणरूपसे आहुतियोंको ग्रहण करता हूं, अग्नि हो कर पाक करता हूं, जठराग्नि मैं ही हूं । अग्नि भोक्ता है, प्राण अपान अग्निके उद्दीपक हैं और अन्नही सोम है, विचार कर देख कौन किसको खाय? वे जब प्राणमें आहुति देते हैं तब तीव्र भावसे मेरा ही स्मरण करते हैं और यदि भोजन का स्वाद लेनेमें खिच जाते हैं अर्थात् चित्तसे मुझे भूलकर भोजन का स्वाद लेनेमें मग्न होजाते हैं तो अगले ही क्षणमें मुझे स्मरण करके बडे ही व्याकुल होते हैं। जिस२ कर्मके द्वारा निरन्तर मेरे विषैं ही लगे रह सकते हैं फिर उसका ही तीव्रता से अनुष्ठान करते हैं । मीठा लगे या न

लगे, इस ज्ञान पर आरूढ़ हुआ पुरुष भोजनके समय यदि मुझे स्मरण करता है तो मैं उसके अर्पणको स्वीकार करता हूँ, इसको ही मेरे विषैं सर्वकर्मार्पण जानो। मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ और स्वरूपावस्थामें स्थूल नहीं हूँ, अतः स्थूल अन्नको भी ग्रहण नहीं करता हूँ, मैं केवल भावमात्रको ग्रहण करता हूँ इस तत्त्वको ज्ञानी जानते हैं, और भी देख मानसपूजामें ज्ञानी व भक्त पहिले कातर प्राणसे मुझे भोजन कराता है, फिर बाहरपूजा करके बाहरका आहार कराता है। यहां मुझे स्मरण करना ही मुझमें अर्पण करना है। यहां तक जो कुछ कहा उसका संक्षेप यह है, कि—जो मेरी विराटमूर्त्तिके उपासक हैं, जो अपनी सत्ताको विराटसत्तामें मिला सकते हैं, उनके गमन भोजन आदिके व्यापारकी सत्ता अलग नहीं रहती है, मेरे कर्मको ही वह अपने देहमें होता हुआ देखते हैं। जो ऐसे अभेदभावको नहीं रख सकते हैं, जो उपास्य उपासकमें भेद रखते हैं, वह उग्रभावसे मेरा स्मरण करके जो कुछ भी करते हैं वह उनका काम किस समय होजाता है यह बात उनके मनमें रहती ही नहीं, उनके मनमें केवल मेरा स्मरण ही रहता है। जो ऐसा भी नहीं कर सकते उनको जितने दिनों तक 'मेरा अमुक कर्त्तव्य है, ऐसा बोध रहता है तब तक वह दास होते हैं और मैं प्रभु रहता हूँ, और इसी भावको लेकर वह मुझ प्रभुकी आज्ञाके अनुसार कर्म करते हैं, यह सब भी अर्पण ही है, कोई निषिद्ध कर्म वा पापकर्म मुझमें अर्पित नहीं होसकता ॥ २७ ॥

शुभाशुभैः फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म-बन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(एवम्) इसप्रकार (शुभाशुभफलैः) शुभ अशुभ फलों से (कर्मबन्धनैः) बन्धनरूप कर्मोंसे (मोक्ष्यसे) छूट जायगा (विमुक्तः) मुक्त होता हुआ (संन्यासयोगयुक्तात्मा) कर्म-समर्पण रूप संन्यासयोगसे युक्त है अन्तःकरण जिसका ऐसा [त्वम्] तू (माम्) मुझको (उपैष्यसि) प्राप्त होगा ॥२८॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! इसप्रकार सकल कर्म आपको समर्पण करना ही आपका पूजन है, इसके लिये और किसी विशेष अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह तो बताइये, कि—इस सर्व--कर्म--अर्पणरूप आपके पूजन का अभ्यास होजाने पर क्या फल मिलता है ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! सकल कर्मोका समर्पणरूप मेरा भजन यद्यपि अनायास ही होसकता है, परन्तु इसका परिणामफल साधारण नहीं है, किन्तु ऐसे सर्व--कर्म--अर्पणका फल बहुत ही बड़ा है इस कर्म-समर्पणके द्वारा, शुभ अशुभ फल देकर बन्धनमें डालने वाले सकल कर्मोंसे मुक्ति होजाती है, क्योंकि—सकल--कर्म मुझको अर्पित होजाने पर उन कर्मोंके साथ समर्पण करने

वालेका तो कुछ संबन्ध ही नहीं रहता, इसलिये कर्म और कर्मका फल समर्पण करनेवालेमें रहता ही नहीं । कोई कर्म मैं अपने प्रयोजनके लिये नहीं करता हूँ और उसके मुख्य वा गौण, इष्ट वा अनिष्ट, सुख दुःख किसी प्रकारके भी फल के साथ मेरा सम्पर्क नहीं है,, ऐसे अटल विश्वासके साथ जो सकल कर्म श्रीभगवान्को अर्पण कर सकता है, फिर बन्धनके मूल कर्म उसको बन्धनमें नहीं डालसकते, उस समय वह कर्मकी बेड़ियोंको तोड़कर मुक्त होजाता है। तदनन्तर सकल कर्म भगवान्को समर्पण करनारूप संन्यास, योगकी समान उसके चित्तको शुद्ध करनेमें सहायता करता है, ऐसे संन्यास-योगसे उसका अन्तःकरण शुद्ध होजाता है । उस समय वह सर्वकर्मत्यागी महात्मा कर्मबन्धन से छूटकर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है। और उसके प्रभावसे अज्ञानके परदे को फाड़ कर मेरे पास पहुँच जाता है। तदनन्तर प्रारब्ध कर्म का क्षय होजाने पर विदेह–कैवल्य–रूप मोक्षको पाजाता है जब तक यह अवस्था नहीं होती तबतक भी उसको मायिक भेदव्यवहारके जञ्जालमें नहीं फँसना पड़ता है ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (सर्वभूतेषु) सकल प्राणियोंमें (समः)

तुल्य हूँ (मे) मेरा (द्वेष्यः) द्वेषका पात्र (प्रियः) प्रीति का पात्र (न) नहीं (अस्ति) है (तु) किन्तु (ये) जो (माम्) मुझको (भक्त्या) भक्तिसे (भजन्ति) भजते हैं (ते) वह (मयि) मेरे विषैं (च) और (अहम्) मैं (अपि) भी (तेषु) उनके विषैं [अस्मि] हूँ ॥२९॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! आप अधिष्ठान-चैतन्य कहिये सत्-चित्-आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं, यह बात आपने अनेकों वार कही है। जब सच्चिदानन्दरूप आपके ऊपर ही सब जीव क्रीड़ा करते हैं तब सबके ही लिये आप एकरूप हैं। समुद्रके ऊपर चाहे जितने प्रकार की तरङ्गें, उठैं, उन सब तरङ्गोंके लिये समुद्र एक प्रकारका ही है, इससे प्रतीत होता है, कि-संसारमें न कोई आपका द्वेष-पात्र है और न कोई आपका प्रीतिपात्र है। जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर अपनी किरणोंको सर्वत्र समानभाव से डालता है तैसे ही आप भी सब जीवोंको समानभावसे करुणाका दान देते हैं, परन्तु देखनेमें आता है, कि—भक्त आपकी करुणाको पाकर जगत्का कल्याणसाधन करते २ परम आनन्दके साथ आपके परमपदमें स्थिति पाजाते हैं, और जो असुर हैं वह भी आपकी कृपाको पाकर भी अपने असुरपनको ही प्रबल करते हैं तथा उससे जगत्का अमङ्गल साधन करते २ अति दुःखमय नरकमें जाकर पड़ते हैं। इस कारण ही प्राणी कहते हैं, कि—तुम सब में समभावसे रह

कर भी भक्तोंका उद्धार करते हो और अभक्तोंको दुःखमय नरकमें डालते हो। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे! मेरी दृष्टि में भक्त अभक्त सब समान हैं। मैं न किसीको अधिक चाह कर स्वर्गमें भेजता हूँ और न किसी को बुरा समझकर नरकमें डालता हूँ। अभक्त विनाश चाहता है इसलिये विनाश पाता है और भक्त आश्रय चाहता है, इसलिये आश्रय पाता है। भक्त सर्वकर्मसमर्पणरूप भक्तिके द्वारा मेरा भजन करते हैं, इसलिये निर्मल अन्तःकरणको पाते हैं और उनके निर्मल अन्तःकरणमें मेरा रक्षा का भाव सदा प्रकाशित होता है, ऐसे ही मलिन अन्तःकरणमें मेरी विनाश-शक्ति सदा प्रबल रहती है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! मेरे मनमें दो प्रकारके सन्देह उठते हैं। एक तो यह कि–आपका सृष्टिके विषयमें समानभाव नहीं है किन्तु विषमभाव है और दूसरा यह कि–रक्षाके विषयमें भी आपका विषम-भाव ही है। कोई भक्त है, कोई अभक्त है, कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है, इस सृष्टिकी विषमताको सब ही जानते हैं। आपने हिरण्यकशिपु, कंस, रावण आदिका नाश किया तथा प्रह्लाद, देवकी, विभीषण आदिकी रक्षा की, यह रक्षाके विषयमें विषमता भी प्रकट ही है। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे! एक २ बातको लेलो। पहिले सृष्टिकी विषमताके विषयमें ही आलोचना कर देखो। समुद्र रत्नोंके ढेरके ऊपर को भी बहता चला जाता है और पत्थरोंके ऊपरको भी बहता चलाजाता है, वह रत्नोंका आदर नहीं करता है और पत्थरों

का अनादर भी नहीं करता है। आकाश सबोंको ही समान भावसे आलिङ्गन करता है। मेघ सर्वत्र समानभावसे ही जल बरसाता है, परन्तु जो बीज जैसा होता है वह तैसे ही वृक्षको उत्पन्न करता है, इसमें क्या मेघका पक्षपात है? ऐसे ही जिसका जिस प्रकारका कर्म है वह उस ही कर्मके अनुसार भक्त, अभक्त सुन्दर वा कुरूप होता है, इसमें मेरा क्या वैषम्य वा पक्षपात है?। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! आपका यह कहना तो ठीक है, परन्तु बीजोंमें और कर्मोंमें जो भेदभाव है उसको भी तो आपने ही रचा है? कोकिलका कर्म अच्छा है और कौएका कर्म खोटा है, इस कर्मभेदको रचनेवाला कौन है?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! जितने प्रकारके देह देखता है जितनी प्रकारकी वस्तुएँ देखता है यह सब शक्तिकी समष्टिमात्र हैं, वह शक्ति नानाप्रकारकी है और वही मेरी प्रकृति मेरे समीपमें बहुमुखी होकर कर्म करती है। प्रकृतिमें ही कर्म की विषमता रहती है। इस प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम ये तीन भिन्न २ गुण हैं और यह प्रकृति जब मुझमें लीन रहती है उस समय इसकी साम्यावस्था होती है, इसमें कुछ स्फुरण नहीं होता है। इसी लिये कहा जाता है, कि-अग्नि और उसकी दाहिका (जलानेवाली) शक्ति जैसे अभिन्न हैं तैसे ही निर्गुण ब्रह्ममें निर्गुणा शक्ति, अभिन्न भावसे जड़ी हुई है। आत्मा सर्व-शक्तिमान् है। वह जब जैसी भावना करता है, उसी समय अपने संकल्पसे प्रकट हुए उस ही रूपको देखता है-

"एवं नृत्यंति नियतं ब्रह्माण्डे नृत्यमण्डपे। कालेन नर्त्तकेनेव क्रमेण परिशिक्षिताः ॥" (यो० वा० ६। ३७ । २०) अर्थात् ब्रह्माण्डरूप नृत्यशालामें कालरूपी नटके सिखाये हुए नर्त्तककी समान वह सब शक्तियें निरन्तर नाचा करती हैं। तिनुके से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त इस ही शक्तिके नियमके वशमें हैं। इस शक्तिका नाम ही नियति है। मेरी समीपता ही इस शक्तिके स्फुरण का कारण है। परन्तु शक्ति जड़ है और सब कर्म शक्तिका है। कर्मवैषम्य भी शक्तिमें ही रहता है। जब सृष्टितरङ्ग अहं पर्यन्त पहुँचती है तब ही यह अहं विचित्र रूप और विचित्र कर्मोंका अनुभव करता है। अहं अभिमानी पुरुष जब अपने स्वरूपको भूलकर शक्तिका खेल देखते देखते उसमें ही आत्माभिमान कर लेता है, उसी समय शक्तिकी विभिन्नताके कारण भिन्न भिन्न देहधारी बन जाता है और इसके भिन्न भिन्न कर्म दीखने लगते हैं। कोकिलका मनोहर शब्द, मेंडकका कानोंको अच्छा न लगनेवाला शब्द, साधुका स्वभाव और चोरका स्वभाव इनमें जो भेद है उसको हे सखे ! अब तो तू समझगया ?। मेरा अभाव कहीं भी नहीं है, मैं समानभावसे सर्वत्र ही रहता हूँ। मेरे आश्रय से सत्व-रज-तम गुणोंवाली मेरी प्रकृति भिन्न भिन्न नाम रूपोंको धारण करके जगत्रूपमें दीखने लगती है, परन्तु उससे मेरा कुछ परिवर्त्तन नहीं होता है। मुझमें मेरी शक्ति से गढ़ा हुआ यह इन्द्रजाल मायाका भ्रममात्र है। पुरुष साधनाके बलसे आत्माभिमान को त्यागते ही समझ जायगा, कि-कर्मवैषम्य क्यों

है ? हे सखे ! तू समझ गया, इसमें मेरा कुछ पक्षपात नहीं है। समझ गया—किसप्रकार मेघ समानभावसे नानाप्रकारके बीजोंमें जल बरसाता है ? तथा उसमें मेघका कुछ भी पक्षपात नहीं है। प्रकृतिमें अभिमान करके ही कोई चोर, कोई साधु, कोई सज्जन, और कोई दुर्जन बन जाता है। एक वार अभिमान करनेसे ही नानाप्रकारके कर्मोंमें जकड़ कर सुकर्म कुकर्म करने लगता है। हे सखे ! अब तू सृष्टिकी विषमताके कारणको भले प्रकार समझ गया होगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! यह तो समझ गया, परन्तु रक्षाके विषयमें आपमें विषमता किसप्रकार नहीं है, यह भी समझा दीजिये ? । भगवान् ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! साधारण पुरुष रक्षाकी विषमता को जो देखते हैं उसको सुन—यह सत्य बात है, कि—"भयानां भयं भीषणं भीषणानां, गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।" और यह भी सत्य है कि—"तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥" (१६ १९) तात्पर्य यह है, कि—मैं भयोंके लिये भी भय हूँ, भयानकों के लिये भी भयानक हूँ, सकल प्राणियोंकी गति और पावन पदार्थोंको भी पवित्र करने वाला हूँ। तथा उन द्वेष करनेवाले क्रूर अधम अशुभ मनुष्योंको निरन्तर संसार आसुरी योनियोंमें डालता हूँ। तो भी न कोई मेरा प्यारा है, न कोई मेरा वैरी है। लोग विचार सकते हैं, कि—मैं भक्तोंकी रक्षा करता हूँ और असुरोंका नाश करता हूँ, परन्तु फिर भी मैं अपने मुखसे कहरहा हूँ, न मेरा कोई प्यारा है, न मेरा कोई वैरी है। ऐसा जो समझते हैं यह

उनका भ्रम है, मैं सर्वशक्तिमान् हूँ। तू जैसे अन्तःकरणको लेकर मेरे पास आवेगा वह ही अत्यन्त प्रबल होजायगा। देवता तपस्या करके जीवोंका मङ्गल करते हैं, परन्तु असुर उस ही तपस्याके द्वारा संसारको कष्ट देते हैं। हिरण्यकशिपुने प्रबलभावसे मेरे साथ द्वेष किया उसके फलसे वह नष्ट होगया, जो अपनेमें हिंसावृत्ति (द्वेषभाव) को जगाता है, वह हिंसावृत्ति ही मूर्त्ति धारण करके उसका नाश कर देती है। दुष्ट पुरुष अपने हृदयोंमें जितनी यातनाओंका अनुभव करते हैं उनको सब लोग सहजमें ही समझ सकते हैं। चञ्चल तरङ्ग जो उठती है वह समुद्रके ऊपर ही उठती है। जो कोई जो कुछ भी करता है वह सब मेरे ऊपर ही भासता है। हिरण्यकशिपुकी हिंसावृत्ति और प्रल्हादका कातरभाव अधिष्ठान चैतन्यस्वरूप मैं ही हूँ, उन्होने मुझमें भासकर नरसिंहमूर्त्तिको जगादिया था–"भक्तचित्तानुसारेण जायते भगवानजः।" प्रल्हादका शान्तभाव और हिरण्यकशिपुका द्वेषभाव मिलकर नरसिंहमूर्त्ति प्रकाशित हुई थी और उसने हिरण्यकशिपुका नाश तथा प्रल्हादकी रक्षा की थी। भक्त प्रल्हाद भक्तिभरे हृदयसे मेरे पास आया था, उसके तिस हृदयमें मेरी जो छाया पड़ी थी तिसमें प्रल्हादकी इच्छाने मेरे प्रतिबिम्बकी इच्छाको जगादिया था, इसीसे शान्त मूर्त्तिने प्रकाशित हो प्रल्हादको अपनी गोदीमें लेकर आश्रय दिया था, इसमें मेरा पक्षपात क्या है ? तू सज्जन होगा रक्षा पावेगा, दुर्जन बनेगा तो नष्ट

होजायगा। जैसे रक्षाशक्ति मेरी एक शक्ति है तैसे ही विनाशशक्ति भी मेरी एक शक्ति है। दुष्टपुरुष विनाश चाहते हैं इसलिये विनष्ट होजाते हैं और भक्त रक्षा चाहते हैं, इस लिये रक्षा पाते हैं। परन्तु मैं तो सबको समान-भावसे ही देखता हूँ। अपने २ हृदयके भावसे कोई रक्षा पाता है और कोई नष्ट होजाता है, इसमें मेरा क्या दोष है?। तू जैसी वृत्तिको लेकर मुझे पुकारेगा, मेरा प्रतिविम्ब उसमें प्रवेश करके उसको बढ़ावेगा, इसमें मेरा कुछ पक्षपात नहीं है, दोष प्राणियोंके हृदयका ही है। इस लिये ही असुर अपनी प्रवृत्तिके दोषसे वारंवार संसारमें पड़ते हैं और साधु पुरुष संसारसे छूटकर नित्य आनन्दको भोगते हैं। जैसे सत्त्व मेरी प्रकृति है तैसे ही रज तम भी मेरी प्रकृति हैं। जीव सत्त्वगुणमें भी अभिमान करसकता है और रज तम में भी अभिमान कर सकता है, इस विषयमें जीवको स्वाधीनता है। देवता सत्त्वगुणमें अभिमान करके रज तमका त्याग करते हैं और असुर रज तममें अभिमान करके सत्त्व गुणको त्याग देते हैं। शक्तिका कुव्यवहार करके जीव असुर होजाता है, इसमें मेरा क्या दोष है?। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! और एक बात है, यदि अवतार भक्तके चित्तकी ही मूर्त्ति है तब तो अवतार एक रूपकमात्र होगया?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! रूपकके अर्थको न समझ कर जो मुझे रूपक कहते हैं वह मूढ़ हैं। हिरण्यकशिपुकी हिंसावृत्तिमें और प्रल्हादके शुद्धसत्त्व अन्तःकरणमें मेरी चित् छाया पड़ कर जो मूर्त्ति

प्रकाशित हुई थी वह ही नरसिंह थी। तेरी मूर्त्ति भी इस प्रकार ही प्रकट हुई है। तू यदि अपनी मूर्त्तिको रूपक कहै तो मेरे अवतारोंको भी रूपक कह सकता है। भावका तो कोई नाम वा रूप है ही नहीं। भाव जड़के साथ मिलते ही रूपको धारण करता है॥ २६॥

अपि चेत्सुदुचारो भजते माम-
नन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः
सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

अन्वय और पदार्थ

(सुदुराचारः अपि) अत्यन्त ही खोटे काम करनेवाला भी (चेत्) जो (अनन्यभाक्) औरोंको छोड़कर एक मेरी ही भक्ति करता हुआ (माम्) मुझको (भजते) भजता है [तर्हि] तो (सः) वह (साधुः—एव) श्रेष्ठ ही (मन्तव्यः) मानना चाहिये (हि) क्योंकि—(सः) वह (सम्यग्व्यवसितः) उत्तम निश्चय करने वाला है॥ ३०॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! अत्यन्त ही पापी महादुराचारी परमनिन्दित कर्म करनेवाला कोई पुरुष यदि किसी कारणसे आपकी भक्ति करने लगे तो क्या तुम उसके ऊपर प्रसन्न होजाते हो ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! मेरी भक्तिकी महिमा अकथनीय है, दुराचारी

पुरुष भी यदि मेरी भक्ति सच्चे चित्तसे करने लगै तो तत्काल सब पापोंसे छूटकर निर्मल होजाता है, पहिले जो घोर पापी थे वह भी मेरे भक्त होजाने पर प्रातःकालमें स्मरण करने योग्य महात्मा होगये हैं, उनका स्मरण करनेसे भी नीचता दूर होती है और पापका क्षय होता है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! जो घोर दुराचारी होता है क्या वह भी और सब विषयोंसे मनको हटाकर आपका भजन कर सकता है ?, जो अति पापी होगा उसका मन आपमें कैसे लगेगा ?। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! यदि मेरा भजन नहीं करसकता होता तो क्या मैं यह कहता कि–यदि मेरा भजन करै ?। इसके तो अजामिल आदि बहुतसे दृष्टान्त हैं। और भी देख–"भगवति च हरावनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः। न हि शशकलुषच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः॥,, अर्थात्–यद्यपि मृगचिन्ह चन्द्रमा के भीतर रहकर उस स्थानको मैला किये रहता है तो भी जैसे अन्धकार चन्द्रमाका तिरस्कार नहीं कर सकता, तैसे ही अत्यन्त मलिन होकर भी मनुष्य यदि श्रीहरिमें अनन्यभावसे चित्त लगाता है तो वह भी सकल शोभाओंका भण्डार होजाता है, "अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।,, घोर पापी होकर भी जो क्षणभरको भी सच्चे चित्तसे तन्मय होकर भगवान्‌का ध्यान करता है तो वह तत्काल ही सकल प्रायश्चित्तोंसे अधिक फल पाता है। पापी तापीके आश्वासनकी इससे अधिक और कौनसी बात है ?। चाहे जैसा

पापी क्यों न हो, वह भी मुझे पुकार सकता है, वह भी पाप को छोड़ सकता है, वह भी पुरुषार्थ दिखा सकता है। मैं ही पुरुषार्थरूपसे उसके सङ्ग रहता हूँ, सैंकड़ों पाप करने पर भी मैं उसका साथ नहीं छोड़ता हूँ, किन्तु—सर्वदा क्षमा करनेके लिये ही व्यस्त रहता हूँ। यह ठीक है, कि—मुझे पुकारनेमें पापीको क्लेश मालूम होता है, क्योंकि—उसको तो पाप ही करनेका अभ्यास पड़ा हुआ है, परन्तु वह पुरुषार्थ करने पर साधु होसकता है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

अन्वय और पदार्थ

[सुदुराचारः अपि] परम दुराचारी भी [माम्] मुझको [भजन्] भजता हुआ (क्षिप्रम्) शीघ्र (धर्मात्मा) धर्म में लगा हुआ है चित्त जिसका ऐसा (भवति) होता है [च] और [ततः] तदनन्तर (शश्वच्छान्तिम्) नित्य विषयभोगकी तृष्णासे रहित निवृत्तिरूप शान्तिको (निगच्छति) पाता है (कौन्तेय) हे कुन्तीनन्दन (मे) मेरा (भक्तः) भक्त (न) नहीं (प्रणश्यति) नाशको प्राप्त होता है [इति] इसप्रकारकी (प्रतिजानीहि) प्रतिज्ञाको कर ॥ ३१ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! आप कहते हैं, कि-चिरकाल तक दुष्कर्म करने पर भी आपकी भक्ति करने पर कोई पाप नहीं रहता है, परन्तु श्रुति कहती है, कि "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥" अर्थात्-निरन्तर दुराचारी अशान्त, असावधान और अशान्तचित्त पुरुषको ज्ञानके द्वारा नहीं प्राप्त होता है। स्मृति भी कहती है-"नत्वकृतप्रायश्चित्तमेवं स्मार्त्ताः साधुं न मन्येरन्निति।" विना प्रायश्चित्तके पाप दूर नहीं होता है। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन! श्रुति कहती है, कि-जिनका पाप स्वभावरूप होगया है उनका उपाय कुछ और ही है, परन्तु जो मुझे ही चाहते हैं, जो मेरे विना कहीं सच्चा सुख जानते ही नहीं फिर भी दुष्कर्म कर डालते हैं, उन का पाप शीघ्र ही नष्ट होजाता है और स्मृति भी हरिस्मरणको पापनाशका सर्वोत्तम उपाय बताती है। मैं कहता हूँ कि-जितने प्रकारका भी पाप हो सकता है और पापक्षयके जितने प्रकारके प्रायश्चित्त हैं, उन सबों में हरिनाम स्मरण ही सब से श्रेष्ठ उपाय है। हरिस्मरणमात्र से पापी तत्काल पापमुक्त होजाता है और तत्काल शान्ति पाजाता है। और जिसने एकवार इस स्मरण के रसको जान लिया है वह नित्य ही स्मरण करता है और नित्य ही उस स्मरण के शान्तिरूप फल को भोगता है। अर्जुन ने कहा कि-हे भगवन्! यह क्या बात है, कि-आपके उप-

देशके भीतर में प्रवेश नहीं करसकता हूँ ? । भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! जबतक पाप विशेष क्लेशकारी प्रतीत नहीं होता है तबतक पापसे मुक्त होनेकी इच्छा नहीं होती है प्रायश्चित्त करनेकी इच्छा नहीं होती है । पापी पापकी ताड़नासे पिसते पिसते एकसाथ निराश्रय होजाता है, उस को कोई भी शान्ति नहीं देसकता है, उस अवस्था में जब मैं उस शरणागत को क्षमा करता हूँ तो वह प्रातःस्मरणीय हो जाता है, बहुत से शरणागत पापियोंको मैंने क्षमा किया है, पापी इसको सुनते हैं और सुनकर बड़े अध्यवसायके साथ मुझे पुकारते हैं । उस समय उनका वैराग्ययुक्त हुआ चित्त एकसाथ मुझमें अटक जाता है । तदनन्तर वह भक्तों का सङ्ग करके साधु होजाता है । हे अर्जुन ! तू अटल भाव से जान रख कि–जिसने एकबार निराश्रय होकर मुझे पुकारा है उसने ही मेरी भक्तिका पता पाया है और जिन्होंने एकवार भक्ति के स्वादको पालिया उनका जगत् में फिर कोई भी बालबाँका नहीं करसकता " न मे भक्तः प्रणश्यति,, इस बातको तू डङ्का बजाकर कह सकता है । अर्जुन ने कहा, कि–हे भगवन् ! यदि ऐसे पुरुषका प्रारब्ध कर्म घोर भयानक होगा, तब तो मृत्युके समय वह भयानक गतिको अवश्य ही प्राप्त होगा ? । भगवान्‌ने उत्तर दिया, कि–हे सखे ! मृत्युकालमें मैं अपने आप ही उसको अपना नाम सुनाता हूँ, अपने आप ही उसको दर्शन देता हूँ, उसका पतन किसी प्रकार भी नहीं

होता। अर्जुन बोला कि—हे भगवान्! "न मे भक्तः प्रणश्यति,, ऐसी प्रतिज्ञा करनेके लिये आप मुझसे क्यों कहते हैं ?। भगवान्ने उत्तर दिया, कि—हे सखे ! मैं तो जानता ही हूँ, कि—मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता है, परन्तु तू भी लोगोंके सामने प्रतिज्ञा करके कह सकता है, कि—भगवान् का भक्त कभी नष्ट नहीं होसकता ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ३२

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे अर्जुन ! (ये) जो (पापयोनयः—अपि) निकृष्ट जन्मवाले भी (स्युः) हों (स्त्रियः) स्त्रियें (वैश्याः) वैश्य (तथा) तैसे ही (शूद्राः) शूद्र [भवेयुः] हों (ते—अपि) वह भी (माम्) मुझको (व्यपाश्रित्य) भजकर (हि) निश्चय (पराम्) श्रेष्ठ (गतिम्) गतिको (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ

हे सखे ! पाप योनियों में उत्पन्न हुए अन्त्यज स्वभाव से ही दुराचारी होते हैं क्योंकि—जो स्वभाव मरणकालसे पहिले फुरते हैं, उनके ही फलसे अगले जन्म में जाति आयु और भोगकी प्राप्ति होती है, कर्मके फलसे ही जीव

ऊँची नीची योनियों में पहुँचता है, पाप करनेवालों को मैं आसुरी अथवा मूढ़ योनियों में भेज देता हूँ। उपनिषद् में कहा है, कि—जो खोटा आचरण करने वाले होते हैं वह अधम योनि पाते है अर्थात् उनके उस ही कर्मफल से उत्पन्न हुए स्वभावविकाश के उपयोगी माता पिता और शरीर मिलता है इस लिये पूर्वजन्मका पापकारी इस जन्म में अधम जाति में पापमयी प्रकृतिको लेकर जन्म धारण करता है, ऐसे ही मनुष्य पापयोनि कहलाते हैं ऐसे पुरुष भी जब मेरे शरणागत होजाते हैं, तो उनको योगियेंको भी दुर्लभ मेरी प्राप्ति रूप गति प्राप्त होती है, इसमें जराभी सन्देह नहीं है। भक्तशिरोमणि शुकदेवने कहा है, कि—"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरकङ्का यवना खशादयः। येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥" जिन भगवान् का आश्रय लेकर किरात हूण आदि जङ्गली मनुष्य भी शुद्ध होजाते हैं उन भगवान्को प्रणाम है, मेरी सच्ची भक्ति से जो शान्ति मिलती है जो सद्गति प्राप्त होती है वह और किसी से नहीं मिलती। ऐसी अनन्य भक्ति के प्रभाव से ही चाण्डाल गुह, राक्षस विभीषण, पशुयोनि हनुमान्, दैत्य प्रल्हाद, सङ्करजाति विदुर, वैश्य श्रीदामा आदि तथा गोप और गोपि आदि असंख्यों भक्त मेरी कृपा के पात्र हुए हैं। अहो! भक्तिका कैसा अलौकिक प्रभाव है, कैसी महती शक्ति है। भक्तिके प्रभाव से बानरोंको मैंने अपना बन्धु समान माना,

अस्पृश्य चाण्डालको हृदयसे लगाया, ग्वालबालोंके साथ भोजन पाया, स्त्री वैश्य शूद्र कोई भी हों मेरा आश्रय लेने पर निःसन्देह सद्गति पाते हैं॥ पाठको ! कौनसा शुभ समय होगा,कि–जब हम और आप भी ऐसीअनन्य भक्ति का कणमात्र भी पाकर धन्य होंगे ! हे भक्तकल्पतरो ! हे अनाथके नाथ नारायण ! यदि आप कृपा नहीं करेंगे तो हम आपके भक्तिमार्गमें आगेको कभी नहीं बढ़सकते । हे दीनबन्धो ! हे आर्त्तत्राणकर्त्ता ! हमोर ऊपर कृपा करके हम को अपने चरणकमलकी छायामें स्थान दीजिये,हमारी इस, अन्धकार से भरी हुई गिरिगुफा की समान अज्ञानान्धकार से भरी दुर्गम हृदयकन्दरामें अपनी भक्तिरूप निर्मल प्रकाश की मधुर किरणोंका कुछ प्रकाश डाल दीजिये, तो हम धन्य और कृतार्थ होजायँगे । समयके प्रभावसे युगधर्मके कारणसे, अहङ्कारकी प्रबलतासे, कुशिक्षाके दोषसे, खोटे संसर्गकी वासनासे हम निरन्तर भक्तिहीन, कोमलताशून्य और कठोर हृदय होगये हैं, । शास्त्र और गुरुजनोंका उपदेश सुननेमें हमारा चित्त नहीं लगता, श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गमें चलनेको जी नहीं चाहता, सिद्धकाम पुरुषोंके श्रेष्ठ दृष्टान्तोंके अनुसार वर्त्ताव करनेको हमारी बुद्धिमें नहीं समाती, हम धीरे २ सब ही कुछ खोबैठे हैं । ज्ञानके गर्वमें भर कर हम अपने को सबसे श्रेष्ठ मानने लगे हैं और चारों ओरसे घोर अन्धकारने हमको घेर लिया है । पारावार रहित समुद्र में जिसको दिशाका ज्ञान नहीं रहा है, ऐसे मल्लाहकी समान हम डूबनेको होरहे हैं । इस घोर विपत्तिकाल में

हे भक्तवत्सल भगवन् ! आपकी कृपाके सिवाय और कोई हमारा रक्षक नहीं है । हे कृपामय ! कृपा करके भक्ति-रूप अमृतको छिड़क कर इन मरते हुए हतभाग्य जीवोंको फिर जीवन दो । भक्तिरूप बेखटक मार्ग दिखाकर हमको अकूल सागरके पार कर दीजिये, भक्तिरूप निर्मल पवन चला कर हमारे श्वास रुके हुए हृदयको अपना काम साधने की शक्ति दीजिये ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा। अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ३३

अन्वय और पदार्थ

(पुण्याः) सदाचारी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (तथा) वैसे ही (राजर्षयः) राजऋषि (भक्ताः) भक्त [पराम्] पर [गतिम्] गतिको [यान्ति] प्राप्त होते हैं (किम्) क्या है (पुनः) फिर [अतः] इस कारण [त्वम्] तू (अनित्यम्) क्षणभंगुर (असुखम्) अनेकों क्लेशोंसे भरे (इमम्) इस (लोकम्) मनुष्यलोकको (प्राप्य) पाकर (माम्) मुझको (भजस्व) भज ॥ ३३ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! क्या मैं भी आपकी [illegible] कर सकूंगा ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन ! [illegible] भक्तिके प्रभावसे नीच योनियों में उत्पन्न हुए म्लेच्छ

आदि और शास्त्रके ज्ञानसे शून्य स्त्री शूद्र आदि भी परम गतिको प्राप्त होजाते हैं, तो परमशुद्ध वंशमें उत्पन्न हुए, शास्त्र आदि का ज्ञान रखनेवाले, सदाचारी और सब वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण तथा भक्तिसे भरेहुए क्षत्रियवंशी तत्त्वज्ञानी राजर्षि भक्ति के प्रभावसे अनायासमें ही उस परमफलको पावेंगे, इसमें क्या सन्देह होसकता है ? इसलिये हे सखे ! तूने भी असीम पुण्यफलके प्रभावसे राजर्षियोंकी समान ज्ञानसे दिपता हुआ और धर्मसे उज्ज्वल क्षत्रियशरीर पाया है, अब तू अविचल चित्तसे मेरा भजन करनेमें लगजा तो तेरा यह शरीर सफल होजायगा, मुझमें भक्ति करनेके माहात्म्यका पारावार नहीं है, इसलिये शक्तिभर प्रयत्न करके मेरे भजनमार्गमेंको चल तूने सकल पुरुषार्थों का साधन करसकनेवाला यह परमदुर्लभ मनुष्यदेह पाया है । परन्तु यह क्षणविध्वंसी है और इसको धारण करनेमें गर्भमें वास आदि अनेकों क्लेश भोगने पड़ते हैं, न जाने यह किस समय गिर पड़े, इसका कुछ ठिकाना नहीं है, इस लिये तू विलम्ब न करके मेरे भक्तिमार्गकी शरण ले। जब कि-यह शरीर अनित्य और दुःखोंका भण्डार है तो इस को चिरकाल रहनेवाला और सुखमय बनानेकी चेष्टा करना एक प्रकारका पागलपन है । ऐसे वृथा परिश्रमको त्यागकर जिससे अनन्त सुख अपने वशमें होसके वह ही उपाय करना चाहिये, ऐसा करनेकी रीतिमें बड़ा ही परिश्रम उठाना पड़ता है । एकान्त मनसे मेरे भजनमें तत्पर होजानेसे ही उस

परम सौभाग्यके खजानेकी ताली हाथ लगसकती है। इसलिये अनित्य सुखोंके लिये दौड़भाज करना छोड़कर, अनित्य शरीरकी माया ममताको त्याग कर अविचल चित्तसे जबतक अवसर मिल रहा है, मेरी सेवामें लग कर, इस अतिकठिनाईसे मिलनेवाले मानवजन्मको सफल करले, नहीं तो तेरा यह सकल उद्यमोंका साधन करसकनेवाला शरीर, सर्वथा निरर्थक होजायगा, मनुष्यजन्म यों ही जायगा। हे सखे ! भक्तिका बड़ा माहात्म्य है, इसकी और २ अनेकों अनिर्वचनीय शक्तियोंके सिवाय एक बड़ी भारी शक्ति है। भक्तिमार्गमें पैर रखने पर मनुष्य मन्त्रसे मोहित सा होजाता है और उसके हृदयमें बराबर आगेको बढ़नेका साहस उत्पन्न होता चलाजाता है। इस समय जिस पुरुषका हृदय, भक्तिरूप परमशीतल जलकी एक बूँद भी न पड़नेसे मरुभूमिके रेते की समान अत्यन्त ही नीरस, अत्यन्त तापित और भयावना होरहा है वही पुरुष यदि किसी साधु महात्मा की संमति से कुतूहल देखनेके बहानेसे भी यदि भक्तिका जरा सा भी साधन करनेमें लगजाय तो थोड़े ही समयमें उसका वह कठिन हृदय भी कुछ सरस, सुखमय और शान्तिपूर्ण होजायगा। उस समय एक वार उस हतभाग्य पापपीड़ित पाखण्डीका हृदय अपने आप ही क्रमसे भक्तिरूप अमृतजलसे आर्द्र (गीला) होजायगा और थोड़े ही समयमें वह एक भक्तिपूर्ण देवतासमान महापुरुषरूपसे गिनाजाने लगेगा। हे सखे ! भक्तिरूप सबसे उत्तम साधनामें तू सिद्ध

नहीं होसकेगा अथवा बहुतसा परिश्रम करने पर वा बहुत समयमें कामना सिद्ध होगी, ऐसा शङ्का करना तेरी बड़ाभारी भूल है। हे सखे ! शुभ कर्मको करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये, क्यों कि–इस संसारमें विघ्न बाधाओं की कमी नहीं है, न जाने किस समय कौनसी विघ्नबाधा उठकर हमारी वासनाको उखाड़ डाले ! आगेको कौन बात होसकेगी और कौन नहीं होसकेगी, इस विषय में प्राणि मात्र अंधे हैं और होनहार उनके हाथ में भी नहीं है। इस समय ही कोई अनजानी घटना खड़ी होकर हमारे मन की साधना में बाधा डाल देय, इस का कुछ ठिकाना नहीं है। विशेष कर मनुष्य के सकल उद्यम और सकल अभिलाषाओं का साधनरूप यह पञ्चभूतका शरीर क्षणविध्वंसी है मृत्यु हरएक क्षण में क्या बालक क्या जवान और क्या बूढ़ा सबको ही एक रूप से ग्रास करता रहता है। इसलिये मृत्यु के अवश्य होनेवाले आक्रमणसे किस समय जीवलीलाकी समाप्ति होजायगी, इसका कुछ निश्चय नहीं है, इस लिये यदि भक्तिके पवित्र मार्ग में विचरण करना है तो आलस्य में पड़े रहकर यों ही समय बिताना ठीक नहीं है जिस दिन जिस मुहूर्तमें भाग्यवश भक्तिकी साधनाका सदुपदेश कानोंमें पड़े, उसी समय सकल प्रतिकूल चिन्ताओंको त्यागकर इस आवश्यक साधनामें लगजाना चाहिये। हे सखे अर्जुन ! इस शरीर में अनेकों प्रकारके दुःख प्रकट हो जाते हैं। पहिले तो यह अनेकों प्रकारके रोगों का मन्दिर ही है इस लिये अनेकों प्रकारके रोगों की पीड़ायें

प्रायः शरीरको दबाये रहा करती हैं। दूसरे अभिलाषा और वासनायें पूरी न होने पर चित्तका असन्तोष और व्याकुलता भी इसको सदा ही घेरे रहते हैं। तीसरे माया के वशमें रहने के कारण कुटुम्बियोंके वियोगकी असह्य ज्वाला जलाया करती है। हे सखे ! और भी विचार करके देखोगे तो मालूम होगा, कि—इस अनित्य शरीर की रक्षा और पालन करनेके लिये जो प्रबन्ध और उद्योग करनेकी आवश्यकता होती है, उसमें भी बड़े २ क्लेश भोगने पड़ते हैं शरीर को सुख शान्ति पहुँचाने के लिये तथा इसके लिये आवश्यक वस्तुओंको इकट्ठा करनेके लिये जो परिवार आदिको इकट्ठा और अनुयायी रखना पड़ता है, उसमें भी बड़े ही क्लेश उठाने पड़ते हैं। विचार कर देखो तो जिन पदार्थोंको हम बड़े ही प्यारे मानकर अति मोह में पड़ते हुए उनकी रक्षा करते हैं वह सब भी अनेकों क्लेशोंके ही देने वाले होते हैं ! चित्तको स्थिर करके विचार करने पर मालूम होगा, कि—यह शरीर सड़ाँद का भरा हुआ है, मानो दुर्गन्धिका पिटारा है। दोनों नेत्र नासिकाके छिद्र, कानोंके रन्ध्र, मुखरूप गुफा तथा मलद्वार आदि में से बड़ा ही घृणा जनक और थूथू करानेवाला मलका समूह निकला करता है। वह सब मनुष्योंको अपने हाथ से ही साफ करना पडता है। इसलिये यह शरीर बडा ही घिनौना तथा दुःखदायक होनेके सिवाय और कुछ नहीं है। ऐसा क्लेशोंका भण्डार होनेपर भी इससे पुरुषार्थोंका साधन होसकता है। ज्ञानके बल से बलवान् होनेकी योगके प्रभाव से सिद्धि पाने की,

और भक्ति के प्रभाव से मोक्ष रूप परमपद पानेकी इस देह में बडीभारी शक्ति है। इस लिये ही दुःखो का भण्डार और घिनौना होने पर भी इस नाशवान् शरीरके रहते २ पुरुषार्थ साधन के लिये उद्योग कर लेना चाहिये और सकल ज्ञानों का सार, सकल पुरुषार्थों में श्रेष्ठ तथा सकल साधनाओंके शिरोभूषण मेरे चरणोंकी शरण लेना ही सबसे पहिला काम है। यह तुच्छ छोटे २ विषय पहिले तो सुखरूप ही प्रतीत होते हैं, परन्तु परमज्ञान का उदय होने पर तत्काल इन सब विषयोंका मिथ्यापन और असारपना हृदयमें समाजाता है, और जो सुख सत्यस्वरूप है साररूप है तथा अनन्तस्वरूप है उसको पानेके लिये उस समय प्राण और मन व्याकुल हो उठते हैं। उसको पानेका एकमात्र उपाय मेरी भक्ति ही है, इसकारण जबतक यह शरीर शक्तिमान् है, प्राणोंको धारण किये हुए है, इन्द्रियोंके सब कामोंमें प्रवीण है तथा बुद्धि और ज्ञान अपनी प्रकृतिमें हैं तबतक ही असार संसारकी वासनाओंको त्यागकर, खोटे विचारोंको छोड़ कर और मिथ्या साधनाओंकी उपेक्षा करके उस परमपथको स्वीकार कर और अविचल चित्तसे मेरे प्रेमका लोभी बन ३३

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ३४

अन्वय और पदार्थ

(मन्मनाः) मेरे विषैं लगा है मन जिसका (मद्भक्तः) मेरी भक्ति करनेवाला (मद्याजी) मेरा पूजन करनेवाला (भव) हो (माम्) मुझको (नमस्कुरु) प्रणाम कर (एवम्) इसप्रकारसे (मत्परायणः) मेरे विषैं निष्ठा वाला होताहुआ (आत्मानम्) मनको [मयि] मेरे विषैं (युक्त्वा) लगाकर (माम्-एव) मुझको ही (एष्यासि) प्राप्त होजायगा ॥ ३४ ॥

भावार्थ

पहिले कितने ही श्लोकोंमें भक्ति की प्रधानता और उस से प्राप्त होनेवाली परमपदप्राप्तिका उपाय कहकर अब भगवान् उस भक्तिको करनेकी रीति कहते हैं, कि—हे सखे! सब प्रकार शरीर वाणी मनसे मेरे चरणोंका अनुराग होते ही भक्ति की पराकाष्ठा होजाती है। अर्जुनने कहा, कि हे भगवन्! भक्त आपकी आराधना करते हैं आप भक्तोंके ऊपर दया करते हैं, इसलिये भक्तिहीन, अधोगति को प्राप्त, विषयरूप कीचमें सने हुए, पापतापोंसे पीड़ित मनुष्यों के कल्याणके लिये अपने श्रीमुखसे उस भक्तिरूप परमधनकी प्राप्ति का सहज और सुगम उपाय बताकर सुखका मार्ग दिखाइये। यह सुनकर अर्जुनके रथको चलानेवाले नन्दनन्दन भगवान् ने कहा, कि—हे सखे! तू चित्तको सब प्रकार से चिन्ता और आसक्ति-रहित करके मुझमें एकनिष्ठ होजा, मैं श्रीमती देवकी देवी के गर्भ से और परमपूज्य वसुदेवजीके हृदय से जन्म

धारण करके श्री वृन्दावन में नन्दजी के यहां लालित पालित और बडा हुआ हूँ। फिर मामा कंसका संहार करके अब तुम्हारे साथ अटूट प्रेमडोर में बँध गया हूँ, मैं तुम्हारा, समान उमर, परम हितैषी और अभिन्न हृदय बान्धव हूँ और तू मेरे पहिले वृत्तान्तको स्मरण करके मुझे कभी२ परम-पुरुष न जाने ऐसा भी होसकता है। तू परमज्ञानी और सकल ज्ञानियों में उत्तम होने पर भी कभी २ अपने चि में भ्रम में पड़कर मुझे समान अवस्था के सखा के सिवाय और कुछ न समझे ऐसा भी होसकता है, इसलिये मैं सावधान करनेके लिये तुझसे कहे देता हूँ, कि—हे अभिन्नहृदय मित्र ! तू मन्मना हो अर्थात् सांसारिक सुखकी साधक सकल चिन्ताओंको त्यागकर अनन्य मनसे मुझमें आसक्त होजा ' तेरे स्त्री और पुत्र हैं, सगे भाई और कुटुम्बी है, तेरे पास बडे २ ऐश्वर्य और भोगकी वासना है, इन सबोंके ही ऊपर तेरे चित्त में थोडा वा बहुत अनुराग है। परन्तु हे भैया ! इन सबके ही अनुरागको सर्वथा त्यागकर सच्चे अन्तःकरणसे एक मुझमें ही निष्ठा कर। केवल मुझमें निष्ठा बांधलेने से ही काम सिद्ध हुआ न समझ लेना, क्योंकि-भक्ति-हीन निष्ठासे बडी हँसी होती है। मुझमें भक्तिहीन होकर भी तू मदेकनिष्ठ होसकता है, मेरे उपदेश को सुनकर तू अपने मनमें यह समझसकता है, कि—मैं तुझसे केवल मन्मना होनेको कहता हूँ, उसमें भक्तिकी कुछ आवश्यकता नहीं है। इसलिये साथ ही साथ में अनुरोधके साथ सावधान किये

देता हूँ, कि-तू मद्भक्त भी हो। मुझे वसुदेवकुमार वा यशोदानन्दन न समझकर इस जगत्‌का आदि कारणरूप और पूर्ण पुरुष मान तथा कमलासन पर विराजमान हिरण्मय शरीरधारी केयूर किरीट कुण्डलों से शोभायमान दिव्य पुरुष जानकर भक्ति करनेमें प्रवृत्त हो। इस असार संसारमें सब ही क्षणविनाशी हैं और मायाके कारण प्रकाशित होरहे हैं। केवल एक मैं ही सत् और अनादि पुरुष हूँ। हे प्यारे मित्र अर्जुन ! ऐसे परमज्ञानरूप प्रकाशसे मोहरूप अन्धकारको दूर करके हृदयमन्दिरमें मेरी नवीन घनघटाकी समान श्यामसुन्दर मूर्त्तिको स्थापित कर और भक्तिरूप चन्दनसे चुपड़ी हुई प्रीतिपुष्पाञ्जलिको लेकर मेरी पूजा कर, केवल भीतर ही मेरी भक्तिको रखनेसे काम सिद्ध नहीं होगा, किन्तु बाहरी कामोंमें भी निरन्तर उस भीतरी भक्तिका परिचय देना होगा, इसलिये कहकर सावधान किये देता हूँ, कि-हे सखे अर्जुन ! तू 'मद्याजी' अर्थात् मेरे पूजनमें तत्पर हो। लौकिक व्यवहारमें जो पूजनकी विधि बतायी गयी है तू उस सबके अनुसार ही क्रमसे मेरी पूजा करनेमें लगजा, जिससे अपने अन्तःकारणमें और बाहर एकसमान बजनेवाली वीणाके समान एक स्वर और समानभावसे मेरी पूजारूप मधुर राग नित्य बजता रहै। इसप्रकार बाहर और भीतरकी सकल इन्द्रियोंको एकान्तरूपसे मेरी भक्तिमें आसक्त और मेरी पूजाका अभ्यासवाली करसकेगा तो अपने आप ही प्रेममें भरकर तेरा शरीर मेरे चरणोंमेंको नवने लगेगा और भक्ति

रूप परमधनको पाकर तेरा अन्तःकरण आनन्दके साथ मेरी ओरको झुकनेलगेगा। ऐसी दशा होजाने पर तू धन्य और कृतार्थ होजायगा। हे सखे! ऐसी भक्तिनिष्ठा और एकाग्रताको धारकर मुझे सकल शुभ फलोंका देनेवाला जानता हुआ सदा भूमिमें लोटकर मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम किया कर। हे प्यारे अर्जुन भैय्या! मैंने जो तुझे यह उपदेश दिया है इस का कोई अनुष्ठान कठोर वा दुष्कर नहीं है। तू सावधान मनसे इस सब अनुष्ठानको करेगा तो क्रमसे साधना और अभ्यासके कारण पूर्णरूपसे मत्परायण होजायगा। उस समय तेरा खाना, सोना, हँसना, बोलना, भोग और चिन्तवन यह सब ही मेरे निमित्तसे होने लगेंगे, उस समय तेरे सब भोग मुझमें ही पहुँचकर समाप्त होंगे और तेरी सब अभिलाषायें मुझमें ही पहुँच कर पूरी होंगी। जब तू इस अवस्थामें पहुँच जायगा उस समय ही मत्परायण गिनाजायगा। इसप्रकार मत्परायण होजाने पर जब तू एकान्तरूपसे मन्मयताको प्राप्त होजायगा उसी समय तेरी साधना समाप्त होजायगी। जब तू अन्तःकरणमें और बाहर, पास और दूर, कल्पनामें और प्रत्यक्ष केवल एक मुझको ही देखेगा, जब तू सच्चे हृदयसे एक मुझ में ही मग्न रहेगा, उसी समय हे भक्तशिरोमणि मित्र! तुझे मद्युक्त गिनाजायगा। फिर सकल फलोंके साररूप, सकल कामनाओंकी सिद्धिरूप, सकल वासनाओंकी परा काष्ठारूप, सकल इच्छाओंके छोररूप और सकल परिश्रमों के अन्तिम फलरूप परमपदको तू पाजायगा। हे भैय्या!



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

दशमोऽध्यायः

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आपके ऐश्वर्य मधुरता आदि गुणोंमें मनके मग्न हुए विना आपके ऊपर भक्तिका प्रवाह नहीं ठहरसकता, इसलिये ऐसा उपाय बताइये, कि–जिसमें भक्ति प्रवाह रूपसे ठहरी रहै–

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः। यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

अन्वय और पदार्थ

(श्रीभगवान्) श्रीकृष्णजी (उवाच) बोले (महाबाहो) हे भुजबलवाले अर्जुन (भूयः एव) फिर भी (मे) मेरे (परमम्) श्रेष्ठ (वचः) वचनको (शृणु) सुन (यत्)

जिसे श्रेष्ठ वचनको (अहम्) मैं (प्रीयमाणाय) प्रीतिका अनुभव करनेवाले (ते) तेरे अर्थ (हितकाम्यया) हितकी इच्छासे (वक्ष्यामि) कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन! मेरा स्वरूप दो प्रकारका है। (१) एक तो सोपाधिक है, यह रूप और गुणोंसे युक्त है। प्रकृतिके साथ मिलकर ही मैं उपाधिको ग्रहण करता हूँ। (२) और मेरा दूसरा स्वरूप निरुपाधिक है, यह रूप और गुणोंसे रहित है। यह प्रकृति से अलग है। ज्ञानयोगसिद्धि के लिये मेरे सोपाधिक स्वरूपकी भावना करनी चाहिये। प्रकृति से पुरुष भिन्न है, ऐसा अनुभव करना ही ज्ञान है। ध्यानयोग की सिद्धि के लिये मेरे निरुपाधिक स्वरूपकी भावना करनी चाहिये। स्वयं अपने भावमें स्थित रहना ध्यान कहलाता है। सातवें अध्याय में मैंने अपनी अपरा प्रकृति और परा प्रकृति का वर्णन करके अपना तत्त्व कहा है और "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" इत्यादि में विभूतिका तत्त्व दिखाया है, वह उपासना के लिये है। आठवें अध्यायमें कहा है, कि-इस देहमें यज्ञपुरुष मैं ही हूँ- "अधियज्ञोऽहमेवात्र" जो सबही कामों को यज्ञरूपसे सम्पन्न करसकते हैं। स्नानमें, भोजनमें, भ्रमणमें और योगाभ्यास में जो इस विराट पुरुषकी उपासना करते हैं वह क्रममुक्ति को पाते हैं। नवम अध्यायमें मैंने अपने स्वरूपका तत्त्व कहा है। अव्यक्त मूर्त्ति से मैं जगत्‌में किसप्रकार व्याप रहा

हूँ। सकल भूत किसप्रकार मुझमेंसे प्रकट होते हैं और किसप्रकार मुझमें ही समाजाते हैं। अथवा यह सकल भूत मायाजनित होनेके कारण मैं ही हूं, मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं यह बात किसप्रकार है। और जबतक मायाका व्यापार है तबतक मैं सकल भूतोंका आत्मारूपसे रहकर भूतोंका पालन करने पर भी सकल भूत मुझमें नहीं हैं,यह सब कहचुका हूँ। किस प्रकार परम पुरुष की उपासना की जाती है। किस प्रकार "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्" उपासनाके द्वारा उसको एकभावसे कभी पृथक्भाव से वा कभी सर्वभावसे पूजा जाता है, यह सब बात कह चुका हूँ। इस नवम अध्यायमें " अहं क्रतुरहं यज्ञः" इत्यादि के द्वारा अपनी विभूतियों का वर्णन करके विश्वतोमुख की पूजा किसप्रकार कीजाती है, यह भी कह-चुका हूँ। ७म ८म और ९म अध्यायमें जिस विभूतिका वर्णन किया है, उसको ही अब इस १०वें अध्यायमें विस्तारके साथ कहता हूँ, इसको सुन कर तू मेरे ध्येयरूप और ज्ञेयरूप दोनों की धारणा करसकेगा और इसप्रकार तू मेरे सर्वतोभावमें पहुँचजायगा, विभूतियों का ज्ञान सोपाधिक है, ज्ञानका उपायरूप है, इसलिये मैं तुझे सोपाधिक तत्त्व बिभूतियोगके द्वारा समझाता हूँ। इस श्लोक में भगवान्ने अपने भक्तोत्तम सखा अर्जुनके लिये "प्रीयमाणाय" कहकर यह जताया है, कि—जैसे अमृत के पीने से परम आनन्दका अनुभव होता है तैसे ही मुझ परमेश्वर के

वचन रूप अमृतको पीने से तू आनन्द और प्रीतिका अनुभव करता है, इसकारण मैं तुझे फिर भी उपदेश देता हूँ, तथा "प्रीयमाणाय" पद से यह भी सूचित किया है, कि-इनके उपदेश को सुनने से मेरे मनोरथकी सिद्धि अवश्य ही होगी, ऐसी दृढ़ताके साथ जो पुरुष प्रीतिपूर्वक उपदेशको सुनै उस अधिकारी पुरुषको ही तत्त्वज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्याका उपदेश करै, प्रीति से रहित पुरुषको ब्रह्मविद्याका उपदेश न देय। तथा भगवान्ने अर्जुनको जो "महाबाहो" संबोधन किया है, उससे सूचित होता है, कि-अर्जुन युद्धविद्याका पारदर्शी है, ऐसा कठोरहृदय वीर पुरुष भी तत्त्वविद्याको बड़े प्रेमके साथ सुनता है, भगवान्के वचनोंको सुनकर उस वीर पुरुषका हृदय प्रेम और भक्ति से विगलित होगया है, और उसका अन्तःकरण आनन्द से परिपूर्ण होरहा हैं, भगवान् की तत्त्वकथाका उसने पूर्ण रूप से मनन किया है और इस उपदेशको अन्तपर्यन्त सुनने का अधिकारी हो गया है, ऐसे आग्रहयुक्त योग्य अधिकारी शिष्यकी ज्ञानपिपासा गुरुको अवश्य ही दूर करनी चाहिये, इसलिये ही श्रेष्ठ शिष्य जो अर्जुन तिसका हित करनेकी इच्छा से परमदयालु भगवान् अपना तत्त्वोपदेश विशदरूप से सुनानेको उद्यत होकर कहते हैं, कि-हे सखे ! तू मेरे परम (श्रेष्ठ) बचनको सुन ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणा प्रभवं
न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां

महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥ २ ॥

अन्वय और पदार्थ

(सुरगणाः) सकल देवगण (मे) मेरी (प्रभवम्) उत्पत्ति को (न) नहीं (महर्षयः)महर्षि (न) नहीं (विदुः) जानते हैं (हि) क्योंकि (अहम्) मैं (देवानाम्) देवताओंका (महर्षीणाम्) महर्षियोंका (च) भी (सर्वशः) सब प्रकारसे (आदिः) आदि कारण हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ

पहिले श्लोक में भगवान्ने अपनी विभूतियों का तत्त्व विस्तार के साथ वर्णन करनेके लिये कहा है। उन विभूतियो को विस्तार के साथ वर्णन करनेकी आवश्यकता क्यों है यही बात इस श्लोक में कहते हैं। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन् परमात्मतत्त्वके प्रकाशक वचनोंको आप स्वयं ही क्यों कहते हैं, ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन! इन्द्रादि सकल देवता और भृगु मरीचि आदि महर्षि(१) नहीं जानते कि—मेरी शक्ति सामर्थ्य कितनी है ? किस प्रकार मेरे प्रभाव से सृष्टि पालन संहार होते हैं ? मेरा प्रभाव बड़ा दुर्ज्ञेय है। यह सत्य है, कि—देवताओं में अनेकों प्रकारकी शक्तिये हैं और महर्षि अतीन्द्रिय बातों को भी जान सकते हैं, परन्तु यह भी अवश्य ही मानना पड़ेगा, कि—वह देवता और महर्षि अनादि तथा अनन्त नहीं हैं; वह सब मेरे ही

(१) भृगुर्मरीचिरत्रिश्च आङ्गिराः पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वशिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥ ,,

रचे हुए हैं और मेरे नियमों के वशमें हैं। अपने २ गुण, कर्म, बुद्धि विद्या और योग्यता के अनुसार उन्होंने मेरे अनुग्रह से ही अपना २ पद शक्ति और माहात्म्य पाया है, किन्तु मैं अनादि और अनन्त हूँ, मेरी शक्ति और पराक्रम का पार नहीं है, इसलिये मेरे रचे हुए इन्द्रादि देवता और महर्षियोंको सबके आदि और अनन्त रूप मेरे तत्त्वका सम्यक् ज्ञान हो यह असम्भव है। देवता हों चाहे महर्षि, सबका ही निमित्त कारण और परम उपादान मैं हूँ इसलिये उनको मूलशक्तिरूप मेरा पूर्ण ज्ञान सहज में नहीं होसकता, इसलिये ही मैं कहता हूँ, कि-देवता और महर्षि परमात्मतत्त्व को यथावत् नहीं जानते हैं। मैं अनादि हूँ, अपने दिव्य गुण विभूति ऐश्वर्य आदि के साथ सदा वर्त्तमान रहता हूँ। इन्द्रादि देवता, नारदादि देवर्षि और मरीचि आदि महर्षि ये सब ही मुझ परम स्रष्टाकी इच्छाके अनुसार उत्पन्न होते हैं और मेरी मर्यादाके अनुसार अपने २ गुण धर्मोंके अनुकूल प्रभाव और ऐश्वर्य आदिको पाते हैं, इसलिये इन की सृष्टि से पहिले भी सच्चिदानन्दस्वरूप मैं विराजमान रहता हूँ, मेरे नाम कर्म आदिका पूर्ण ज्ञान मुझसे पीछे उत्पन्न होने वाले प्राणीयोंको कदापि नहीं होसकता। पिताके विना बताये पुत्र कभी भी पिता के जन्मके तत्त्वको नहीं जानसकता, मेरे अनुग्रह के विना मुझे कोई भी नहीं जान सकता, श्रुति कहती है- "को वा वेद, क इह प्रावोचत्, कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिर्वाग् देवाः। अस्य विस-

जैननाथ को वेद यत आबभूवेति नैतद्देवा आभुवन् पूर्व मर्शीदिति चैवमाद्याः ।,, अर्थात्- परमात्मतत्वको कोई नहीं जानता, इस तत्त्वको किसने प्रकाशित किया है ! इसका अविर्भाव कहां से हुआ ? इसकी सृष्टि कहां से हुई ! सब देवता इसके ही रचे हुए हैं, इसलिये इसको कौन जानै- ? देवता जिससे आप प्रकट हुए हैं, उस को नहीं जानते ॥ २ ॥

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् । असंमूढः स मर्त्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वय और पदार्थ

(यः) जो (माम्) मुझको (अनादिम्) नहीं है कोई कारण जिसका ऐसा (अजम्) जन्मशून्य (लोकमहेश्वरम्) लोकोंका महान् ईश्वर (वेत्ति) जानता है (सः) वह (मर्त्त्येषु) लोकोंमें (असंमूढः) मोहरहित [सन्] होता हुआ (सर्वपापैः) सकल पापों से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आपने जो कहा, कि—मेरे इस दुर्विज्ञेय तत्त्वको जानना मनुष्यों के लिये तो बहुत ही दूरकी बात है ही, परन्तु देवता और महर्षि तक भी नहीं जानते, वह आजन्म साधना करते २ अन्तमें सकल पापों

से शून्य होकर परम पदको पाते हैं, इस तत्त्वको मैं ठीक २ नहीं समझा,आप विस्तारके साथ कहकर समझाइये। भगवान् ने कहा, कि-हे सखे! जो पुरुष जन्मरहित सनातन ब्रह्माण्डपति रूप मेरा अटल विश्वासके साथ मेरा ध्यान करसकते हैं वह पुण्यात्मा परमभक्त सब प्रकार से मोह आदिसे रहित होकर और इस शरीरमें इस जन्ममें इकट्ठे कियेहुए सकल पापोंके लेपको धोकर मुक्तिरूप परम धनको पाते हैं। अर्जुन ने कहा, कि-हे भगवन्! जब आप स्पष्ट मनुष्यरूप दीख-रहे हैं, श्रीमती देवकी देवीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं, फिर आपको अजन्मा कैसे मानलियाजाय ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे अर्जुन! मैं जब कंसके बन्दीगृहमें वसुदेवजी की सन्तान रूपसे प्रकट हुआ था, उस समय मेरा कलेवर आयुध और आभूषण आदि दिव्य थे, परन्तु माता पिता की व्याकुलता को दूर करनेके लिये मैं उस सबको अपनी मायासे समेट कर मनुष्यरूप होगया था तथा यह भी ध्यान में रखने की बात है, कि—मैं प्राणियोंके हितके लिये लौकिक लीलायें करनेकी अभिलाषासे मनुष्यरूपमें प्रकट होगया था, उस प्रकट होनेसे पहिले भी मैं अपने लोकमें अपनी विभूति आदिसे युक्त होकर अनन्तकालसे विराजमान था, इसलिये कंसके वन्दीगृहमें मेरा प्रकट होना आदिजन्मरूप से कदापि नहीं मानाजासकता, यह मूर्त्ति मेरे सगुण परमभाव ने धारण की थी। इस भावको तू मनुष्यबुद्धिसे न देखकर जन्म रहित सकल कारणोंके कारणरूपसे देख। क्योंकि-महाप्रलय के

अन्तमें भी मैं महत्स्वरूप परम पुरुष अटल भावसे विराजमान रहता हूँ। सैंकड़ों सहस्रों असंख्य युग बीते चलेजाते हैं परन्तु मैं अक्षय अविनाशी पुरुष अक्षुण्णभाव से विराजमान रहता हूँ, ऐसे मेरी आदि का निर्णय कौन करसकता है? मैं लोकमहेश्वर हूँ। पुरुषार्थी मनुष्य राजपदवी वा सम्राटपदवी को पाजाते हैं, अनेकों यज्ञ करनेके फल से इन्द्र आदि देवता स्वर्ग आदि लोकों पर प्रभुता स्थापन करते हैं, परन्तु मैं इन सकल सौभाग्यवान् ईश्वरोंकी अपेक्षा प्रधान हूँ। मैं भूः भुवः स्वः आदि सब ही लोकोंका ईश्वर हूँ। हृदयमें मोहान्धकार का कणमात्र भी रहनेसे मेरे परमभावके तत्व का ज्ञान नहीं होसकता। निर्मल भक्तिरूप मधुर प्रकाशसे जिस की हृदयकन्दरामें का मोहान्धकार निःशेष रूपसे दूर होजाता है, वह ही मेरे परमभावके असली तत्व का निश्चय कर- सकता है। ऐसा महात्मा लोकमें सकल भाग्यवानों का शिरोमणि है और सकल पुण्यवानों का पूजनीय है। ऐसे महात्माने यदि जन्म जन्मान्तरोंमें ढेरके ढेर पाप किये होते हैं अथवा इस जन्ममें ही ज्ञानका प्रकाश होने से पहिले भ्रम वा मोह में पडकर दुष्कर्मी होनेके कारण जो बहुत से पाप किये होते हैं, वह सब इस भक्ति के द्वारा उत्पन्न हुए मेरे परमभाव के तत्त्वज्ञान से अतिसहजमें धुलजाते हैं। उस समय मनुष्योंकी बात तो दूर रही, देवता भी उन की प्रशंसा करते हैं तथा उनको अपना बडा मानने लगते हैं, और उनकी शरण लेते हैं। उस समय मुक्ति उनके साथ

साथ फिरती है और वह परम गतिको प्राप्त होजाते हैं। इस विषयको पुष्ट करनेके लिये भगवान् रामानुजाचार्यने अपने भाष्यमें दो श्रुतियें लिखी हैं-"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥" अर्थात् जो निष्कल कहिये अंशरहित है, निष्क्रिय कहिये क्रियाशून्य है, शान्त कहिये रागादिशून्य है, निरवद्य कहिये निर्दोष है, निरञ्जन कहिये निर्मल अमरत्वको पानेका एक मात्र उपायरूप है, और जिसका जलाने योग्य सकल पदार्थ दग्ध होगया है अर्थात् जो स्वयं दीप्तिमान् है, हम उस पुरुषकी शरण हैं। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥" अर्थात्-जिस परमपुरुषने पहिले ब्रह्मा जीको रचा, जिसने पहिले उनको सकल वेद दिये, मैं मुक्तिका अभिलाषी होकर आत्मज्ञानसे प्रकाशित उस परम पुरुषकी शरणागत हूं ॥ २ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ४

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ५

अन्वय और पदार्थ

(बुद्धिः) सूक्ष्म विषयोंका विवेक करने की अन्तः-करणकी चातुरी (ज्ञानम्) यह आत्मा है यह आत्मा नहीं है इस प्रकार सकल पदार्थोंका जानना (असंमोहः) व्याकुल न होना (क्षमा) सहनशीलता (सत्यम्) यथार्थ भाषण करना (दमः) बाहरी इन्द्रियोंको वशमें रखना (शमः) अन्तःकरणको रोके रहना (सुखम्) आल्हाद (दुःखम्) सन्ताप (भवः) उत्पत्ति (अभावः) नाश (भयम्) डरना (च) और (अभयम्-एव) निर्भय होना भी (च) और (अहिंसा) किसीको भी किसी प्रकार की भी पीड़ा देनेसे बचे रहना (समता) राग द्वेष आदिसे रहित होना (तुष्टिः) सन्तोष (तपः) शास्त्रकी विधिके अनुसार शरीर का निग्रह करना (दानम्) श्रेष्ठ उपायसे पैदा किये हुए धनका योग्य पात्रको देना (यशः) उत्तम कीर्त्ति से उत्पन्न हुई प्रसिद्धि (अयशः) अपयश से उत्पन्न हुई निन्दा [एते] ये (भूतानाम्) प्राणियोंके (पृथग्विधाः) नाना प्रकारके (भावाः) भाव (मत्तः-एव) मुझ ईश्वरसे ही (भवन्ति) होते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आपने ऊपरके श्लोकमें अपनेको सर्वलोकमहेश्वर कहा था, सो आप सर्वलोक-महेश्वर कैसे हैं ? । भगवान्‌ने कहा कि-हे सखे ! मैं नित्य पुरुष ही मनुष्यों के भोगाभोगकी सब व्यवस्था करता हूँ, मेरी व्यवस्था के अनुसार ही मनुष्य सब कुछ पाते हैं ।

मनुष्योंकी अनेकों प्रकारकी अवस्थायें अनेकों कारणों से होती हैं वह सब कारण मुझ से ही होते हैं। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन् ! मनुष्योंके सकल गुण और सब भाव आप से किसप्रकार उत्पन्न होते हैं, यह बताइये ?। भगवान्ने कहा कि-हे सखे अर्जुन ! मनुष्योंके बुद्धि ज्ञान आदि भाव मुझसे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, उसको सुन। यथा-बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म बातोंका निश्चय करनेमें अन्तःकरणकी शक्ति अथवा सार असार के विषय में विवेक, क्योंकि- बुद्धि सूक्ष्म होने पर जड़ से चैतन्य को अलग करके मनुष्य सार वस्तुका निश्चय करलेता है। ज्ञान अर्थात्-बुद्धि के द्वारा आत्मा और अनात्मा आदि सकल पदार्थों का बोध होना अर्थात् विचारपूर्वक अनुभव का नाम ज्ञान है। उस ज्ञानके होजाने पर फिर किसी भी वस्तु को पाने के लिये व्याकुलता नहीं होती है, जब आत्मा और अनात्मा को जान लिया तब मोह आही कैसे सकता है, इसका ही नाम असंमोह है। क्षमा-जब सत्य विषय को जान लिया तब चाहे कोई आदर करै चाहे कोई ताड़ना करै इससे चित्तमें विकार उत्पन्न नहीं होता है, इस लिये सब कुछ सह लिया जाता है, अभ्यास होजाने पर यदि मनमें विकार उठता भी है तो उसको असत्य मानकर अवि-कारी दशा में स्थित रहना बन सकता है, अर्थात् मोहका व्यापार दूर होते ही क्षमा आजाती है, कोई तिरस्कार करता है पीड़ा देता है उसको बडा बलवान् होकर भी ज्ञानके कारण

से वा मोहशून्य होनेके कारण से जिस वृत्ति के द्वारा सह लेता है उसकाही नाम क्षमा है। सत्य—जैसा देखा हो, जैसा सुना हो जैसा अनुभव किया हो, वह दूसरेको तैसा ही समझाने के लिये जो वाणी उच्चारण की जाती है उसका ही नाम सत्य है। दम—बाहरी इन्द्रियोंका निग्रह जिस वृत्ति के द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियोंको रूप आदि विषयों से लौटा कर आत्मा के श्रवण मनन आदि व्यापार में लगाया जाता है उसका ही नाम दम है "बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्त्तनम्" जब आत्माके वर्णन को सुनते २ और विषयोंको देखने वा सुननेकी इच्छा नहीं होती है उस समय रूप रस आदि के सामने पड़ने पर भी जो आत्मामेंको लौट आना है वही दम है, नहीं तो मैं देखूंगा, नहीं, मैं सुनूंगा नहीं ऐसा निश्चय करके दो चार दिनको इन्द्रियनिग्रह मात्र होता है और दम तो तब ही होता है जब एक आत्माको ही देखने वा सुननेकी अनन्य-रुचि होती है। शम—मनके निग्रह का नाम शम है, मनको और बातोंके विचार में न लगने देकर जिस वृत्तिके द्वारा मनको आत्मा के श्रवण मनन में लगाया जासके उसका ही नाम शम है। सुख—एक जातिकी वस्तु उस ही जातिकी वस्तुकी उत्तेजक है; सत्व रज तम आदि भीतर और बाहर रहते हैं, बाहरी वस्तुओं में रहने वाला सुखधर्मी सत्व और अन्तःकरणमें रहने वाला सुख धर्मी सत्त्व, ये दोनों सत्व इन्द्रियोंके द्वारा खिंचकर समीप वर्त्ती होनेपर दोनों ही दोनोंके उत्तेजक होते हैं।

अन्तःकरणका सत्त्व अंश उत्तेजित होने पर वह सत्त्व अंश परिणामको प्राप्त होकर एक आश्चर्यमयी सुखाकार वृत्तिको उत्पन्न करता है, ऐसे ही तम उत्तेजित होकर दुःखाकार वृत्तिको उत्पन्न करता है, इसलिये मनकी अनुकूल वृत्तिका नाम सुख है वह सुख धर्मसे उत्पन्न होता है। दुःख–मनकी प्रतिकूल वृत्तिका नाम दुःख है, वह दुःख अधर्म से उत्पन्न होता है। भव–उत्पत्ति अथवा जन्म। अभाव–नाश वा मृत्यु। भय–आनेवाले दुःखका हेतु दीख जानेसे उत्पन्न हुआ त्रास। अभय–आगेको दुःख न होनेका हेतु मालूम होजाने पर आल्हाद। अहिंसा–किसी भी जीवको किसी प्रकार भी कभी भी दुःख न देने की इच्छा। समता–शत्रु मित्र आदि के साथ एकसा भाव रखना वा राग द्वेष आदि से रहित अवस्था। तुष्टि– जो कुछ मिल जाय उसमें ही सन्तोष मानना अथवा कोई भोग्य वस्तु मिलजाने पर भी इस का क्या होगा ऐसी पर्याप्त बुद्धि। तप–वेद शास्त्रों में लिखी रीति से इन्द्रियोंका संयम करके शरीर का निग्रह करना अर्थात् शास्त्रानुसार भोगसङ्कोचरूप काय-क्लेश। दान–न्याय से पैदा किया हुआ धन देश काल और पात्रका विचार करके श्रद्धा के साथ देना। यश–धर्माचरण के कारण संसारमें कीर्त्ति होना अथवा उत्तम गुणों से प्रसिद्धि होना। अयश–अधर्माचरणसे लोकमें निन्दा होना। मनुष्योंकी ये सब भिन्न भिन्न अवस्थायें अपने २ गुण कर्मोंके अनुसार मुझसे ही होती हैं अर्थात् सकल

मनुष्योंका और उनकी नाना प्रकारकी अवस्थाओंका नियामक और व्यवस्थापक एकमात्र मैं ही हूँ। हे सखे! अब तू समझ गया होगा कि-मैं सर्वलोकमहेश्वर हूँ। मनुष्य-समाजमें सर्वदा ही देखनेमें आता है, कि-किसी २ पुरुष की बुद्धि, ज्ञान, भय, हिंसा आदि वृत्तियें सर्वसाधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक प्रबल होती हैं। किसी २ की मनकी वृत्ति किसी २ विषयमें बड़ी तीक्ष्णताके साथ विकसित होती है और दूसरे मनुष्योंके मनकी वृत्ति उसी विषय में बहुत ही क्षीण देखनेमें आती है, एक मनुष्य तो ऐसा होता है, कि-जो एक विषयका स्मरण आते ही भयके मारे चित्तमें घबड़ा उठता है और दूसरा मनुष्य ऐसा होता है, कि-वह निःसङ्कोच बड़े साहस के साथ उसी काममें आगेको बढ़ता चला जाता है। किसी काममें एक पुरुषकी बुद्धिका स्वभावसे ही बड़ा भारी स्फुरण होता है तथा उसी काममें और एक मनुष्यकी बुद्धि कितना ही उद्योग करनेसे भी प्रविष्ट नहीं होती। और यह भी देखनेमें आता है, कि-एक मनुष्य जिस कामको परमकल्याणकारी तथा कीर्त्तिकारी मानता है तो दूसरा पुरुष उस ही को बड़ा निन्दित और अपयश देनेवाला समझता है। मनुष्योंके अनेकों प्रकारके भाव मेरी व्यवस्थाके अनुसार ही प्रवृत्त होते हैं। यहां सहजमें ही शङ्का होसकती है, कि-ये नाना प्रकारके भेद और न्यूनाधिकभाव किस कारणसे होते हैं?, इसका उत्तर यही है, कि-भोग्याभोग्यकी न्यूनाधिक अवस्थासे होनेवाले उलटफेरमें एकमात्र मेरे ही नियामक होने

पर भी उस मनोवृत्तियोंकी विभिन्नताको मनुष्य, प्रारब्धसूत्र में बँधकर अपने २ जन्मजन्मान्तरोंमें इकट्ठे किये हुए पाप पुण्य गुण कर्म और योग्यताके अनुसार यथोचित फलरूप से भोगते हैं। अन्यजन्मोंमें किये हुए कर्मोंके उचित फल को पाने की व्यवस्था मेरे ही द्वारा होती है। असमञ्जसता और फल पानेमें भेद होना मनुष्यके अपने किये हुए कर्मों का परिणाम है। इसी लिये ये सब एकसमान कभी देखनेमें आ ही नहीं सकते। और यदि सब विषयोंमें सब मनुष्यों की समता हो तब तो सृष्टिकी परम अद्भुत मधुरता और कल्पनामें न आनेवाली कविताका विध्वंस होजाय दुर्दमनीय आशा और हास्यजनक दुरभिलाषा मनुष्योंको मतवाला बनाकर निरन्तर कर्मसागरमें डुबोती रहती है! उद्यम और अध्यवसाय उनको निरन्तर असाध्य साधन के लिये उत्तेजित करता रहता है। सुख और दुःख भय और साहस निरन्तर मनुष्योंको क्रमसे प्रफुल्लित वा खिन्न करते २ कार्यधारामें बहाते रहते हैं। एकसाथ आनन्द और मानसिक दुःख उनको चक्कीमें पीसते २ कुछका कुछ करदेते हैं। यह सबकुछ मेरी इच्छानुसार मेरे नियम और मेरी व्यवस्था से होता है। इसकारण ही इस दुःखमयी वसुन्धराको परमसुख का भवन मान कर मनुष्य बलीवर्दकी समान आंखें मूंदे हुए सोते रहते हैं तथा कभी सुखको दुःख और कभी दुःखको सुख मान कर प्रसन्न वा खिन्न हुआ करते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मन-

वस्तथा । मद्भावा मानसा
जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ६

अन्वय और पदार्थ

(सप्त) सात (महर्षयः) महर्षि (पूर्वे) पहिले (चत्वारः) चार सनकादि (तथा) तैसे ही (मनवः) मनु [एते] ये (मद्भावाः) मेरा चिन्तवन करनेवाले (मानसाः, जाताः) मैंने मनसे उत्पन्न किये हैं (लोके) लोकमें (इमाः) ये ब्राह्मण आदि (येषाम्) जिनकी (प्रजाः) प्रजा हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! क्या इन मनुष्योंके सकल भावों को उत्पन्न करनेवाले होनेसे ही आप लोकमहेश्वर हैं ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! और भी सुन—सृष्टि की आदिमें उत्पन्न हुए, वेदोंके पाठ तथा अर्थको भलीप्रकार जाननेवाले, सर्वज्ञ और वेदविद्या के संप्रदायोंको चलानेवाले भृगु आदि महर्षि तथा सृष्टि के आदिकाल में उत्पन्न हुए सनक सनन्दन सनातन और सनत्कुमार ये महाऋषि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु भी मुझ से ही उत्पन्न हुए हैं ये महर्षि और मनु सदा मद्भाव रहते हैं । जिन का मुझ परमात्माके विषैं भाव कहिये भावना है वह मद्भाव कहलाते हैं अर्थात् मुझ परमेश्वरकी चिन्तवनरूपा भावना से उनको

मेरा ज्ञान ऐश्वर्य और नाना प्रकारकी शक्तियें प्राप्त हुई हैं तथा वह मानस हैं अर्थात्-मेरे मनके सङ्कल्पमात्र से उत्पन्न हुए हैं अन्य प्राणियोंकी समान योनि से उत्पन्न नहीं हुए हैं, इसप्रकार विशुद्ध जन्मवाले होनेके कारण ही वह सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं। अर्जुन ने कहा, कि-हे भगवन्! शास्त्र में लिखा है, कि-"योनिं विना न शरीरम्" योनि के विना तो शरीर की उत्पत्ति होती ही नहीं फिर आप महर्षियोंको अयोनिज कैसे कहते हैं? । भगवान्ने उत्तर दिया, कि- हे सखे! शास्त्र में जो योनि से उत्पत्ति कही है वह योनि शब्द स्त्रीकी योनिका वाचक नहीं है, किन्तु उस योनि शब्दका अर्थ कारण है अर्थात् कारण के विना शरीर उत्पन्न नहीं होता है। हे सखे! उन ही भृगु आदि सात महर्षि सनकादि चार महर्षि और स्वायंभुव आदि चौदह मनुकी इसलोक में जन्म करके तथा विद्या से यह ब्राह्मण आदि सब प्रजा सन्तानरूप है, ये सब महर्षि और मनु सृष्टिके आदि काल में हिरण्यगर्भ रूप मुझ परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए थे। महर्षियोंके नाम पुराणोंमें इसप्रकार लिखे हैं-"भृगुं मरीचिमत्रिञ्च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। वशिष्ठञ्च महातेजाः सोऽसृजन् मनसा सुतान्॥" अर्थात्-भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ इन सात महर्षियोंको सृष्टिके आदि कालमें ब्रह्माने अपने मनसे उत्पन्न किया। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ये चार महा ऋषि उन चार महर्षियोंसे भी पहिले मुझ विष्णुके

पार्षदरूपसे विराजमान थे। श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अध्याय में १२ कहा है, कि–"दृष्ट्वापापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत। भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यांस्ततोऽसृजत् ॥ सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः। सनत्कुमारञ्च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्व-रेतसः ॥' तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः॥" अर्थात् पूर्वकाल में सृष्टिको पापसे पूर्ण देखकर ब्रह्माके मनमें विशेष आनन्दका अनुभव नहीं हुआ, इस कारण मेरी आराधना करके उसने महर्षियोंको रचा, वह सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार निष्क्रिय और ऊर्ध्वरेता थे, उन चारों मानस पुत्रोंका संबोधन करके ब्रह्माजीने कहा, कि–हे बेटा! तुम प्रजा की सृष्टि करो। अर्जुनने कहा कि–हे भगवन्! आप तो सबको अपना रचा बताते थे और अब ब्रह्माका रचा बता रहे हो यह क्या बात है? भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! तू स्थूल दृष्टिसे देखता है इस कारण ब्रह्माको सृष्टिकर्ता मान रहा है, जरा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म विचार करके देख तो मेरे सिवाय और किसीको भी सृष्टिकर्ता नहीं पावेगा। अयोनिज ब्रह्मा मेरी ही शक्ति और इच्छासे उत्पन्न हुआ है, ब्रह्मासे महर्षि और मनु उत्पन्न हुए हैं, तथा उन सबोंसे यह सकल प्रजा उत्पन्न हुई है, इसप्रकार ब्रह्मा तो केवल सृष्टि का द्वाररूप है, मूल सृष्टिकर्ता मैं ही हूँ। हे सखे! चौदह मनुके नाम ये हैं–स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि, और इन्द्र-

सावर्णि । इसप्रकार हे सखे ! इस जगत्मण्डलमें आचारभ्रष्ट कुमार्गगामी अथवा परमनिष्ठावान् सन्मार्गगामी, मुकुटधारी राजा अथवा फटी गूदड़ी ओढ़नेवाला भिखारि सबही मेरी प्रजा है । इसकारण हे सखे ! जो कुछ भी नामरूपधारी पदार्थमात्र है उसका स्रष्टा होनेसे मेरे सर्वलोकमहेश्वर होनेमें क्या सन्देह है ? ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः । सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

अन्वय और पदार्थ

(यः) जो (मम) मेरी (एताम्) इस (विभूतिम्) परम ऐश्वर्यको (च) और (योगम्) योग को (तत्त्वतः) यथावत् (वेत्ति) जानता है (सः) वह (अविकम्पेन) संशयरहित (योगेन) सम्यक्दर्शन रूप योगसे (युज्यते) युक्त होता है (अत्र) इसमें (संशयः) सन्देह (न) नहीं (अस्ति) है ॥ ७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आपने अपनी लोक-महेश्वरताको विस्तारके साथ कहा तथा परम सृष्टिकर्त्ता-पने आदिकी शक्तिको भी आपने बताया, परन्तु यह तो बताइये, कि—आपके इस प्रभावको जानने से फल क्या

होगा ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! मेरी विभूति और परम ऐश्वर्य के ज्ञानको जो साधक पाजाता है वह कल्पना में भी न आने वाले परमफलको पाता है। जो तत्त्वज्ञानके साथ स्थिर और अचल बुद्धि से मेरे अलौकिक माहात्म्य और परमविभूति के तत्त्वको ध्यान में ले आते हैं वह अन्त में अविचल भावसे मुझमें ही युक्त होजाते हैं, यह बात इतने निश्चय के साथ प्रमाणित हो चुकी है, कि–इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं किया जा सकता । मेरी विभूतियों का ज्ञान होजाने पर संसारके सब ही व्यापार मिथ्या असार और असत् मालूम होने लगते हैं। उस समय केवल वही सत्यस्वरूप, सारस्वरूप और पूर्णस्वरूप परमऐश्वर्य से परिवेष्टित परमपुरुष ही एक मात्र सत् हैं, इस बातका निश्चय होजाता है, उस समय तिस भाग्यवान् भक्तका चित्त और किसी मिथ्या पदार्थकी ओरको नहीं दौड़ सकता है उस समय संसार के भोग ऐश्वर्य तथा प्राणों से भी अधिक प्यारे पुत्र कलत्र आदि भी तुच्छ और निकम्मे प्रतीत होने लगते हैं, उस भक्तके चित्तमें केवल एक मुझ माहात्म्यपूर्ण लोकमहेश्वरका तत्त्व ही ध्यान, धारणा और निदिध्यासन करने योग्य सूझता है, इसलिये उस समय अन्तःकरण अविकल्प अर्थात् स्थिर और निश्चलभावसे मेरी ओरको ही झुकता है । मेरी विभूतियों का भले प्रकार ज्ञान होनेसे परमगति प्राप्त होती है, इस जगत्में हरएक पदार्थ भगवन्मय है अर्थात् परमाणुसे लेकर महान् तकमें मैं पुरा हुआ हूँ, इस बातको सब ही मनुष्य बड़े समझदारकी समान मुखसे तो

कहा करते हैं, परन्तु अन्तःकरणमें वह प्रायः इस बातका पूरा २ मनन नहीं कर सकते इसप्रकार केवल मुखसे कहने मात्रके ज्ञानसे मुझ भगवान्‌के साथ अविकल्प योगरूप परम सौभाग्य कभी भी सिद्ध नहीं होसकता ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (सर्वस्य) सब जगत्‌का (प्रभवः) उत्पात्ति स्थान [अस्मि] हूँ (मत्तः) मुझसे (सर्वम्) सब (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होता है (इति) ऐसा (मत्वा) जानकर (बुधाः) पण्डित (भावसमन्विताः) प्रीतियुक्त होतेहुए (माम्) मुझको (भजन्ते) भजते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! विभूतियोगज्ञानके द्वारा आपमें अविचल भाव से युक्त होकर आपकी सेवा किस प्रकार करनी चाहिये, सो कहिये ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! इस संसारकी सृष्टि पालन और प्रलय मुझसे ही होते हैं, मैं ही सबका प्रवर्त्तक हूँ, मनुष्यकी धीशाक्तिकी प्रेरणा मैं ही करता हूँ, चन्द्रमा और सूर्यको गति मैं ही देता हूँ, वायुको मैं ही चलाता हूँ, समुद्रको मर्यादामें मैं ही

रखता हूँ, इस प्रकार जगत्की सब ही वस्तुओंका प्रेरक मैं ही हूँ, सबका द्रष्टा मैं ही हूँ, सबका ज्ञाता मैं ही हूँ, तुझे भी कर्म में प्रवृत्त मैं ही करता हूँ, और प्रवृत्त करके मैं ही देखता हूँ, कि--तू क्या करता है। जो इस बातको जानते हैं वही भावयुक्त होकर मेरी सेवा करते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ९

अन्वय और पदार्थ

(मच्चित्ताः) मेरे विषैं है चित्त जिनका (मद्गतप्राणाः) मुझको अर्पण कर दिया है जीवन जिन्होंने [बुधाः] पण्डित (माम्) मुझको (परस्परम्) आपस में (बोधयन्तः) बोधन करते हुए (नित्यम्) नित्य (कथयन्तः) कहते हुए (च) भी (तुष्यन्ति) सन्तोष को प्राप्त होते हैं (च) और (रमन्ति) सुखका अनुभव करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! भावयुक्त वा प्रेमयुक्त होकर आपका भजन किस प्रकार किया जाता है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! वह भक्त एकान्तभाव से मच्चित्त होजाते हैं अर्थात्-उनका मन अन्य सकल चिन्ता तथा आसक्तियों को त्यागकर सब प्रकार से मुझमें ही अर्पित

और अनुरक्त होता है और उनके प्राण अर्थात् बाहरी इन्द्रियें तथा भीतरी इन्द्रियों सहित जीवनकी चेष्टा निरन्तर अनुराग के साथ मुझमें अर्पित होती रहती है। उनके किये हुए काम और धारण किये हुए निश्चय आदि की मूलमें मैं ही होता हूँ और मुझे पाने का साधन रूप उनका जीवन, जलाशयमें स्थित मछली की समान पूर्णरूपसे मेरे ही आश्रय पर होता है तथा उनका जीवन मेरी सहायता, कृपा और अनुग्रह से ही पुष्ट होता है। वह अपने शिष्यों को उपदेश देते समय मुझ परमात्माके तत्त्वज्ञानके विषय की ही बातें करते हैं तथा संबन्धी और मित्रोंके साथ वार्त्तालाप में भी मेरी महिमा के प्रसङ्ग के सिवाय तथा मेरे विषय का ज्ञान बढ़ानेवाले उपायोंकी आलोचना करनेके सिवाय और किसी वृथा बातके झमेले में नहीं पड़ते हैं। वह निरन्तर मेरी कथा कहते हैं। ऐसी चर्चा के सिवाय और सब बातोंको मिथ्या और असार समझ कर त्याग देते हैं। इसप्रकार एकान्त भाव से मुझमें निष्ठा जमा कर वह सकल भक्त महात्मा बड़ा ही सन्तोष पाते हैं, जिस प्रकार परमप्रिय नवयौवनाका सङ्ग पाकर मनुष्य बड़ी ही तृप्तिका अनुभव करते हैं तैसे ही निरन्तर परमानन्दमें मग्न रहते हैं, मानो उस समय आनन्द उनका हर समयका साथी होजाता है तथा संसारकी सब ज्वाला और यन्त्रणायें उन के पाससे दूरको भागजाती हैं। सन्तोष से ही उत्तम सुखकी प्राप्तिको पतञ्जलि भी कहते हैं, कि–“सन्तोषादनुत्तमः सुख-

लाभः" अर्थात हृदय में वासनाओंके दूर होनेसे उत्पन्न हुए सन्तोष के प्रकट होने पर साधक ऐसे सुखको पाता है कि-जिससे उत्तम कोई और सुख हो ही नहीं सकता। और भी कहा है-" यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महासुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम् ॥,, अर्थात्-जो कामका सुख है तथा जो बड़ाभारी दिव्य सुख है ये दोनों सुख ब्रह्मज्ञान-जनित तृष्णाका नाश रूप सन्तोष सुख के एक सोलहवें भागकी समान भी नहीं हैं। इस से यह सूचित होता हैं, कि-पहिले परमात्माविषयक ज्ञान होता है तब भक्ति के साथ उसका भजन होसकता है और तदनन्तर निरन्तर परमात्मा के विषयका ही कीर्त्तन चिन्तवन तथा उससे उत्पन्न हुए अलौकिक और पहिले कभी न अनुभव किया हुआ निर्मल आनन्द-सात्त्विक सुख प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति-पूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

अन्वय और पदार्थ

(सततयुक्तानाम्) निरन्तर जुटे हुए (प्रीतिपूर्वकम्) प्रेमके साथ (भजताम्) सेवा करने वाले (तेषाम्) उनको (तम्) तिस (बुद्धियोगम्) सम्यक्दर्शन रूप योगको

(ददामि) देता हूँ (येन) जिस बुद्धियोगके द्वारा (ते) वह (माम) मुझको (उपयान्ति) प्राप्त होजाते हैं ॥१०॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! मनुष्यका बुद्धि ही कितनी है जो वह आपको अपना मान कर धारणा कर सकै ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! मेरी प्रसन्नताके लिये निष्काम कर्मोंके द्वारा पापों का क्षय करते २ और मेरी उपासनाके द्वारा चित्तको एकाग्र करते २ मेरा भक्त समझने लगता है, कि-मेरे ऊपर भगवान्की कृपा होरही है, साधक जब अनुभव करता है, कि-मैं दयाभावरूप अमृतकी वर्षा करते २ उसकी ओरको देखता हूँ , उस समय उसकी भगवद् बुद्धि अपने आप चमक उठती है, वह भी उस समय कातरता के साथ मेरी ओरको देखता है और उस समय उसको दृढ़ निश्चय होजाता है, कि-मैं ही उसका अपनेसे अपना हूँ और मुझको अपना स्वरूप मानते ही वह मुझको प्राप्त होजाता है अर्थात् जैसे घट रूप उपाधि के दूर होने पर घटाकाश महाकाशमें जा मिलता है, जैसे गङ्गा यमुना आदि नादियें अपने नाम रूप को त्याग कर समुद्रमें अभेदभावसे जा मिलती हैं तैसे ही यह मेरे भक्त मेरी भक्तिसे उत्पन्न हुए तत्त्वसाक्षात्कार के प्रभावसे मुझ परमेश्वरको अभेदरूप से प्राप्त होजाते हैं अर्थात् मुझ अद्वितीय निर्गुण परमात्मा को अपना आत्मारूप जानने लगते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं

तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अन्वय और पदार्थ

(तेषाम्) तिन निरन्तर चिन्तवन करनेवालों के ऊपर (अनुकम्पार्थम्–एव) अनुग्रह करनेके लिये ही (अहम्)मैं (आत्मभावस्थः) बुद्धिवृत्ति में स्थित होता हुआ (भास्वता) दीप्यमान (ज्ञानदीपेन) ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा (अज्ञान-जम्) अज्ञानसे उत्पन्न हुए (तमः) अन्धकारको (नाशयामि) नष्ट करता हूँ ॥ ११ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आप जो अपने भक्तों को बुद्धियोग देते हैं, उस समय आप कहां रहते हैं ? और उनके ऊपर कृपा कैसे करते हो ? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन ! पूर्वोक्त रीतिसे जो अधिकारी पुरुष मेरा भजन करते हैं उनके ऊपर दया करनेके लिये अर्थात्– मेरे इन भक्तों का किसी प्रकार कल्याण होय, ऐसा विचार करमैं स्वप्रकाश चैतन्य आनन्द, अद्वितीय व्यापक आत्मा, उन भक्तोंके आत्मभावमें स्थित होकर अर्थात् उन भक्तोंकी जो महावाक्य से उत्पन्न हुई आत्माकार अन्तःकरणकी वृत्ति है उस वृत्तिमें विषयतारूपसे स्थित होकर उस ही चिदाभासयुक्त अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञानदीपकसे, अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारका नाश करदेता हूँ अर्थात् अज्ञान जिसका उपादानकारण

है ऐसा जो मिथ्याज्ञानरूप वा आत्मविषयक आवरणरूप अन्धकार है, उस आवरणरूप अन्धकारका, उसके उपादान कारणरूप अज्ञान का नाश करके नाश करता हूँ, क्योंकि-लोकमें प्रसिद्ध सकल भ्रमके स्थलों में उस भ्रमका उपादान-कारण जो अज्ञान है वह अधिष्ठानके ज्ञानसे ही नष्ट होता है और किसी उपाय से नष्ट नहीं होता है। जैसे सर्प चाँदी आदि के भ्रमका उपादान कारण जो अज्ञान है वह रज्जु और सीपी रूप अधिष्ठानके ज्ञान से ही नष्ट होता है तथा सर्वत्र ही उपादानकारणका नाश होने पर उपादेय कार्य का अवश्य ही नाश होजाता है, जैसे मट्टी तन्तु आदि उपादान--कारणका नाश होनेसे उपादेय घट पट आदि कार्यों का भी अवश्य ही नाश होजाता है। हे सखे! सार यह है, कि-मैं ही अन्तःकरणका देवता हूँ, मैं ही ज्ञानका उज्ज्वल दीपक जलाकर उस दीपकको हाथमें लिये हुए अपने भक्त के हृदयमें के अज्ञानान्धकारको दूर कर देता हूँ, यदि मैं दया करके दर्शन न दूँ तो किसी भी चातुरी से मुझे कोई नहीं जान सकता "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" इत्यादि। यह सत्य है, कि-दीपक प्रबल वायु में बुझ जाता है, परन्तु धीमी वायु न हो तो भी दीपक जल नहीं सकता, जिसके प्राणों में मेरी भक्तिरूपा मन्द २ पवन वहती है उसके हृदयमें ज्ञानरूप दीपक नहीं बुझ सकता॥ ११॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं

भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्य-
मादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षि-
र्नारदस्तथा । असितो देवलो
व्यासःस्वयञ्चैव ब्रवीषि मे १३

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला (भवान्) आप (परं ब्रह्म) परमात्मा हो (परं,धाम) उत्तम आश्रय हो (परमं, पवित्रम्) उत्तम पावन हो (सर्वे) सब (ऋषयः) मुनि (देवर्षिः) देव ऋषि (नारदः) नारद (तथा) तैसे ही (असितः) असित (देवलः) देवल (व्यासः) व्यास जी (त्वाम्) आपको (शाश्वतम्) नित्य (पुरुषम्) पुरुष (दिव्यम्) स्वयंप्रकाश (आदिदेवम्) मूल ईश्वर (अजम्) जन्मरहित (विभुम्) सर्वव्यापी (आहुः) कहते हैं (च) और (त्वम्) तुम (स्वयम्–एव) अपने आप ही (मे) मुझसे (ब्रवीषि) कहते हो ॥ १२ ॥ १३ ॥

भावर्थ

श्री भगवान्के इस विभूतिवर्णन, शाक्तिमत्ता और भक्तों के ऊपर दयाभाव के वर्णनको सुनकर अर्जुनका हृदय प्रेम से विगलित होने लगा, उस समय उसकी ज्ञानकी प्यास

बड़े वेग से बढ़ने लगी, क्योंकि-दया करनेवाले और दया के भण्डार विश्वेश्वर मूर्त्तिमान् उसके सामने विराजमान हैं ऐसा सौभाग्य क्या हरएकको प्राप्त हो सकता है? उस समय प्रेमपूर्ण भक्तिविगलित हृदय से अर्जुन भवभयहारी भगवान् से प्राणिमात्र के जानने योग्य बात बूझता हुआ कहनेलगा, कि-हे भगवन् ! आप परब्रह्म परमात्मा हैं, अर्थात् तत्त्ववेत्ताओं को प्राप्त होने योग्य सब उपाधियों से रहित जो निर्विशेष ब्रह्म है सो आप ही हैं। श्रुति भी कहती है-" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,, अर्थात्-ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है। अथवा आप श्यामशरीरधारी पूर्णपुरुष रूप परब्रह्म हैं। आप परमधाम अर्थात् सर्वाश्रय सर्वप्रकाशक और स्वप्रकाश हैं, आप इस चराचर चेतन अचेतन सब पदार्थोंके आश्रयभूत परम वस्तु हैं। आप परम पवित्र अर्थात् सबसे श्रेष्ठ पूतपावन वस्तु हैं। लोक शास्त्रमें प्रसिद्ध जितने पवित्र करनेवाले तीर्थ आदि हैं उन सबोंसे आप उत्तम पवित्रकर्त्ता हैं, क्योंकि-श्रद्धाके साथ सेवन किये हुए वह तीर्थ आदि केवल उस पुरुषके पापकर्मोंका ही नाश करते हैं, उस पापके कारणरूप अज्ञान का नाश नहीं करते हैं और आप तो स्मरण करते ही पुरुषोंके चित्तों पर चढ़कर अज्ञानरूप कारणसहित सकल पापोंका नाश कर डालते हो, हृदयमें आपका दर्शन होते ही अविद्याजनित मायामोह दूर होजाता है, इसलिये ही कहा है-"पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्" अर्थात्

आप पवित्र करनेवाले गङ्गा आदिको भी पवित्र करनेवाले और मंगलोंके भी मंगल हो। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! मेरे इस स्वरूपको तूने केवल अपनी बुद्धिसे ही निश्चय किया है अथवा किसी औरसे सुना है? । अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! ज्ञाननिष्ठावाले भृगु वशिष्ठ आदि सब ऋषि देवर्षि नारदजी तथा असित ऋषि, देवल ऋषि, और साक्षात् विष्णुका अवतार व्यासमुनि यह सब ही आप के स्वरूपके विषयमें कहते हैं, कि–आप पुरुष हैं, श्रुति कहती है–"पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" अर्थात् पुरुषसे श्रेष्ठ कोई नहीं है वह निर्विशेष परब्रह्म रूप है। तथा आप शाश्वत हैं अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों कालमें एकरूप और विकाररहित होकर नित्य विराजमान रहते हैं। तथा आप दिव्य हैं अर्थात्–"परमे व्योमन् सर्वा भूतानि" परमव्योम कहिये जिसमें सकल भूत निवास करते हैं उस स्वस्वरूप का नाम दिव् है तिस दिव्में आप विराजमान रहते हैं इस कारण आपका नाम दिव्य है, तात्पर्य यह है, कि–आप तेजःपुञ्जसे परिवेष्टित दिव्य धाम में स्वप्रकाशरूपसे स्थित हैं। तथा आप आदिदेव हैं अर्थात् देवता आदि सकल जगत्के कारणरूप और स्वप्रकाशरूप परमदेवता हैं। तथा आप अज हैं अर्थात् जन्मरहित हैं विवेकी पुरुष न आपके जन्मको जानते ही हैं और न प्राकृत मनुष्योंकी समान आपका जन्म मानते ही हैं। तथा आप विभु हैं अर्थात् सर्वगत और सर्वव्यापक हैं। आपके

इस अलौकिक स्वरूप और माहात्म्यको वशिष्ठ आदि सकल ऋषियोंने मुक्तकण्ठसे भक्तिमें गद्गद होकर गाया है तथा देवर्षि नारदजी, असित ऋषि, देवल ऋषि और कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजीने अनेकों स्थानों पर अनेकों प्रकारसे इस तत्त्वको दिखाया है। केवल पवित्र शास्त्रग्रन्थोंमें ही आपकी ऐसी महिमाका वर्णन नहीं हुआ है तथा केवल सकलज्ञान सम्पन्न पवित्रात्मा देवर्षि महर्षियोंने ही आपकी ऐसी महिमाको नहीं गाया है, किन्तु स्वयं आपने भी अपने श्रीमुखसे मुझसे ही यह तत्त्व कथा अनेकों वार स्पष्टरूपसे कही है ॥ १२ ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव। न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(केशव) हे कृष्ण ! (माम्) मेरे प्रति (यत्) जो (वदसि) कहते हो (एतत्) इस (सर्वम्) सबको (ऋतम्) सत्य (मन्ये) मानता हूँ (हि) क्योंकि (भगवन्) हे भगवन् (ते) तुम्हारे (व्यक्तिम्) प्रभाव को (देवाः) देवता (दानवाः) असुर (च) भी (न) नहीं (विदुः) जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! आपने जो मुझ से

कहा, और भृगु वाशिष्ठ आदि महर्षियोंने जो आपके स्वरूप का वर्णन किया है उस सबको मैं सत्य हा मानता हूँ, हे भगवन् ! आपने जो पीछे कहा था कि-"न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः,, सो ठीक ही है मैं इस बातको सत्य मानता हूँ, कि-बुद्धिमान् इन्द्र आदि देवता तथा मधु आदिक दानव भी आपके प्रभावको नहीं जानसकते फिर मनुष्योंका तो कहना ही क्या है? भगवान् ने कहा, कि-हे सखे ! तुझे मालूम है, कि-देवता और दानव मेरे प्रभावको क्यों नहीं जानते ?। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आपकी विश्वविमोहिनी माया से मोहित होकर वह जानकर भी नहीं समझसकते, कि-आप कौन हैं? । देवताओंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये और दानवोंका निग्रहरूप अनुग्रह प्रकाशित करनेके लिये आप प्रकट होते हैं, इस बातको वह भूलजाते हैं । भगवान्ने कहा, हे सखे ! क्या तुम यह कहते हो, कि-मेरे आविर्भावकी बातको कोई नहीं जानता ? । अर्जुनने कहा, कि-हां, 'व्यक्ति' शब्दका अर्थ अविर्भाव भी तो होता है ? । भगवान्ने कहा हां अविर्भाव अर्थ अवश्य होता है, परन्तु यहां मैं अविर्भावकी बात न कह कर यह कहता हूँ, कि-मेरे प्रभाव वा निरुपाधिक स्वभावको कोई भी नहीं जानता है इस श्लोकमें जो अर्जुनने "सर्वं ऋतं मन्ये" कहा है, उसका अभिप्राय यह है, कि-अर्जुनने शास्त्रके विचारसे जान लिया है, कि-भगवान् अनन्तशक्तिमान् और अनादि पुरुष हैं, वह जगतके स्रष्टा, पाता और संहारकर्त्ता हैं और अनेकों ऋषि, महर्षि तथा देवर्षियोंके मुखसे भी ऐसा ही

उपदेश सुना है, स्वयं भगवान्‌ने भी ऐसा ही उपदेश दिया है, इसकारण अर्जुनके हृदयमें भगवान्‌के दुर्ज्ञेय तत्त्व और दुःखगम्य माहात्म्यके विषयमें जरा सन्देह नहीं है ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

अन्वय और पदार्थ

(पुरुषोत्तम) हे पुरुषोत्तम (भूतभावन) हे भूतों को उत्पन्न करनेवाले (भूतेश) हे सकल प्राणियोंके नियामक (देवदेव) हे देवताओंके भी प्रकाशक (जगत्पते) हे विश्वका पालन करनेवाले ! (त्वम्) आप (स्वयम्-एव) अपने आप ही (आत्मना) अपने करके (आत्मानम्) अपेन को (वेत्थ) जानते हो ॥ १५ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे पुरुषोत्तम ! हे भूतभावन ! हे भूतेश ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! तुम अपने आप ही अर्थात् किसी दूसरे के उपदेशकी अपेक्षा न करके अपने ही ज्ञानसे अपने स्वरूप को जानते हो। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! "मैं अपने आप अपनेको जानता हूँ" यह बात तू किस भावसे कहता है, मुझे सुना? । अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् देखो मैं जीव हूँ, आप ईश्वर हैं। मैं अल्पज्ञ हूँ, आप सर्वज्ञ हैं। मैं अंश

हूँ आप पूर्ण हैं, फिर मैं आपको कैसे जान सकता हूँ ?। तुम सर्व शक्तिमान् हो, तुम मुझे पूर्ण करदोगे तब, मैं और तुम रहेगा ही नहीं, तब तुम आप ही अपनेको जानोगे, कहिये मैं ठीक समझा हूँ या नहीं ?। भगवान्ने कहा-हां ठीक है, परंतु एक बात और भी है। तेरा और मेरा मूलमें भेद है ही नहीं। निजस्वरूपमें रहकर भी मैंने ही जीवभावको ग्रहण किया है। सर्वज्ञ होकर भी अल्पज्ञसा बनगया हूँ। पूर्ण होकर भी अंशसा दीखनेलगा हूँ, परमात्मा होकर भी जीवात्मा बनगया हूँ। नहीं तो फिर मेरा अंश क्या ? मैं तो पूर्ण हूँ। ज्ञानका अल्पत्व और बहुत्व क्या ? ज्ञान तो एक ही है। जीव और ब्रह्मका एकत्व ही ज्ञान है, अद्वैत ही ज्ञान है। बहु विषयका जो ज्ञान है वह तो ज्ञान नहीं है अज्ञान है। जल समुद्रमें रहे चाहे तालावमें रहे वह एक ही है। मैं जब तेरी बुद्धिमें प्रकाशित होता हूँ उस समय तेरी बुद्धि मेरे आकार में ढलजाती है, बुद्धिकी यह शक्ति है। मैं जब तेरी घटरूप उपाधिको छुटादेता हूँ उस समय घटाकाशरूप तू और महाकाशरूप मैं दोनो एक होजाते हैं, उस समय ही तू मुझे जान सकता है। वास्तवमें उस समय तू रहकर भी नहीं रहता है। अपने ज्ञानसे मैं ही अपनेको जानता हूँ। अच्छा सखे ! यह तो बता, तूने मेरे लिये इतने संबोधन क्यों देडाले ?। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन्! न जाने आप मुझे क्या करदेते हैं, अनेकों प्रकार से आपको संबोधन करने (पुकारने) की इच्छा होती है, यह भी मैं नहीं जानता कि-किस प्रयोजनसे इन सब संबोधनों से आपको पुकारता हूँ। भगवान्ने कहा, कि-

हे सखे ! देख तेरे हृदयमें मेरा भाव प्रविष्ट होगया है तेरे हरएक संबोधन का अर्थ है । हृदयमें से जो एक के बाद एक संबोधन निकल रहा है इनकी शृङ्खला (सिलसिला) है । जो शब्द पवित्र हृदयोंमेंसे निकलते हैं उनमेंका एक अक्षर भी निरर्थक नहीं होता है । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! मैं तो यह कुछ जानता ही नहीं, जो कुछ मनमें आता है न जाने क्या क्या कह उठता हूँ, भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! भक्त न जाने कितनी कथायें कहते हैं, परन्तु वह उनकी सङ्गति नहीं देखते हैं, यह देखनेका काम मेरा है, मै चित् और आनन्द दोनों से पूर्ण हूँ । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! मेरे सम्बोधनोंकी क्या सङ्गति है, इस बातको आप ही समझादीजिये, ? । भगवान् ने कहा, कि—हे सखे ! और कोई मुझसे उत्तम नहीं है, इस कारण मैं पुरुषोत्तम हूँ और मैं पुरुषोत्तम हूँ इस कारण ही तेरा पवित्र हृदय उत्तरोत्तर दिखाता है, कि-सकल भूतोंको मैं ही उत्पन्न करता हूँ, इस कारण ही मैं सकल भूतों का पिता-भूतभावन हूँ । कितने ही पुरुष पिता होनेपर भी कभी कभी पुत्रके नियन्ता नहीं होते हैं, इसीसे कहता हूँ, कि—मैं भूतेश हूँ अर्थात्—सकल भूतोंका नियन्ता हूँ, इस लोकमें कितने ही राजा अपनी प्रजाओं के नियन्ता तो होते हैं, परन्तु आराध्य नहीं होते हैं किन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ, मैं तो देवदेव हूँ अर्थात् मनुष्यआदिकोंकी तो बात ही क्या, सकल देवता भी मेरी आराधना करते हैं । कितने ही पुरुष आराधना करने योग्य होकर भी प्रतिपालन करने वाले पति नहीं होते हैं, परन्तु

मैं ऐसा नहीं हूँ, मैं तो जगत्पति हूँ अर्थात् जगत्का पालन करने बाला पति हूँ--जगत्को हितका उपदेश देनेबाला हूँ--स्थूल शरीरको आहार देकर मैं ही पालन करता हूँ और वेद आदि निगमागमको प्रकाशित करके ज्ञानरूप भोजन देता हूँ, इसकारण ही मैं जगत्पति हूँ। हे सखे! तूने देखा मैं सबका पिता, सबका गुरु और सबका राजा हूँ, इसकारण ही सब प्रकार से सबका आराधनीय देव हूँ, इस लिये ही तूने पवित्र हृदय से उच्चारण किया है, कि—हे पुरुषोत्तम ! इस प्रकार मेरे सच्चे भक्तोंके मुखसे उच्चारण हुए सब ही शब्द सुसङ्गत सार्थक और तत्त्वसे भरे होते हैं॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्म-
विभूतयः । याभिर्विभूतिभिर्लो
कानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि १६

अन्वय और पदार्थ

(याभिः) जिन (विभूतिभिः) विभूतियों से (त्वम्) तुम (इमान्) इन (लोकान्) लोकोंको (व्याप्य) व्याप कर (तिष्ठसि) स्थित होते हो (ताः) उन (दिव्याः) अद्भुत (आत्मविभूतयः) अपनी विभूतियोंको (अशेषेण) पूर्णरूपसे (वक्तुम्) कहनेको (अर्हसि) योग्य हो ॥ १६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! सर्वज्ञानवान् त्रिकाल

दर्शी ऋषियोंके निःसन्देह वाक्योंको सुनने परभी मेरे मन को तृप्ति नहीं होती, जब सर्वोपरि आराध्यदेव साक्षात् आप को भाग्यवश अपने सामने देखरहा हूँ, और जब अपने स्वरूप के वास्तविक तत्त्वको आप ही जानते हैं, तब फिर नेत्रों के सामने विराजमान आपको छोड़कर औरोंकी बातें सुनकर वा दूसरोंके ज्ञानगर्भ युक्तिभरे उपदेश सुनकर मेरे हृदय को कैसे सन्तोष होसकता है ? । भगवान् ने कहा, कि—हे सखे ! तू सत्य कहता है, मेरे स्वरूप को मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता है, और मेरी विभूतियों को भी मेरे सिवाय औंर कोई नहीं कह सकता है । अर्जुन ने कहा कि—हे भगवन् ! हे कृष्ण ! देखो मेरे नेत्रों में प्रेमाश्रु भरे चले आते हैं, मैं न जाने क्या देख रहा हूँ, क्या समझरहा हूँ । यह विपुल ब्रह्माण्ड आपकी ही विभूति है, आपका ही योगैश्वर्य है, तुम ही अनन्त ऐश्वर्य से जगत्को भरकर खड़े हो, जिधरको देखता हूँ, जिस पदार्थ पर दृष्टि डालता हूँ, मालूम होता है सर्वत्र धीर स्थिर भाव से आप ही विराजमान हैं, मनमें आता है अतिचञ्चल और अति स्थिर सकल विभूतियोंके भीतर आप की ही शान्त हास्यमयी मूर्त्तिका दर्शन करूं,न जाने मुझे क्या२ बात बूझनेकी इच्छा होती है हे दीनवन्धो ! कृपासिन्धो ! आपकी अनन्त विभूयियों के अचिन्त्य ऐश्वर्य के अलौकिक माहात्म्य के संक्षिप्त बर्णन को आपके ही श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ । जिनके निःश्वास से सकल ज्ञानके भण्डाररूप वेदोंका प्रकाश हुआ है जिनकी

वासनासे यह असीम ब्रह्माण्ड शून्य आकाशमें घूमरहे हैं, जिनकी आज्ञासे ब्रह्मा आदि सकल देवता अपने २ कर्त्तव्यका पालन करनेमें लगे हुए हैं, जिनकी आज्ञासे सकल जीव जन्म मरण आदि नियमोंके वशमें रहकर सृष्टिचक्रमें चक्कर लगाते रहते हैं, ऐसे देवताओंके आराध्य परमपुरुष आपके श्रीमुखसे मैं आपकी विभूतियोंका कुछ वर्णन सुनना चाहता हूँ, हे गुरो ! आप कृपा करके उस परमतत्त्व को स्वयं समझाइये ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् । केषु केषु च भावेषु चिंत्योसि भगवन्मया १७

अन्वय और पदार्थ

(योगिन्) हे परम ऐश्वर्यवान् (अहम्) मैं (सदा) सब समय (त्वाम्) आपको (परिचिन्तयन्) स्मरण करता हुआ (कथम्) कैसे (विद्याम्) जानूं (भगवन्) हे भगवन् ! (केषु केषु) किन किन (भावेषु) पदार्थोंमें (च) भी [त्वम्] तुम (मया) मुझ करके (चिन्त्यः) ध्यान करने योग्य (असि) हो ॥ १७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने फिर कहा, कि—हे भगवन् ! आप योगमायासे ढके हुए योगीश्वर नारायण हो, इसकारण सर्वज्ञ हो और

तत्त्वज्ञानका उपदेश देसकते हो, हे योगेश्वर । आपके अनन्तों भाव हैं, आपकी महिमा अपार है और आप क्या करते हैं इसकी तो कोई कल्पना कर ही नहीं सकता। आपके सकल भाव और सकल महत्त्व का चिन्तवन करना तथा धारणा करना कभी नहीं बन सकता, इसलिये ही पूछता हूँ, कि—आपके कौनसे भावका निरन्तर चिन्तवन करते २ आपको जानसकूँगा ? किस उपायसे निरन्तर आपके विषय की आलोचना करते २ आपका महात्म्य मेरे ज्ञानमें आसकेगा ? आपके अनन्त भावोंमें से सबको ही हृदयमें जागते रखकर तुम्हारा ध्यान करना तो मेरी शक्तिके बाहर है, इसलिये हे भगवन् ! बताइये किस रीतिसे निरन्तर ध्यान करने पर आप मेरे जानने में आवेंगे । संसारकी चेतन अचेतन नाना प्रकारकी वस्तुओंमें आपकी विभूतियें व्याप्त होरही हैं, उनमेंसे जिसमें जिसप्रकार ध्यान लगाकर आप का चिन्तवन होसके वह उपाय बता दीजिये ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च
जनार्दन । भूयः कथय तृप्तिर्हि
शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।१८।

अन्वय और पदार्थ

(जनार्दन) हे कृष्ण (आत्मनः) अपने (योगम्) सर्वज्ञपना आदि ऐश्वर्यको (च) और (विभूतिम्) विभूति

को (विस्तरेण) विस्तारके साथ (भूयः) फिर (कथय) कहिये (हि) क्योंकि (अमृतम्) आपके मुखसे निकले वाक्यरूपी अमृतको (शृण्वतः) श्रवणमार्ग से पीतेहुए (मे) मेरी (तृप्तिः) तृप्ति (न) नहीं (अस्ति) है ॥ १८ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! यद्यपि आप पहिले सातवें अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन करचुके हैं, परन्तु उससे मेरे मनको पूरी २ तृप्ति नहीं हुई, इसलिये हे महापाप तापका नाश करने वाले नारायण ! अपनी अनन्त शक्ति, महत्त्व और विभूतियोंको फिर विस्तारके साथ कहिये, तुम्हारे सिवाय जगत्को भुक्ति मुक्ति देनेवाला और कौन है ? आपके सिवाय मुझसरीखे मूढबुद्धि दीन दुःखी जीवके ऊपर और कौन कृपा करेगा ? आपकी कथा अमृत रूप है, उस आपकी कथा को आपके ही मुखसे सुनने के लिये मेरा मन बड़ा ही कलमला रहा है ॥ १८ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(श्रीभगवान्) श्रीकृष्णजी (उवाच) बोले (कुरुश्रेष्ठ)

हे कुरुवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! (हन्त) अभी (दिव्याः) अलौकिक (आत्मविभूतयः) अपनी विभूतियें (प्राधान्यतः) प्रधान रूपसे (ते) तेरे अर्थ (कथयिष्यामि) कहूँगा (हि) क्योंकि (मे) मेरी [विभूतीनाम्] विभूतियोंके (विस्तरस्य) विस्तार का (अन्तः) अन्त (न) नहीं (अस्ति) है ॥१९॥

भावार्थ

भगवान् ने कहा, कि-अच्छा सखे! मैं तुझे अपनी प्रधान २ विभूतियें सुनाता हूँ, हे कुरुनन्दन! मेरी विभूतियों की बहुतायतका तो अन्त ही नहीं है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! आपकी विभूतियें अनन्त किस प्रकार हैं? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! सूर्य एक है, परन्तु सूर्य की किरणों से मेघमें अनेकों प्रकार के वर्ण और आकार भासते हैं, मैं एक हूँ तथापि मेरे नाम और रूप अनेकों हैं। मैं उज्ज्वल ज्योतिःस्वरूप हूँ, सदा एकरूप रहता हूँ। मेरी हावभाववाली प्रकृति बड़े साजके साथ मेरे प्रतिविम्बरूप चैतन्य दर्पणके समीप अपना मुख देखनेको निरन्तर आती है। उस विलासवती को पल२ में मेरे दर्शनकी इच्छा होती है। अपनी सगुण अवस्था में मैं प्रकृति को देखता हूँ, मैं देखता हूँ, कि-प्रकृति कितने भावोंसे हाव भाव दिखाती है वह सब मेरी ही विभूति है। मैं सदा एक ही हूँ, प्रकृति मुझ को सैंकड़ों भाव से आलिङ्गन करके ढके रखती है। भीतर मैं हूँ और बाहर प्रकृति है। जैसे कि-नाटकशाला में एक ही मनुष्य न जाने कितने रूप धर कर नाच जाता

है। अर्जुन ने कहा, कि- हे भगवन् ! इस तत्त्वको आप रूपक में न कहकर सहल शब्दोंमें कहकर समझाइये। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! मैं पूर्ण हूँ सर्वत्र एक मैं ही हूँ. माया के आश्रय से बहुत होगया हूँ । परन्तु जो एक है वह बहुत किसप्रकार होगा ? जैसे आकाश एक है वह बहुत किसप्रकार होगा ?। मैं किसीके अधीन नहीं हूँ। "एकोऽहं बहु स्याम्" मेरी यह इच्छा किसी कारणके अधीन नहीं है। जीव दुर्बल, अज्ञानी और अपूर्ण है, उसकी इच्छाका कोई कारण होता है, परन्तु मैं तो सकल कारणों का कारण हूँ। मेरी अनन्त विभूतियें मेरी ही इच्छा के अनुसार मेरी मायाके द्वारा रची हुई हैं । एक सुन्दर बैठकमें एक चमकदार गोला लटका देने पर जैसे उसमें चारों ओरकी सकल वस्तुओंकी छाया पड़ती है, उन सब वस्तुओंकी गति तिस चमकदार गोलेमें दीखती है, ऐसे ही मेरी अपनी माया एक चमकीले गोलेकी समान है, उसमें ही यह दृश्यमान विश्व प्रतिबिम्बित होरहा है। गोलेमें बाहर का दृश्य प्रतिबिम्बित होता है, बाहरका दृश्य एक है और मुझमें मेरे ही भीतरके सङ्कल्प प्रतिबिम्बित होते हैं । यह दीखनेवाली अनन्तकोटि नगरियें मेरे ही भीतर रहती हैं। जैसे स्वप्नमें नजाने कितने दृश्य जाग उठते हैं । मालूम होता है यह दृश्य कितनी ही दूर तक कितने ही स्थानोंमें फैले हुए हैं, न जाने कितनी दूर तक यह स्वप्नकी सृष्टि फैली हुई है, परन्तु जो स्वप्न देखता है, उसके भीतर ही

वह सब मनुष्य वन व्याघ्र इत्यादि तर्जन गर्जन करते हैं। ऐसे ही मेरी ये अनन्त विभूतियें मुझमें रहती हैं। मेरी राम कृष्ण महादेव पार्वती आदि मूर्त्तियें, देवता गन्धर्व आदि स्वर्गवासी, राजा, प्रजा, नर, नारी, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, आकाश, तारे, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, नदी, पर्वत, सरोवर आदि सब ही मेरे भीतर हैं। सन्धि, युद्ध, शोक, दुःख, जन्म, मृत्यु, हास्य, हाहाकार सब ही मेरे भीतर होते हैं। फूल मेरे ही भीतर खिलकर सुगन्ध फैलाता है, ज्वालामुखी पहाड़मेंसे लपटें निकलना मुझमें ही होता है, ज्वारभाटा मुझमें ही उठता है, कुरुक्षेत्र का युद्ध मुझमें ही होरहा है, हे अर्जुन! तूभी मेरे ही भीतर है, परन्तु मैंने ऐसी अपनी माया फैला रक्खी है, कि–जिससे तू ऐसा मानरहा है कि–तू मेरे बाहर है और यह विश्व भी मेरे बाहर है, तुझे विश्वरूप दिखाते समय दिखाऊँगा, कि–मेरी सब विभूतियें मेरे ही भीतर हैं, अब तू मुख्य २ विभूतियों की बात सुन १९

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अन्वय और पदार्थ

(गुडाकेश) हे अर्जुन! (सर्वभूताशयस्थितः) सकल प्राणियों के अन्तःकरणों में स्थित (आत्मा) प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप

(अहम्) मैं (भूतानाम्) प्राणियों का (आदिः) जन्म (च) और (मध्यः) पालन (च) और (अन्तः) संहार (च) भी (अहम् एव) मैं ही [अस्मि] हूँ ॥ २० ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! बताइये, पहिले आपकी कौनसी विभूतिका ध्यान करूँ ? भगवान्‌ने कहा, कि हे सखे अर्जुन! तू गुड़ाकेश है अर्थात् गुड़ाका कहिये निद्राको अर्थात् निद्रा आदि विकारोंको तूने अपने वशमें कर लिया है इस कारण तू मेरा ध्यान अभेदभावसे करसकता है, इस लिये मैं मुझे विभूतियोंके द्वारा अपने ध्यान करनेका तत्त्व बताता हूँ। देख सखे! यह दर्पणमें दीखती हुई नगरी की समान विश्व मेरे ही भीतर है और मैं सकल भूतोंके हृदयदेशमें रहता हूँ। जीवके हृदयमें अविद्याका निवास है इस कारण हृदयको आशय वा अविद्याका निवासस्थान कहागया है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! जरा और स्पष्ट करके समझाइये ?। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! जैसे आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, पृथिवी, वायु, जल, वृक्ष, लता, मनुष्य, पशु, आदि सबको अपने भीतर रख कर मैं सबके भीतर भी रहता हूँ, ऐसे ही मैं सकल भूतोंको आच्छन्न करके रहता हुआ भी सकल भूतोंके भीतर रहता हूँ। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! यह सत्य है कि–आप अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र ही विद्यमान हैं, परन्तु क्या आपके उस अन्तर्यामिरूपका ध्यान होसकता है ?। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे!

चैतन्य आनन्दघन आत्मा ही मैं वासुदेव हूँ। मैं ही अन्तर्यामीरूपसे रहता हूँ, इसप्रकारसे मेरा ध्यान करना। अर्जुन ने कहा, कि-किस भावके अवलम्बनसे ध्यान करूँ?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! ध्यान करते समय इस भाव को स्मरण रख कि-मैं ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने वाला हूँ॥ २०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (आदित्यानाम्) बारह सूर्योंमें वा देवताओं में (विष्णुः) विष्णु नामवाला हूँ (ज्योतिषाम्) प्रकाश करनेवालोंमें (अंशुमान्) सहस्रों किरणों वाला (रविः) सूर्य हूँ (मरुताम्) पवनों में (मरीचिः) मरीचि (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रोंमें (अहम्) मैं (शशी) चन्द्रमा (अस्मि) हूँ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, हे भगवन्! भीतर ध्यान किस प्रकार किस भाव से करना चाहिये यह तो मैं समझगया। अब आप बाहर ध्यान करने की रीति कहिये?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! यद्यपि मैं सकल ही पदार्थोंमें व्याप्त हूँ तो भी कुछ सर्वोत्तम पदार्थों में मेरी विभूतियोंका प्रकाश है। बारह आदित्योंमें प्रधान आदित्य विष्णुमें मेरी विभूति अधिक

प्रकाशित है, (१) पुराणोंमें लिखा है, कि—भगवान् कश्यपजीसे दक्षकी कन्या अदिति देवीके गर्भसे देवताओंका जन्म हुआ है, इसलिये आदिति देवीका एक नाम देवमाता भी है। उन देवताओंमें विष्णु सबसे श्रेष्ठ हैं। अग्नि आदि अन्धकार नाशक ज्योतिष्मान् पदार्थोंमें मैं तेजःपुञ्ज दिवाकर हूं, जगत्में जितने भी दीप्तिमान् ज्योतिष्मान् पदार्थ देखनेमें आते हैं उनमें सूर्यदेव सबसे प्रबल प्रतापी हैं, इसीलिये मुझे तेजस्वियोंमें सहस्रों किरणधारी दिवाकर जान। मरुत् अर्थात् पवनोंमें मैं मरीचि हूं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! मरुत् कितने हैं? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! मरुत् उनञ्चास हैं। दिति इन्द्रकी विमाता (सौतेली माता) थी। वैवस्वत मन्वन्तर में देवता और दैत्योंका संग्राम होने पर दैत्य मारे गये तब दैत्योंकी माता दितिने अपने पति कश्यपजीसे एक पुत्रकी प्रार्थना की और साथमें यह वरदान

---

(१) अदितेरपत्यं पुमान् आदित्यः। आदितिकी जो पुरुष सन्तान है वह आदित्य कहलाती है। अदितिके विषयमें कुछ वृत्तान्त यह है, कि—अदिति दक्ष प्रजापति की कन्या, कश्यपकी पत्नी और देवमाता है। सब देवता कश्यपजीके द्वारा अदिति में ही उत्पन्न हुए हैं इसकारण वह देवमाता है। इस श्लोकमें जो विष्णु शब्द है उससे कोई २ टीकाकार वामनावतारका अर्थ लेते हैं, उसके विषयमें प्रमाण भी देते हैं, विष्णुका पाँचवां अवतार वामन है। विष्णु अदितिके गर्भसे हुए थे इस कारण ही उन्होंने यहां अपनेको आदित्योंमें विष्णु बताया है, परन्तु नीलकण्ठ आदि टीकाकारों के मतमें यहां विष्णु शब्दसे निदाघकालमें प्रचण्ड भावसे तपनेवाले मार्त्तण्डको ही लेना चाहिये।

मांग लिया कि–मेरा यह पुत्र इन्द्रका पराजय करनेवाला हो, उस समय निश्चय हुआ कि–सौ वर्षतक तपस्या कर लेने पर ऐसा पुत्र होसकेगा। निन्यानवे वर्ष बीतजाने पर जब एक वर्ष बाकी रहा तब इन्द्रने अपनी विमाताके गर्भमें की सन्तानको काटकर उसके ४६ टुकड़े करदिये। पहिले सात टुकड़े किये परन्तु माताके गर्भमें पुत्रके रोनेका शब्द सुनकर फिर एक २ के सात २ टुकड़े किये, जिस समय बालक रोता था उस समय इन्द्र बार २ कहता था कि– "मा रोदीः" मत रो, इसकारण उन उनञ्चासों का नाम 'मारुत्' हुआ, वही ४६ पवन हैं। अथवा हे सखे ! मरुत्-गण नामक सात देवताओंमें मैं मरीचि नामका श्रेष्ठ देवता हूँ। तथा आकाशविहारी अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रोंमें मैं चन्द्रमा हूँ, मैं नक्षत्रमण्डलीके अधीश्वररूपसे अमृतमयी किरणोंके साथ आकाशमार्गमें विचरता हूँ और उन स्निग्ध उज्ज्वल किरणोंके द्वारा सकल प्राणियोंके हृदयोंमें आनन्द और शीतलता फैलाता हूँ॥ २१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवाना-
मस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मन-
श्चास्मि भूतानामस्मि चेतना २२

अन्वय और पदार्थ

[अहम्] मैं (वेदानाम्) चारों वेदोंमें (सामवेदः) सामवेद (अस्मि) हूँ (देवानाम्) देवताओंमें (वासवः)

इन्द्र (अस्मि) हूँ (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियोंमें (मनः) मन (अस्मि) हूँ (च) और (भूतानाम्) सकल प्राणियोंमें (चेतना) ज्ञानशक्ति (अस्मि) हूँ ॥ २२ ॥

भावार्थ

भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन ! ऋक्, यजु, साम, अथर्व ये चारों वेद अपौरुषेय हैं, केवल मेरी वासनासे स्वयं प्रकट होगये हैं, वेद कल्पान्त पर्यन्त रहते हैं, प्रलय होने पर मुझमें लीन होजाते हैं और सृष्टि की आदिमें फिर मेरे श्वास रूप से प्रकट होजाते हैं" न कश्चिद्वेदकर्त्ताऽस्ति वेद-स्मर्त्ता महेश्वरः" इन चारों वेदोंमें कोई बढ़िया घटिया नहीं है। जैसा ऋग्वेद सन्मान के योग्य और प्रयोजनीय है तैसा ही अथर्ववेद है, तैसा ही यजुर्वेद है और तैसा ही साम वेद आदर के योग्य और अवश्य ज्ञातव्य है, चारों ही वेद समान पवित्र, पुण्यात्मक और पूजनीय हैं, तो भी चारों वेदोंमें से सामवेद में अधिकतर आकर्षण शक्ति है। क्यों कि–वह समूल उदात्त अनुदात्त और स्वरित आदि स्वरसंयोगसे, गुथा हुआ और सुन्दर छन्दोबद्ध है इसलिये ही परम रमणीयताका आधार है। जिस समय सुशिक्षित मुनिकुमार आश्रमके वृक्षोंके नीचे अपनी कुटिया में बैठकर प्रातःकाल ब्रह्ममूहूर्त्त में प्रेम में भरकर सामगान करते हैं अथवा सूर्यास्तकाल में भगवान् भास्करको विदा करते समय शीतल मन्द २ सुगन्धित मलयमारुत का सेवन करते हुए सामवेद की मनोहारिणी ऋचाओंका गान करते

हैं उस समय मनको मालूम होता है, कि–यह पापतापपूर्ण वसुन्धरा पर स्वर्गधामकी अलौकिक सुखलहरी क्रीड़ा कररही है और शान्ति तथा पवित्रता मानो साक्षात् मूर्त्तिमती हो कर इस धराधाम में विचर रही है। सामवेद में ऐसी महीयसी मोहिनी शक्ति है, इस कारण ही हे सखे! मुझे तू सब वेदों में सामवेदरूप जान। हे सखे! मैं देवताओंमें वासव (इन्द्र) हूँ, अमृतको पीने से अमरपना मिलजाने पर भी और कल्पना में न आसके, इतना सुख सौभाग्य मिलजाने पर भी देवता सब समय समान सुखी रहे हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। उन देवताओंके भवन सुरपुरको कितनी ही वार दुष्ट दानव घेर चुके हैं और अनेकों बार असुरोंने अमरावती को नष्ट भ्रष्ट किया है। शतक्रतु शचीपति इन्द्र देवताओंका अधिपति है, उसको परम उत्तम शस्त्र वज्रको धारण करके वारंवार महा संग्राममें पहुंचकर शत्रुओं का दलन और देव ताओंकी रक्षाका काम करना पड़ा है। केवल तपस्या वा धर्मनिष्ठा के ही बलसे इन्द्रपद नहीं मिलता है, सुरनाथके इस प्रतिष्ठित आसनको पाने के लिये निर्विघ्नताके साथ सौ यज्ञ करने पड़ते हैं, अमरावती देवराज इन्द्रकी राजधानी है। नन्दन वन उसकी रमणीय पुष्पवाटिका है। समुद्र-मन्थन से उत्पन्न हुआ ऐरावत हाथी और उच्चैःश्रवा घोड़ा उसका वाहन है, वह पूर्वदिशाका पति और मेघों का नायक है। उसने पुलोम और नमुचि आदि अनेकों दुष्टोंका दलन किया है और दश दिक्पालोंमें उसका स्थान प्रथम है, ऐसे

अनेकों कारणों से वह मेरी सब से श्रेष्ठ विभूति सिद्ध होता है, इस कारण मैं देवताओं में वासव (इन्द्र) हूँ, । हे सखे! मैं सब इन्द्रियों में मन हूँ । पांच कर्मेन्द्रियें, पांच ज्ञानेन्द्रियें और उनका नियामकरूप एक मन इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियें हैं । इन्द्रियों के होनेसे ही जीव सुख दुःखको भोग सकते हैं और उनके ही चलाये हुए इस देहके द्वारा साधना के बलसे परमात्मा रूप परमपदार्थ का ज्ञान भी पासकते हैं। चञ्चल इन्द्रियोंका समूह क्षणिक सुखके मोह में को खेंचकर कभी मनुष्योंको अधोगति में डाल देनेके मार्गमें को ले जाता है और कभी धैर्य तथा स्थिरताको धारण करके मनुष्य को क्रमोन्नतिके मार्ग में लेजाकर परम पदकी ओर को बढ़ा देता है । इन सब इन्द्रियोंका विधाता एक मन ही है और यह मन ही प्रधान इन्द्रिय माना जाता है । इस मनका संयम करनेसे मनुष्यकी उन्नाति होती है और मनका संयम न होने से ही अनेकोंकी अवनति होते देखते हैं। मनुष्यों के सुकार्य और कुकार्य में मनकी ही प्रधानता देखने में आती है, यहां तक कि–संसार की दृढ़ जंजीर में बांध देनेवाला भी मन ही है और संसारबन्धनकी जंजीर से छुटा देनेवाला भी मन ही है इसकारण हे सखे ! सकल इन्द्रियों में प्रधान मन मैं ही हूँ ॥ और हे सखे ! सकल प्राणियोमें चेतना भी मैं ही हूँ, इन चर अचर सब ही प्राणियों के भीतर चेतना देखने में आती है, चेतनाके द्वारा ही प्राणियोंके कार्य अकार्य प्रकट होते हैं। जिस बुद्धिवृत्ति के प्रभाव से प्राणियोंका अविर्भाव होता है वह ही चित

शक्ति है। उस बुद्धि वृत्तिरूप चित् शक्ति के विद्यमान होने से ही प्राणी आकांक्षा और वासना के वश में होकर सुख को खोजने के लिये दौड़ते हैं और भयभीत होकर दुःख को त्यागने का उद्योग करते हैं। यही चेतनाशक्ति जीवों का प्रधान लक्षण है इसकारण ही वह क्रमोन्नति के साथ सकल चेतनाके मूलाधाररूप मुझ सच्चिदानन्द परम पुरुष को पानेकी आशा करते हैं। यह बुद्धिवृत्ति रूपा चेतना शक्ति ही मनुष्योंको अनुकूल और प्रतिकूल को समझने में समर्थ करती है। नदियों के तटोंपर पड़े हुए बालुकाके कणोंमें और पहाड़ोंकी गुफाओं में पड़ी हुई असंख्यों शिलाओंमें प्रायः चेतना नहीं हैं, इसलिये वह जीवोंकी समान सुख दुःख के अधीन नहीं हैं। यह चेतना ही प्राणियों में श्रेष्ठता लाती है और परमफल देसकती है, इसकारण ही हे सखे! मैं सकल प्राणियों में चेतनारूप हूँ॥ २२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो
यक्षरक्षसाम्। वसूनां पावकश्चा-
स्मि मेरुः शिखरिणामहम् २३

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (रुद्राणाम्) रुद्रोंमें (शंकरः) शंकर (अस्मि) हूँ (यक्षरक्षसाम्) यक्ष और राक्षसोंमें (वित्तेशः) कुवेर (वसूनाम्) वसुओंमें (पावकः) अग्नि (च)

और (अहम्) मैं (शिखरिणाम्) शिखरवालोंमें (मेरुः) सुमेरु (अस्मि) हूँ ॥ २३ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन ! मैं ग्यारह रुद्रोंमें शङ्कर नामका (१) रुद्र हूँ । पुराणमें लिखा है, कि–सृष्टिकारी ब्रह्माजीकी मुखरूप गुफामेंसे धधकते हुए अग्निकी समान महातेजस्वी रुद्रोंका आविर्भाव हुआ है, वह रुद्र जन्म होते ही रोने लगे, ब्रह्माजीने उनसे रोना बन्द करनेके लिये कहा, परन्तु वह चुप न हुए, तब उनका, रोदन अर्थवाली रुद् धातुसे रुद्र नाम रक्खा गया । ये रुद्र देवता विष्णुदेव के समपदस्थ और अभेदभाव वाले हैं॥ कूर्मपुराण

(१) रुद्र शब्दका अर्थ महादेव है । विष्णुपुराण अंश १ अध्याय ८ में लिखा है, कि–प्रलयके अन्तमें ब्रह्माजीने अपनी समान पुत्र उत्पन्न करनेका विचार किया, कि—एक कुमार तुरन्त उनकी गोदी में प्रकट होते ही रोते २ दौड़ने लगे, ब्रह्माने पूछा तुम क्यों रोते हो, कुमारने कहा, मेरा नाम धरो, ब्रह्माने कहा–हे कुमार ! तुम्हारा नाम रुद्र होगा, रोदन न करो धीरज धरो, परन्तु कुमार फिर सात बार रोया, ब्रह्माने सात नाम रक्खे, उन आठ नामों के अनुसार आठ मूर्त्ति हुई, उनकी आठ पत्नी हुई फिर आठ पुत्र हुए । भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र, महादेव, यही सात नाम रुद्रके रक्खे । सूर्य, जल, क्षिति, वह्नि, वायु, आकाश यजमान और सोम ये आठ मूर्त्तियें आठों नामोंकी आधार हुईं । ऐसे अष्टमूर्त्ति रुद्रने सती नामकी दक्षकन्याके साथ विवाह किया, सतीने पिताके यज्ञमें कुपित होकर अपना कलेवर त्यागदिया, फिर वह हिमालयकी उमा नामवाली पुत्री हुई, भगवान् रुद्रने फिर उनके साथ विवाह किया ।

में लिखा है, कि-"सदैव देवो भगवान् महादेवो न संशयः। मन्यन्ते ये जगद्योनिं विभिन्नं विष्णुमीश्वरात्। मोहादवेदनिष्ठाद्धा ते यान्ति नरकं नराः॥ वेदानुवर्त्तिनं रुद्रं देवं नारायणन्तथा। एकीभावेन पश्यन्ति मुक्तिभाजो भवन्ति ते॥" अर्थात्-भगवान् महादेव सदाही देवस्वरूप हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, जगतके आदिकारणरूप भगवान् महादेव जीको जो पुरुष अज्ञानवश भगवान् विष्णुसे भिन्न मानते हैं वह निःसन्देह नरकमें पड़ते हैं और जो पुरुष वेदानुवर्त्ती भगवान् रुद्र और नारायणको एकभावसे देखते हैं वह निःसन्देह मुक्ति पाते हैं। जो रुद्र देवता हैं वही महादेव वा महेश्वर नामसे कहे जाते हैं। महादेवके असंख्यों नामों में से शङ्करभी एक नाम है। जो शम् कहिये कल्याण करैं वही शङ्कर हैं। जो देवता मेरे विष्णुरूपसे अभिन्न हैं, जो इस विश्वका संहारकर्ता और परममङ्गलमय हैं, जो देवादिदेव और देवताओंसे भी पूजित हैं, जो योग और ऐश्वर्यमें अनूपम हैं, विद्या और बुद्धिमें सर्वत्र वरणीय हैं तथा जो निरन्तर शान्तिमय और परम पुण्यशील हैं वह शङ्करदेव ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक हैं इसी कारण हे सखे! ग्यारह रुद्रोंमें शङ्कररूप मैं ही हूँ॥ यक्ष और राक्षसोंमें मैं कुबेर हूँ। यक्षजाति (१) बड़ी ऐश्वर्यवान्

(१) यक्षोंके आकार आदि के विषयमें ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है, कि—"आजग्मुर्यक्षनिकराः कुबेरधरकिङ्कराः। शैलजप्रस्तरकराः अञ्जनाकारमूर्त्तयः॥ विकृताकारवदनाः पिङ्गलाक्षा महोदराः॥ स्फटिकारक्तवेषाश्च दीर्घस्कन्धाश्च केचन॥" बड़े२ कन्धे और पेटवाले, पीली आँखें, लाल स्फटिककी समान वेषधारी,

और धनकी भण्डार रूप है,उनके रहनेका नगर परमशोभायमान और मनोहर कुञ्जकानन आदिसे पूर्ण है, रामचन्दका चरित जाननेवाले राक्षसोंका चरित जानते ही है, राक्षसोंमें बहुतसे अनेकों विद्याओंके पारङ्गत हुए हैं और अनेकों प्रकार की योगशक्तियोंको पाकर बड़ा यश फैलागये हैं, उनकी राजधानी सोनेकी और मणि माणिक्य आदिसे भूषित थी। यक्ष और राक्षस (१) दोनों ही क्रूरता आदिके विषयमें एकसमान होते हैं, इन दोनों जातियोंमें धनपति कुबेर (२) सबसे श्रेष्ठ हैं, वह यक्षपति कहलाते हैं और एक देवता मानेजाते है, कितने ही अवसरोंमें उनकी पूजा सबसे पहिले होती है, इसलिये हे सखे ! कुबेर मेरी श्रेष्ठ विभूति है। अथवा मैं ब्रह्माण्डके सकल वित्त (धन) का ईश हूँ इसकारण भी मेरा वित्तेश (कुबेर) होना ठीक ही है। पुलस्त्य ऋषिके वंशमें राक्षसोंका जन्म हुआ है और पुलस्त्यके पुत्र विश्रवासे कुबेरका जन्म हुआ है,इसकारण यक्ष और राक्षसोंको एकसाथ कहना ठीक ही है और हे सखे अर्जुन ! मैं आठ वसुओं में पावक

भयानकमूर्त्ति, विकरालमुख, धनपति कुबेरके अनुचर यक्ष हाथों में पत्थर ले लेकर आगये।

(१) अग्नि पुराणके यमशर्मलोपाख्यानमें लिखा है, कि—विकलाङ्ग, अंगहीन, अनाथ, रोगियोंको देखकर जिनके मनमें दया नहीं आती पण्डित पुरुष उनको ही राक्षस कहते हैं।

(२) कुवेर। यक्षजाति देखनेमें प्रिय नहीं थी, स्वयं कुवेर बड़े ही कुरूप थे यह बात उनके नामसे ही टपकती है। कु कहिये कुत्सित है वेर कहिये शरीर जिसका वह कुवेर कहलाता है, उनके तीन चरण और आठ डाढें थीं।

नामका वसु हूँ। महाभारत दानधर्ममें लिखा है, कि-"आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः॥" अर्थात्-आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये आठ वसु हैं। इनमें मैं पावक कहिये अनल (अग्नि) नामका वसु हूँ। अग्निदेव सब को शुद्ध करने वाला और जगत्को ताप देनेवाला है, वह पावकरूप वसु मैं ही हूँ। शिखरी अर्थात् शिखरोंवाले उन्नतकाय पर्वतोंमें मैं सुमेरुरूप हूँ। सुमेरु (१) पर्वत रमणीयता और शोभाका भण्डाररूप है, इसकी पवित्रता और श्रेष्ठता शास्त्रमें जहां तहां लिखी है, इसका विस्तार और ऊँचापन आश्चर्यसे भरा है स्वर्गलोक इस ही पर्वतके शिखर पर प्रतिष्ठित है और यह देवताओंका रमणीय भवन है, इस सुमेरु को मेरी विभूति जान। "मा न विद्यते इरः प्रेरकः यस्य सः मेरुः" अर्थात् जिसका कोई और प्रेरक नहीं है वह परमात्मा ही मेरु नामवाला है॥ २३॥

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्। सेनानीनामहंस्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

(१) भागवतमें लिखा है सुमेरुकी चोटी बत्तीसहजार योजन है, जड़में सोलह हजार योजन और भूमिके भीतर भी इतना ही है, इसप्रकार सुमेरु भूमण्डलपर एक कमलकी कलीके आकार में सबसे ऊंचा है।

अन्वय और पदार्थ

(पार्थ) हे अर्जुन ! (माम्) मुझको (पुरोधसाम्) राजपुरोहितोंमें (च) भी (मुख्यम्) प्रधान (बृहस्पतिम्) बृहस्पति (विद्धि) जान (अहम्) मैं (सेनानीनाम्) सेनापतियोंमें (स्कन्दः) स्वामिकार्त्तिकेय (सरसाम्) देवखातोंमें (सागरः) सागर (अस्मि) हूँ ॥ २४ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन! मैं सकल पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति हूँ। अर्थात्–जितने राजाओंने इस लोकमें प्रतिष्ठा पायी है, उन सब शूर राजाओंसे देवता श्रेष्ठ हैं,देवताओंमें उनका राजा इन्द्र श्रेष्ठ है, उन देवताओंके और इन्द्र के गुरु बृहस्पति (१) संसारके सकल पुरोहितोंसे श्रेष्ठ हैं,

(१) ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में लिखा है, कि–इन्द्रने कहा, हे भगवन् ! बृहस्पति किसप्रकार सिद्ध और योगियोंके गुरुदेव वेदकर्त्ता मृत्युञ्जय शिवके गुरुपुत्र हुए हम तो यही जानते हैं कि–आपके पुत्र अङ्गिरा और अंगिराके पुत्र बृहस्पति हैं। ब्रह्माजीने कहा, कि–हे इन्द्र तुमने बड़ी गुप्त बात पूछी है, सुनो, पहिले अंगिराकी स्त्रीने कर्मदोषसे मृतवत्सा होकर कृष्णका व्रत किया था, यह व्रत उसको सनत्कुमारने बताया था, इससे प्रसन्न होकर परमात्माने अंगिराकी पत्नीको दर्शन दिया। तब वह लक्ष्मीरूपा नारी हाथ जोड़ आंखों मे आंसू भरे चरणों में पड़कर स्तुति करने लगी, तब भगवान् कृष्णने कहा, कि–हे पतिव्रते ! तू मेरे इस तेजको लेकर भोजन कर, इससे तू मेरे अंशरूप देवताओं के गुरु ज्ञानियोंके अग्रणी एक पुत्रको पावेगी तेरे गर्भ से जो सन्तान होगी वह श्रेष्ठ पुत्र चिरजीवी होगा। शास्त्रमें वरज,

वह विद्यामें सबसे श्रेष्ठ हैं, बुद्धिमें अनुपम और सब विषयों में ज्ञानियोंके अग्रणी हैं, इसलिये ही वह मेरी श्रेष्ठ विभूति हैं। तथा हे सखे मैं सकल सेनापतियोंमें स्वामिकार्त्तिकेय (१) हूँ तथा स्वयं उत्पन्न हुए जलाशयोंमें मैं सागर हूँ। जो स्वयंसिद्ध ह्रद, तड़ाग, नदी और सोते भूतल पर जहां तहां प्रवाहित होते हुए शोभा और स्वास्थ्य देरहे हैं तथा जीवनदान देकर समीपके प्राणियोंकी रक्षा कर रहे हैं वह सब देवखात जलाशय अनेकों जीवोंकी निवासभूमि हैं, सुवर्ण आदि अनेकों धातु पदार्थोंके निकेतन और अनेकों प्रकार के रत्न तथा आवश्यक द्रव्योंका भण्डार जो नदीपति सागर

वीर्यज, क्षेत्रज, पालक, विद्याग्राही, मंत्रग्राही और दत्तक यह सात प्रकार के पुत्र कहे हैं। इस प्रकार बृहस्पति का जन्म भगवान्‌के ही अंश से हुआ है।

(१) स्वामिकार्त्तिकेय।-यह महादेवजीके पुत्र हुए हैं। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराणमें लिखा है, कि--जिस समय रतिक्रीड़ासे उठते हुए शिवका वीर्य पृथ्वीपर गिरा पृथिवीने उसको धारण करनेमें असमर्थ होकर अग्नि में डालदिया अग्निने धारण में असमर्थ होकर शरोंके वन में डालदिया तहां उसका एक बालक बन-गया उस रोतेहुए बालकको देखते ही सूर्यदेव कालचक्रसे प्रेरित हो अस्ताचलको जाने लगे, उस समय कृत्तिकायें आकर उस रोते हुए बालकको अपने आश्रममें ले गयीं और अपने स्तनो का दूध पिलाकर पालने लगीं, उन कृत्तिकाओंने प्रेमवश उस बालक का कार्त्तिक नाम रक्खा, तदनन्तर प्रजापतिने कार्त्तिक कुमारको वेदमंत्रोंके अनुसार परमभूषित सुशीला परमसुन्दरी देवसेना नामकी पत्नी दी।

उसके सामने सब क्षुद्र हैं । सागर (१) अनेकों रत्नोंका उत्पत्ति स्थान है, इसलिये उसको मेरी विभूति जान ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् । यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (महर्षीणाम्) महर्षियोंमें (भृगुः) भृगु (गिराम्) वाक्योंमें (एकम्, अक्षरम्) एक अक्षर ॐकार (अस्मि) हूँ (यज्ञानाम्) यज्ञोंमें (जपयज्ञः) यथाविधि मंत्रका उच्चारणरूप जपयज्ञ (स्थावराणाम्) स्थावरोंमें (हिमालयः) हिमालय (अस्मि) हूँ ॥ २५ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन ! मैं सकल महर्षियोंमें भृगु हूँ, क्योंकि-भृगु ब्रह्माजीके वक्षस्थलसे उत्पन्न हुए थे, वह शुद्ध सत्त्व, देवताओंकी समान प्रभाववाले, अतितेजस्वी और परम धर्मात्मा थे उनके ही कुलमें मेरा परशुराम अवतार हुआ है, भृगुके पुत्र शुक्राचार्य और च्यवन ऋषि हुए, च्यवनके पुत्र उर्व हुए, उनके पुत्र ऋचीक हुए और

(१) भागवतमें लिखा है, कि-ब्रह्माके मेदूसे सागरकी उत्पत्ति हुई है । ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें लिखा है, कि-श्रीकृष्णजीके वीर्यसे विरजाके गर्भसे सात समुद्रोंका जन्म हुआ है, वह सात समुद्र पृथिवीके भिन्न स्थानोंमें हैं ।

ऋचीकके पुत्र जमदग्नि हुए, तिन जमदग्निके मैंने परशुराम अवतार धरा, भृगुजी अलौकिक तपस्वी और तेजस्वी थे उनके चरणचिन्हको मैंने अपने वक्षःस्थल पर धारण किया है, इसकारण भृगुजीको मेरी विशेष-विभूति जान। सकल वाक्योंमें मैं एक अक्षर अर्थात् ॐकार हूँ, क्योंकि-ॐकार सकल साधनाओंका सार, सकल धर्मोंका उत्पत्ति-स्थान, देवभाषा वा सकल लौकिक भाषाओंमें जितने शब्द हैं वह ॐकारकी तुलनामें परमतुच्छ हैं, अ, ऊ, म् की सन्धिसे बना हुआ ॐकार एक अक्षर होने पर भी एकाक्षरी बीजमंत्र कहलाता है, यह आर्यधर्मका साररूप, सब वेदोंकी मातारूप, सकल माङ्गलिक कार्योंका प्रारम्भवाक्य-रूप, त्रिदेवरूप ध्यान जप और साधनाका परम-सहायक, परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप, सबसे बड़ा और ब्रह्म वस्तुका बोधक है और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति चैतन्य, सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्त्ता, विचित्र रचना करनेवाली मायाको आज्ञा देनेवाले सर्वेश्वर परमात्माका वाचक है, ऐसा प्रभावशाली ॐकार मेरी विभूति है। हे सखे ! जितने प्रकारके यज्ञ हैं उनमें मैं जपयज्ञ हूँ, क्योंकि-और जो अनेकों यज्ञ हैं, उनमें हिंसा का दोष है, उनको सब श्रेणियोंके लोग नहीं कर सकते और परमफलदायक होने पर भी सब लोग उनमें चित्त नहीं लगासकते, परन्तु गुरुकी बतायी हुई रीतिके अनुसार अथवा शास्त्रमें लिखी हुई प्रणालीसे मन्त्रका यथावत् जप करना रूप यज्ञमें किसीको कुछ आपत्ति नहीं होसकती। इस परम कल्याणदायक जपरूप यज्ञका अनुष्ठान सबको ही शान्ति

देनेवाला है। देवताओंको प्रसन्न करना उनसे अपना इच्छित काम सिद्ध करना आदि कामनाओंको लेकर यज्ञ किये जाते हैं, परन्तु जपके द्वारा सबसे अधिक श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है अर्थात् भगवत्तत्त्व का ज्ञान जपयज्ञके द्वारा ही होता है। इसलिये और सब यज्ञोंकी अपेक्षा जपयज्ञ ही श्रेष्ठ है और वह मेरी विभूति है। हे सखे! एक स्थान पर स्थित रहने वाले स्थावर पदार्थोंमें मैं हिमालय हूँ। वसुन्धराके भिन्न २ स्थानोंमें जो पर्वतराजि विराजमान है उनमें बड़प्पनमें हिमालय सबसे श्रेष्ठ है, यह गिरिराज नाना प्रकारकी रत्नोंकी खानियोंसे पूर्ण और अनेकों वनस्पतियोंका आकर है, इस पर अनेकों स्थानोंमें अनेकों तीर्थ और अनेकों देवालय हैं तथा इसके कलेवरको फाड़ कर अनेकों पवित्र नदियें उत्पन्न हुई हैं, इसकी चोटी सदा बरफसे ढकी रहती है, ऐसे अनेकों कारणोंसे हिमालय सकल पर्वतोंमें निःसन्देहरूपसे श्रेष्ठ है, इसकारण ही वह मेरी श्रेष्ठ विभूति है। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन्! आपने अभी तो (२३ श्लोकमें) कहा था, कि—मैं पर्वतोंमें सुमेरु हूँ और अब आप कहते हैं कि—मैं हिमालय हूँ, इसका क्या कारण है? भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! मेरु बड़ा है या हिमालय बडा है यह बात मैं नहीं कहता हूँ, मैं तो शिखर वालोंमें मेरुको विभूति कहता हूँ, क्योंकि—मेरुका शिखर हिमालयके शिखरसे भी बडा है और स्थिर रहनेवाले स्थावरोंमें हिमालयको विभूति कहता हूँ, क्योंकि—हिमालय सकल स्थावरोंमें बड़ा है ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणा
ञ्च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः
सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अन्वय और पदार्थ

[अहम्] मैं (सर्ववृक्षाणाम्) सकल वृक्षोंमें (अश्वत्थः) पीपल (देवर्षिणाम्) देवर्षियोंमें (नारदः) नारद (गन्धर्वाणाम्) गन्धर्वोंमें (चित्ररथः) चित्ररथ (च) और (सिद्धानाम्) सिद्धोंमें (कपिलः) कपिल नामवाला (मुनिः) मुनि [अस्मि] हूँ ॥ २६ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् ने कहा, कि–हे सखे! मैं सकल वृक्षोंमें अश्वत्थ कहिये पीपलका वृक्ष हूँ, इस विशाल विश्वके नाना स्थानोंमें नाना प्रकारके वृक्ष शोभा पारहे हैं। विलासियों के रमणीय बागोंमें अनेकों प्रकारके वृक्ष महकदार फूलोंके भारसे अपने शरीरोंको सजाकर सुन्दरता फैला रहे है, धनवानोंकी बगीचियोंमें अनेकों आनन्ददायक फलोंसे युक्त आम केला आदिके वृक्ष नेत्रोंको सुख देते हैं। शैलमालाकी गुफाओंमें अथवा शिखरों पर असंख्यों और और अनेकों प्रकारके वृक्षोंके झुण्ड लगे हुए हैं, आवश्यकताओंको पूरा करनेमें वह सब ही मनुष्योंके न्यूनाधिक आदरकी वस्तु हैं, परन्तु वनस्पतिमात्रमें पीपलका

वृक्ष परम पूजनीय और धर्मफलदायक है, क्योंकि—पुराणों में कहा है, कि—"अश्वत्थरूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः" अश्वत्थके रूप साक्षात् विष्णु भगवान् ही हैं, क्योंकि—लिखा है, कि—पार्वके अभिसम्पातसे विष्णुने अश्वत्थ का रूप धारण किया था, इसीलिये अनुष्ठानके साथ अश्वत्थके वृक्षकी प्रतिष्ठा करना लिखा है, प्रतिदिन इसकी जड़में मन्त्र बोलते हुए प्रणाम करके जल देना चाहिये, इसका दर्शन, प्रणाम और प्रदक्षिणा करनेसे बडा फल प्राप्त होता है, आयु बढ़ती है, पापका नाश होता है इसको जल देते हुए यह मंत्र बोलना चाहिये—"अश्वत्थरूपी भगवान् प्रीयतां मे जनार्दनः । त्वां दृष्ट्वा नश्यते पापं दृष्ट्वा लक्ष्मी प्रवर्त्तते ॥" यह पवित्र वृक्ष देवताकी समान आदरके योग्य और परलोकश्रेयःसाधनका एक उपाय है, इस कारण यह मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ हे सखे ! देवर्षियोंमें मैं नारद हूँ, जो परमज्ञानके निकेतन हैं जो सत्यलोक पर्यन्त विना रोक टोक के पहुँच सकते हैं, जो इन्द्रादि देवताओंके भी आदर के पात्र, परम तत्त्वगुरु और मन्त्रदाता माने जाते हैं, जिन नारदजीने अपनी आसाधारण योगशक्तिके प्रभाव से देव-तापन और ऋषिपन पाया है, वह तेजके प्रभावसे युक्त महा योगी नारदजी वैकुण्ठवासी लक्ष्मीनारायणको भी परम प्यारे हैं वह भक्तोंके चूड़ामणि, ज्ञानियोंके मान्य और योग के ऐश्वर्यको पाये हुए हैं, इस कारण वह मेरी श्रेष्ठ विभूति

हैं। हे सखे गन्धर्वों (१) में मैं एक चित्ररथ (२) हूँ। गन्धर्व सङ्गीत विद्यामें बड़े निपुण हैं, उन्हों ने गानविद्या देवर्षि नारदजी की कृपासे पायी है और इस विद्यामें पारङ्गत होने के कारण यह देवादिदेव महादेवजी के भी अनुग्रहके पात्र हुए हैं, गन्धर्व देवयोनि हैं और स्वर्गलोकके गायक कहलाते हैं, चित्ररथ नामका गन्धर्व इन सबोंमें प्रधान है, वह जैसा सङ्गीतविद्यामें श्रेष्ठ है तैसा ही युद्धविद्यामें भी प्रवीण है, इसलिये वह मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ हे सखे ! सिद्धोंमें मैं कपिल मुनि हूँ। जो जन्म लेते ही अनायासमें अणिमा आदि योगैश्वर्यको पाकर भूतल पर धन्य होगये हैं और सहजमें धर्म, वैराग्य और तत्त्वज्ञानको पाकर इस मृत्युलोकमें अतुल कीर्त्तिको फैला गये हैं, वही सिद्ध नाम से पूजे गये हैं, उन सिद्धोंमें भगवान् कपिल मुनि आजन्म परमज्ञानी और परम उपदेष्टा माने गये हैं, उन्होंने कर्दमजीसे देवहूतिके गर्भमें जन्म धारण

(१) यह एक गानमें निपुण देवयोनि है, देवताओंके गायक कहलाते हैं ये गुह्यक लोकके ऊपर और विद्याधर लोकके नीचे रहते हैं।

(२) चित्ररथ गन्धर्वोंका राजा है। महाभारतमें लिखा है, कि मुनि नामकी दक्षकन्या के गर्भ में कश्यप के वीर्यसे इसका जन्म हुआ है। एक समय धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनके साथ चित्ररथका बड़ाभारी युद्ध हुआ था, उसमें कर्ण, दुर्योधन दुःशासन आदि कौरवोंके वीर हार गये थे और दुर्योधनकी स्त्री आदि नगरकी स्त्रियोंको गन्धर्वोंने रोक लिया था तब पाण्डवोंने गन्धर्वों को हराकर दुर्योधन आदिको छुड़ाया था।

किया था उन्होंने अनेकों शास्त्रोंके उपदेश देकर तथा गूढ़ धर्मतत्त्वकी व्याख्या करके अपने माता पिताका और साथ साथ में भूमण्डलके सर्वसाधारण मनुष्योंका कल्याण किया है, इस लिये कपिलमुनि मेरी श्रेष्ठ विभूति हैं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माम-
मृतोद्भवम् । ऐरावतं गजेन्द्राणां
नराणाञ्च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(माम्) मुझको (अश्वानाम्) घोड़ोंमें (अमृतोद्भवम्) अमृतको मथते समय उत्पन्न हुए (उच्चैःश्रवसम् (उच्चैश्रवा नामवाला घोड़ा (गजेन्द्राणाम्) गजराजोंमें (ऐरावतम्) ऐरावत (च) और (नराणाम्) मनुष्यों में (नराधिपम्) राजा (विद्धि) जान ॥ २७ ॥

भावार्थ

श्री भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! घोड़ोंमें मुझे अमृतको मथते समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा नामका घोड़ा जान, पहिले अमृतको पानेकी इच्छासे देवता और असुरोंने मिल कर समुद्रको मथा (१) था । उस मथनके फलसे,

(१) दुर्वासा के शाप से लक्ष्मी समुद्रमें प्रवेश करगयी थीं, इसलिये नारायणने ब्रह्माजीको समुद्र मथनेकी आज्ञा दी और कहा, कि—इस समुद्रमन्थनसे अमृत भी निकलेगा। देवता और असुर समुद्रके भीतर एक बड़े कच्छपकी पीठपर बड़ेभारी मन्द

समुद्रमें से अनेकों प्रकारके आश्चर्य भरे पदार्थ उत्पन्न हुए थे, देवताओमें से अनेकोंने उन पदार्थोंको अपने २ प्रयोजनके अनुसार बांटालिया था, उनमे उच्चैःश्रवा घोड़ा और ऐरावत हाथी बड़े प्रयोजनके थे, राजा और ऐश्वर्यशाली महात्माओं के भोगने योग्य थे, इस लिये ये दोनों देवराज इन्द्रको अर्पण किये गये थे, उसी दिन से उच्चैःश्रवा इन्द्रका घोड़ा कहलाने लगा, यह घोड़ा स्वेतवर्णका, बड़ा बलवान्, अपनी इच्छाके अनुसार विचरने वाला और विचित्र शक्तिवाला है इस कारण यह भी मेरी श्रेष्ठ विभूति है। हे सखे! गजराजोंमें मैं ऐरावत हाथी हूँ। ऐरावतभी इन्द्रका वाहन है, इसका शरीर स्वेत और दांत चार हैं और परमबली है, इसकारण यह भी मेरी श्रेष्ठ विभूति है। हे सखे! मैं मनुष्योंमें राजा हूँ,। मनुष्योंका जीवन साधारणरूपसे दुःख दारिद्र्यसे घिरीहुई दशामें और भोग विलासके पदार्थोंको इकट्ठा करनेकी चेष्टामें ही बीतता है, जो पुण्यके प्रतापसे राज्यपदको पागये हैं वह निरन्तर सुखकी साधनरूप वस्तुओंसे भरपूर रह कर अनेकों श्रेष्ठ पदार्थों को भोगते हुए ही समयको विता देते हैं, दीनता और दीनताकी चिन्ता उनको कभी भी व्याकुल नहीं करती है

राचल पर्वतको डाल कर और वासुकी सर्पकी रस्सी बनाकर चीरसागरको मथने लगे, उस समय समुद्रमेंसे चन्द्रमा, ऐरावत हाथी, उच्चैश्रवा घोड़ा पारिजात पुष्प अमृतके कलशको लिये धन्वन्तरि कौस्तुभ मणि और लक्ष्मी ये सब निकले थे और दूसरी बार मथनेपर विष निकला था, जिसको कण्ठमें धारण करनेसे महादेवजी नीलकण्ठ कहलाये है

तथा वह अपने अधीन रहनेवाले राजपुरुषोंके प्रभु और सकल प्रजाके सर्वस्व विधाता होते हैं, वह असंख्यों मनुष्यों की उन्नति अवनतिमें लेजानेके सूत्रधार होते हैं, इसकारण सकल मनुष्योंमें राजा वा राजचक्रवर्त्ती श्रेष्ठ होते हैं, हे सखे! मेरी समान साधुओंकी रक्षा करना और असाधुओंको दण्ड देना राजाओंका कार्य है वह अधर्मको दूर करके धर्मका प्रचार करते हैं, मेरा और राजाका काम एकसमान है, इसकारण राजा मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्। प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (आयुधानाम्) शस्त्रोंमें (वज्रम्) वज्र (अस्मि) हूँ (धेनूनाम्) धेनुओंमें (कामधेनु) कामधेनु (अस्मि) हूँ (प्रजनः) पुत्रकी उत्पत्तिका हेतु (कन्दर्पः)कामदेव (अस्मि) हूँ (च)और (सर्पाणाम्) सर्पोंमें (वासुकिः) वासुकि (अस्मि) हूँ।

भावार्थ

श्रीभगवान्ने कहा, कि-हे सखे! सकल आयुधोंमें मैं वज्र हूँ। शत्रुओंका दमन करने के लिये और अपनी प्रभुता स्थापन करनेके लिये स्वर्गादि चराचर में जिन सकल अस्त्रों का व्यवहार होता है, उनमें वज्र सबसे श्रेष्ठ है। वृत्रासुर

के वधके समय देवताओंकी प्रार्थना से दधीचि मुनिने अपनी हड्डियें देकर एक अनुपम काम किया था, उसका ही वज्र बनाया गया था। यह वज्र देवराज इन्द्रका मुख्य आयुध है और यह देवताओंके गौरव तथा प्रधानता को बढ़ानेवाला है, इसके शब्दसे भूमि डगमगाने लगती है और इसके गिरने पर विशाल शैल फटजाते हैं, जीवकी शक्ति इसके सामने सदा हारी हुई और तुच्छ है, इसकारण हे सखे! यह मेरी श्रेष्ठ विभूति है॥ हे सखे! सकल गौओं में मैं कामधेनु हूँ,। महर्षि वशिष्ठके यहां एक सुरभि नाम वाली कामधेनु थी, यह पयस्विनी गौ मन्थनके समय समुद्रमेंसे निकली थी, यह गौ केवल दूध पिलानेका ही काम नहीं करती थी, किन्तु अपने सेवककी सब अभिलाषाओंको भी पूर्ण करती थी, उसका तिरस्कार करने पर महर्षि वशिष्ठजीके साथ विश्वामित्रजीका घोर संग्राम हुआ था और बड़े शोचनीय रूपमें उसकी समाप्ति हुई थी, दुधेर गौओंमें कामधेनु सबसे श्रेष्ठ है, इसकारण ही हे सखे! कामधेनु मेरी श्रेष्ठ विभूति है। हे सखे! मैं पुत्र उत्पन्न होने का हेतु कन्दर्प (कामदेव) हूँ। जिस अलक्ष्य और अकाट्य शक्तिके वशमें होकर स्त्री पुरुष का आपस में संमिलन होता है और जिस आश्चर्यरूप नियमके प्रभावसे मनुष्योंका प्रजनन और पालन होता है उसकी विचित्रता, मधुरता और श्रेष्ठताका स्मरण तथा आलोचना करने पर विस्मित होना पड़ता है। भगवान् कामदेव उसके नियामक और परिचालक हैं, क्षुद्रबुद्धि मनुष्य अपने

मनमें समझते हैं कि-उनके सुख भोगके और आनन्द लूटने के लिये ही यौनसम्बन्ध है अर्थात् स्त्रीके साथ रतिक्रीड़ाका उद्भव हुआ है, परन्तु वास्तवमें विचार करके देखने पर सहज में ही ध्यान में आजायगा, कि- प्रजाकी सृष्टि और जीवों की रक्षाके लिये ही पतिपत्नी सम्बन्धकी सृष्टि हुई है। भोग-परितृप्ति और सङ्गसुख उसका आनुषङ्गिक फल है। मूलमें जो" प्रजनश्चास्मि" यहाँ चकार दिया है, उसका अर्थ रति-सम्भोग नहीं है, जो लोग रतिसम्भोगको धर्मका अङ्ग बनाना चाहते हैं वह नारकी हैं, मैं कामुक नहीं हूँ, मैं काम-भावसे कोई भी काम नहीं करता हूँ, जो लोग मेरे वर्णन के साथ कामभोग की बातें जोड़ते हैं, मुझे कामुक बनाते हैं उनका अनुचित साहस है। मेरे अनन्यरूप महादेव और पार्वती भी कामुक नहीं हैं। काम सदा घृणाकी वस्तु है, जहाँ काम होता है तहाँ मैं नहीं रहता हूँ और धर्म भी नहीं रहता है इस बातको ध्यानमें रख कर धर्मके सकल अनुरा-गियोंको और मेरे भक्तों को सावधान रहना चाहिये। हे सखे! सर्पोंमें मैं वासुकि हूँ। भूमण्डल पर जितने प्रकारके सर्प हैं उनका निर्णय करना एक प्रकारसे असम्भव है। नाशकारी हलाहल विष बहुत प्रकारके सर्पोंकी दाढ़ोंमें रहता है। सर्पों के हाथ नहीं हैं, पैर नहीं हैं तथा और जीवोंके कार्य-साधक शक्तिसञ्चारक जो अनेकों अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं उनमेंसे बहुतसे सर्पोंके नहीं हैं तो भी वह महाभयानक हैं और मनुष्य आदि उनको देखते ही यमराजका सहोदर समझ चौंक कर

भागजाते हैं, इन सर्पोंमें वासुकि राजा है इस कारण वह मेरी श्रेष्ठ विभूति हैं ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् । पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।२९।

अन्वय और पदार्थ

(नागानाम्) नागोंमें (अनन्तः) अनन्त (च) और (अहम्) मैं (यादसाम्) जलजन्तुओंमें (वरुणः) वरुण (अस्मि) हूँ (अहम्) मैं (पितॄणाम्) पितरोंमें (अर्यमा) अर्यमा (च) और (संयमताम्) नियममें चलानेवालोंमें (यमः) यम (अस्मि) हूँ ॥ २९ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! मैं नागोंमें अनन्त हूँ, अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! अभी आपने अपनेको सर्पोंमें वासुकि कहा था और अब आप कहते हैं, कि—मैं नागोंमें अनन्त हूँ, तो क्या सर्पोंमें और नागोंमें कुछ भेद है ? भगवान्ने कहा कि—हे सखे ! जिनके एक फण हो वह सर्प कहलाते हैं और जिनके अनेक फण होते हैं वह नाग कहलाते हैं । सर्पोंमें विष होता है, और नागोंमें किन्हीं २ में विष होता है, तक्षक जातिके नागके विषसे वृक्ष भी भस्म हो जाता है । जैसे सर्पोंका राजा वासुकि है तैसे ही नागोंके

राजा अनन्त कहिये शेषनाग हैं, मैं प्रलयान्तमें लक्ष्मीसे सेवित होकर शेषशय्या पर ही सोता हूँ, अनन्त अपने बहुत से फणोंको फैलाकर मुझे छत्रकी समान ढक लेते हैं, इस कारण वह नागोंमें सबसे श्रेष्ठ और मेरी विभूति हैं। और हे सखे ! मैं जलचरोंमें जलदेवताओंका राजा वरुण हूँ। इस विशाल शरीरवाली मेदिनीका बहुतसा भाग अथाह सागरके जलसे ढका हुआ है, उस असीम वारिधिके भीतर असंख्यों मगर, नाके, तिमिङ्गिल आदि भयानक जलचर सुख और स्वच्छन्दताके साथ विहार करते और विचरते हुए अपने जीवनको बिताते हैं। अनेकों प्रकारके शंख, शम्बूक, बराटक कच्छप आदि दुर्भेद्य शरीरवाले जीव सागरमें स्वच्छन्दतासे वसते हैं। इनके सिवाय असंख्यों छोटे और बड़े मच्छ तथा सर्प आदि अनेकों प्रकारके जलचर जीव सागरकी विशाल जलराशिमें क्रीड़ा करते हुए जीवनको बिताते हैं। ये सब समुद्रके जीव 'यादस्' नामसे कहेजाते हैं। वरुण देव उस यादस-कुलके अधिपति हैं, इसकारण उनका नाम यादसांपति है, जैसे स्थलके जीव असंख्यों हैं तैसे ही जलचर जीव भी असंख्यों हैं, वरुण उन सबोंका राजा है इस कारण वह मेरी श्रेष्ठ विभूति है। और हे सखे ! मैं पितरोंमें अर्यमा हूँ। वेदमें अनेकों स्थानों पर अर्यमा देवता की स्तुति लिखी है। ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ४१ में लिखा है-"यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा। नू चित् स दभ्यते जनः॥" अर्थात्-विशुद्ध ज्ञानवाले वरुण, मित्र और अर्यमा जिसकी रक्षा करते हैं उसको कोई नहीं मार-

सकता। ऐसे ही और सूक्तोंमें भी लिखा है। अर्यमा एक पितृदेव है। अनेकों स्थान पर सूर्यको भी अर्यमा शब्दसे कहा है। अर्यमा मनुष्योंका परमहितकारी देवता है, इसकी कृपासे सकल आपत्तियें दूर भागती हैं और सर्वत्र मङ्गल रहता है। मनुष्योंके लिये पितर परम आराध्य देवता हैं और कल्याण करनेवाले हैं, अर्यमा उन पितरोंके अधिपति हैं, इस कारण वह मेरी श्रेष्ठ विभूति हैं। और हे सखे! मैं नियममें रखने वालोंमें यम हूँ। इस संसारमें जीवका भाग्यचक्र सुख दुःख भोगाभोगरूप अनेकों आवर्त्तोंमें चक्कर खाकर क्रमसे मृत्युरूप अन्तिमदशामें पहुँच जाता है। विद्वान् हो चाहे मूर्ख हो, राजा हो चाहे प्रजा हो, कोई भी हो मृत्युके कराल ग्राससे नहीं बचसकता। संसारके सब नियमोंमें लौट बदल होता रहता है, परन्तु यमदण्डका नियम अटल है, उसमें कभी अन्तर नहीं पड़ता। कोई चाहे तैसी शक्ति वा प्रभुता पाकर दुर्बल के ऊपर अत्याचार भले ही करे, कोई अहङ्कारसे मतवाला होकर भूतलभरके सकल मनुष्योंको चरणोंसे भले ही कुचल डाले, कोई ज्ञानराज्यका आधिपत्य पाकर भले ही अपनेको धन्य मानलेय, कोई धर्म-धनका भण्डारी बन कर भले ही जगत्भरका पूजनीय बनजाय, परन्तु मृत्युके चङ्गुलसे छुटकारा कोई नहीं पासकता। जो गति सकल ऐश्वर्यवान् सुख सौभाग्यशाली चक्रवर्त्ती राजाकी होती है, वही गति मार्गमें एक ओरको पड़े हुए फटी गूदडी ओढ़नेवाले मलिनदेह भिखारीकी होती है, श्मशानकी चितामें फुकजाने पर दोनों

की ही भस्म एकसी होती है। सूक्ष्मदर्शी श्रेष्ठ नियामक, धर्ममय यमराज हाथमें न्यायदण्डको लेकर निष्पक्ष भावसे सबको ही अपनी मुट्ठीमें रखते हैं और सबोंको ही अपने २ कर्मोंके अनुसार फल भोग अविचल भावसे देते हैं। उनके इस नियममें उलट फेर नहीं होता है,उनकी व्यवस्था किसी समय भी नहीं पलटती है। मनुष्य दृढ़ निश्चय और साधना के बलसे अनेकों व्यवस्थाओंकी प्रतिकूलता करै तो कर भी सकता है, परन्तु यमराजकी व्यवस्थाको पलटनेकी शक्ति किसीमें नहीं है, इसलिये नियामकोंमें यमराज सबसे उत्तम और मेरी विभूति हैं अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! यमराज कौन हैं ?। श्रीभगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! कश्यप और अदितिसे सूर्यका जन्म हुआ है, विश्वकर्माकी कन्या संज्ञाके साथ सूर्यका विवाह हुआ, संज्ञाके गर्भसे एक कन्या और दो पुत्र हुए, कन्याका नाम यमुना हुआ और दोनों पुत्रोंके नाम श्राद्धदेव तथा यम थे, यम और यमुना एक साथ उत्पन्न हुए थे ॥ २९ ॥

प्रल्हादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्। मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।३०।

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (दैत्यानाम्) दैत्योंमें (प्रल्हादः) प्रल्हाद (च) और (कलयताम्) गिनती करनेवालोंमें (कालः)

काल (च) और (अहम्) मैं (मृगाणाम्) पशुओंमें (मृगेन्द्रः) सिंह (च) और (पक्षिणाम्) पक्षियोंमें (वैनतेयः) गरुड़ (अस्मि) हूँ ॥ ३० ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! मैं दैत्योंमें प्रल्हाद हूँ। कश्यपजीका पुत्र हिरण्यकशिपु बड़ा ही भगवद्द्वेषी था, परन्तु उसका पुत्र प्रल्हाद हरिभक्तोंका चूडामणि था, मैंने नरसिंह रूप धारण करके हिरण्यकशिपुको पेट फाड कर मारडाला था और भक्त-शिरोमणि प्रल्हादको अपनी छाती से लगाया था। प्रल्हादने जो भक्तिके विषयमें उपदेश दिया है वह बडे ही आदरकी वस्तु है। दैत्यकुलमें ही क्या संसारके और भी प्रतिष्ठित तथा प्रसिद्ध कुलोंमें प्रल्हादसे महापुरुषका जन्म हुआ देखनेमें नहीं आता, अब भी संसारमें किसी नीच वंशमें कोई सदाचारी धर्मात्मा भक्त होजाता है तो उसको देख कर लोग कहते हैं, कि—भाई यह तो मानो दैत्यकुलमें प्रल्हाद उत्पन्न होगया है। प्रल्हादके उत्पन्न होनेसे दैत्यवंश भी धन्य होगया । चाहे जैसा क्लेश वा विपत्ति पडी परन्तु प्रल्हादने उससे भयभीत होकर अपने जीवनमें कभी चक्रपाणि के चरणोंका स्मरण नहीं छोड़ा, उनके क्लेशको सहने की कथा और धीरताकी पराकाष्ठको याद करके अनेकों के मन में बलका सञ्चार होजाता है, इसकारण प्रल्हाद मेरी श्रेष्ठ विभूति है॥ हे और सखे ! मैं गिनती करनेवालोंमें काल हूँ। अनन्त कालचक्र अटलभावसे संसारको अपने पेटके भीतर

रखकर प्रवाहित होरहे है, उसकी आदि खोजने पर नहीं मिलती और उसका अन्त कहां होगा, इसका भी कुछ पता नहीं है। सृष्टिकी आदिमें भी मेरा अस्तित्व होता है इसलिये उस समय काल भी विद्यमान होता है, प्रलयान्तमें भी मैं विद्यमान रहता हूँ, इसकारण कालभी विद्यमान रहता है। यह आदि-अन्तहीन काल किसी विघ्नबाधाकी परवाह न करके, किसी के भी निषेध वा प्रार्थना पर कान न देकर बराबर अटूट प्रभावसे दौड़ता रहता है। देवता देवपरिमाणके अनुसार कालका विभाग और गिनती करते हैं तथा मनुष्य अपने परिमाणके अनुसार दिन, रात, पक्ष, महीना, ऋतु और वर्ष आदिके क्रमसे कालका विभाग और गिनती करते हैं, परन्तु वास्तवमें देखाजाय तो अनन्तकालकी तुलनामें यह सब गणना अतितुच्छ है। हम प्राणोंके भय से व्याकुल हुए निरन्तर अपने जीवनके दिन गिना करते हैं। रोगके भयसे कांपकर तिथियें और वार गिना करते हैं। भोग और विलासमें उन्मत्त रहने के कारण पर्वदिन और उत्सवोंके आनेके दिन गिना करते हैं अथवा धर्मके आनन्दमें विह्वल होकर पुण्यानुष्ठानको बढ़ानेवाले सुयोगकी प्रतीक्षामें दिन गिना करते हैं, परन्तु अनन्तकालके लिये, समुद्रमें से घड़ा भर जल निकाललेनेकी समान यह सब चेष्टा केवल अपना काम साधनेमात्रके लिये होती है। कालको परिमित वा खण्डित करनेकी शक्ति किसीमें है ही नहीं शास्त्रमें लिखा है—"अनादिनिधनः कालो रुद्रः सङ्कर्षणः स्मृतः। कलना

त्सर्वभूतानां सकलः परिकीर्त्तितः ॥,, अर्थात्- जो आदि अन्तरहित है, जो सबका शेष है, जो महेश्वर है, जो अनन्त है और जो सब जीवोंका तिरस्कार करने वाला है वही काल है। मूलमेंके 'कलयताम्' पदका अर्थ कोई 'वशीकुर्वताम्, अर्थात् वशमें करनेवालोंमें, ऐसा करते हैं। इस संसारमें अनेकों पुरुष अनेकों उपायोंसे अनेकोंको वशमें करते हैं। बाहुबलसे वा सेनाकी सहायतासे राजा प्रजाओंको वशमें करता है, गुरुदेव ज्ञानके बलसे अनेकों शिष्योंको वशमें करते हैं। ऐसे अनेकों कारणों से मनुष्य मनुष्योंके वशमें होजाते हैं, अपने २ कर्मोंके अनुसार भी प्रारब्धके अनुकूल उनको अटूट बन्धनके वशमें होना पड़ता है। सर्वोपरि दैवशासनकी अधीनतारूप फाँसीमें बँधकर वह विधाताके वशमें होजाते हैं। परन्तु वशीभूत करने वाले और वशीभूत होने वाले सब ही कालके वशमें हैं, कालकी कराल विशाल कोखमें सब ही बुदबुदोंकी समान लीन हुए हैं, होते हैं और होंगे, सबकी ही कुकीर्त्ति और सुकीर्त्ति कालके प्रभावसे विलीन और निःशेष होजाती है, परन्तु काल सदासे एकसी दशामें चला आरहा है, इस कालके सामने सबोंको ही मस्तक नवा कर खड़ा होना पड़ता है और कालको ही सबसे अधिक महान् और बलवान् मान कर उसका सन्मान करना पड़ता है, इसलिये ही गणना करने वालोंमें तथा वशीभूत करने वालोंमें काल मेरी श्रेष्ठ विभूति है। हे सखे! पशुओंमें मैं सिंह हूँ। वनोंमें असंख्यों हिंसक और शान्तस्वभाव पशुओंके समूह रहते हैं, उनमें सिंह बल और

विक्रममें सब से श्रेष्ठ है, इसलिये ही वह पशुराज कहलाता है, सब पशु उसके वशमें रहते हैं और उसका भोजन कहलाते हैं, इसलिये वह मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ हे सखे! मैं पक्षियोंमें वैनतेय हूँ। आकाशमार्गमें दोनों पंखोंको चलाते२ अनेकों प्रकार के पक्षी सन्ध्या और प्रातःकालके समय चलते फिरते फूलोंकी समान उड़ते हुए चले जाते हैं। उन में कोई देखनेमें बड़े सुन्दर होते हैं, किन्हीका बल बड़ाभारी होता है और किन्हीके कण्ठका स्वर बड़ा ही मधुर होता है इन पक्षियोंमें विनतानन्दन गरुड़जी बल और पराक्रममें सबसे श्रेष्ठ हैं और धर्ममय होने के कारण वह मनुष्योंके भी परम पूजनीय हैं, वह मेरा वाहन और सदा अनुगामी अनुचर हैं। जो पक्षी जातिके प्राणी स्मृतिवाले कहलाते हैं तथा भगवान्के नामोंका कीर्तन करनेमें निपुण कहलाते हैं, गरुड़ उस पक्षिजातिके अधीश्वर हैं और परमश्रेष्ठ हैं, इस कारणही वह मेरी पूजनीय विभूति हैं ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्र-
भृतामहम्। झषाणां मकरश्चास्मि
स्रोतसामस्मि जान्हवी ॥ ३१ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (पवताम्) वेगवालोंमें (पवनः) पवन (शस्त्रभृताम्) शस्त्रधारियोंमें (रामः) राम (अस्मि) हूँ

(झषाणाम्) मत्स्योंमें (मकरः) मकर (अस्मि) हूँ (च) और (स्रोतसाम्) नदियोंमें (जाह्नवी) गङ्गा (अस्मि) हूँ, ॥ ३१ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् कहते हैं, कि-हे सखे! वेगवालोंमें वा पवित्र करनेवालोंमें मैं पवन हूँ। संसारमें जितनी पवित्र करनेवाली वस्तु हैं, उनमें पवन सबसे अधिक आदरके योग्य है। पवन देवके प्रभावसे दुर्गन्ध और दूषित पदार्थोंकी विषैली भाफ दूर चलीजाती है। सकल जीव और उद्भिज पदार्थ श्वास प्रश्वास रूपसे वायुका सेवन करके जीवन धारण करते हैं। पवनकी शक्ति अतुलनीय है, वह समुद्रमे बड़ीभारी तरङ्ग-माला उत्पन्न करके तटके समीपके स्थानोंको जलमें डुबा देता है, प्रचण्ड प्रभाव से बड़े २ वृक्षोंको जड़से उखाड़ कर फैंक देता है। दुर्दान्त वेगसे मनुष्योंके स्थानों तकको गिरा कर चूर्ण २ करदेता है और कभी २ शान्तमूर्त्ति सुशीतल मलयमारुत के रूप में चलकर घोर गरमीसे क्लेश पाते हुए जीवों के शरीरोंको जीवनके समान शीतलता देता है। अथवा सुगन्धित फूलोंकी महकको लाकर लोगोंके हृदय और मनको आनन्द देता है। वायुकी शक्ति से एक स्थान का शब्द दूसरे स्थान पर पहुँचजाता है। किन्नरकण्ठी गायिकाका स्वर लयसे युक्त सङ्गीतका शब्द, बालकका अमृत की समान आनन्ददायक तोतला शब्द अथवा आकाशमें गुञ्जारनेवाला तथा हृदय मनको विह्वल करने वाला वज्र

पातका शब्द वायुके द्वारा वहकर हमारे अन्तःकरणको कभी आनन्द से पूर्ण और कभी भयसे कम्पायमान करता है। इसप्रकार पवित्र करनेमें भी पवनकी अद्भुत शक्ति है और वेगवान् होने में भी अनुपमता है, इसकारण पवन मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ हे सखे ! शस्त्रधारियोंमें मैं रामचन्द्र हूँ। अस्त्र-धारी श्रेष्ठ वीरोंमें त्रेतावतार दशरथराजकुमार श्रीरामचन्द्र जी बड़े प्रसिद्ध होगये हैं। उन्होंने रावण आदि राक्षसोंका वंशसहित नाश करके भूतलपर अक्षय कीर्त्तिकी पताका भहरादी है। उन्होंने स्वयं भगवान् रूपसे जन्म ग्रहण किया था, और उनके आविर्भावसे वसुन्धरा धन्य हुई थी। इसके अतिरिक्त जमदग्निकुमार राम (परशुराम) भी शस्त्र धारियों में श्रेष्ठ हैं उन्होंने इक्कीस वार भूमिको दुष्टक्षत्रियोंका नाश करके क्षत्रियहीनसी किया था, वह अनेकों प्रकार से बल वीरता का परिचय देकर वीरोंमें अग्रणी गिने जा चुके हैं, इसकारण हे अर्जुन ! निश्चय रख कि-रामचन्द्र और परशुराम रूपसे साक्षात् मैं ही अवतीर्ण हुआ था। हे सखे ! मैं मत्स्योंमें मकर हूँ। भूतल पर ह्रद, तड़ाग, सरोवर, नदी आदि जलाशयों में जितने मत्स्य आदि रहते हैं, उनमें मकरका आकार प्रकार सबसे श्रेष्ठ है तथा वह पवित्रसलिला भागीरथी का वाहन है, और मैंने मीनावतार धारण किया है इसकारण वह भी मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ और हे सखे ! मैं सकल नदियोंमें जाह्नवी गङ्गा हूँ। गिरिराज हिमालयके शरीरको चीरकर जो जगत्प्र-सिद्ध बड़ी २ नदियें भूमण्डल को जलसे सींचती हुई समुद्र

की ओरको दौड़ती हुई चलीजाती हैं उनमें पवित्रसलिला जाह्नवी सबसे श्रेष्ठ और पूजनीय है, यह देवनदी भगीरथ के असाध्य उद्योग से भूतलपर उतरी है तथा गङ्गा भागीरथी जाह्नवी, देनवदी आदि अनेकों नामोंसे प्रसिद्ध होकर समुद्रमें मिली है। इसके जलकी पवित्रता और शक्तिकी वराबरी कोई नहीं करसकता। गङ्गाजलमें स्नान, गङ्गाजल का स्पर्श, गङ्गाजलके नामका उच्चारण, गङ्गाके किनारे पर शरीर को त्यागना और गङ्गाजलमें मृत शरीर वा मृतककी अस्थियों को डालना आदि कामोंका फल अतुलनीय है। जाह्नवी शब्दका अर्थ भी बड़ा ही भावभरा है, यथा—"असारतया संसारं जहतस्त्यजतोऽवति रक्षतीति जाह्नवी" अर्थात् जो संसार को असार जान कर त्यागते हैं उन की रक्षा करता है इसकारण गङ्गाका नाम जाह्नवी है, परन्तु जाह्नवी शब्दका प्रचलित अर्थ और ही प्रकार का है। जब भगीरथ जलरूपा गङ्गादेवीको अपने पूर्वपुरुषों को मुक्त करने के लिये लिये जारहे थे उस समय एक जह्नु नामके ऋषि इसको तपोबलसे वा योगशक्तिसे पीगये थे, फिर भगीरथके विनय करने पर और कातरता दिखाने पर उन्होंने अपनी जाँघको चीर कर गङ्गादेवी को बाहर निकाला था, उस दिनसे गङ्गा जन्हुतनया और जन्हवी नामसे प्रसिद्ध हुई है, वेद शास्त्र आदि में भगवती गङ्गादेवीका जो माहात्म्य वर्णन किया गया है, वह एक प्रकारसे असीम है उसका पार कोई नहीं पासकता, क्योंकि-वास्तव में भागीरथी गंगा मेरे चरणकमलसे उत्पन्न हुई है, मानो मैं ही द्रवीभूत होकर गंगा बनगया हूँ, तभी तो वह ब्रह्मद्रव नामसे प्रसिद्ध है और मेरी श्रेष्ठ विभूति है॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाह-मर्जुन । अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (अहम्) मैं (सर्गाणाम्) रची हुई वस्तुओंकी (आदिः) उत्पत्ति (अन्तः) प्रलय (च) और (मध्यम्) स्थिति [अस्मि] हूँ (च) और (अहम्-एव) मैं ही (विद्यानाम्) विद्याओं में (अध्यात्मिविद्या) आत्माका निर्णय करानेवाली वेदान्तविद्या (च) और (प्रवदताम्) वाद जल्प आदि में (वादः) तत्त्वनिरूपण करनेवाला फल [अस्मि] हूँ ३२

भावार्थ

श्रीभगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! यहां तक जो मैंने तुझे अपनी विभूतियों का वर्णन सुनाया, इससे सृष्ट (रचे हुए) देवता, मनुष्य जीव, निर्जीव पदार्थोंमें जो जो ज्ञानबलसे, शक्तिसे, पराक्रमसे, आकार प्रकारसे, उपकारीपनेसे अथवा उपयोगी होनेके कारण सबसे श्रेष्ठ है उसको ही मैंने अपनी विभूति रूपसे बतलाया है, परन्तु इस श्लोकमें तैसी विभूति का वर्णन नहीं होगा, अब मैं तुझे अपने सर्वनियन्तापन आदि ईश्वरीय शक्तिको विभूतिरूपसे वर्णन करके सुनाता हूँ, अब तू जरा बाहरी व्यापारको छोडकर मनुष्यकी बुद्धिकी

वृत्तिकी ओरको दृष्टि लगा, जिस बुद्धिवृत्तिके अद्भुत विकाश और परिणामसे मनुष्य देवभाव और देवभावसे भी ऊंची पदवी को पाकर कृतार्थ होजाते हैं, तू ध्यान देकर देख वह बुद्धि वृत्ति भी मेरी ही विभूति है। हे सखे अर्जुन ! मैं इस सृष्टिका अर्थात्, देवता मनुष्य, पशु, पत्ती आदिकोंसे भरेहुए जीव राज्यका तथा नद, नदी, वन, पहाड़ आदि सहित जड़राज्य का आदि हूँ। मेरी वासनासे और मेरी ही शक्तिसे इस विश्व ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है। यह भी सत्य है कि-प्रजापति ब्रह्मा सकल सृष्टिका आदि कारण है, परन्तु उस कमलयोनि ब्रह्माकी उत्पत्ति भी तो मुझ परमात्म स्वरूपकी वासना से ही हुई है और मुझ परमपुरुषसे शक्ति पाकर ही प्रजापति ब्रह्मा सृष्टिका कार्य करनेमें समर्थ होता है, इस कारण मुझ नारायणके सिवाय और कोई भी सृष्टिका आदिकारण नहीं गिना जासकता। सृष्टिके पदार्थमात्रके भीतर मैं ही हूँ। परिवर्त्तन (लौट फेर) का स्वभावाले पदार्थमात्रकी साधारणरूपसे तीन अवस्थायें देखनेमें आती हैं। पहिली आदि अर्थात् उत्पत्ति, दूसरी मध्य अर्थात् स्थिति और तीसरी अन्त अर्थात् समाप्ति। इन तीनों अवस्थाओंके और भी बहुतसे सूक्ष्मभेद होसकते हैं, परन्तु स्थूलरूपसे सकल पदार्थों को प्रकृतिके नियममें चलानेवाले ये तीन भेद ही हैं। उत्पत्तिसे समाप्ति तक जो अवस्था है उसको ही मध्य कहते हैं, उसका ही नाम स्थिति है, यह स्थिति अर्थात् पालन पोषण और रक्षाका काम निरन्तर मैं ही किया करता हूँ।

मेरे ही नियमके प्रभावसे सकल जीव दुर्दमनीय कामप्रवृत्ति के वशमें होकर स्त्रीसमागममें उन्मत्त होजाते हैं और उसके द्वारा धाराप्रवाहकी समान जीवोंकी तरंगें बढ़ने लगती हैं। मेरी ही वासनाके अनुसार अकाट्य अतिकोमल स्नेहकी फांसीमें जकड़े हुए सकल जीव अपनी सन्तान सन्तति तथा सम्बन्धियों का यथाशक्ति उद्योग करके लालन पालन और पोषण करते हैं। मेरी ही इच्छाके अनुसार माता पितारूप जीव अपनी छातीमें के अमृतधाराकी समान दूधको अथवा बड़े यत्नसे इकट्ठे किये हुए अपने मुखके ग्रासको देकर सन्तानरूप जीवोंका पालन पोषण करते हैं। मेरी वासनाके अनुसार ही अपने ऊपर कष्ट झेलकर भी जीव अपनी २ सन्तानों को आपत्तियोंसे बचाते हैं। इसप्रकार मेरे नियमकी अधीनता में बँधकर सकल प्राणी जीवप्रवाहकी रक्षा और वृद्धि करते हैं इसलिये यह बात अवश्य ही कहनी और माननी होगी कि–मैं ही सृष्टिका मध्य अर्थात् पालनका एकमात्र विधाता हूँ। लोकप्रसिद्धिके क्रमसे और शास्त्रके मतके अनुसार भगवान् ब्रह्माजी सृष्टिके पालकरूपसे कहेगये हैं, परन्तु विचार करके देखने पर निश्चय होजायगा, कि–मैं परमपुरुष परमात्मा परब्रह्मही इस पालनके कार्यका एकमात्र कर्त्ता हूँ। जैसे प्रभुके नियत किये हुए कर्मचारी विशेष शक्तिमान् और प्रतापी होने पर भी स्वतन्त्र प्रभु नामसे नहीं माने जा सकते तिसी प्रकार मेरे नियत कियेहुए जिनके ऊपर बड़े २ काम करनेका भार धरागया है ऐसे ब्रह्मादि देवता स्वतन्त्र प्रभु

कभी नहीं कहला सकते। जैसे किसी दयालुके लगाये हुए दान सदावर्त्त आदिकी वा मन्दिर सरोवर आदिकी देख भालका काम वा सम्हालका काम जिनको सौंपाजाता है वह उस सत्कर्मसे उत्पन्न होनेवाले यश कीर्त्ति और पुण्यफलको नहीं पाते हैं, किन्तु जिसकी इच्छासे, व्यवस्थासे और व्यय से वह काम होते हैं वहही सदा उन फलोंका अधिकारी होता है, इसीप्रकार इस जगत्के सृष्टिपालन और लय आदि व्यापारका नियन्ता, कर्त्ता आदि मैं ही हूँ। इसप्रकार इस सृष्टिका आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ॥ हे सखे! सकल विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या हूँ, मनुष्य अपनी बुद्धिकी वृत्तिको चलाकर अनेकों स्थानोंसे जो जानने योग्य बहुत से तत्त्वोंकी शिक्षा पाते हैं वही उनकी विद्या है। विद्या और ज्ञान अनेकों समय एकसमान अर्थमें प्रयोग किये जाते हैं। शास्त्रोंमें चौदह प्रकारकी विद्याओंका वर्णन है। यथा-" अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय एव च। धर्म-शास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥" शिक्षा, कल्प, व्याक-रण, ज्योतिष, निरुक्त और छन्द ये छः वेदके अंग, ऋक् साम, यजुः और अथर्व ये चार वेद मीमांसा, न्याय, धर्म शास्त्र और पुराण इन चौदहको विद्याके नाम से कहा है। शास्त्रमें गिनायी हुई ये चौदह विद्या बुद्धिकी वृत्तिको तीक्ष्ण करती हैं। धर्मकी प्रवृत्तिको उत्तेजना देती हुई और ज्ञानको बढ़ाती हुई साधककी उन्नति करदेती हैं। धर्मका मार्ग दिखा देती हैं और सबप्रकार से मनुष्यकी जीवनयात्रामें

सहायता करती हैं। परन्तु जिस विद्याके प्रभाव से मनुष्य अमर होजाता है, जिस विद्या के बलसे साधक परब्रह्मके पूर्णज्ञानको पाजाता है और जिस विद्याके द्वारा मनुष्य संसारबन्धनसे छूटकर जन्म मरणके पार होजाता है, वह विद्या सब विद्याओंकी अपेक्षा सब अंशों में श्रेष्ठ है और परम अबलम्बन रूप है, यह बात निर्विवाद है। आत्मज्ञान अर्थात् ब्रह्मावबोधका अबलम्बन लेकर जो विद्या मनुष्यके हृदयके अन्धकारको दूर करदेती है, जिस विद्याके द्वारा परमात्मतत्त्वकी पूर्णरूपसे प्राप्ति होती है और जो विद्या मनुष्य के हृदय में जीव ब्रह्मके वास्तविक संबन्धका निरूपण कर देती है वह ही अध्यात्मविद्या है, इसकी समान और कोई विद्या नहीं है, यही आत्मविद्या, यही ब्रह्मविद्या और यही अध्यात्मविद्या कहलाती है, हे सखे! यह सर्वोत्तम विद्या होनेके कारण मेरी विभूति कहलाती है। और हे सखे! विवाद करते हुए तार्किकोंमें मैं वाद हूँ। अर्थात् हे अर्जुन! जो विचार, युक्ति और तर्कके द्वारा मीमांसा करतेहुए सत्य का निश्चय करते हैं उनमें मैं वाद हूँ। जहां विचार होता है तहां वाद जल्प और वितण्डा इन तीन बातोंको देखते हैं। उनमें तत्त्व फलका निर्णय करानेवाले परम सत्यकी प्रतिष्ठा करना जिस विचारका उद्देश्य होता है वह ही वाद कहलाता है। ज्ञानी गुरु और शिष्य अथवा तत्त्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ महात्मा और ज्ञानका प्यासा श्रोता ये दोनों आपसमें विजयकी इच्छाको छोड़कर तत्त्वनिर्णयके लिये जो सदालाप

वा सुसंगत विचारके द्वारा सत्यका निर्णय करते हैं उसको ही वाद कहते हैं। वादमें अहङ्कार वा आत्माभिमान, अनु, राग वा घृणा, गौरव पानेकी इच्छा वा वितृष्णा इनमें किसी को भी स्थान नहीं मिलता है। विचाररूप कसौटी पर सत्य-रूप सुवर्णकी परीक्षा मात्र करना ही वादका प्रयोजन होता है। वेदान्तके प्रसिद्ध ग्रन्थ खण्डनखाद्यमें वादका यह लक्षण लिखा है—"प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। अर्थात्—प्रमाण, तर्क साधन, उपलब्धि और सिद्धान्तसे विरोध न होना, इन पांच अवयवोंके द्वारा उपपन्न और स्वपक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों के ही ग्रहण करने योग्य विचारका नाम वाद है। जहां एक पक्ष अपना मत स्थापन करनेके लिये विजय करनेकी इच्छा रखकर बराबर दूसरेके मतमें दोष देता चलाजाता है उसका ही नाम जल्पना है। जल्पनाके समय दूसरेके मतके ऊपर दोषारोपण करना, प्रतिपक्षीके पाण्डित्यके ऊपर कटाक्ष करना तथा अपने मतका शास्त्रसे विरोध सिद्ध होजाने पर भी उस को स्वीकार न करना ऐसी २ बातें प्रायः देखनेमें आती हैं। सत्यको दूर रखकर तथा विचार और युक्तिमार्गको छोड़कर दोनों पक्षोंका आपसमें दोषारोपण करनेका नाम वितण्डा है! इसमें सत्यको स्थापन करनेमें दोनों ही पक्षोंका ध्यान नहीं रहता है। पाण्डित्यका प्रकाश और जयकी इच्छाके वशमें होकर दोनों ही पक्ष वास्तविक प्रसंगको भूलजाते हैं, और निष्कारण असंगत प्रसंग उठाकर निरर्थक आत्माभिमान

दिखाते हैं, इस कारण ज्ञानी और पण्डितको वितण्डाका आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये। जल्पना यद्यपि वितण्डाकी समान निन्दित नहीं है तो भी निकम्मी है, उससे कोई काम सिद्ध नहीं होता, इसकारण उसका भी त्याग ही कर देना चाहिये। एक वाद ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि—वह तत्त्व फलका निर्णय कराता है और ज्ञानकी वृद्धिरूप सौभाग्यफलका देने वाला है, इसकारण हे सखे ! वाद मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः
सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः
कालो धाताहं विश्वतोमुखः ३३

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (अक्षराणाम्) अक्षरोंमें (अकारः) अकार (सामासिकस्य) समासोंका (द्वन्द्वः) द्वन्द्व (अहम्-एव) मैं ही (अक्षयः) प्रवाहरूपसे नित्य (कालः) काल (च) और (विश्वतोमुखः) सर्वव्यापी (धाता) कर्म फल देनेवाला (अस्मि) हूँ ॥ ३३ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् कहते हैं, कि—हे सखे ! सकल अक्षरोंमें मैं अकार हूँ । अकार सबसे आदिका वर्ण है तथा कोई व्यञ्जन अकारकी सहायताके विना बोला नहीं जासकता अर्थात् अकार सर्ववाङ्मय होनेके कारण सबसे श्रेष्ठ है,

श्रुति कहती है-"अकारो वै सर्वा वाक्" अर्थात् अकार ही सकल वाक्‌रूप है। इस श्रुतिसे अकारका सबसे श्रेष्ठ होना सिद्ध होता है तथा ॐकाररूप सब से श्रेष्ठ वाक्य का आदि अक्षर अकार ही है, इस लिये अकारका एक नाम प्रणवाद्यावयव भी है। अकार विष्णुका नाम है "अकारो वासुदेवः स्यात्" इसकारण अकार मेरी श्रेष्ठ विभूति है॥ हे अर्जुन! सब समासोंमें मैं द्वन्द्व हूँ। जो दो वा दो से अधिक पद मिलकर परस्पर का सम्बन्ध स्थापन करते हैं अथवा जहाँ मिले हुए पद परस्पर अपेक्षा के साथ व्यवहार किये जाते हैं अथवा जो एक दूसरे की विशेषताका समर्थन करते हैं उसको समास कहते हैं। समास प्रधानरूपसे छः प्रकारका है-द्वन्द्व, बहुव्रीहि, कर्मधारय, तत्पुरुष, द्विगु और अव्ययीभाव। इन सब समासोमें द्वन्द्व समास मेरी श्रेष्ठ विभूति है, क्योंकि-और समास परपदकी अथवा जिनका समास होता है उन पदोंमें से किसी एक पदकी प्रधानता को कहते हैं, परन्तु द्वन्द्व समास जिन दो वा दो से अधिक पदोंसे गठित होता है उनमें से प्रत्येक पदकी प्रधानताको कहता है। जैसे कि-"रामकृष्णौ" इस द्वन्द्व समासवाले वाक्यमें राम और कृष्ण दोनों के ही गौरवकी समान रक्षा होती है। द्वन्द्वसमास की प्रधानता के विषयमें एक बात यह भी है, कि-समास-युक्त पदोंके अन्तमें कारकवाचक वा किसी विशेष अर्थकी प्रकाशक जो विभक्ति आदिका योग होता है वह पूर्ववर्त्ती पदोंके साथ सम्बन्ध की रक्षा करता है। "रामरावणयोः" यहाँ सम्बन्ध कारक को सूचित करने के लिये षष्ठीके द्वि-

चन का प्रयोग हुआ है, इससे यह सूचित होता है, कि-रामस्य और रावणस्य इन दोनों के द्विवचनमें "रामरावणयोः" पद सिद्ध हुआ है, इन सब कारणों से द्वन्द्व-समास श्रेष्ठ है और वह मेरी विभूति है। और हे सखे ! मैं ही अक्षय-काल हूँ। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन् ! आप पीछे तीसवें श्लोकमें तो अपनेको कालरूप कह ही चुके हैं अब आप फिर अपने को कालरूप क्यों कहते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! पहिले मैंने क्षयी कालकी बात कही थी, वह आयुकी गणनारूप कालकी वा जीवकी आयुरूप कालकी बात थी, आयुक्षय होजाने पर उसका क्षय होजाता है और इस श्लोकमें अनन्त, अक्षय तथा अपरिमेय कालरूपकी बात कहता हूँ॥ और हे सखे ! कर्मफलदाताओंमें मैं सकल कर्मोंका फल देनेवाला ब्रह्मा हूँ। देवता मनुष्योंको अनेकों प्रकारके कर्मोंके उचित फल देते हैं। किसी सत्कर्मसे महादेव जीको सन्तुष्ट कर लियाजाय तो वह वाञ्छित फल देते हैं, या शास्त्रमें वताये हुए किसी कर्म से इन्द्र चन्द्र आदि देवता वा लक्ष्मी सरस्वती आदि देवियोंको प्रसन्न करलिया जाय तो भी अनेकों प्रकारके फल प्राप्त होसकते हैं, परन्तु इस प्रकार जो २ भी फल प्राप्त होते हैं, उन सव फलोंके नियामक भगवान् ब्रह्माजी हैं, क्योंकि-वह ही सर्व फल देने वाले हैं। क्षुद्र और परिणामी फल थोड़े वा अधिक समयमें समाप्त हो जाते हैं, परन्तु सृष्टिके आदि कालसे प्रलयकाल पर्यन्त जिस देवताका काम धाराप्रवाहरूपसे चला करता है वह ही

वास्तवमें सर्वफलदाता है, विष्णुमूर्त्ति में सत्त्वगुणका आश्रय लेकर मैं ब्रह्मारूपसे सृष्टि का काम चलाता हूँ, फिर चतुर्मुख प्रजापति रूपसे रजोगुणके द्वारा इस विश्वका पालन करता हूँ, फिर तमोगुणका आश्रय लेकर महादेव मूर्त्तिसे सृष्टिका संहार करता हूँ, । प्रलयकालमें सब गुण क्रिया मुझ ब्रह्मरूप में लीन होजाती हैं, इस कारण ब्रह्मा ही फलदाताओंमें सब का नियन्ता और सर्वफलदाता हैं, इसकारण वह ही मेरी श्रेष्ठ विभूति हैं ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भ-
विष्यताम्। कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च
नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (सर्वहरः) सबका संहार करनेवाला (मृत्युः) मृत्यु (च) और (भविष्यताम्) होनेवालोंका (उद्भवः) अभ्युदय (च) और (नारीणाम्) नारियोंमें (कीर्त्तिः) प्रसिद्धि (श्रीः) कान्ति (वाक्) संस्कार की हुई वाणी (स्मृतिः) स्मरणशक्ति (मेधा) अर्थकी धारणा (धृतिः) धीरज (क्षमा) क्षमा [अस्मि] हूं॥ ३४ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् कहते हैं, कि–हे सखे ! मैं चराचर सबका संहार करनेवाला मृत्यु हूँ । इस संसारके जीव निरन्तर अनेकों

प्रकारके कालके कवल होते रहते हैं। बराबर असंख्यों रोग भयानक आक्रमणसे दबाकर जीवोंको यमपुरीमे भेजते रहते हैं। जीव निरन्तर आपसमें एक दूसरेको भोजन रूपसे खाकर यमराज के भवनमें भेजते रहते हैं। विना कारण ही केवल हिंसक स्वभावकी प्रबलतासे सर्प आदि दुष्ट जीव दूसरे जीवों के जीवनको समाप्त करते हैं। इसके सिवाय जो पहिले कभी भी नहीं देखीं और जिनका कभी चित्तमें ध्यान भी नहीं आया ऐसी अनेकों विपत्तियें आकर जीवोंका प्राणांत करती रहती हैं। घनघटामें से वज्रपात होनेपर मनुष्य पशु आदि जीव यमराजकी गोदीमें को समाते चलेजाते हैं। नौकायें डूब कर वृक्ष वा स्थान गिरकर ऐसे २ अनेकों कारणोंसे प्राणियों की जीवनलीला समाप्त हुआ करती है। इस प्रकार निरन्तर मृत्यु जीवोंके संहार के काम में लगा रहता है, परन्तु मृत्यु का भी मृत्यु है। संहारक रूपसे जितने उपाय मुख फैलाकर जीवोंके समूहों को निगलते हैं, उनकी भी जो मृत्यु करता है वह ही सर्वसंहारक मृत्यु है। और भी देखो, इस संसारमें सदा रहनेवाली कोई वस्तु नहीं है। प्रलयकालमें सब शक्तिमानों की सकल शक्तियोंकी और संसारके सकल कार्य चलानेवालों की प्रलय होगी। उस समय व्याधि वा विकलता नहीं रहेगी, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी नहीं रहेंगे वज्र कालान्तक रूपसे मेघमालाके भीतर क्रीड़ा नहीं करेगा आपत्तियों की शङ्का भी दिखाई नहीं देगी। जो उस अवस्था को करने में स्वतन्त्र है, जो प्रलय का नियामक है

वही सर्वहर मृत्यु है। किन्हीं का ऐसा मत भी है कि-हरएक क्षणमें संसारका लय होता रहता है उसको प्रातिक्षणिक मृत्यु कहते हैं, इस क्षणमें जिसके सम्बन्धसे जो वस्तु जिस भावमें वर्तमान है दूसरे क्षणमें वह वस्तु तैसी नहीं रहती है, (बौद्धोंने इस क्षणिकवाद का बहुत विचार किया है) इस मतके अनुसार प्रतिक्षणमें मृत्यु होती है, परन्तु यह क्षणिक मृत्यु सर्वहर नहीं है, क्योंकि-इसमें जीव के आत्मा और देहका वियोग नहीं होता है और देह विकारयुक्त वा क्रियाहीन भी नहीं होता है, परन्तु परिणाम में जिस संहारदशा में पहुँचना होता है, उसमें विकलाङ्ग शिथिल और काम करनेमें असमर्थ देहके साथ आत्माका सर्वथा विच्छेद होजाता है वह ही सर्वहर मृत्यु है। मृत्यु बड़ी भयानक घटना है और जीवके लिये अत्यन्त त्रासदायक होनेपर भी वास्तवमें वह परम कल्याण करनेवाला है मृत्युके मार्गमें पहुँचकर ही जीवकर्मका उचित फलभोग सकता है और इस जन्ममें जो जविन वृथा कामोंमें और असार भोग विलासमें ही विता दिया है उसकी समाप्ति होने पर नये उत्साह से भरे हुए नये जीवनको पानेका सुयोग प्राप्त होता है, ऐसे कितने ही कारणों से मृत्यु भयानक नहीं है, उसके मेरी विभूतिरूप से गिनाजाने पर मुझ सर्वजीव-रक्षक दयालुके माहात्म्यमें कुछ हलकापन नहीं आता है। यद्यपि मरणसे व्याकुलचित्त हुए प्राणी मृत्युको परम अशुभ मानने लगते हैं तो भी मृत्युके मेरी विभूतियों में

गिनाजाने पर भी कोई क्षति नहीं है। जैसे सब ही शुभाशुभ मेरी कृपासे प्रकट होते हैं, जैसे रक्षा और पालन मेरी वासनासे होते हैं तैसे ही जन्म और मरण भी मेरे नियम से ही हुआ करते हैं। मनुष्य जो क्षुद्र विचारशक्तिको लेकर अति साधारण मानदण्डको हाथमें लेकर अमेय अचिन्तनीय मुझ विश्वेश्वरके कार्याकार्यका विचार करनेमें प्रवृत्त होते हैं अथवा मेरे कार्योंके दोष गुणोंका परिमाण करने लगते हैं यह मनुष्योंकी हास्य करानेवाली भ्रान्ति और दुर्मति है, वास्तवमें मेरे सब ही काम कल्याणमय हैं, सब ही अनुष्ठान परमहितकारी हैं। मनुष्य जिसको अमङ्गलकारी और भयानक समझते हैं वह सब निःसन्देह मेरी विभूति हैं, इस कारण हे सखे! सर्वसंहारकर्त्ता मृत्यु मेरी ही श्रेष्ठ विभूति है। तथा हे सखे! इस संसारमें जितनी भी उन्नतियें हो-सकती हैं वह सब भी मैं ही हूँ। मनुष्य तथा अन्यजीव अनेकों प्रकारके कल्याण और अमङ्गलोंका आश्रय लेकर जीवनयात्राका निर्वाह करते हैं, वह कल्याण सबोंके लिये सब अवस्थाओंमें समान नहीं होते हैं। जो वस्तु वा जो अवस्था एकके लिये परममङ्गलमय है वह ही दूसरे एकके लिये महा अमङ्गलका कारण है। जो आज मेरे लिये परम आनन्ददायक कल्याणस्वरूप है वही कुछ समय बाद मेरे ही लिये परमदुःखदायक और अमङ्गलरूप होसकता है। जो पुत्र कलत्र आदि विषय सम्पदा किसीके लिये परम आनन्ददायक अपरिहार्य वस्तु हैं वही ज्ञानमार्गमें बढ़ेहुए किसी महापुरुषके लिये क्लेश की कारण, बन्धनमें डालनेवाली और सर्वथा त्यागने

योग्य हैं। आज जो पुरुष मद्यपान और दूसरे सङ्गोंको परम आनन्ददायक मानकर बड़े भारी सन्तोषका अनुभव करता है, कलको वही पुरुष उन बातों को अत्यन्त घृणित और अमंगलकारी काम मानकर त्याग देता है, इसलिये भले और बुरेकी व्यवस्था कभी एकसी नहीं रहती है। आगेको अभ्युदय और उन्नतिके लिये मनुष्य सदा ही व्याकुल रहता है। मनुष्योंके सकल उद्योग और चेष्टा इसमें ही समाप्त होते हैं। जो जिसको मंगलकारी अवस्था, अभ्युदय वा उन्नति जानता है उसके ही लिये सदा लालायित होकर यत्न करता रहता है, वह होनहार अभ्युदय वा उन्नति हे सखे! मैं ही हूँ। हे सखे! मैंने पहिले अपनेको सर्वहर मृत्युरूप कहा है, सबका हरण होने पर अवश्य ही प्रलय होती है, प्रलयके अन्तमें नयी सृष्टिके समय उत्पन्न होनेवालोंका अभ्युदय अर्थात् कल्याणरूप मैं ही होता हूँ। हे सखे! सब प्राणी छः प्रकारके विकारोंके वशमें हैं, वह छः विकार यह हैं—जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति, इनमें उद्भव कहिये जन्मरूप जो प्रथम विकार है सो मैं ही हूँ। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन्! पीछे जो आपने अपनी विभूतियोंके स्वरूप दिखलाये, उन सबोंमें जो बलमें विक्रममें, गुणोंमें, वा प्रतापमें श्रेष्ठ है उसको ही विभूतिरूपसे गिनाया, है, परन्तु इस श्लोकमें पहिले आधेमें आपने अपनेको सर्वहर मृत्यु और होनेवाले उद्भवरूप कहा है, सो किन पदार्थोंमें आप मृत्यु हैं और किन पदार्थोंमें आप उद्भव हैं यह नहीं बताया,

पीछे तो सब विभूतियों में इस बातका निर्णय करादिया है, परन्तु यहां कुछ निर्णय नहीं किया? । श्रीभगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! यहां सृष्टिका अन्त और सृष्टिकी आदि ये दो अवस्थायें सूचित होती हैं । जब सर्वनाशरूप संहारकी अवस्था होती है, उस समय कुछ भी नहीं रहता है, उस अवस्थामें केवल चिन्मय नारायण ही रहते हैं, जिस समय देवता नहीं, मनुष्य नहीं, पशु पक्षी नहीं, उस समय मैं अपने को किनमें विभूतिरूप बताऊँ ?, उस समय केवल मृत्युरूप ही होता हूँ और संहार ही उस समय मेरा एकमात्र कार्य होता है, उस समय मृत्युरूप एकमात्र मैं ही स्वयं विभूति होता हूँ, इस लिये ही किन्हीं पदार्थोंमें अपनेको सर्वसंहार-कारी कालरूप नहीं बताया है, ऐसे ही उस प्रलयके पीछे जब फिर नयी सृष्टिका आरम्भ होता है, जिस समय पुरातन दिशा और आकाशमें नवीन भास्करकी उज्ज्वलमूर्त्ति प्रथम ही प्रकट होती है, जिस समय स्वर्गलोक और नरलोक आदि की पहिली ही सूचना होती है उस समय भी सर्वत्र मैं ही कार्य-मय लीलामय होता हूँ, सर्वत्र मुझ सर्वशक्तिमान्के हाथका ही काम होता है । उस प्रारम्भकालमें उस सूत्रपात के समय मैं वासनामय, सर्वमय, अद्वितीय पुरुष ही होता हूँ । इस-लिये उस पुनः अभ्युदय वा आविर्भावके समय अपनी विभूति केवल मैं ही होता हूँ । अथवा हे सखे ! यहां तुझे यह कल्पना करना चाहिये कि-मैं मृत्युओंका भी मृत्यु हूँ, और उद्भव अर्थात् पुनः आविर्भावका उद्भव हूँ । यदि मृत्यु

कहिये प्राणहरण करनेवालोंको असंख्यों कहा जाय तब भी अनुचित नहीं है, क्योंकि–छोटी सी चींटीसे लेकर वनके हाथी और सिंह आदि बड़े २ आकार वाले जीवों पर्यन्त सब ही परस्पर एक दूसरेकी मृत्यु कहिये मारनेवाले हैं,इसके सिवाय प्रतिदिन जीवोंकी रोग और दैवी दुर्घटनाओं के द्वारा भी मृत्यु हुआ करती है। उन सब संहार करने वालों का भी मैं संहार करता हूँ, अतः उन सब संहारकों का संहारक सर्वहर मृत्युरूप हूँ इसका यह भाव है, कि–मैं सब मृत्युओंमें परममृत्यु हूँ। अर्थात् जितने भी मारक हैं उन सबोंका ही मैं संहार करूँगा। सर्प, व्याघ्र, सिंह नाके आदि हिंसक प्राणी, अनेकों व्याधि और जितने भी दुर्दैवको प्रकट करदेने वाले प्राणी हैं वह सब ही एकदिन मुझ सर्व-हर मृत्युके हाथसे लय पावेंगे, इससे समझलो कि–मैं सकल मृत्युओंमें सर्वहर मृत्युरूप हूँ। ऐसे ही यह भी अनुमान कर लो, कि–मैंने जो अपनेको सब सृष्टिका उद्भव अर्थात् उत्तम अभ्युदयरूप कहा है इसकाभी कुछ गम्भीर भाव है। स्त्री पुरुषोंके परस्पर मिलनसे नित्य जीवोंकी सृष्टि होती है। फूलोंकी पराग और मकरन्द मिलनेसे निरन्त वृक्षोंके बीज उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही सर्वत्र नानाप्रकारके संमिलनसे नानाप्रकारकी वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है, परन्तु इस सब सृष्टिमें अपूर्णता, अक्षमता और अयोग्यता है तथा देश, काल और पात्रकी आवश्यकता है, ऐसी सब सृष्टिमें परस्पर एकको दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता है, परन्तु उद्भवका

जिस समय सबसे पहला आरम्भ होता है, उस समय सकल पदार्थपुञ्ज परस्पर मिलकर अन्य पदार्थको उत्पन्न करनेका उपाय कैसे पाते हैं ? यदि आदिस्रष्टा मैं बहुतसे प्राथमिक पदार्थोंका उद्भव न करदेता तो इसप्रकार सृष्टिका प्रवाह कदापि नहीं चलसकता था, इसलिये समझलेना चाहिये, कि-भविष्यत्में पदार्थपुञ्जोंका सुन्दर आविर्भाव जिससे सूचित होता है, जो स्वयं सृष्टिको रचकर सृष्टिकी सब व्यवस्था कर देता है ऐसा मैं ही सब उद्भवोंका उद्भव हूँ। संसार त्यागी परमहंसोंकी सङ्गति करने से यह सब तत्त्व मालूम होसकता है। तथा हे सखे ! मैं सकल नारियोंमें कीर्त्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा रूप हूँ। पुराणोंमें लिखा है, कि-भगवान् ब्रह्माजीके दाहिने स्तनसे सफेद कुण्डल और सफेद माला तथा अनुलेपन आदि से भूषित धर्म नामका परमपुरुष प्रकट हुआ, उसका दक्ष प्रजापति की तेरह कन्याओंके साथ विवाह हुआ। उन तेरहों कन्याओंके नाम ये हैं-"श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा तथा क्रिया। बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्त्तिस्त्रयोदशी ॥" इन तेरहमें से मूलमें धर्मकी सात पत्नियोंके नाम लिये हैं इन शक्तिरूपा सात धर्मपत्नियोंकी कुछएक कृपा होनेसे भी मनुष्य धन्य, श्लाघनीय, वरणीय और कृतार्थ होजाता है, ये सब ही देवताओंमें मानीजाती हैं, मनुष्यलोककी बात अलग रही, देवलोकमें भी ये धर्मपत्नियें स्त्रियोंमें उत्तम स्त्रीरूपा गिनी गई हैं। इनके नामों के अर्थकी आलोचना करने परभी सहजमें ही मालूम होजायगा, कि-इनका

माहात्म्य असीम है। श्रेष्ठ गुणोंकी अधिकता होनेके कारण धार्मिकों की जो अनेकों देश और दिशाओंमें प्रसिद्धि होती है वही कीर्ति कहलाती है। धर्म,अर्थ,कामरूप सम्पदा के कारणसे जो शरीर की शोभा वा कान्ति होती है वही श्री है। सकल भावार्थों को प्रकट करनेवाली संस्कृत नाम की देवभाषा वाक् (वाणी) कहलाती है। पहिले अनुभव कियेहुए अर्थकी स्मरणशक्तिका नाम स्मृति है। पढ़ेहुए शास्त्र आदिके अर्थ की धारणशक्तिका नाम मेधा है। चपल इन्द्रियोंका शासन करनेकी शक्ति वा शिथिल हुए शरीर इन्द्रिय आदि को काम करनेकी उपयोगी शक्ति की रक्षाका नाम धृति है। हर्ष वा विषाद आने पर चित्त के निर्विकारभावका नाम क्षमा है। इससे यह सिद्ध होता है, कि–हृदयकी जैसी प्रशस्तता, क्षमता और महत्त्व उत्पन्न होने पर मनुष्य परमश्रेष्ठ पदको पासकते हैं वह सब ही गुण मूर्त्तिको धारण करके धर्मकी पत्नी रूपसे विराजमान हैं, जो धर्मात्मा होते हैं उनके शरीरोंमें ये धर्मकी पत्नीरूप सद्गुण भी साक्षात् मूर्त्ति धारण करके विराजमान रहते हैं और उस धर्मात्माको मोक्षपद पर्यन्तकी प्राप्ति करादेते हैं, इसकारण हे सखे ! सकल गुणोंमें श्रेष्ठ ये गुण मेरी श्रेष्ठ विभूति हैं॥ ३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्। मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

अन्वय और पदार्थ

(तथा) तैसे ही (अहम्) मैं (साम्नाम्) सामोंमें (बृहत्साम) बृहत्साम (छन्दसाम्) छन्दोंमें (गायत्री) गायत्री छन्द (अहम्) मैं (मासानाम्) मासोंमें (मार्गशीर्षः) मार्गशीर्ष नामका मास (ऋतूनाम्) ऋतुओंमें (कुसुमाकरः) वसन्त ऋतु [अस्मि] हूँ ॥ ३५ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान कहते हैं, कि-हे सखे अर्जुन ! मैं पहले ही कहचुका हूँ, कि सब वेदोंमें मैं सामवेद हूँ, उस सामवेदके मंत्रोंमें बृहत्साम हूँ वह बृहत्साम यह है-"ओ हो ई त्वामिद्धि हवा महा तत्र सातौवाजा स्याकारा वाः तु वा ओ हो वा वृत्रा ई षुवा ई द्रासात् पतिं ना राः त्वां काष्ठा ओ हो वा सुअर्वा ताः उहुवा हाउ वाः हम् ।" इसका भावार्थ यह है, कि-हे इन्द्र ! जब हम अन्न उपार्जन करनेमें प्रवृत्त होते हैं उस समय आपको आह्वान करते हैं, जब शत्रुसे घिरकर विपत्तिमें पड़जाते हैं, उस समय साधुओंके रक्षाकर्त्ता जानकर आपका ही आह्वान करते हैं, जब सेनाको साथ में लेकर रणभूमिको यात्रा करते हैं उस समय भी आपको ही सबके नेता जानकर आह्वान करते हैं। इस सामगानमें सर्वेश्वररूप से स्तुति होनेके कारण यह और सामोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और इसलिये ही इसका नाम बृहत्साम हुआ है। तथा इसके बृहत्साम कहलाने का एक कारण यह भी है, कि—इस सामका गान करते समय बड़े बलसे प्राणवायु

को खेंचना पड़ता है। ब्राह्मणमें कहा भी है-"हसिसि बृहत्प्राणमुदजयत"। सामवेदकी सब ऋचाओंको स्वरके साथ गाना होता है, उस गानके समय गायकको अनेकों प्रकार से वायुका आकर्षण, विकर्षण, कम्पन आदि करना पड़ता है परन्तु बृहत्सामर्में विशेषता यह है, कि-इसके गानके समय प्राणवायुको बड़े बलके साथ खेंचना पड़ता है। इसमें इन्द्र-देवताकी विशेषरूपसे स्तुति है। अनेकों सामोंमें इन्द्र आदि देवताओंकी अनेकों प्रकारकी स्तुतियें देखनेमें आती हैं, परन्तु बृहत्साममें इन्द्रको ही अन्नदाता शत्रुनाशक और रक्षकरूप कहा है, इसलिये ही हे सखे! मैं अनेकों प्रकारकी छन्दोबद्ध ऋचाओंमें मैं गायत्री छन्द हूँ। सकल ऋग्वेद बृहती, जगती, त्रिष्टुप्, गायत्री आदि छन्दोंसे ग्रथित है। इसलिये ही वेद छन्द नामसे कहेजाते हैं। ऐसे मात्रात्मक परमपवित्र ऋग्वेदमें मैं गायत्री-छन्द हूँ, यह गायत्री वेद-माता कहलाती है, यह सकल पापों का नाश करनेवाली, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य नामवाले द्विजातियोंका परम अवलम्बन और आर्यजातिके ज्ञान तथा गौरवका उत्तम निदर्शन (दृष्टान्त) है। परमपवित्र ऋग्वेद के तीसरे मण्डलके बासठवें सूक्तमें गायत्री-मन्त्र आता है, यह उस सूक्तका दशवां मन्त्र है। हम यहां उस सूक्तके दशवें, ग्यारहवें और बारहवें मन्त्रको उद्धृत करते हैं, इन तीनों मन्त्रोंमें सविता देवताका रमणीय वर्णन है। यथा-"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १० ॥ देवस्य सवितुर्वयं

वाजयन्तः पुरन्ध्या भगस्य रातिमीमहे ॥ ११ ॥ देवं नरं सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः नमस्यन्ति धियेषिताः॥१२॥" गायत्री मन्त्रकी व्याख्या श्रीमान् सायणाचार्यने इसप्रकार की है-" प्रचोदयात् प्रेरयति तस्य सवितुः प्रसवितुर्देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य तत् सर्वैर्दृश्यमानतया प्रसिद्धं वरेण्यं सर्वैः सम्भावनीयं भर्गः पापानां तापकं तेजोमण्डलं धीमहि।,, इन तीनों ऋचाओंका भावार्थ यह है, कि-जो हमारी बुद्धिवृत्तिको प्रेरणा करता है, सविता देवताके उस वरणीय तेजका हम ध्यान करते हैं ॥ १० ॥ अन्न को पानेकी कामनासे हम स्तुति करतेहुए सविता देवता से और भगदेवतासे अपनी अर्थसिद्धिकी प्रार्थना करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मको जाननेवाले और बुद्धिमान् विप्र यज्ञोंके अनुष्ठान तथा अतिमधुर स्तोत्रोंके द्वारा सविता देवताकी पूजा करते हैं॥ १२ ॥ इस गायत्रीमंत्र वा सावित्रीमंत्र को नियमके अनुसार गुरुसे प्राप्त करलेनेपर द्विजोंके बालक द्विजत्वको पाते हैं गुरुके समीप उपनयन संस्कार होनेके अनन्तर सावित्री मंत्रको पाना ही वैदिक दीक्षा तथा प्रधान संस्कार है, इसकारण हे सखे! यह गायत्री मेरी श्रेष्ठ विभूति है। तथा हे अर्जुन! वर्षके जो बारह महीने होते हैं उनमें मार्गशीर्ष कहिये अग्रहायण (अगहन) मास हूँ। मार्गशीर्षमें सूर्यकी किरणोंकी प्रखरता मन्द पड़जाती है और शीतकी विशेष अधिकता न होनेके कारण दिन और रात बड़े स्निग्ध और चित्तको प्रसन्नता देनेवाले प्रतीत होते हैं। इस समय

शरद्कालकी चाँदनीके प्रकाशसे वसुन्धरा प्रकाशमयी होती है और इस अग्रहायणमास या इससे कुछ ही समय पहिले गोपियोंके शुद्ध प्रेममें बँधेहुए भगवान् कृष्णके रासोत्सवने भक्तोंके हृदयको आनन्दसे पुलकित किया था। जिसमें न उष्णता होती है और अधिक शीत ही होता है ऐसा मार्गशीर्ष मास भारतवासियोंका चिरकालसे आनन्दोत्सवका समय है, इस समय ही गृहस्थोंके लीप पोतकर स्वच्छ किये हुए आँगन नये उत्पन्न हुए सोनेकी समान कान्तिवाले धानोंके ढेरोंसे शोभायमान होते हैं, इस समय धनी और दरिद्र सब ही बहुत वा थोड़े नवीन अन्नका दान आदि करते हैं, विशेष कर जब वेदकी प्रभुताका डिंडिम सकल भूमण्डलपर गाजता था तब से अबतक अष्टका आदि पर्व अग्रहायणकी कृष्णाष्टमी से ही आरम्भ होते हैं। यह मास बारहों महीनों में श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है, इसलिये ही इसका नाम अग्रहायण है। हायन शब्दका अर्थ है वर्ष और अग्र शब्दका अर्थ है श्रेष्ठ। इस ही कारण हे सखे! मार्गशीर्ष मास मेरी श्रेष्ठ विभूति है॥ और हे अर्जुन! छहों ऋतुओंमें मैं वसन्त ऋतु हूँ। इस ऋतुमें दक्षिण दिशासे चलनेवाला, मृदु, मन्द, मलयानिल सकल प्रजाओंको स्वास्थ्य, आनन्द और उत्साह देता है। इस समय वृक्ष, गुल्म और लतायें नये निकले हुए पत्ते और फूल आदिसे शोभायमान होकर पृथिवीको बड़ी ही रमणीयता देती हैं। और आम आदि के फूलोंकी मकरन्द दिशाओंको महका देती है, इस ऋतुमें कोकिला

आदि मधुर कण्ठ वाले पक्षी वृक्षोंकी शाखाओं पर पत्तोंके भीतर बैठकर अति ललित पञ्चम तानसे श्रोताओंके हृदयों में अमृतकी धाराकी वर्षा करते हैं। मकरन्दकी गन्धसे खिंचे हुए भौंरोंके झुण्ड अतिमधुर गुञ्जारके साथ फूल फूल पर उड़ते फिरते हैं। इस समय न अति ठण्डा और न अति गरम पवन चलकर रोगियोंको रोगमुक्त करता है और इस समयकी नित्य सङ्गी सकल घटायें इकट्ठी होकर युवा और युवतियोंके हृदयमें एक अपूर्व प्रेमको उत्पन्न करती हैं। इस समय कवियोंके वर्णनके अनुसार विरही और विरहणियें प्रियसमागमके लिये उन्मत्त और व्याकुल हो उठते हैं, इन सब कारणोंसे वसन्त ऋतु ऋतुराज नामसे कहाजाता है, इस ऋतुमें सब ही देशोंमें मेरे अनेकों उत्सव मनाये जाते है, ब्राह्मणकुमारोंके उपनयनके लिये यही ऋतु श्रेष्ठ मानी गयी है "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत" इन सब कारणोंसे हे सखे! वसन्त ऋतु मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्वि-
नामहम्।जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि
सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (छलयताम्) छल करने वालोंमें (द्यूतः) जुआ (तेजास्विनाम्) तेजस्वियोंमें (तेजः) तेज (अस्मि)

हूँ (जयः) जय (अस्मि) हूँ [व्यवसायिनाम्] व्यवसाय करने वालोंमें (अहम्) मैं (व्यवसायः) उद्योग (सत्त्ववताम्) सत्त्वगुणी जीवोंमें (सत्त्वम्) सत्त्वगुण (अस्मि) हूँ ॥ ३६ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् कहते हैं, कि–हे सखे ! वञ्चना करने वालों में मैं द्यूतरूप (फाँसोंका खेल आदि) हूँ। संसारमें उत्तम और अधम सब ही वस्तु और सब ही काम मेरी विभूति हैं, उनमें से कितनों ही का श्रेष्ठ, प्रत्यक्ष और निरन्तर जानने में आने वाले कार्य वा पदार्थ मात्रका निश्चय करके विभूतिरूपसे वर्णन करदिया। फाँसोंकी क्रीड़ा आदिके साथ जो द्यूतक्रीड़ा की जाती है वह अत्यन्त निन्दित और अनुचित काम है, क्यों कि–दूसरोंको धोखा देना, दूसरों के धनको छीनना आदि खोटी लालसाके वशमें होकर खिलाड़ी लोग जुआ खेलनेमें लगते हैं, परन्तु दूसरोंको छलने के लिये उन कुकर्म करने वालोंके अन्तःकरणमें अपनी अभिलाषाको सिद्ध करनेकी जो वासना, उद्योग, परिश्रम आदि देखनेमें आते हैं, वह मेरे द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। साधुपुरुषों के सेवन किये हुए पवित्र अनुष्ठानोंमें तथा परधनलोभी दुष्टोंके किये हुए घिनौने आचरणमें सदा मेरी ही महिमा प्रकाशित है। इस श्लोकमें ही कुछ आगे चलकर मैंने इस बातकी सुन्दररूपसे मीमांसा करदी है। असंख्यों पापाचरण विश्वमें चारों ओर बड़े गर्वके साथ मुख उठाकर विकट-हास्य कर रहे

हैं। अगणित निन्दित कर्म वसुन्धरा पर सर्वत्र पिशाचकी समान नृत्य करते हैं, उनमें अनेकों के काम ऐसे भयानक होते हैं, कि—उनकी याद और ध्यान आने पर हृदय काँप उठता है और मनुष्य सुन्न होजाता है, उन सब कर्मोंकी अपेक्षा द्यूतक्रीड़ाको अच्छा मानना ही पड़ेगा, तो भी उन सकल त्यागने योग्य कामोंका उल्लेख न करके जो मैंने यहाँ केवल द्यूतका ही नाम लिया है, यदि कोई इसका तत्त्व खोजने लगेगा तो सहजमें ही मालूम होजायगा, कि—इस विषयमें मेरा कुछ विशेष अभिप्राय है। हे अर्जुन! तू शीघ्र ही देखेगा, कि—संसारमें जो कुछ कार्य, जो कुछ अकार्य, जो कुछ भला और जो कुछ बुरा है वह सब ही मेरे माहात्म्यका द्योतक है। मैं तुझे अपना ब्रह्माण्डेश्वर विश्वरूप दिखाकर समझाऊँगा, कि—सृष्टि और नाश, पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म सब ही मुझ भगवद्रूप सागरमेंसे उठकर इधर उधर को फैलगये हैं। जिस अक्षक्रीड़ा (फाँसोंके खेल) से इस महायुद्धकी रचना हुई है, जिस फाँसोंके खेलके कारणसे तुमको धर्मपत्नी द्रौपदीके साथ वनवासमें और अज्ञातवासमें तेरह वर्ष का समय बिताना पड़ा है। जिस द्यूतक्रीड़ाके कारणसे हे सखे! तू इस ही शरीर से स्वर्गमें पहुँचा और तूने किरातरूपधारी महादेवजीके साथ युद्ध आदि किया तथा जिस द्यूतक्रीड़ाके कारणसे आज यह अठारह अक्षौहिणी सेनादल अस्त्र शस्त्र तयार कियेहुए प्राण देनेका सङ्कल्प करके इस रणाङ्गणमें इकट्ठा हुआ है। इसका

भी मूल, इसका भी नियामक तुम पाण्डवोंका परममित्र और सहायकरूप मैं परम पुरुष ही हूँ। शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन आदि सबही निमित्तकारण मात्र हैं, कार्यका वास्तविक कर्त्ता, क्रियामय, सर्वनियन्ता मैं ही हूँ। हे अर्जुन! अब थोड़े ही समय पीछे तू इस बातको प्रत्यक्ष देखेगा। उसकी ही सूचना रूपसे यह सकल विभूतियोंका वर्णन करते हुए अपनी सर्वमयताका आभास देनेके लिये मैंने पापकर्मोमें द्यूतको अपनी विभूति कहा है। तथा हे सखे! मैं तेजस्वियों का तेज हूँ। इस महाभारतके युद्धका आरम्भ होनेसे पहिले द्यूतका वर्णन होनेके पीछे ही तेजकी बात उठाकर मैं अपने माहात्म्यका पूरा २ परिचय देने में प्रवृत्त होचुका हूँ। भीष्मपितामह द्रोणाचार्य आदि योधाओंके समूह कौरवों के पक्षमें बड़ेभारी तेजस्वीपनके साथ विपक्षियोंका तिरस्कार करनेके अभिप्रायसे धनुषोंपर टङ्कार देते और शङ्खोंकी ध्वनियें करतेहुए खड़े हैं, दूसरी ओर बड़े तेजस्वी तू और भीमसेन आदि बड़ेभारी बल तथा वीरतावाले शूर विजयलक्ष्मीको हृदय से लगानेके लिये कमर कसेहुए खड़े हैं। परन्तु उनके हृदयरूप भट्टियोंमें जो तेजःस्वरूप अग्नि धधक रही है वह तेज उनका अपना धन नहीं है, किन्तु मेरी वासनासे मेरी ही आज्ञा और व्यवस्थाके अनुसार तेजस्वियोंने अपने २ गुण, कर्म और योग्यताको पाया है, जैसे सृष्टि और संहार मेरी वासना के अधीन हैं तथा जैसे सिद्धि और असिद्धि मेरी व्यवस्था के अनुसार होती है, तैसे ही तेजका देना और खेंचलेना

भी मेरा ही काम है, इसलिये ही तेजस्वियोंका तेज मेरी विभूति है। तथा हे सखे ! विजयी पुरुषोंमे मैं जय हूँ। इस आरम्भ होतेहुए भारत युद्धमें दोनों ही पक्ष जयकी आशा मे उन्मत्त होरहे हैं, परन्तु विजयलक्ष्मी किसकी गोदमें जा कर बैठेगी, इस बातको इस समय कौन कहसकता है?, वास्तवमें जिधरको मेरी सदय दृष्टि होगी वही विजय पावेगा जय पाना योधाओंके अपने वशमें नहीं है। वह अपनी२ रणचातुरी और शूरताके अहङ्कारसे छाती फुलाकर खड़े हो सकते हैं तथा अनायासमें ही शत्रुको गिराकर जयके हर्ष से प्रफुल्लित होनेकी आशामें मतवाले होसकते हैं, परन्तु मेरी कृपाके विना उनकी आशा सफल होना कदापि संभव नहीं है। जो मेरे ऊपर भार रखकर निश्चिन्त हो सकते हैं जिन्होंने अपनी २ शक्तिको असार निश्चय करना सीखा है, वही समझसकते हैं, कि-किसी साधारणसी बातमें भी सफलमनोरथ होनेके लिये मेरी करुणा ही एकमात्र अवलंबन है। इसकारण हे सखे! मैं विजय पानेवालोंमें जयरूप हूँ अर्थात् जय मेरी श्रेष्ठ विभूति है। तथा हे सखे! मैं व्यवसाय करनेवालोंमें उद्यमरूप हूँ। प्रबल उद्यम, अति दृढ़ अध्यवसाय और स्थायी एकाग्रताके विना किसी काममें भी सफलता नहीं होसकती। युद्ध आदि का व्यापार हो, चाहे विद्या, यश, कीर्त्ति और धर्मसञ्चय आदिका काम हो, अथवा खरीदने बेचने आदिका ही काम हो, सबमें ही अटल उद्यम की बड़ीभारी आवश्यकता है। जिसका आरम्भ होचुका है

ऐसे इस संग्राममें जिस पक्षके हृदयमें अदम्य स्थिरता और गाढ़ा उद्यम होगा, जो आरम्भसे समाप्ति तक कभी भी अपने निश्चयसे नहीं डिगेंगे, जो आरंभ किये हुए कामके साधनसे कभी भी शिथिल नहीं होंगे और पीछेको नहीं हटेंगे, वह निःसन्देह मेरी कृपादृष्टिको पाकर धन्य होंगे तथा मनकी कामना सफल होनेके कारणसे परम आनन्द पावेंगे। व्यवहार करने वालोंमें भी यही नियम है। वह यदि पकड़े हुए व्यवसायमें मनको लगाये रहैं और जिस उद्योगको लेकर कार्यका प्रारम्भ किया है अन्तपर्यन्त धाराप्रवाहरूपसे उस ही उद्योग और उस ही दृढ़ निश्चयको अविच्छिन्न रूपसे अपना साथी बनाये रहैं तो वह निःसन्देह सफलतारूप मुकुटको मस्तक पर धारण करैं। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" यह बात सर्वथा सत्य है। किसी कामको एकाग्र चित्तसे करने पर उसमें निःसन्देह भगवान्‌की सहायता मिलती है और वासनाकी सिद्धिरूप फल व्यवसायीको अवश्य ही मिलता है, इसलिये हे सखे! व्यवसाय मेरी श्रेष्ठ विभूति है॥ तथा हे मित्र! सत्त्वगुणी धर्मप्राण पुरुषोंमें मैं सत्व हूँ। जिस गुणके प्रभावसे मनुष्य परहिंसासे छूटकर सब जीवोंके ऊपर दया करता है और सबों को अपनी समान मानता है। जिस गुणकी प्रबलतासे मनुष्य भूतल पर सर्वत्र साधुपने और कीर्त्तिको फैलाता है। जिस गुणके स्वादको पाकर मनुष्य पुण्य और धर्मानुष्ठान के मार्गको छोड़ कर और किसी मार्गको प्राणान्त होने पर

भी ग्रहण करना नहीं चाहता है, उस गुणका ही नाम सत्व गुण है। इस सत्त्वगुणकी अधिकता होने पर धर्म ऐश्वर्य आदिसे युक्त होकर मनुष्य राजराजेश्वरोंसे भी अधिक प्रशंसनीय और पूजनीय होजाते हैं। सत्त्वगुणी पुरुषकी सब ही कामनायें सिद्ध होजाती हैं और इस लोकके तथा परलोकके सब ही मङ्गल उसके सामने हाथ जोड़े खडे रहते हैं। यह सत्त्वगुण मेरी कृपा होने पर ही प्रकट होता है तथा मैं है सत्त्वगुणरूपसे मनुष्योंके हृदयमें विराजमान होता हूँ, इस कारण सकल सत्त्वगुणियोंमेंका सत्त्वगुण मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना: कविः ३७

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (वृष्णीनाम्) वृष्णिवंशियोंमें (वासुदेवः) वासुदेव (पाण्डवानाम्) पाण्डवोंमें (धनञ्जयः) अर्जुन (मुनीनाम्) मुनियोंमें (व्यासः) व्यास (अपि) और (कवीनाम्) कवियोंमें (उशनाः) शुक्रनामवाला (कविः) कवि (अस्मि) हूँ ॥ ३७ ॥

भावार्थ

भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! वृष्णिवंशी यादवोंमें मैं

वसुदेवके पुत्ररूपसे मानवदेहधारी हूँ। इस समय कुरुक्षेत्रकी समरभूमिमें विजय होनेकी अभिलाषामें मतवाले हुए वीरों की सेनाके बीचमें खड़ेहुए रथके सारथीरूपसे खड़ा हूँ, और तुझे परमतत्त्वका उपदेश देनेमें तत्पर वासुदेव रूप मैं ही अपनी विभूति हूँ, । वृष्णिवंश बड़ा प्रतिष्ठित है, इस वंशके आदिपुरुष धर्मपरायण महात्मा ययातिनन्दन यदु हुए हैं, इन यदुके कारणसे ही यह वंश यादव नामसे भी प्रसिद्ध हुआ है। इस वंशमें उत्पन्न होनेवाले प्रभावशाली तेजस्वी पुरुषोंमेंसे अनेकोंने अपनी श्रेष्ठ कीर्त्तिके द्वारा इस भूमण्डल पर बड़ा भारी यश फैलाया है। स्वयं मैंने इस ही वंशमें जन्म धारण किया है, इसलिये ही मैं वार्ष्णेय और वृष्णिप्रवीर नामसे प्रसिद्ध हूँ। हे सखे! स्वर्ग मृत्युलोक और चराचरके सकल पदार्थोंकी रचना मैंने ही की है, मेरी कृपासे ही सब अपना अपना काम साधनेमें लगे हुए हैं और मेरी व्यवस्थासे ही सब अपना २ काम पूरा करके नष्ट होजाते हैं, मैं विश्वमें सर्वत्र पुरा हुआ हूँ, और सर्वत्र मेरी अनन्त महिमा और अनन्त शक्तिका परिचय देदीप्यान है, मैं ही तुझ अपने प्राणप्यारे अनन्य प्रेमी शिष्यके मनको सन्तोष होनेके लिये आप ही अपना विभूतिरूपसे वर्णन कररहा हूँ। और हे सखे! पांचों पांडवोंमें तू अर्जुन ही मेरा रूप है वा पांडवोंमें मैं अर्जुन-रूप हूँ। तुम पांचों पाण्डव, धर्मात्मा, परमकीर्त्तिमान्, और अपने२ नामसे प्रसिद्ध हो, उनमें तीसरा पाण्डव तू देवराज इन्द्रका पुत्र है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आपने

अपना और मेरा नाम एक साथ क्यों लिया? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! हम तुम दोनों वही पुरातन ऋषि नर नारायण हैं,हम चिरकालसे ही इकट्ठे रहे हैं,इसलिये ही वृष्णिवंशमें मैं और पाण्डवोंमें तू हम दोनों ही अपनी विभूति हैं। मैं श्रीकृष्ण-रूपको धारण करके द्वापरयुगमें भूभारहरण और ब्रह्मविद्या का प्रकाश करता हूँ, और तू इन दोनों कामोंमें मेरा सहायक है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! हम पांचों भाइयोंमें तो युधिष्ठिर परम धर्मात्मा हैं, फिर वह आपकी विभूति क्यों नहीं हैं। भगवान्ने उत्तर दिया,कि—हे सखे ! तुम दोनों ही विपत्तिकालमें शोक मोहसे दबजाते हो तो भी तुझमें मेरी विभूति अधिक है। तू शरीरसहित स्वर्गलोकमें पहुँचा, तहां किरातरूपधारी महादेवको युद्धमें जीतकर पाशुपत अस्त्र पाया, पिताकी कृपासे तथा खांडववनके भस्म होते समय अनेकों दिव्य अस्त्र और युद्धकी सामाग्रियें पायीं, उर्वशी सरीखी सुन्दरीको दुत्कार दिया, निवातकवचोंका नाश किया सुभद्राके साथ विवाह किया, इसके सिवाय तू मेरा अभिन्न हृदयसखा और अनन्य हितकारी आत्मा है। देख इस महासमरमें मैंने स्वयं तेरा सारथी वननेका भार लिया है तथा लगाम और चाबुक हाथमें लिये हुए तेरे सामने खड़ा हूँ। जिस मेरे दर्शनमात्रसे सकल पापोंका क्षय होता है, स्मरण करनेसे मनुष्योंकी सद्गति होती है, ऐसा मैं तेरे साथ मित्रता की डोरीमें बँधा हुआ हूँ। अपने मुखसे परमतत्त्वरूप ज्ञान का सोता बहाकर तेरा परम कल्याण करनेको उद्यत हूँ, इस लिये पांचों पाण्डवोंमें तेरी समान भाग्यवान् और कोई नहीं

है, इसकारण तू ही मेरी श्रेष्ठ विभूति है। हे सखे! मैं मुनियों में व्यास हूँ, जो वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेमें लगे रहते हैं, जो वेदोंको ही अपना सर्वस्व धन मानते हैं उन मुनियों में मैं व्यास हूँ। भगवान् बादरायण कृष्णद्वैपायन व्यासने सकल वेदोंका विभाग किया है, बड़े २ ग्रन्थोंकी रचनाकी है, वह सकल तत्वोंको देखनेवाले ऋषि हैं, वह दो भुजा वाले नारायण माने जाते हैं तथा शास्त्रमें जहां तहां उनके माहात्म्यका गान है, इसकारण सब मुनियोंमें व्यासदेव मेरी श्रेष्ठ विभूति हैं। और हे सखे! शास्त्रोंके ज्ञाता सूक्ष्मदर्शी कवियों में मैं शुक्राचार्य नामका कवि हूँ। शुक्राचार्य दैत्योंके गुरु सकल शास्त्रोंके तत्वके जाननेवाले और बड़े उदारचित्त थे ज्ञानकी अधिकताके कारण ही वह कवि नामसे प्रसिद्ध हुए एक समय देवादिदेव महादेवजी शुक्राचार्यके ऊपर कुपित होगये थे, महादेवजीकी आज्ञासे गणेश और नन्दी दैत्यगुरु शुक्राचार्यको पकड़ लाये पास आते ही क्रोधमें भरे हुए महादेवजीने शुक्राचार्यको निगल कर अपने पेटमें धर लिया, फिर दयालु होकर उनको अपने मूत्रमार्गसे बाहर निकाल दिया था, महादेवजीके पेटमें रह आनेके कारण शुक्राचार्य सर्वज्ञ विवेकी और ज्ञानी होगये थे, इस कारण ही उनका नाम शुक्र हुआ था, इसकारण ही मैंने यहां अपनेको कवियों में उशना कवि कहा है। जो छन्द बना लेते हैं, श्लोक जोड़ लेते हैं साधारण लोक उनको ही कवि कहते हैं, परन्तु वास्तवमें कवि शब्दका मूल अर्थ ऐसा नहीं है। जो पण्डित हैं, जो धर्म

शास्त्र आदिके मर्मको जानते हैं, जो भगवान्की स्तुति करते हैं वह ही वास्तवमें पहिले कवि नाम पागये हैं। भगवान् ब्रह्माजी परमकवि कहलाते हैं। कव धातुसे कवि पद सिद्ध हुआ है। इस धातुका अर्थ स्तुति करना है। महर्षि बाल्मीकि आदि त्रिकालके ज्ञाता देवतुल्य महात्मा कवि नामसे कहे जाते थे, महर्षि बाल्मीकिजीने आदिकवि नामसे सन्मान पाया था, भगवान् वेदव्यासजी जगत् भर में कवि नामसे पुकारे जाते हैं। ये सब महापुरुष ज्ञानके समुद्रसमान है, तथा इनकी शक्ति और माहात्म्यकी थाह नहीं थी, भगवान् शुक्राचार्य भी ऐसे ही माननीय देवता थे तथा कवि उनका एक नाम था ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्। मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (दमयताम्) दमन करनेवालोंमें (दण्डः) दण्ड (अस्मि) हूँ (जिगीषताम्) विजयकी इच्छा करने वालोंमें (नीतिः) साम आदि उपाय (अस्मि) हूँ (च) और (गुह्यानाम्) गोपनीय पदार्थोंमें (मौनम्-एव) मौन ही (अस्मि) हूँ (ज्ञानवताम्) ज्ञानवालोंमें (ज्ञानम्) ज्ञान [अस्मि] हूँ ॥ ३८ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! मैं दण्डधारियोंका दण्ड हूँ। जिस शासनके प्रभावसे कुमार्गगामी उच्छृङ्खल पुरुष सन्मार्गमें चलने लगते हैं, जिस दण्डके प्रभावसे भलाइ बुराईको न समझसकनेवाले मनुष्य पापमार्गमेंको जानेसे रुकते हैं। जिस नियमके प्रभावसे भ्रष्ट आचरणवाले अनेकों पुरुष समाजबन्धनको तोड़नेसे हिचकते हैं, वही न्याय और धर्म जानकर विधान किया हुआ दण्ड है। मैं ही उस दंडका प्रयोग करनेवाला और नियामक हूँ। मेरे ही स्थापन किये हुए नियमके प्रभावसे, मेरी ही चलायीहुई नीति के अनुसार चलकर राजे वा प्रतापी पुरुष मनुष्यसमाजमें पापके अनुसार दण्ड दिया करते हैं। पापके लिये दंडको भोगनेसे पापी निर्मल होजाता है, ऐसा संसारको शान्ति देनेवाला जो समाजदंड वा राजदडं है वह मेरी विभूति है। और हे सखे ! विजय चाहनेवालोंकी नीति मैं ही हूँ, जिस उपायके प्रभावसे परस्पर लड़ने वालोंमेंसे एक पक्ष विजय पाता है वह उपाय ही नीति कहलाता है। यह नीति साम, दान, दंड और भेद इन चार भागोंमे बँटी हुई है। आपसमें विजय चाहने वाले प्रतिपक्षियोंमे एक पक्ष दूसरे पक्षके अनेकोंके अथवा प्रधान२ पुरुषोंके साथ समभाव वा अपनापन स्थापन करता हुआ समान व्यवहार करके जो घनिष्ठता करलेता है और इस उपायसे अपना काम सिद्ध कर लेता है, इसका ही नाम साम है। अपने शत्रुपक्षके

किसी पुरुषको वा बहुतसे पुरुषोंको उनकी इच्छानुसार धन देकर अपने वशमें कर लेनेका नाम दाननीति है। शत्रुपक्ष के पुरुषोंमें आपसके चित्त फाड़ देना वा उनमें द्वेषभाव उत्पन्न करके अपना काम सिद्ध करलेनेका नाम भेदनीति है और अस्त्र शस्त्र आदिके बलसे तथा बाहुबलसे शत्रु-पक्षको वश में करनेका नाम दण्डनीति है। समय और अवस्थाको समझ कर नीतिको जाननेवाले चतुर पुरुष इन नीतियोंका प्रयोग करते हैं। जहां सामकी आवश्यकता हो तहां भेदका प्रयोग करनेसे अथवा जहां दानकी आवश्यकता हो तहां दण्डका प्रयोग करनेसे कुनीति होकर खोटा फल उत्पन्न होता है। ऐसे विज्ञताशून्य विजय चाहनेवाले पुरुष कभी जयश्रीसे शोभा नहीं पाते हैं। जिस नीतिके प्रभावसे विजयी पुरुष जय पाते हैं वह नीति ही मेरी श्रेष्ठ विभूति है ॥ हे सखे! गोपनीय पदार्थोंमें मैं मौन हूँ। जिन्होंने भगवद्विचारमें मग्न रहनेके कारण मिथ्या और असार विषयोंकी बातोंसे उकता कर मौनभाव धारण किया है, जिन्होंने ज्ञानकी प्रबलतासे अपने चित्तको मेरे अर्पण करके बाहरी बातें करना आदि छोड़ दिया है, जिन्होंने ध्यान धारणा आदिका परिपाक होने पर समाधिमें स्थित होकर वाक् इन्द्रिय (वाणी) के व्यवहारको त्यागादिया है, उन सबोंका मौनरूप मैं ही हूँ उनका मौनभाव किसी बनावटी अनुष्ठानका सहायक नहीं होता है। किसी नीच कामको सिद्ध करनेका उपाय नहीं होता है तथा किसी दुराचरणके अनुकूल भी नहीं होता है, किन्तु उनका वह मौनभाव बड़ेभारी प्रयोजनका फलरूप होता है, हृदयमें

उदय हुए सत्‌भावका परिणामरूप होता है, इसलिये उनके उस मौनभावको मेरी ही विभूति जान। परन्तु जो पाखण्डी पुरुष अपना खोटा स्वार्थ साधने के लिये वाणीकी रोक लेते हैं तथा जो पापी छुपाकर अपनी खोटी वासनाको सिद्ध करने के लिये मौनभाव धारण करते हैं उनका वह मौनभाव मेरी विभूति नहीं होसकता। तथा हे सखे! ज्ञानियोंमें मैं ज्ञान हूँ! श्रवण मनन आदिका परिपाक होने पर हृदयमें जो ब्रह्मज्ञानके सूर्यका उदय होता है,तथा शास्त्रानुसार गुरुके उपदेशको सुनना, निरन्तर सदाचारका अनुष्ठान करना, निष्काम कर्मकी साधना तथा अटलरूपसे यम नियम आदि का पालन करना आदि बहुतसे कार्योंका परिणामरूप जो ज्ञानका उदय होता है, वह ब्रह्मबोध वा आत्मसाक्षात्काररूप परमज्ञान मेरी ही विभूति है ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तद-हमर्जुन। न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ३९

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुन) हे अर्जुन (च) और (यत्) जो (अपि) भी (सर्वभूतानाम्) सकल भूतोंका (बीजम्) बीज [अस्ति] है (तत्) सो (अहम्) मैं [अस्मि] हूँ (यत्) जो (मया विना) मेरे बिना (स्यात्) हो (तत्) वह (चराचरम्) स्थावर जङ्गम (भूतम्) भूत (न) नहीं (अस्ति) है ॥३९॥

भावार्थ

श्रीभगवान् कहते हैं, कि—हे सखे ! अर्जुन ! मैं पहिले ही कह चुका हूँ, कि—"अहं सर्वस्य प्रभवः" सबका उत्पत्ति स्थान मैं ही हूँ, इसके सिवाय सबका बीज भी मैं ही हूँ। पत्ते शाखा फूल आदिसे छायेहुए जो विशाल वृक्ष शोभा पाते हैं, उनका अस्तित्व अपने २ बीज के भीतर ही स्थित था, जिन गुणधर्मोंको पाकर लता गुल्म वृक्ष आदि अपना अपना कार्यसाधन करते हैं उस २ जातिके बीज ही उनके प्रेरक हैं। मैं केवल सबका उत्पत्तिस्थान ही नहीं हूँ, किन्तु मेरी ही तेजःशक्तिको लेकर विभूति ऐश्वर्यको लेकर जगत्की सकल वस्तुएं विराजमान हैं। हे सखे ! अपनेको बीजरूप कहनेमें मेरा यह प्रयोजन है, कि—संसारकी सकल वस्तुएं मेरी ही शक्तिसे शक्तिमान् हैं, मेरे ही गुणोंके अनुसार अपना कार्य सिद्ध करसकती हैं और मेरी ही प्रकृतिके कणमात्रको पाकर विद्यमान हैं। इस चराचरमें जिसमें मैं नहीं हूं अर्थात् जिस वस्तुमें बीजरूपसे मेरी सत्ता नहीं होगी वह वस्तु जगत्में ठहर ही नहीं सकती, जिसमें भगवान् नहीं ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है। घोर दुर्गन्ध से भरे हुए, घृणाजनक (घिनौने) स्थानमें पड़े हुए कीड़ेसे लेकर तेजके पुञ्ज ज्ञानके भण्डार महर्षि पर्यन्त सर्वत्र मेरी विद्यमानता स्पष्टरूपसे प्रतीत होती है। नदियोंके किनारों पर पड़े हुए असंख्यों वालुकाके कणोंसे लेकर चिरकाल बरफसे ढका रहने वाले आकाशव्यापी हिमालय पर्यन्त मेरी महामहिमा

की सत्ता स्पष्ट रूपसे प्रतीत होती है। मेरे आश्रय और अवलम्बन के विना चेतन अचेतन कोई भी वस्तु क्षणभर को भी नहीं ठहर सकती। मेरी सत्तासे ही चन्द्रमा और सूर्य आकाशमण्डलमें विराजमान हैं, असंख्यों हीरोंके टुकड़ों की समान अगणित तारागणोंको वक्षःस्थलमें धारण करके रात्रि शोभायमान होती है, विशाल सागरकी तरङ्गें रेतीली भूमिमें नाचती हैं, नदियें पहाड़ोंको फाड़कर कल कल शब्द करती हुई दौड़ती चली जाती हैं तथा देवता और दानव पशु पक्षी और साँप आदि सब ही अपना २ काम करने में लगे हुए हैं, मैं बीजरूपसे सबकी ही जड़ोंको ठहराये हुए हूँ और सबोंको ही अपना २ काम करनेमें लगाये हुए हूँ, मैं एक होने पर भी असंख्य हूँ, निराकार होने पर भी साकार हूँ—अनेकों आकारोंवाला हूँ तथा क्रियाशून्य होने पर भी असंख्यों क्रियाओंसे युक्त हूँ। एक बीजसे एक ही वृक्ष उत्पन्न होता है और एक जातिके बहुतसे बीजोंसे एक जातिके बहुतसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं। मैं एक होने पर भी चराचरके भिन्न २ धर्मोंसे युक्त और भिन्न २ क्रियाओंसे युक्त सकल भूतोंका बीजरूप हूँ, इसप्रकार एक होने पर भी अनेकरूप हूँ। मैं स्वयं निराकार और निर्विकार हूँ, तो भी इस विश्वके सकल पदार्थ मेरी ही सत्ताको लेकर वर्त्तमान हैं, इसलिये सब मेरे ही आकार हैं और मेरे ही विकारस्वरूप हैं। संसारमें स्थावर जङ्गम, चेतन अचेतन प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी क्रियामें लगा हुआ है, यह कर्म करनेकी

शक्ति इन सबोंको मुझसे ही मिली हुई हैं, इससे ही कहता हूँ, कि-इस संसारमेंका हरएक पदार्थ मेरी अनन्त क्रियाशीलताका परिचय देरहा है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप । एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

अन्वय और पदार्थ

(परन्तप) हे शत्रुनाशी अर्जुन ! (मम) मेरी (दिव्यानाम्) अलौकिक (विभूतीनाम्) ऐश्वर्योंका (अन्तः) छोर (न) नहीं (अस्ति) है (एषः-तु) यह तो (विभूतेः) विभूतिका (विस्तरः) फैलाव (मया) मैंने (उद्देशतः) संक्षेपसे (प्रोक्तः) कहा है ॥ ४० ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् कहते हैं, कि-हे शत्रुनाशन अर्जुन! मेरी विभूतियोंका पार नहीं है, तुझसे मैंने अपनी विभूतियोंके भंडारमेंसे कुछ थोड़ासा कहदिया है । जब कि-मैं स्थावर जङ्गम प्रत्येक पदार्थमें बिराजमान हूँ, जब कि-मेरी शक्ति अनन्त है, ज्ञान अनन्त है, क्रिया अनन्त है, और ऐश्वर्य अनन्त है तो मेरी महिमाको कोई पूरी २ कह देय, यह कैसे संभव होसकता है ? जब कि अनन्त शक्तिमान् मैं भी अपनी विभूतियोंका पूरा२ वर्णन तुझे न सुनासका तू मेरा प्यारा मित्र अभिन्नचित्त

सखा है, तेरे प्रार्थना करने पर अपनी विभूतियोंका एक अंश मात्र वर्णन करके ही मुझे मौन धारण करना पड़ता है। जैसे लोग सङ्केतके द्वारा अपने मनका भाव दूसरोंको समझा देते हैं। जैसे बहुतसे अवसरोंमें मनुष्य अपने मनके भावका थोड़ासा अंश वा अपनी वाणीका थोड़ासा अंश संकेत-द्वारा प्रकट करते हैं तैसे ही यहां मैंने विभूतियोंका कुछ एक विषय वाणीसे प्रकट करके हे सखे! तुझे सकल विभूति-भण्डारके समझनेका संकेत कर दिया है, जो कुछ कहा है, यह मेरी असीम, कल्पनामें न आनेवालीं विभूतियोंकी तुलनामें कुछ भी नहीं है, परन्तु हे सखे! तू बुद्धिमान् है तत्त्वज्ञानका अभिलाषि है कर्त्तव्यपरायण है और धर्मशील है इसकारण बहुत थोड़ेसे वर्णनको सुनकर ही सब तत्त्वको हृदयङ्गम करसकेगा, इसकारण ही। जिस विभूतिभण्डारका पूरा२ वर्णन करना असंभव है, उसका संक्षेपमें संकेत करके मैंने वर्णन करदिया है ॥ ४० ॥

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदू-र्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

अन्वय और पदार्थ

(यत् यत्) जो जो (सत्त्वम्) पदार्थ (विभूतिमत्) ऐश्वर्ययुक्त (श्रीमान्) लक्ष्मीवान् (वा) या (ऊर्जितम्) बलवान् [अस्ति] है (तत् तत्) उस उस [सत्त्वम्] पदार्थको

(एव) ही (त्वम्) तू (मम) मेरे (तेजोंऽशसम्भवम्) शक्तिके अंशसे उत्पन्न हुआ (अवगच्छ) जान ॥ ४१ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! आपकी विभूतियोंका पूरा२ तत्त्व कैसे जानाजाय? । भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे! मेरी विभूतियोंका कोई कितना ही वर्णन करे वह एक देशके एक अंशमात्रका ही वर्णन कर सकेगा, तथापि विभूतियोंको समझनेकी यह रीति है, कि–इस विश्वमें जो जो प्राणी अपनी जाति वालोंमें औरोंकी अपेक्षा अधिक गुण ऐश्वर्यसे वा रूप लावण्य आदिसे युक्त हों अथवा जो जो जीव अलौकिक बली वा पराक्रमी हों उन सबोंको ही मेरी विभूति जान । वह सब ही मेरे तेजसे तेजस्वी मेरी शक्तिसे शक्तिमान् मेरे रूपसे सुन्दर और मेरे ऐश्वर्यसे ऐश्वर्यवान् हैं अर्थात् सकल जीवोंमें जो जो शक्ति, सुन्दरता और सम्पदामें औरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं वह सब मेरे तेजसे उद्भासित होनेके कारण हैं । अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! जो मनुष्योंमें भाग्यवान्, धन सम्पदा पद प्रतिष्ठामें चक्र-वर्त्ती राजाकी समान, तथा सुन्दरता और बल वीरतामें देव-सेनापतिकी तुल्य हों क्या केवल उनको ही भगवत्तेजसे दीप्त और भगवद्विभूतिरूप मानलियाजाय? । जो सिंह शरीरशक्तिमें अजेय है स्वास्थ्य और निर्भयपनेमें अतुल-नीय है, क्या केवल वही भगवान्‌का विकाशरूप है? जो विशालशरीर हाथी किसी ओरको दृष्टि न डालकर अहङ्कार

पूर्वक पृथिवीका छातीपर स्वाधीनताके साथ विचरता है, क्या केवल वही भगवद्विभूत है? । जो दमकता हुआ भुजङ्गम फन फैलाकर समीपके सकल जीवोंके हृदयोंमें भय उत्पन्न करदेता है क्या केवल वही भगवान्के तेजसे युक्त है? मार्गमें एक ओरको वृक्षके तले रहनेवाले जीर्ण-शीर्ण-शरीर भिक्षुकमें क्या आपका विकाश नहीं है । गाड़ीमें जुते कोड़ोंकी मारसे पीठ झुकाते हुए घोड़ेके शरीरमें क्या आपका विकाश नहीं है ? जो छोटीसी चींटी दीनभावसे चुपचाप अपने भोजनको खोजती हुई समय बिताती है क्या उसमें आपका तेज नहीं है ? । भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! ऐसी शङ्का करना बेजड़मूल है, मेरे कहनेका केवल इतना ही अभिप्राय है, कि-ऐश्वर्य और विभूतियोंका पूर्ण वर्णन होना असम्भव है,इसलिये एकदेशमात्र दिखा दिया है तथा और सुन ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

अन्वय और पदार्थ

(अथवा) या (अर्जुन) हे अर्जुन (एतेन) इस (बहुना) अधिक (ज्ञातेन) ज्ञान करके (तव) तेरा (किम्) क्या है (अहम्) मैं (इदम्) इस (कृत्स्नम्)

संपूर्ण (जगत्) विश्वको (एकांशेन) एक अंश करके (विष्टभ्य) व्याप कर (स्थितः) स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

भावार्थ

हे सखे ! ऐसे खण्डितभावसे वा अंशक्रमसे वा ऐसे स्वतंत्र-रूपसे मेरी विभूतियोंको सुननेकी क्या आवश्यकता है ? जब सर्वत्र मैं पुरा हुआ हूँ, और मेरे तेजसे ही सब भास रहा है तो अलग २ मैं कितने पदार्थोंको गिनाऊँगा और तू कहाँ तक सुनेगा ? और प्रत्येक वस्तुके अलग २ ज्ञानसे तुझे फल भी क्या मिलेगा ? संक्षेपमें तुझसे इतना ही कहे देता हूँ, कि-मैं एक अंशसे इस सब जगत्को धारण वा व्याप्त किये हुए हूँ । जब जगत्के सब ही भूत मेरे अंशरूप हैं तब यह शंका नहीं हो सकती, कि-तेजसे दीप्त वा लक्ष्मी से सुशोभित पदार्थों पर मेरी विशेष कृपा है और प्रभाहीन दुःखियों पर मेरी तैसी कृपा नहीं है, ऐसा अनुमान करना बड़ीभारी भूल है । क्योंकि-मैं सर्वरूप हूँ और सब पदार्थ मेरा ही विकाश हैं । अर्जुनने कहा. कि-हे भगवन् ! आपके एक अंशमें जगत् स्थित है तो और अंशोंमें क्या स्थित है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! पहिले नवम अध्यायके चौथे श्लोकमें मैं कहचुका हूँ,कि-भावरूप अव्यक्तमूर्त्तिसे मैं इस सब जगत् में व्याप रहा हूँ । "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना" इसमें ही सृष्टि स्थिति और प्रलयका व्यापार होता है, मेरा यह अंश मायाउपहित चैतन्य है । मायाका खेल इस अंशको ही लेकर होता है । मायाउप-

हित चैतन्यको रज्जु मानलो। चैतन्यमें जगत्का भ्रम ही इसका सर्पभाव है, रज्जुका लम्बापन मोटापन आदि जितना होता है। कल्पित सर्प भी उतना ही लम्बा मोटा होकर रज्जु के ऊपर भासता है। वास्तवमें रज्जु ही काल्पित सर्पको व्यापकर स्थित होती है। परन्तु अन्यत्र परिपूर्ण मैं किसी से प्रकाशित नहीं होता हूँ, मेरा एक अंश जगत्रूपसे प्रकाश रहा है "पादोऽस्य सर्वा भूतानि" अन्य अंश ऐसा है,कि- "यन्न वेदा विजानन्ति मनो यत्रापि कुण्ठितम्, न यत्र वाक् प्रभवति" उसको वेद नहीं जानते, उसमें मन खुटला होजाता है तथा उसमें वाणी नहीं पहुँचती। परन्तु हे सखे! मैं तुझसे एक बात पूछता हूँ, कि-मैंने विभूतियोगके वर्णन का आरम्भ क्यों किया था, इसका तुझे स्मरण है ?। अर्जुनने कहा, कि-हां स्मरण है, मैंने पहिले प्रश्न किया था, कि-किस उपायसे आपमें एकतान भक्तिका प्रवाह रह सकता है, आपने कहा था, कि-जो मेरे रूप और गुणोंमें मग्न नहीं रहसकता उसका भक्तिप्रवाह सब कालमें समान भावसे प्रवाहित नहीं रहसकता, इसलिये आपने कहा था कि-उत्तमरूपसे मेरी विभूतियोंका ध्यान रखना चाहिये, इस समय आपने उन ही विभूतियोंका वर्णन सुनाया है। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! विभूतियोंका वर्णन सुनकर तुझे क्या लाभ हुआ ?! अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! क्या लाभ हुआ, इसको मैं क्या बताऊँ ? आप सब कुछ जानते हैं तथापि यदि आपको मेरे मुखसे सुनना ही अच्छा लगता

है तो मैं कहता हूँ, सुनिये। निरन्तर आपके ध्यानमें मग्न रहनेके लिये आपके सोपाधिक स्वरूपका ध्यान करना पड़ता है। सकल भूत आपका एक पादमात्र हैं, यह सब विचित्र रचना आपका एक अंशमात्र है, आपकी लेशमात्र शक्ति को पाकर पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और सकल जीव अपने २ मार्गमें घूमरहे हैं। विपरीतमार्गमें चलने की चेष्टा करते ही नष्ट होजाते हैं। "यस्याज्ञया वाति वातः शीघ्रगामी च साम्प्रतम्। यस्याज्ञया च तपनस्तपत्येव यथाक्षणम्॥ यथाक्षणं वर्षतीन्द्रो मृत्युश्चरति जन्तुषु। यथाक्षणं दहत्यग्निश्चन्द्रो भवति शीतवान्॥" तुम्हारी आज्ञासे जगत् चलता है, तुमने हंसोंको सफेद किया है, और तोतोंको हरा बनाया है, मैं सर्वदा तुम्हारा ध्यान करना चाहता हूँ। चित्त इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंकी ओरको दौड़ता है, इससे मैं दुःखी होता हूँ। आप कहते हैं, कि–सर्वत्र मैं ही हूँ, सर्वत्र मेरी ही विभूति है। आपकी विभूति को हृदममें धारण करसकने पर ही हृदयमें ईश्वरदृष्टि स्थिर होती है, कहिये मैं ठीक समझा या नहीं ?। श्रीभगवान्ने कहा, कि–हे अर्जुन ! तू मेरा भक्त है, पहिले मुझे अन्तःकरणके भीतर रखनेकी चेष्टा करना, पीछे बाहर देखना। मैं ही सब जगत्में व्यापरहा हूँ। मेरे परमभावको हृदयमें रखकर जिस किसी वस्तु में भी लक्ष्य करके मेरी उपासना करना चाहेगा उसमें ही मेरी उपासना हो जायगी, परन्तु उपासना पर्यन्त मेरे सोपाधिक स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, जीवन्मुक्तिके लिये मेरे निरु-

पाधिकस्वरूपकी भावना करनी चाहिये । पृथिवीका अणु जलके अणुमें, जल तेजमें, तेज वायुमें, वायु आकश में, आकाशका अणु ब्रह्माणुमें और ब्रह्माणुके एक अंशमें यह जगत् भासरहा है,सबका लय होजाने पर एक ब्रह्मपदार्थही शेष रहता है,वही सच्चिदानन्दस्वरूप है,उससे ही जन्म आदि होता है, उसके स्वरूपका अनुभव ही जीवन्मुक्ति है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे हठयोगाभ्यासि-ब्रह्मचारि-नर्मदानन्दकृत-अन्वय-पदार्थ सरलभाषाभावार्थ सहितः विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः समाप्तः



॥ श्रीहरिः पातु ॥

एकादश अध्याय

पिछले अध्यायमें सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमदयालु श्रीकृष्णजीके मुखकमलसे निकले हुए अनेकों विभूतियोंके वर्णनको सुनकर अर्जुनके हृदयका मोह दूर होगया है, वह इस समय ज्ञानका अधिकारी बनगया है और भ्रम उसके पाससे दूर भागगया है, ऐसी दशामें उसका चित्त भगवान्के प्रेममें आर्द्र होगया है और उन परमेश्वरका प्रत्यक्षरूपसे दर्शन करने के लिये वह व्याकुल होरहा है। वही परमपुरुष श्रीकृष्ण रथके सारथी रूपसे उसके चर्मचक्षुओंके सामने खड़े हुए हैं, परन्तु वह परमेश्वर होने पर भी हृदयके सखा हैं, सर्वशक्तिमान् होने पर भी रथको हाँकनेवाले हैं, अनन्तमहिमा वाले होने पर भी छोटासा काम करने में लगे हुए हैं, ऐसे श्रीकृष्णका दर्शन करते हुए भी अर्जुनको भगवत्दर्शन की तृप्ति नहीं हुई। जो बालुकाके कणसे लेकर विशालकाय पर्वत पर्यन्त और छोटेसे मच्छर से लेकर परमज्ञानी मनुष्यपर्यन्त सर्वत्र व्याप्त हैं, उन विश्वेश्वर श्रीहरिका उस ही भाव से दर्शन करनेकी अर्जुनके अन्तःकरणमें उत्कट इच्छा है। ज्ञानभरे सदुपदेशको सावधानी के साथ हृदयमें धारण करने के कारण, भगवान्के वाक्योंका तत्त्व अच्छे प्रकारसे समझ जानेके कारण, सव्यसाची अर्जुनने विश्वात्मा विश्वव्यापी, विश्वेश्वर, विश्वरूपके स्वरूपको समझ लिया है, परन्तु

प्राणोंका आग्रह और व्याकुलता प्रत्यक्ष दर्शन के विना शान्त नहीं होती है, इसलिये ही अर्जुन अब अपने प्राणों की इच्छाको भगवान्‌से कातरताके साथ निवेदन करने को उद्यत हुआ है-

॥ अर्जुन उवाच ॥

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला (मदनुग्रहाय) मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये (परमम्) परमात्मनिष्ठ (गुह्यम्) गोपनीय (अध्यात्मसंज्ञितम्) आत्मा अनात्मा के विवेकके विषयका (यत्) जो (वचः) वचन (त्वया) तुमने (उक्तम्) कहा था (तेन) तिस वचनसे (मम) मेरा (अयम्) यह (मोहः) मोह (विगतः) नष्ट होगया ॥ १ ॥

भावार्थ

भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन ! इस समय तक मैंने जो कुछ कहा है, उसको सुनकर क्या तेरे मनकी कुछ दशा बदली है ? । अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये आत्मा और अनात्मा के विषय में आपने जो कुछ उपदेश दिया उससे मेरा आत्मा के

विषयमें जो एक प्रकारका मोह था वह दूर होगया। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! क्या मोह था और वह कैसे दूर हुआ ?। अर्जुनने उत्तर दिया, हे भगवन् ! मैं क्षत्रिय हूँ, धर्मयुद्ध ही मेरा कर्त्तव्य है। धर्म युद्धमें प्राण त्यागदेना भी क्षत्रियकी उत्तम सद्गति है। क्षत्रियका शरीर युद्धमें नष्ट होनेके लिये है। प्रारब्धभोगका इससे अधिक सहज और कोई मार्ग नहीं है। मैं अपने धर्म पर सन्देह करके भिक्षा मांगते फिरना आदि परधर्मके लिये तयार होगया था। मैं आत्मा अनात्माके विषयमें मोहसे आच्छन्न होकर कहता था, कि—"स्वजनं हि कथं हत्त्वा सुखिनः स्याम माधव,, (१ । ३६) तथा "कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥" इत्यादि। मैं ही इनका मारनेवाला हूँ और मेरे द्वारा ये मारेजायँगे, यही मेरा मोह था। लोग जिस काममें सुख नहीं पाते हैं और जिसकामको करनेमें क्लेश होता है उस कामको करना नहीं चाहते हैं। अपने सुखके लिये जो कार्य करना है यही काम है। कुटुम्बी, बन्धु, बान्धवोंका नाश करने पर मुझे बड़ा ही कष्ट होगा। द्रोण, भीष्म आदि गुरुजनोंका नाश करने पर मैं बड़ा ही कष्ट पाऊँगा, ऐसा मानकर मैं अपने धर्मको त्यागनेके लिये भी तयार होगया था। मैं कामका कार्य करना चाहता था, आपने मुझे प्रेमकी शिक्षा दी। अपने दुःखको कुछ न गिन कर श्रीभगवान्की प्रसन्नताके लिये जो उनकी आज्ञाका पालन कियाजाता है वही प्रेम है। श्रीभगवान्की आज्ञाका पालन

करनेके लिये क्लेश उठाने पर भी वह प्रसन्न होते हैं। इस में उनको सुख होता है, अपने सुखके लिये कर्म करना काम है और आपके सुखके लिये कर्म करना प्रेम है, निष्काम कर्म ही प्रेम है, आपकी प्रसन्नताके लिये युद्ध करने को मेरी इच्छा जगी है। अब मुझे आत्मा और अनात्माके विषयमें कुछ मोह नहीं है। श्रीभगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! मेरे कौनसे वाक्यसे तेरा मोह दूर हुआ? तथा तेरे हृदयमें ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ, सो बता?। अर्जुनने उत्तर दिया, कि—हे भगवन्! "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" से लेकर छठे अध्यायकी समाप्ति तक आपने जो अतिगोपनीय-परमरहस्यरूप अध्यात्मका वर्णन किया है उससे ही हे दयासिन्धो! मेरा शोक मोह सब दूर होगया है। युद्ध करने के लिये आये हुए इन सब अपने संबन्धियों के आत्माकी ओरको मेरा लक्ष्य नहीं था, आपने समझा दिया है, कि—देह आत्मा नहीं है आत्माको कोई मार नहीं सकता, मैं समझ गया हूँ, कि—आत्माका क्या पदार्थ है। और मैं यह भी समझ गया हूँ, कि देहमें आत्मज्ञान करके, देह नष्ट होजायगा, ऐसा विचार कर मैं क्लेश पारहा था। अब मुझे पक्का निश्चय होगया, कि—तुम्हारी सत्तासे ही—तुम हो इस लिये ही सब जीव आत्मवान् हैं—अपने स्वरूपमें बने हुए हैं। मैं भले प्रकार समझगया, कि तुम ही मेरे आत्मा हो आत्मा हो, इसलिये ही आप मुझे बड़े मधुर लगते हो। मेरा मन कहता है, कि—आपकी आज्ञाका पालन करना ही

मेरा जीवन है, इसीलिये मैं अब अपनी इच्छाके अनुसार काम नहीं करसकता हूँ आपकी इच्छाके अनुसार काम करने में ही मुझे बड़ा आनन्द आता है। मैं पहिले देहात्मभिमानी एक अज्ञान का पुतलामात्र था, अब मेरा अज्ञान (अहंभाव) मरगया है, अब मैं समझगया हूँ कि-मेरे वास्तविक आत्मा तुम ही हो, मैं कर्ता नहीं हूँ, आप ही सब कुछ करते हैं। तुम्हारे सन्तोषके लिये, तुम्हारे सुख के लिये कर्म करना ही निष्काम कर्म है,यह बात मुझे प्रत्यक्ष सी दीख रही है, जिस साधनाके द्वारा मैं सदा आत्मनिष्ठ रहसकूँ, सदा आपमें स्थित रहसकूँ वही निष्काम कर्म है। आरुरुक्षुयोगको आत्मस्थितियोगको मैं भलेप्रकार समझगया हूँ। सातवें अध्यायसे लेकर यहां तक युक्तता अवस्थाको पानेके लिये जो आपने ज्ञान विज्ञानका वर्णन किया उस को भी मैं भलेप्रकार समझगया। दशवें अध्यायमें जो आपने कहा था, कि-"एतां विभूतिं योगञ्च यो मम वेत्ति तत्त्वतः" (१० । ६) इसको सुनकर फिर मैंने कहा था, कि-विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन। भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।।,, (१० । १८) अर्थात्-वास्तव में आपके अमृतमय वाक्योंको कानोंके द्वारा वारंवार पीने पर भी मेरी तृप्ति नहीं होती है। सब भूतोंके भीतर तुम ही हो "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयास्थितः। अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥" यह आपका योगैश्वर्य है और तुम्हारी जो विभूति वा विस्तार है वही बुद्धि ज्ञान

असंमोह आदि भाव तथा सात महर्षि आदि जो प्रजायें आपसे उत्पन्न होती हैं उनमें प्रकाशित होता है। तथा आदित्योंमें आप विष्णु हैं, प्रकाशोंमें आप सूर्य हैं, इत्यादि से लेकर दशम अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त आप कहते हैं, कि–मेरी विभूतियें अनन्त हैं, जीव एक २ करके उनको कहाँ तक जानेंगे ? आप कहते हैं, कि–समझ रख, कि–मैं सब जगत्को अपने एक अंशमात्रसे धारण किये हुए हूँ, मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं। श्रुति भी कहती है–"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" आपके योग और विभूतियोंको सुनने से मैं भीतर और बाहर आपके ध्यानमें रहसकूंगा। योगैश्वर्यके द्वारा जो तुम सकल भूतोंको धारण कियेहुए हो, इस आपकी सकल भूतोंकी आधारताको मैं स्मरण रखसकता हूँ, और जिस जगत्को तुम बाहर भी धारण किये हुए हो उसमें मैं सदा जो कुछ देखता वा सुनता हूँ उसमें ही आपका स्मरण कर सकता हूँ। योगी होकर भी युक्ततम अवस्था पानेके लिये आप जो अपना ज्ञान और विज्ञान कहरहे हैं, अपने योग और विभूतियोंका वर्णन कररहे हैं इसको मैं समझगया, इस समय मेरे चित्तमें एक और वासना उठखड़ी हुई है, आप तो अन्तर्यामी हैं, क्या मेरी वह वासना पूरी होगी ? भगवान्ने कहा, कि–हे सखे अर्जुन ! मैंने ही तेरी इस वासनाको पूरी करनेके लिये जगाया है। तेरे हृदय में जो एक अज्ञानकी घनघटा थी उसको मेरे वाक्यरूप वायुने दूर करदिया है। तू सर्वत्र तेजोमय अमृतमय और सब कुछ

अनुभव कियाहुआसाही देखता है तथापि तू उसमें स्थिति नहीं करसकता है। तेरा हृदय भगवत्प्रेमसे आर्द्र होगया है तू सान्तमें अनन्तको देखना चाहता है, यह तेरे प्राणोंकी व्याकुलता प्रत्यक्ष दर्शनके विना दूर नहीं होगी, क्यों तेरी यही इच्छा है या और कुछ ? । अर्जुनने कहा, कि-हे दीनबन्धो ! मैं और क्या कहूँ ! आपतो सब कुछ जानते ही हैं तो भी मेरे मुखसे सुनना चाहते हो तो फिर मैं कहता हूँ ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया। त्वत्तः कमल-पत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् २

अन्वय और पदार्थ

(कमलपत्राक्ष) हे कमलदलनयन (त्वत्तः) आपसे (मया) मैंने (हि) निश्चयरूपसे (भूतानाम्) प्राणियों के (भवाप्ययौ) उत्पत्ति और प्रलय (विस्तरशः) विस्तार के साथ (श्रुतौ) सुने (च) और (अव्ययम्) अक्षय (माहात्म्यम्-अपि) महिमा भी [श्रुतम्] सुनी ॥ २ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे कमलदलनयन नारायण ! मैंने आपसे स्थावर जङ्गमरूप सकल भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन बहुत ही विस्तार के साथ सुना। आपने वार वार

अनेकों रीतिसे उत्पत्ति और नाशका तत्त्व मुझे सुनाया है, कोई भी बात आपने न संक्षेपमें कही और न गूढ़ ही रक्खी इसके सिवाय आपकी अक्षय और अनन्त महिमा के वृत्तान्तको भी मैंने भले प्रकार जान लिया है। आप इस विश्व के मूल सृष्टिकर्त्ता हैं, यह आपका एक माहात्म्य है। आप जीवोंके शुभ अशुभ सकल कर्मोंके नियामक हैं तथा जगत् को मर्यादामें रखने वाले हैं, यह भी आपका एक माहात्म्य है। सकल प्राणियों का बन्धन और मुक्तिरूप विचित्र फल देना भी आपके ही हाथ में है, यह भी आपका एक माहात्म्य है। इसके सिवाय आप विश्वकी सृष्टि आदिके कर्त्ता होने पर भी निर्विकार रहते हो। शुभ अशुभ कर्मोंके फलदाता होते हुए भी आप विषमदृष्टि नहीं रखते हो। बन्ध मोक्ष आदि विचित्र फल देकर भी कुछ नहीं करते हो किन्तु उदासीन रहते हो, यही आपका अक्षय माहात्म्य है। आपके इस माहात्म्य की सीमा नहीं है, आपके माहात्म्यका पूरा२ वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता, यहाँ जो आपके माहात्म्य का वर्णन किया है, यह तो केवल सङ्केतमात्र दिखा दिया है, आपकी महिमाकी सीमा बनाकर तो कोई कह ही नहीं सकता, आपकी महिमाको सुनकर मेरा तो कर्त्तापने का अहङ्काररूप मोह दूर होगया। केवल एक ही रहस्यको जाननेका सौभाग्य अभी नहीं मिला है, मैंने हृदयमें जिस बातको समझा है, मेरे अन्तःकरणमें जो भाव उठा है वह भाव अभी तक मेरे नेत्रों के गोचर नहीं हुआ है, उस अपनी वासनाको मैं आपसे निवेदन करता हूँ ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर । द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(परमेश्वर) हे परमेश्वर (त्वम्) तुम (आत्मानम्) अपने को (यथा) जैसा (आत्थ) कहते हो (एतत्) यह (एवम्) ऐसा ही है [तथापि] तो भी (पुरुषोत्तम) हे पुरुषोत्तम (ते) तुम्हारे (ऐश्वरम्) अनन्त ऐश्वर्य आदि से युक्त (रूपम्) रूपको (द्रष्टुम्) देखने को (इच्छामि) इच्छा करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे नारायण ! आपने पहिले अनेकों प्रकारसे अनेकों स्थानोंमें अपनी परम ईश्वरी शक्तिका माहात्म्य और विभूतियोंका वर्णन किया है, वह सब भले प्रकार से मेरे ध्यानमें है, उसके विषयमें मेरे चित्तको कणमात्र भी सन्देह नहीं है । तो भी हे परमेश्वर ! आपके बड़ी भारी माहिमावाले सकल ऐश्वर्यों से युक्त स्वरूपका दर्शन करनेके लिये मेरे चित्तमें बड़ी ही उत्कण्ठा होरही है । ज्ञानचक्षु से आपके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर लेने पर भी मेरे पार्थिव नेत्र और मनकी तृप्ति नहीं होती है । इसलिये हे श्रीनिवास ! मैं बड़ी विनयके साथ प्रार्थना करता हूँ, कि–मुझे विश्वव्यापी

विराटरूपका दर्शन कराइये। यह गीताशास्त्र परमपवित्र धर्मग्रन्थ है, इस विषयमें प्रतीत होता है, किसीको भी सन्देह न होगा। इसकी तय तयमें कर्म, साधना, योग, ज्ञान और भक्ति आदिका जो स्पष्टरूपसे वर्णन देखनेमें आता है, वह भूमण्डल पर और किसी ग्रन्थ में नहीं है और इस मध्यम षट्कमें तो भगवान् सशरीर दीखते हैं। वह आप ही वक्ता हैं, आप ही निर्णय करने वाले हैं और आप ही सकल फल देने वाले हैं तथा वह सशरीर स्वरूपसे साधकों के सामने खड़े हुए हैं। ज्ञान और भक्तिका जैसा परिपाक होने पर भगवान्का दर्शन होसकता है, अर्जुनको वह होगया है, इसप्रकार मनके पुष्ट होजाने पर ही, भगवान्का दर्शन करनेकी उत्कट उत्कण्ठा होती है। ज्ञानकी अधिकता से भक्तिकी प्रबलतासे अर्जुन अपने हृदयपट पर विश्वेश्वरकी विशाल मूर्त्तिको चित्रित करके प्रेमपुलकित शरीरमें उसका दर्शन करसका है, परन्तु बाहरी इन्द्रियोंकी प्यास अभीतक नहीं मिटी है, इसलिये ही आँखोंको देखनेकी प्रबल इच्छा होरही है, इसलिये ही अर्जुनने आज्ञाकारी शिष्यके भावसे विनयके साथ मनकी वासना सबके हृदयोंके मर्मको जानने वाले भगवान्के चरणों में निवेदन की है। इस श्लोकमें अर्जुनने भगवान्को पुरुषोत्तम शब्दसे संबोधन किया है, इससे भगवान्का सर्वशक्तिमान्पना और सर्वान्तर्यामीपना सूचित होता है। नारायण सृष्टि, पालन और प्रलय करनेवाले हैं। विभूतियोंके भण्डार और विश्वनाथ हैं, इस विषयमें अर्जुनको जरा भी सन्देह

नहीं है। भगवान्‌के वाक्य और उपदेशको सुनकर अर्जुन इस विषयमें निःसन्देह होगया है। इस परभी यदि कोई यह कहै, कि-परमेश्वरके विषयमें इतना गहरा ज्ञान होजाने पर भी जब अर्जुन उनके रूपको देखनेके लिये उत्कण्ठा दिखा रहा है तब तो उसके हृदयमें अवश्य ही मधुसूदन कृष्णके माहात्म्यके विषयमें कुछ सन्देह छिपाहुआ रहगया है। यह शङ्का 'पुरुषोत्तम' संबोधनसे ही दूर होती है, क्योंकि-जो हृदयके मर्मको जाननेवाले अन्तर्यामी पुरुष हैं, उनसे छिपी हुई कोई भी बात वा स्थान है ही नहीं, उनसे हृदयके भावको छिपाना कदापि उचित नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है, कि-अर्जुनने सरलभाव से विश्वरूपके दर्शनकी उत्कण्ठा होनेपर प्रार्थना की है। टीकाकार बलदेव पण्डितने यहां यह दृष्टान्त दिया है, कि-जैसे जिसने मधुर रसका स्वाद लेलिया है, उसको कभी२ चरपरा खानेकी वासना होती है ऐसे ही निरन्तर भगवान्‌के मधुर प्रेमका उपभोग करनेवाले अर्जुनके हृदयमें उनकी विभूति और विश्वरूप का दर्शन करनेकी इच्छा हुई है। जो पुरुष अन्तःकरणमें भगवान्‌के माधुर्य रसका स्वाद लेनेसे उत्पन्न हुए निर्मल आनन्दका उपभोग करता है उसको बाहरी नेत्रोंसे रूपदर्शन की वा विभूतिको जाननेकी कुछ आवश्यकता नहीं होती है तो भी एकवार स्वादको बदलनेके अनुरोधकी समान दर्शनकी इच्छा उत्पन्न होना कुछ असङ्गत नहीं है ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया

द्रष्टुमिति प्रभो। योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ४

अन्वय और पदार्थ

(प्रभो) हे भगवन्! (यदि) जो (तत्) वहरूप (मया) मुझ करके (द्रष्टुम) देखनेको (शक्यम्) योग्य है (इति) ऐसा (मन्यसे) मानते होओ (ततः) तो (योगेश्वर) हे योगियोंमें श्रेष्ठ (त्वम्) तुम (मे) मुझे (अव्ययम्) नित्य (आत्मानम्) स्वरूपको (दर्शय) दिखाइये ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

प्रार्थना करते ही करते अर्जुनके मनमें सन्देह उठा, कि-मैं भगवान्का दर्शन करनेका अधिकारी हूँ या नहीं ?, इस बातको बिना विचारे ही मैंने भगवान्से विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये प्रार्थना कर दी। जैसा पुण्य और साधना होने पर, जैसा सुकृती होने पर प्राणी भगवान्के विश्वरूप को देखनेका अधिकारी होसकता है, मुझमें तो वह कुछ भी नहीं है, तो भी मैंने वासनाकी प्रबलतासे ललचा कर विश्वेश्वरको अपनी चपलता दिखायी है। हृदयकी ऐसी दीनता, अन्तःकरणकी ऐसी कोमलता, अहङ्कार और गर्वका ऐसा अत्यन्त अभाव भक्तिका प्रधान लक्षण है। परमभक्त अर्जुनकी आशङ्का और व्याकुलताकी कुछ सीमा नहीं है। अर्जुन भयभीत होताहुआ कहता है, कि-हे भगवन्! मैंने विना समझे तथा अपनी योग्यता और अधिकारका विचार किये

बिना ही अपने हृदयकी व्याकुलता आपसे निवेदन की है, परन्तु आप सर्वज्ञ हैं, यदि आप समझेंगे, कि–मैं आपकी अनन्त विभूतियोंवाले विश्वरूपका दर्शन न करनेके विषयमें अधिकारी नहीं हूँ तो मेरी वासना अवश्यही योंही विलीन हो जायगी, परन्तु हे योगेश्वर! यदि मैं जरा भी आपके भक्तिरसको जानसका हूँ, यदि मैं अणुमात्रभी ज्ञानराज्यमें को बढ़ा हूँ, अथवा इन सब बातोंके कहनेसे क्या लाभ है? यदि आप मुझे अपना दर्शन करानेके योग्य समझते हों तो कृपा करके मेरे इन नाशवान् चर्मचक्षुओंके सामने उस रूपसे प्रकट हूजिये, कि–जिस रूपका दर्शन करके मैं कृतार्थ होजाऊँ।। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! 'मैं अधिकारी हूँ या नहीं' तेरे मनमें यह प्रश्न क्यों उठता है?। अर्जुनने कहा कि–हे भगवन्! मेरे मनमें जो वासनायें उठती हैं मैं उनको पानेका अधिकारी हूँ या नहीं इस बातको मैं नहीं समझ सकता, मनमें वासनायें तो अनेकों बातोंकी उठा करती हैं, परन्तु आप उन सबोंको तो पूरी करते ही नहीं हो, इसलिये ही कहता हूँ, कि–यदि मैं आपके अनन्त विभूतियोंवाले विश्वरूपके दर्शनका पात्र होऊँ तो एकवार उसका दर्शन करादीजिये। मूलमें जो 'प्रभो' और 'योगेश्वर' ये दो संबोधन हैं, इनमें अर्जुनने बड़ाभारी भाव भर दिया है। जिनसे सबकी उत्पत्ति होती है जिनमें अन्तमें सब प्रवेश करजाते हैं और जिनकी आज्ञाके वशमें होकर सबको समय बिताना पड़ता है, वही प्रभु हैं, इस संबोधनसे अर्जुनने

यह सूचित किया है, कि—हे भगवन्! मैं सब प्रकारसे आपके अधीन हूँ। जो योगी अणिमा आदि अष्टसिद्धियोंको पा जाते हैं, उनकी मनुष्योंमें बड़ी प्रतिष्ठा होती है, जो ऐसे योगियोंके भी ईश्वर योगेश्वर हों उनकी शक्तिका तो पार ही कौन पा सकता है? । जो योगी होते हैं वही दूरकी वा समीपकी, देखी या अनदेखी सकल वस्तुओंका तत्त्व कहसकते हैं फिर जो उन योगियोंके भी ईश्वर योगेश्वर हैं उनकी अनजानी हुई तो कोई बात हो ही नहीं सकती। इसलिये जो प्रभु और ईश्वर हैं 'भगवान्‌के विश्वरूप दर्शनका अधिकार अर्जुनको है या नहीं' इस बातका उत्तम विचार, उनकी समान और कौन करसकता है ? ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

अन्वय और पदार्थ।

(श्रीभगवान्) श्रीकृष्णजी (उवाच) बोले (पार्थ) हे अर्जुन (मे) मेरे (दिव्यानि) अलौकिक (नानाविधानि) अनेकों प्रकारके (च) और (नानावर्णाकृतीनि) बहुतसे वर्ण और आकारोंवाले (शतशः) सैंकड़ों (अथ) और (सहस्रशः) सहस्रों (रूपाणि) रूपोंको (पश्य) देख ॥५॥

भावार्थ

भगवान्के विश्वरूपके दर्शनका अभिलाषी होकर अर्जुन ने विनयके साथ आग्रहभरी जो वासना प्रकटकी है, उसको पूर्ण करने के लिये उद्यत होकर सबके हृदयोंके भावको जानने वाले जनार्दन भगवान् अर्जुनसे सावधान रहनेका अनुरोध करते हैं। जिस रूपको कल्पनामें धारण नहीं किया जासकता, जिस रूपकी तुलना किसी दूसरे पदार्थसे हो ही नहीं सकती, जो रूप भय और विस्मयसे दर्शकको व्याकुल करदेता है और जो रूप मनुष्यको भौचक्का, विचलित और शिथिल कर देता है । सहसा उस रूपका असावधानतासे दर्शन करने पर हृदयमें भय वैठजाना असम्भव नहीं है । इस लिये श्रीभगवान्ने अर्जुनको अपने स्वरूपका दर्शन देनेसे पहिले सावधान करदेना आवश्यक समझा है, इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि—हे प्रेमपात्र अर्जुन ! तू मेरे विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अकुला रहा है, मैं तुझे अपने स्वरूपका दर्शन करानेके लिये तयार हूँ, तू साव धानीके साथ स्थिरचित्त होकर मेरा दर्शन करनेके लिये तयार होजा। मेरा यह रूप एक होने पर भी अनेकों प्रकार का है,इस रूपमें तुझे अनेकों प्रकारके भाव दखिंगे और इस एकही रूपको तू बारम्बार सैंकड़ों सहस्रों ढङ्गमें बहुत प्रकारका पावेगा। मेरा यह रूप स्वर्गीय तेज और प्रभाका भण्डार तथा अलौकिक और बड़ा ही अद्भुत है, इस रूपमें श्वेत, काले, लाल, और पीले आदि अनेकों वर्णोंको

देखेगा और मेरे हाथ में अनेकों प्रकार के शस्त्र शरीर पर नानाप्रकारके गहने तथा अनेकों स्थानोंमें नाना प्रकारके भाव देखनेसे तू अपनेमें विचारेगा, कि-मेरी प्रकृति अनेकों प्रकारकी तथा अनेकों भावोंसे युक्त है, तू अनेकों प्रकारसे वारवार इस रूपको देख। ऋग्वेद दशम-मण्डलके पुरुष सूक्तमें भगवान्का जैसा स्वरूप कहा है, वही रूप अर्जुन के नेत्रोंके सामने शीघ्र ही उपस्थित होनेवाला है। जो रूप ध्यानमें वा कल्पनामें नहीं आसकता उस विश्वव्यापक विराट रूपको अर्जुन अभी अपने नेत्रोंसे देखेगा, इसलिये अर्जुनके हृदय और मनको प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता है ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानाश्विनौ मरुतस्तथा । बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ६

अन्वय और पदार्थ

(भारत) हे भरतवंशी (आदित्यान्) बारह सूर्योंको (वसून्) आठ वसुओंको (रुद्रान्) ग्यारह रुद्रोंको (अश्विनौ) दोनों अश्विनीकुमारोंको (तथा) तैसे ही (मरुतः) उनचास पवनोंको (पश्य) देख (बहूनि) बहुतसे (अदृष्टपूर्वाणि) जो पहिले कभी नहीं देखे होंगे ऐसे (अद्भुतानि) आश्चर्यों को (पश्य) देख ॥ ६ ॥

भावार्थ

भक्तवत्सल भगवान् फिर कहते हैं, कि–हे सखे अर्जुन ! मैं तुझे इस समय जिस रूपका दर्शन कराने को उद्यत हुआ हूँ, उसमें तू बहुतसी घटनाओं को देखेगा। तू मेरे इस रूप में बारहों आदित्यों को तपते हुए देखेगा, इस लिये मेरा यह रूप तुझको तेजका पुञ्ज और प्रभाका भण्डार प्रतीत होगा। तू मेरे इस रूपमें वसु नाम के आठ देवताओंकी मूर्त्तियोंको देखेगा, इस लिये तुझे मेरा शरीर परम शीतल प्रतीत होगा। मेरे इस शरीरमें तू ग्यारह रुद्रोंको स्थित देखेगा। इस लिये मेरा देह तेरे नेत्रोंको परमप्रताप-शाली और शक्तिमान् प्रतीत होगा। मेरे इस शरीरमें तू दोनों अश्विनीकुमारोंको बैठे हुए देखेगा, इसलिये मेरा यह शरीर तुझे बड़ा ही रमणीय, कमनीय और ललित प्रतीत होगा। मेरे इस देहमें तू उनचास पवनों को बहते हुए देखेगा, इस लिये मेरा यह शरीर तुझे बड़ा ही वेगवान् प्रतीत होगा। इसके सिवाय जो मनुष्यलोकमें किसी नें कभी देखा ही नहीं है और जिनको देखने से बड़ा विस्मय और आश्चर्य होता है ऐसी अनेकों घटनायें मेरे इस दिव्य रूपमें दीखेंगी। हे भरतवंशके भूषण अर्जुन ! तू इन सब बातोंको देखने के लिये तयार हो जा। यह सुनकर अर्जुन कुछ बोला ही नहीं तब भगवान्‌ने कहा' कि–हे सखे ! तू कुछ उत्तर क्यों नहीं देता ? तब अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! मैं क्या बोलूँ ? जैसे देह–उपहित चैतन्य सदा आत्मा

के साथ रहता है तैसे ही मैं सदा ही प्रायः आपके साथ रहता हूँ, परन्तु आपकी ऐसी विभूति है यह बात तो कभी मेरे ध्यानमें ही नहीं आयी, आप ही सब कुछ हैं यह भी मैंने कभी नहीं समझा। भगवान् के इस अलौकिक अति अद्भुत रूपमें सब कुछ है, जो जो उसमें है उसके अलग २ नाम तो कोई गिना ही नहीं सकता, तथापि दयालु भगवान्ने भक्तका मनोरञ्जन करनेके लिये कुछ प्रधान पदार्थोंके अलग २ नाम कहदिये हैं। मूलमें 'भारत' पदसे अर्जुन को संबोधन किया है। राजर्षि भरत परमपुण्यवान् ज्ञानवान् और मुक्तात्मा थे ऐसे धर्मात्माके वंशमें जन्म धारण करने के कारण अर्जुन भी परमधर्मात्मा और भगवान्के चरणोंका महाभक्त है, नहीं तो भगवान्के विराट रूपके दर्शनका अधिकार उसको कभी नहीं प्राप्त होता। पहिले भगवान् अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेके समय अनेकों देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्रधान २ वस्तुओंको विभूतिरूप से गिनाचुके हैं, देवता भी उनकी विभूतियोंके सिवाय और कुछ नहीं हैं वही सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर पूर्ण—पुरुष जब सशरीर दर्शन देरहे हैं तो संसार का कोई पदार्थ भी विना दीखे नहीं रहसकता। जो सकल साधनाओंका शेष—फल हैं, जो भक्तों के परम ध्येय हैं, आराधन कियेजाने वाले देवता भी जिनकी आराधना करते हैं, उनका ही जब दर्शन मिल रहा है तो उनके आश्रित, उनके रचे हुए उनके अधीन रहने वाला हरएक ही पदार्थ नयनगोचर होगा।

आदित्य और रुद्र ही क्या, जिस२ वस्तुका रूप कभी कल्पना में नहीं उठता वह सब ही दीखेगा ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् । मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

अन्वय और पदार्थ

(गुडाकेश) हे निद्राको जीतनेवाले अर्जुन ! (इह) इस (मम) मेरे (देहे) विश्वरूपमें (एकस्थम्) एक भागमेंको स्थित (कृत्स्नम्) सकल (सचराचरम्) स्थावर जङ्गमरूप (जगत्) संसारको (च) और (यत्) जो (अन्यत्) अन्य पदार्थ (द्रष्टुम्) देखनेको (इच्छसि) इच्छा करता है [तत्] उसको (अद्य) अब (पश्य) देख ॥७॥

भावार्थ

भगवान् फिर कहते हैं, कि—हे सखे अर्जुन ! मेरे इस विश्वरूपमें तू समस्त जगत्को देखेगा देश २ में विचरने वाले जिसको बहुत समयमें और बड़ाभारी परिश्रम करने पर भी नहीं देख पाते, जिसको संसारत्यागी संन्यासी अनेकों सहस्र वर्षों पर्यन्त देखा करें तो भी समाप्त नहीं करसकते, उस सबको तू मेरे इस शरीरमें देखेगा ! सदा उलटपुलट होनेवाले स्थावर जङ्गमरूप असंख्यों पदार्थोंको तू मेरे इस देहमें देखेगा । जब यह विशाल जगत् तेरे नेत्रोंके सामने

दीखने लगेगा, उस समय इस बातका तो कहना ही वृथा है, कि-उसके साथ ही उसके ऊपर स्थित सकल चराचर भी तुझे दीखने लगेगा। हे अर्जुन! और जिस किसी पदार्थ को देखनेकी तेरी वासना हो, कल्पित या वास्तव, शास्त्रमें वर्णन किये हुए या पहिले कभी सुनेहुए जिस किसी पदार्थ को भी देखनेकी तेरी अभिलाषा होगी वह सब तू मेरे इस देहमें देख सकेगा। केवल नाना प्रकार के पदार्थोंको ही नहीं, किन्तु अनेकों मनुष्यों की नाना प्रकारकी मनकी बातोंको, उनकी अनेकों प्रकारकी दशाओंका तथा उन दशाओंमें उनके नाना प्रकारके उलट फेरको भी तू देखेगा। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मुझे तो आश्चर्यसा मालूम होरहा है, मैं देखता हूँ, कि-तुम ही मेरे आत्मा हो, मेरा यह देह आपका ही अङ्ग है। इस देहको मैं जब अहं कहता था तब ही आपको भूलजाता था, इस समय आपने इस देह-उपहित मेरे जीव-चैतन्यको ज्ञानजलके गंभीर सरोवर में गोता देदिया है, अब मैं देखता हूँ, कि-मेरा जीव चैतन्यको आपके संग मिलाये लेता है, परन्तु तो भी अपने जीवत्वको त्यागना नहीं चाहता। परमात्मस्वरूप आपके अङ्गरूपसे आपके सङ्ग जटित होरहा है। जब तक देहको आत्मा मानकर उसके सन्तोषके लिये कर्म करता था तब तक सकाम कर्म होता था, अब देखता हूँ, कि-तुम ही आत्मा हो, आपके सन्तोषके लिये कर्म करने को आप ही कह रहे हैं, मेरी समझमें यही प्रेम है। मैं

समझगया, कि–निष्काम कर्म प्रेमको ही कहते हैं, विना प्रेमके निष्काम कर्म हो ही नहीं सकता, आप मेरे ऊपर बड़ा ही अनुग्रह दिखा रहे हैं, मुझसे बड़ा ही प्रेम करते हैं, मुझे मालूम होता है, कि–मैं अपने ही साथ बातें कर रहा हूँ। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! अभी तुझे मनमें ही ऐसा प्रतीत होता है,परन्तु मैं तुझे अभी प्रत्यक्ष दिखाऊँगा। और एक बात ध्यानमें रख, मैं पहिले कह चुका हूँ, कि–मेरा प्यारा कोई नहीं है और मेरा द्वेषपात्र भी कोई नहीं है, जो मुझे जिस भावसे चाहता है मैं उसके समीप उसही भावसे प्रकाशित होजाता हूँ सब जगत् मेरा माया-शरीर है, इस बातको तू देखले और जैसे बाहर कर्म होने से बहुत पहिलेसे हरएक बात मनमें दीखा करती है, ऐसे यह कुरुक्षेत्र का युद्ध बहुत पहिले से मेरे भीतर होरहा है, तू जो कुछ करना चाहता है वह सब बाहर लोकमें तेरे द्वारा केवल दीखजायगा, जो कुछ आगेको होगा, वह मैं तुझे पहले ही दिखाये देता हूँ, क्योंकि मेरे लिये सब ही वर्त्तमान है, मुझ महाकालस्वरूपमें भूत भविष्यत्‌का व्यवहार है ही नहीं। तू पहिले "यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" (२ । ६) इत्यादि अनेकों स्थानोंमें जो अनेकों प्रकारकी शङ्कायें करचुका है, मेरे इस दिव्यरूपके दर्शनसे तेरी वह सब शङ्कायें जड़ मूलसे नष्ट होजायँगी, तू सहजमें ही समझ सकेगा, कि यह सब युद्धकी घटना विधिकी ही व्यवस्था है। मूलमें जो अर्जुनको गुडाकेश संबोधन दिया है, उससे

भगवान्‌ने सूचित किया है, कि—हे सखे! तूने निद्राको जीत लिया है, इसकारण निरालस्यभावसे मेरे रूपका दर्शन करने पर तू सब ही घटनाओं को देख सकेगा, फिर मुझे सृष्टिका आदिकारण समझलेने पर तेरे मनकी जितनी भी शङ्का हैं वह सब शान्त हो जायँगी तथा जय पराजय का मूल कारण मैं ही हूँ, इस बातका भी तुझे निश्चय हो जायगा। बालकपनमें खेल ही खेलमें श्रीकृष्णने माता यशोदा देवीको अपने मुखरूप गुहामें ब्रह्माण्डका दर्शन कराया था। उनके हरएक रोमकूप में जगत्‌की विद्यमानता अनेकों स्थलोंमें दिखायी जाचुकी है। वहां भगवान् आज भक्त शिरोमणि अर्जुनको विश्वरूप दिखानेके बहाने से एक ही स्थान पर सब जगत् और जगत्‌वासी जीवोंकी अनेकों प्रकारकी अवस्थायें दिखाने को उद्यत हुए हैं और कहते हैं, कि—हे सखे अर्जुन! तू सावधान होकर सब व्यापार देख॥ ७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

अन्वय और पदार्थ

(तु) परन्तु (अनेन) इस (स्वचक्षुषा) अपने नेत्र से (एव) ही (माम्) मुझ विश्वरूपधारीको (द्रष्टुम्) देखनेको (न) नहीं (शक्यसे) समर्थ है [अतः] इस

कारण (ते) तुझे (दिव्यम्) ज्ञानरूप (चक्षुः) नेत्र (ददामि) देता हूँ (मे) मेरे (ऐश्वरम्) ईश्वरीय (योगम्) महाशक्तिको (पश्य) देख ॥ ८ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् फिर कहते हैं, कि-हे सखे अर्जुन ! तूने पहिले शङ्कामें पड़कर कहा था, कि-"मन्यसे यदि तच्छक्यम्" (११ । ४) अर्थात् आप यदि मुझे विश्वरूपका दर्शन करनेके योग्य मानते हों तो उसका दर्शन कराइये। तू निःसन्देह भक्ति और विश्वासके प्रभावसे मेरे विश्वरूपको देखनेका अधिकारी होगया है, परन्तु तेरे यह सीमाबद्ध शरीरमें स्थित नेत्र पार्थिव सामग्रीसे रचे हुए हैं, इसकारण देखनेकी साधारण शक्तिवाले तेरे ये दोनों नेत्र मेरे विराटरूपको देखनेमें काम नहीं दे सकते, उस रूपको देखनेके लिये असाधारण और अलौकिक शक्ति चाहिये, वह शक्ति तेरे इन नेत्रोंमें नहीं है। मैं तेरे अविचल विश्वासको देखकर और पूर्णभक्तिके प्रभावसे मुग्ध होगया हूँ, तथा तेरे ऊपर सब प्रकारसे दयालुता दिखानेको तयार हूँ। इसलिये इस समय मैं तुझे ज्ञानके प्रकाशसे दमकती हुई दिव्य दर्शनशक्ति देता हूँ। ऐसी शक्तिको विना पाये कोई भी मेरे विभूतिरूपका दर्शन नहीं करसकता। तू मेरे दिये हुए ज्ञाननेत्रोंसे युक्त होकर मेरी ईश्वरी शक्ति और प्रभावोंको देख, तू दिव्य-दृष्टिको पाकर केवल मेरे विश्वरूपका ही दर्शन नहीं पावेगा, किंतु मेरी अघटनघटनाकी शक्ति आदि अनेकों अलौकिक ईश्व-

रीय शक्तियोंका भी परिचय पावेगा। टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्तीने इसश्लोकका अभिप्राय इसप्रकार दिखाया है। भगवान् कहते हैं, कि-हे सखे ! अर्जुन ! मैं तुझे इस समय जो रूप दिखानेको उद्यत हुआ हूँ, इसको तू इन्द्रजाल वा मायामय न समझना, किन्तु मेरा यह रूप सच्चिदानन्द है और सब जगत् इसके भीतर भरा हुआ है,लोक इसको अतीन्द्रिय होनेके कारण न देख ही सकते हैं और न मनमें इसको धारण ही करसकते हैं। तू इन प्राकृतिक चर्मचक्षुओंके द्वारा मेरे इस चेतनघनरूपका दर्शन नहीं करसकेगा, इसलिये तुझे अप्राकृत (दिव्य) चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरे स्वरूपको देख। साधारण मानवधर्मी अर्जुनको दिव्य-दर्शनकी शक्ति कैसे मिलगयी ? इस शङ्काका उत्तर यह है, कि-अर्जुन और श्रीकृष्ण पहिले नरनारायण रूपमें एकसाथ लीलाका प्रकाश करचुके हैं, अर्जुन श्रीभगवान्के पार्षदरूपसे विराजमान था इसकारण वह प्राकृत मनुष्य मालूम होने पर भी सर्वसाधारण मनुष्योंकी समान चर्मचक्षुधारी नहीं है। जो सौभाग्यवान् अर्जुन निरन्तर श्रीभगवान्के माधुर्यका अपने नेत्रोंसे दर्शन करके स्वाद लेता है उसको भगवान्के अंशमात्र दर्शनके लिये दिव्य-नेत्रोंके पानेकी आवश्यकता क्यों हुई ?। जो चक्षु श्रीभगवान्की अपूर्व सुललित नरलीलाका आनन्द-भोगनेमें निरन्तर मग्न रहता है वह चक्षु कदापि श्रीभगवान्के देवलीलारूप ऐश्वर्यको देखनेकी इच्छा नहीं करेगा जिस पुरुषकी जीभ निरन्तर स्वच्छ स्वेत शर्कराका स्वाद

लिया करती है, वह गुड़की डलीके स्वादके लिये क्यों लल-चावेगा ? इसकारण यही मानना होगा, कि-अर्जुनकी प्रार्थना के अनुसार और उसकी देवलीलाके दर्शनकी अभिलाषाको समझकर श्रीभगवान्ने उसको प्रेमके साथ दिव्य चक्षु दिये हैं ८

॥ सञ्जय उवाच ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगे-श्वरो हरिः । दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(सञ्जयः) सञ्जय (उवाच) बोला (राजन्) हे धृत-राष्ट्र ! (महायोगेश्वरः) महायोगेश्वर (हरिः) श्रीकृष्णने (एवम्) ऐसा (उक्त्वा) कहकर (ततः) तदनन्तर (पार्थाय) अर्जुनको (परमम्) दिव्य (ऐश्वरम्) ईश्वरीय (रूपम्) रूप (दर्शयामास) दिखाया ॥ ९ ॥

भावार्थ

भगवान् अपने अनन्य भक्त अर्जुनसे इतना कहकर चुप होगये, तदनन्तर सञ्जय अन्धे राजा धृतराष्ट्रको संबोधन करके छः श्लोकोंमें समझाता है कि—बड़े २ योगिराज भी जिनकी आराधना करते हैं ऐसे श्रीहरिने, इतना कहकर आपके भतीजे अर्जुनको अपना परम ईश्वरीय रूप दिखाया । जिस समय रणभूमिमें भगवान् अर्जुनको विश्वरूप दिखारहे हैं

उस समय सञ्जय हस्तिनापुरमें दिव्य दृष्टिसे उसको देखते हैं और धृतराष्ट्रको वह सब समाचार सुनाते हैं, व्यासजीने उसका वर्णन किया है,कुरुक्षेत्रके युद्धकी घटना व्यासजीके समयकी है। व्यासजी जीवन्मुक्त हैं, उन्होंने इस विश्वरूप को देखकर वर्णन किया है। जीवन्मुक्तके लिये दूर वा निकट कुछ भी नहीं है। स्वप्नके समय अपने हृदयमें सैंकड़ों दृश्य दीखते हैं,परन्तु समझमें आता है कि-न जाने कितनी दूर पहुँचकर स्वप्नके पदार्थोंको देखरहा हूँ, ऐसे ही जीवन्मुक्त अपने हृदयमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको देख सकता है, उसको दूर समीप भूत भविष्यत् कुछ नहीं होता है, सब ही समीप और वर्त्तमान होता है, यह भी ईश्वरकी सदृश होते हैं भेद केवल इतना ही है, कि-ईश्वर नित्यमुक्त है और ये बद्ध होकर मुक्त होते हैं ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुत-
दर्शनम्। अनेकदिव्याभरणं
दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धा-
नुलेपनम् । सर्वाश्चर्यमयं देव-
मनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अनेकवक्त्रनयनम्) जिसमें अनेकों मुख और नेत्र हैं(अनेकाद्भुतदर्शनम्) जिसमें अनेकों आश्चर्य दीखते हैं (अनेकदिव्याभरणम्) जिसमें अनेकों दिव्य आभूषण हैं (दिव्यानेकोद्यतायुधम्) जिसमें अनेकों दिव्य आयुध उठे हुए हैं (दिव्यमाल्याम्बरधरम्) दिव्य माला और दिव्य वस्त्रोंको धारण किये हुए हैं (दिव्यगन्धानुलेपनम्) जिसमें दिव्य चन्दन आदि का लेपन होरहा है (सर्वाश्चर्यमयम्) सकल प्रकारके आश्चर्योंसे भराहुआ (देवम्) प्रकाशमय (अनन्तम्) जिसका ओर छोर नहीं दीखता (विश्वतोमुखम्) जिसमें सब ओर मुख हैं ॥ १० ॥ ११ ॥

भावार्थ ।

सञ्जय कहता है, कि—हे धृतराष्ट्र ! भगवान् अर्जुनके नेत्रोंके सामने जिस रूपसे दीखे उसमें बहुतसे मुख और नेत्र थे अर्थात् उस रूपके ऊपरके भागमें बड़े २ मुख और विशाल नेत्र थे। उस रूपको देखकर अर्जुनके हृदयमें एक साथ बड़ाभारि विस्मय होगया। उन विराट्रूपधारी भगवान् के कलेवरमें अनेकों स्थानोंमें अनेकों प्रकारके दमकतेहुए आभूषण चौंधारहे थे। उन विराटपुरुषके देहके अनेकों स्थान बड़ेभारी तेजसे दमक रहे थे, वह रूप दिव्य अस्त्र शस्त्र आदिसे शोभायमान था, मालूम होता था कि—विराटरूप धारी भगवान् असंख्यों प्राणियोंका संहार करनेके लिये अनेकों तीक्ष्ण अस्त्रोंको उठारहे हैं। वह विराट्भगवान् परम

शोभामयी माला और दिव्य वस्त्रोंसे शोभायमान थे, उनका शरीर दिव्य गन्धवाले चन्दन और अनुलेपन आदिसे चर्चित था, वह रूप अनेकों अद्भुत और अचरजभरी घटनाओंसे परिपूर्ण था अर्थात् उन विराट्रूपधारी पुरुष के भाव, चेष्टा, अनुष्ठान और विकाश आदि सब ही अनेकों प्रकारके आश्चर्यमें डालते थे। उनका कलेवर मानों तेजःपुञ्जका भण्डार था, उन महापुरुषका ओर छोर तो मालूम ही नहीं होता था। वह विश्वतोमुख थे अर्थात् सब भूत उनमें ही स्थित हैं इस कारण उनके मुख सर्वत्र दीखते थे। भगवान्का यह रूप विश्वव्यापी और सर्वत्र समदर्शन था। ऐसा अद्भुत विराट्रूप भगवान्ने अर्जुनको दिखाया १०।११

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युग-
पदुत्थिता। यदि भाः सदृशी
सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२

अन्वय और पदार्थ

(यदि) जो (दिवि) आकाशमें (युगपत्) एक साथ (सूर्यसहस्रस्य) सहस्र सूर्यकी (भाः) कान्ति (उत्थिता) उदित (भवेत्) होय [तदा] तब (सा) वह (तस्य) उन (महात्मनः) विराट्रूपकी (भासः) कान्तिकी (सदृशी) तुल्य (स्यात्) होय ॥ १२ ॥

भावार्थ

सञ्जय कहता है, कि—हे महाराज धृतराष्ट्र! उस समय

भगवान्‌की जो प्रभा फैली उसकी समता रखने वाली ब्रह्माण्डमें और कोई वस्तु थी ही नहीं। यदि आकाशमण्डलमें एकसाथ सहस्र सूर्योंका उदय होजाय अर्थात् ऐसा होना तो असम्भव है परन्तु तो भी असम्भवको संभव करनेवाल भगवान् के प्रभावसे कदाचित् असंख्यों सूर्यमण्डल अपनी किरणोंसे भूमण्डलको प्रकाश दें तो वह प्रकाश उन विश्वरूप भगवान्‌के उस समयकी प्रभाके समान होसकेगा या नहीं इसमें भी सन्देह ही है। इस आकाशमें करोडों सूर्य घूमते फिरते हैं, परन्तु उनका उदय एक स्थानमें नहीं होता है, इसलिये ही सहस्र सूर्योंका प्रकाश एक स्थान पर देखने में नहीं आता, परन्तु उन विश्वरूप भगवान्‌के तेजकी और उपमा ही कहां है? यदि सहस्रों सूर्योंके तेजकी कल्पना की जासके तब ही उस तेजकी कुछ एक तुलना होसकती है। यहां एक यह शंका भी स्वाभाविक ही उठ सकती है, कि—भगवान्‌का तेज जब सहस्र सूर्योंसे भी अधिक था तो अर्जुनकी उधरको दृष्टि जमानेका साहस कैसे हुआ? जब कोई एक सूर्यकी ओरको भी टकटकी लगाकर नहीं देख सकता तो वह तेजःपुञ्जरूप भगवान्‌की ओरको कैसे देखसका? इसका उत्तर इतना ही स्मरण रखनेसे होसकता है, कि—भगवान्‌ने कृपा करके अर्जुनको जो दिव्य शक्ति दी थी, उससे ही उसके नेत्रोंमें अलौकिक घटनायें देखनेकी शक्ति आ गयी थी ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रवि-

भक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(तदा) उस समय (पाण्डवः) अर्जुन (तत्र) तिस (देवदेवस्य) विश्वमूर्त्ति भगवान्के (शरीरे) शरीरमें (अनेकधा) अनेकोंप्रकारसे (प्रविभक्तम्) बँटे हुए (कृत्स्नम्) सकल (जगत्) संसार को (एकस्थम्) एकत्र स्थित (अपश्यत्) देखता हुआ ॥ १३ ॥

भावार्थ

सञ्जय कहता है, कि-उस समय विराटरूपधारी श्रीहरिके शरीरमें पाण्डुनन्दन अर्जुनने अनेकों प्रकारसे विभक्त हुए जगत्को देखा, वह विश्वरूप देवताओंका भी देवता, सब को रचने वाला, सबका पालक और सबके संहारका मूल कारण था ॥ उस परमदेवताके विराटदेहमें देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक आदि अनेकों आकारों में बँटा हुआ सब जगत् विद्यमान था। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य ये सात लोक कहलाते हैं। इन सात लोकोंके आकार में बँटा हुआ सब जगत् उन विश्वरूपके देहमें विद्यमान था। अर्जुनने जो भगवान्के शरीरमें सकल जगत्को देखा था, वह वर्षाकालमें अंकुर फूटे हुए इमलीके बीजमें जैसे बहुत ही छोटा इमलीका वृक्ष दीखता है तैसा नहीं था, किन्तु अनेकों प्रकारके विभागों वाला रूप अर्जुनको दीखा था ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः। प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(ततः) तिसके अनन्तर (सः) वह (धनञ्जयः) अर्जुन (विस्मयाविष्टः) विस्मयमें पड़ा हुआ (हृष्टरोमा) जिसके रोंगटे खड़े होगये हैं ऐसा [सन्] होता हुआ (देवम्) विराट भगवान्को (शिरसा) शिरसे (प्रणम्य) प्रणाम करके (कृताञ्जलिः) हाथ जोड़े हुए (उवाच) बोला ॥ १४ ॥

भावार्थ

धृतराष्ट्र ने कहा, कि—हे सञ्जय ! जिस शरीरमें सहस्रों सूर्योंकी समान प्रकाश है जिस शरीरके अङ्ग २ में देवता, मनुष्य पितर आदि दीखते हैं, जिनके प्रत्येक रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड घूम रहे हैं,ऐसी विकट मूर्त्तिको देख कर क्या अर्जुन अपने हृदयमें भयभीत नहीं हुआ ? वह तो तहां से दूर भाग गया होगा ?, इस शङ्काका उत्तर देते हुए सञ्जयने कहा, कि—हे महाराज ! ऐसी अद्भुत घटनाको देखकर अर्जुनके हृदयमें जरा भी भय नहीं हुआ? और उसने घबड़ा कर उधरसे अपने नेत्रोंको नहीं हटाया, उस समय अर्जुन विकलचित्त होकर अपने कर्त्तव्यसाधनसे विमुख नहीं

हुआ और उसने व्याकुल होकर तहां से भागनेकी चेष्टाभी नहीं की। यद्यपि अर्जुनका चित्त इस जगन्मण्डलव्यापी विश्वरूपको देखकर अनेकों भावोंकी प्रबलतासे आलोड़ित होने लगा था तो वह अपनी स्वाभाविक–धीरताके साथ उस समय शिष्टव्यवहारको करनेसे नहीं हटा, उस अद्भुत रूप को देखते ही वह चित्तमें चौंक उठा और उसके हृदयमें भक्ति विस्मय आनन्द आदिसे मिले हुए एक अलौकिक भावका उदय हुआ, उस भावकी अधिकतासे उसके शरीरके रोमाञ्च खड़े होगये। तदनन्तर, जिसने किरातरूपधारी पशुपति महादेव जीको पराजित करके अपनी शूरताका परिचय दिया था, जिस ने युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके लिये अनेकों देशोंके राजाओंको जीतकर और उत्तर गोगृहमें शत्रुओंका तिरस्कार करके बहुत सा धनभण्डार इकट्ठा कर दिया था, वही प्रसिद्धनामवाला विज्ञशिरोमणि अग्निकी समान तेजस्वी धनञ्जय भूमि पर मस्तक नमा कर उन विराटरूपधारी नारायणको भक्ति श्रद्धा के साथ उत्तमतासे प्रणाम करने लगा साथ ही साथ हाथ जोड़कर विनयके साथ उन भगवान्से प्रार्थना करनेलगा, इस समय अर्जुनके हृदयमें अद्भुत रसका उदय हुआ था, अलौकिक वस्तुको देखने पर इस रसका उदय होता है और उस अलौकिक वस्तुके गुण तथा महिमाके द्वारा इस रसका उद्दीपन होता है॥ १४ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

पश्यामि देवांस्तव देव देहे

सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् १५

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला (देव) हे देव (तव) तुम्हारे (देहे) देहमें (सर्वान्) सब (देवान्) देवताओंको (तथा) तैसे ही (भूतविशेषसंघान्) स्थावर जंगम सकल भूतोंके समूहोंको (ईशम्) सबके नियामक (कमलासनस्थम्) कमलासन पर स्थित (ब्रह्माणम्) विधाता को (दिव्यान्) दिव्य (ऋषीन्) ऋषियोंको (च) और (सर्वान्) सब (उरगान्) सर्पोंको (च) भी (पश्यामि) देखरहा हूँ ॥ १५ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्के अति अद्भुत विश्वरूपको देखकर विस्मयमें भराहुआ अर्जुन भक्तिसे गद्गदकण्ठ होकर हर्षके साथ कहने लगा, कि–हे भगवन् ! मैं आपके इस विश्वरूप विराटशरीर में इन्द्र आदि सकल देवताओंके गणोंको देखरहा हूँ और आपके इस शरीरमें सकल भौतिक पदार्थोंके पुञ्जको देख रहा हूँ । जरायुज, अण्डज, स्वेदज आदि नानाप्रकारके प्राणी आपके इस अद्भुत कलेवरमें विद्यमान हैं, अधिक क्या कहूँ, आपके इस कल्पनामें न आनेवाले शरीरमें सकल प्रजाओं

के स्वामी, स्रष्टा, आपकी नाभिकमलरूप कमलासन पर विराजमान अथवा मेरुके मध्यमें स्थित कलीरूप कमलासन पर विराजमान ब्रह्मदेवका देखरहा हूँ और हे विश्वेश्वर! आपके इस विशाल देहमें मैं तक्षक वासुकि आदि दिव्य सर्पोंको भी देखरहा हूँ। सैंकड़ों सहस्रों वर्षकी कठोर-साधना और तपस्याके बलसे भी मनुष्य जिसको नहीं देख सकता, उस सकल प्रार्थनाओंके सार, सकल अभिलाषाओंकी परम-सीमा और सकल उद्योगोंके चरमफल स्वरूप—भगवद्दर्शन स्वरूप असीम सौभाग्यको पाकर अर्जुन धन्य हुआ है। केवल विश्वास की प्रबलतासे, भक्ति की प्रगाढ़तासे अनायासमें ही अर्जुनका मनोरथ सफल हो गया। प्रेममुग्ध भगवान्‌ने कृपा करके उसके ज्ञानचक्षुको खोल दिया है। दिव्यचक्षुको पाकर अर्जुन श्रीभगवान् के विचित्र देहमें जिन सकल अद्भुत घटनाओंको देख रहा है, उनको ही आगेके श्लोकमें भक्ति, आनन्द और विस्मयके साथ प्रकट करता है॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि
त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। नान्तं
न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि
विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

अन्वय और पदार्थ ।

(विश्वेश्वर) हे जगदीश (विश्वरूप) हे विराटस्वरूप (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्) जिसमें असंख्यों भुजा, पेट, मुख और नेत्र हैं (अनन्तरूपम्) जिसका अन्त नहीं पाया जाता ऐसे रूपवाले (त्वाम्) आपको (सर्वतः) दशों दिशाओंमें (पश्यामि) देखरहा हूँ (पुनः) फिर (तव) तुम्हारे (अन्तम्) अन्तको (न) नहीं (मध्यम्) मध्यको (न) नहीं (आदिम्) आदिको (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ ॥ १६ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे विराट पुरुष ! हे जगदीश्वर ! आपके शरीरमें, असंख्यों पेट, असंख्यों मुख और अनन्तों नेत्र देख रहा हूँ । आपके इस असीम कलेवरको सर्वतोमुख और सर्वगतरूपसे देखरहा हूँ । हे भगवन् ! सर्वव्यापक होने के कारणसे ही मैं आपकी आदि(आरम्भ)को नहीं देखपाता हूँ, आपके मध्यका निर्णय नहीं करसकता हूँ और आपके अन्तका भी निश्चय नहीं करसकता हूँ। किसस्थानसे आप के इस विश्वरूपका सूत्रपात हुआ है, कहां जाकर इसकी समाप्ति हुई है, इस बातका पता पाना असंभव है, मैं जिधर को आंख उठाकर देखता हूँ उधर ही आपको समानरूप समान-भावसे देखता हूँ । अर्जुनने भगवान्को 'विश्वरूप' और 'विश्वेश्वर' ये दो संबोधन दिये हैं । जिसका रूप अनन्त हो वही विश्वरूप होसकता है । जो स्थावर जङ्गमरूप अनन्त

ब्रह्माण्डका स्वामी हो वही विश्वेश्वर होसकता है। भक्ति, आनन्द, विस्मय और आग्रहकी अधिकतासे अर्जुनने इन दोनों पदोंके द्वारा भगवान्‌का संबोधन किया है। दोनों पदोंसे भगवान्‌का जैसा माहात्म्य प्रकट होता है, और पदों से ऐसा प्रकट होता या नहीं इसमें सन्देह ही है। अर्जुन के प्राणका आवेग हृदयकी परम भक्ति अन्तःकरणकी बहुत ही बढ़ी हुई निष्ठा इन दोनों संबोधनोंसे सूचित होती है॥ १६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् १७

अन्वय और पदार्थ

(किरीटिनम्) किरीट धारण किये हुए (गदिनम्) गदाधारी (चक्रिणम्) हाथमें चक्र लिये हुए (च) और (सर्वतः) दशों दिशाओंमें (दीप्तिमन्तम्) प्रकाशवाले (तेजोराशिम्) तेजके पुञ्जरूप (दुर्निरीक्ष्यम्) जिनकी ओरको देखना भी कठिन हो ऐसे (दीप्तानलार्कद्युतिम्) प्रज्वलित हुए अग्नि और सूर्य की समान दिपते हुए (च) और (अप्रमेयम्) जिनका प्रमाण नहीं किया जासकता ऐसे (त्वाम्) आपको (समन्तात्) चारों ओरसे (पश्यामि) देख रहा हूँ॥ १७॥

भावार्थ

हे जगदीश ! मैं देखरहा हूँ, कि–आपके मस्तक पर किरीट नामका परमशोभामय मुकुट झलक रहा है, आपके हाथमें विशाल गदा है तथा आपके दूसरे हाथमें चक्र शोभा देरहा है। और भी देखता हूँ, कि–तुम सर्वत्र दीप्तिमान् तेजः पुञ्जरूप हो, इसलिये आपकी ओरको नेत्र उठाकर देखना बड़ी ही कठिन बात है, दिव्य नेत्रकी सहायताके विना आपका कलेवर प्रचण्ड दिवाकर और प्रज्वलित हुए अग्निकी समान है अर्थात् प्रखरता से तपता हुआ सूर्य और प्रबलरूपसे धकधकाते हुए अग्निमेंसे जैसे असह्य और जिसको देखना कठिन होता है ऐसा तेज और ज्योति निकलते हैं आपकी भी इस समय वही दशा है, तुम्हारा ओर छोर नहीं है, तुम्हारा नाप तोल नहीं हो सकता, तुम विश्वव्यापी हो, तुम यह हो ऐसा निर्णय तो कोई कर ही नहीं सकता, ऐसे विराटरूप आपको मैं चारों ही ओर देख रहा हूँ, आपके दिये हुए दिव्यनेत्रको मैं जिधर को ले जाता हूँ, हे विश्वरूप ! उधर ही अलौकिक रूप-धारी आपका दर्शन पाता हूँ। यहां यह शङ्का उठती है, कि–क्लेश और परिश्रम से भी जिनकी ओर को देखना जाने बन सकता है या नहीं, ऐसे दुर्निरीक्ष्य भगवान् को अर्जुनने कैसे देखा ? इसका उत्तर यह है, कि–जो स्वल्पाधिकारी है अर्थात् जिसकी साधनाका परिपाक नहीं हुआ है, ज्ञान बढ़कर जिसको ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है,

भक्तिकी प्रबलतासे जिसका अहङ्कार और आत्माभिमान पूरा २ दूर नहीं हुआ है उसको ही श्रीभगवान् दुर्निरीक्ष्य हैं, परन्तु अर्जुनसरीखे, पुण्यवान् साधक, प्रगाढ़ ज्ञानी और विश्वासी भक्त के लिये भगवान् कभी दुर्निरीक्ष्य नहीं हैं। और यह भी विचारनेकी बात है, कि-अर्जुनने भगवान् की कृपासे दिव्यनेत्र वा अलौकिक दर्शनशक्ति पाई है अतः उसके लिये ऐसे जाज्वल्यमान तेजोराशिकी समान विश्वव्यापी दुर्निरीक्ष्य-रूपका दर्शन होना कोई विचित्र बात नहीं है ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अन्वय और पदार्थ

(त्वम्) तुम (अक्षरम्) अविनाशी (परमम्) परब्रह्म (वेदितव्यम्) जाननेयोग्य [असि] हो (त्वम्) तुम (अस्य) इस (विश्वस्य) ब्रह्माण्डके (परम्) उत्तम (निधानम्) आश्रय [असि] हो (त्वम्) तुम (अव्ययः) नित्य (शाश्वतधर्मगोप्ता) सनातनधर्मके रक्षक (सनातनः) पुरातन (पुरुषः) पुरुष [असि] हो (इति) ऐसा (मे) मेरा (मतः) अभिप्राय है ॥ १८ ॥

भावार्थ

विश्वरूप भगवान्के ऐसे ऐश्वर्य आदिको देखकर अर्जुन का हृदय प्रेम और भक्तिसे विगलित हो गया है और कहता है, कि–हे जनार्दन! मैं समझता हूँ, कि–इस संसारमें सबको ही एक २ दिन मरना है और सबके ही आकार प्रकार बदलते रहते हैं, केवल एकमात्र आप ही नाशरहित और निर्विकार हैं। आपका क्षय नहीं होता है, आप अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं, आपका रूप बदलता नहीं है और आपका परिणाम भी नहीं होता है। मनुष्य इस मृत्यु-लोककी सुख सम्पदाकी कामनासे अनेकों विद्याओं को सीखता है, मृत्युके अनन्तर स्वर्गमें रहकर आनन्द भोगने की इच्छा से नाना प्रकारका कर्मानुष्ठान करता है और सर्व-कालमें आत्मानन्दका उपभोग करने के लिये पूर्णज्ञानकी खोजमें लगकर समय को बिताता है। परन्तु मनुष्य बड़े भारी परिश्रमको सहकर जो जो कुछ पानेकी चेष्टा करते हैं, आपकी तुलनामें वह सब हेय, तुच्छ और असार है। सब से श्रेष्ठ जानने योग्य पदार्थ आप ही हैं, क्योंकि–आप ही ज्ञानके ज्ञेय, साधनाके लक्ष्य और सकल परिश्रमोंके परम फल-स्वरूप हैं! जो सकल आनन्दोंके परम उत्कर्ष और सकल उद्योगोंके परमफलरूप मुक्तिको पानेका उद्योग करते हैं वह केवलमात्र आपको ही खोजकर, आपको ही जाननेके लिये यत्न करते हुए समय बिताते हैं। हे भगवन्! मैं समझ गया हूँ, कि–यह विश्व आपका आश्रय लेकरही अपने कार्यसाधन

में लगा हुआ है। मनुष्योंने अपने क्षुद्र–ज्ञानसे निर्णय किया है, कि–केन्द्ररूप आकर्षणशक्तिके प्रभावसे हमारी यह पृथिवी और आकाशमण्डलमेंके चन्द्रमा सूर्य तारे आदि अपनी २ धुरी पर घूमरहे हैं, परन्तु उस केन्द्राकर्षणशक्तिका कर्त्ता धर्त्ता कौन है और इस ब्रह्माण्डका अधिपति कौन है ? किसके चलाये हुए नियमसूत्रके अनुसार सब अपने २ पद पर स्थित हैं ? हे नारायण ! वह शक्ति, वह अवलम्बन, वह आश्रय आप ही हैं। आँखसे न दीखने वाले अतिक्षुद्र जीवसे लेकर भयदायक, विशाल, पराक्रमी प्राणी पर्यन्त और न दीखने वाले परमाणु से लेकर आश्चर्यकारक गिरिराज पर्यन्त सब आपके ही आश्रित हैं, आपका अवलम्बन लेकर ही अपने२ स्थान पर विद्यमान हैं, आपके ही नियमके वशमें रहकर अपना २ कार्य साधनेमें लगे हुए हैं और आप की ही कृपासे अपने२ रूपमें दीखरहे हैं, । हे भगवन् ! तुम निरन्तर पूर्णपुरुष हो, आपका व्यय नहीं है, परिमाण नहीं है, । वेदादि परमपवित्र शास्त्रोंने जिस धर्मकी प्रतिष्ठा की है, जिस धर्मका स्वरूप कभी नहीं बदलता, जो धर्म परम सात्यस्वरूपमें चिरकाल विद्यमान रहता है । चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र आदि जिस धर्मके साक्षी और अनुष्ठान करनेवाले हैं, हे परमात्मन् ! उस नित्य सत्य परम धर्मके रक्षक आप ही हैं, आप स्वयं ही धर्मरूप हैं । हे नारायण ! पृथिवीका धर्म आपके ही आश्रय पर है । तुम ही आदि चिरकाल ठहरनेवाले और अनन्तकालसे समानभावमें विराजमान हो

एक दिन ये आकाशचारी सूर्य चन्द्र आदि सब ज्योतियें बुझ जायँगी, पृथिवी मण्डल शुष्क और जीवशून्य होजायगा महाप्रलयमें सबका ही नाश होजायगा, परन्तु हे श्रीनिवास! उन नाशवान् सकल पदार्थोंका परिणाम देखते२ केवल आप ही विद्यमान रहेंगे। आदिमें केवल तुम ही थे, मध्य में भी केवल आप ही हैं और अन्तमें भी केवल आप ही रहेंगे, इसलिये हे वासुदेव! इस संसारमें केवल एक तुम ही सत् और पुरातन वस्तु हो। हे भक्तवत्सल श्रीहरे! आप की अचिन्त्य महिमा और अनन्त माहात्म्यका विचार करने पर मैंने आपके विषयमें ऐसा ही निश्चय किया है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् १९

अन्वय और पदार्थ

(अनादिमध्यान्तम्) नहीं है आदि, मध्य और अन्त जिसका ऐसे (अनन्तवीर्यम्) अनन्त प्रभाववाले (अनन्तबाहुम्) असंख्यों भुजाओंवाले (शशिसूर्यनेत्रम्) चन्द्रमा और सूर्य हैं नेत्र जिसके (दीप्तहुताशवक्त्रम्) प्रज्वलित अग्निकी समान है मुख जिसका ऐसे (स्वतेजसा) अपने

तेज करके (इदम्) इस (विश्वम्) विश्वको (तपन्तम्) ताप देते हुए (त्वाम्) तुमको (पश्यामि) देखता हूँ १६

भावार्थ ।

अर्जुन फिर कहता है, कि–हे जगत्पते ! आपकी आदि (उत्पत्ति) मध्य (स्थिति) और अन्त (प्रलय) नहीं है, मैं पहिले ही कहचुका हूँ, कि–आप सनातन, अक्षर अव्यय और परमपुरुष हैं, इसलिये आपकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होना संभव ही नहीं है, जो पदार्थ विकारी हैं उनकी ही अवस्था बदलते वा परिणाम होते देखते हैं । परन्तु हे भगवन्! आप निर्विकार, अज और अनन्त हैं, आपकी वीरताकी इयत्ता (अन्दाजा) कोई नहीं कर सकता, जिन की वासनासे सैकड़ों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होजाते हैं, जिनकी अंगुलिके सङ्केतसे मुहूर्तमात्रमें सैंकड़ों सहस्रों जीवोंकी उत्पत्ति और मरण होजाता है । जिनकी वासनाके अनुसार ही ग्रह नक्षत्र आदि निरन्तर आकाशमार्गमें अपनी २ धुरी पर घूमते रहते हैं, जिनकी महिमाको वर्णन करके कोई समाप्त नहीं कर सकता, उनका प्रभाव असीम और अपरिमेय है इसमें जरा भी सन्देह नहीं है । हे भगवन् ! आपकी बाहु अनन्त हैं । मनुष्यलोकमें जो पुरुष पराक्रम करके अपने शत्रुओंके ऊपर प्रभुता स्थापन कर सकता है,संसारमें उसके बाहुबलकी ही प्रशंसा होती है । मनुष्योंके केवल दो ही भुजा होती हैं तो भी वह अपने भुजबलके गौरवका अभिमान करते हैं, परन्तु हे मधुसूदन ! आपके भुजबलकी तो

तुलना वा सीमा ही नहीं है, आप परमशक्तिमान् असंख्यों भुजदण्डोंसे शोभायमान हैं। हे विश्वरूप! आकाशमण्डल में विराजमान परमप्रकाशवान् सूर्य और चन्द्रमा आपके नेत्ररूप हैं। हम जगत्में जिन दो परमदीप्तमान् पदार्थोंके आकाशमें अपना२ काम करते हैं। जिनकी किरणोंके स्पर्शसे हम पुलकित और आनन्दित होते हैं, दूरस्थित होने के कारण तथा दुर्गम होनेके कारण हम जिनके तत्त्वको नहीं समझसकते हैं वह चन्द्रमा और सूर्य आपके नेत्र हैं। हे नारायण! मै देखता हूँ, कि—आपके मुखरूप गुफाओंमें से लपटोंवाली प्रज्वालित अग्नि धक२ निकल रही है और तुम अपने अचिन्तनीय तेजके प्रभावसे इस विश्वको सन्तप्त कररहा हो ॥ १६ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् २०

अन्वय और पदार्थ

(महात्मन्) हे परमात्मन्! (द्यावापृथिव्योः) स्वर्ग और भूमण्डलका (इदम्) यह (अन्तरम्) मध्य (एकेन) एक (त्वया) तुम करके (एव) ही (व्याप्तम्) घिर रहा है (च) और (सर्वाः) सब (दिशः) दिशायें [व्याप्ता]

व्याप्त होरही हैं (तव) तुम्हारे (इदम्) इस (उग्रम्) भयानक (रूपम्) रूपको (दृष्ट्वा) देखकर (लोकत्रयम्) तीनों लोकोंको (प्रव्यथितम्) अति भयभीतसे हुए [पश्यामि] देखरहा हूँ ॥ २० ॥

भावार्थ

अर्जुन फिर कहता है, कि-हे भगवन् ! आपके धारण किये हुए इस विश्वरूपसे पृथिवीमण्डल आकाशमण्डल और दिशायें भर गई हैं। मैं देखता हूँ, कि-आप अकेले ही सब लोक और दिशाओंको ढक कर उनके ऊपर अधिकार जमाये हुए हो। हे जनार्दन ! आपके इस अचरजमें डालने वाले अति अद्भुत रूपको देखकर भूः-भुवः-स्वः इन तीनों लोकोंके निवासी भयसे व्याकुल और बड़े ही विचलित होरहे हैं। हे भगवन्! आप साधुओंको अभय देने वाले, धर्मके रक्षक परमपुरुष हैं। अब आपके इस विश्वरूपके अधिक समय तक इस प्रकार विराजमान रहने की आवश्यकता नहीं देखता हूँ, आप कृपा करके इस रूपको समेट लीजिये। अर्जुनकी इस बातको सुनकर मनमें स्वाभाविक ही शङ्का उठती है, कि वह तो श्रीभगवान्की कृपासे स्वयं दिव्य नेत्र पाकर विश्वरूपके दर्शनका अधिकारी होगया है, तब फिर, इस विराटरूपको देखकर तीनों लोकोंके निवासी चञ्चलचित्त और व्याकुल होरहे हैं, ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?। जब कि, और किसीको इस रूपके दर्शन की संभावना ही नहीं है। किसी २ टीकाकारने इस बातकी

आलोचना की है। कुरुक्षेत्रका युद्ध भूतल पर बड़ी अद्भुत घटना है इस घटनाको देखनेके लिये ब्रह्मादि अनेकों देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भक्त और साधुपुरुष मित्रभावसे, शत्रुभावसे वा उदासीन भावसे आये हुए हैं। वह भगवान्के परमभक्त हैं और सब प्रकारसे अपने प्राणपर्यन्त भगवान्को अर्पण किये हुए हैं। ऐसे पुरुष भक्तिके प्रभावसे दिव्यचक्षुको पाजाते हैं। जिस भक्ति और विश्वासकी प्रबलतासे अर्जुन दिव्यचक्षुको पाकर भगवान्के विश्वरूपके दर्शन का अधिकारी हुआ है युद्ध देखने को आये हुओंमें भी ऐसे बहुतसे थे तथा अर्जुनसे अधिक साधना वाले थे, इस लिये भगवान्के अनुग्रहसे उनको भी दर्शनकी शक्ति प्राप्त थी। केवल अकेले अर्जुनने ही स्वप्न देखते हुए पुरुषकी समान स्वप्नमें के रथ, घोड़े, सेनापतियोंकी समान भगवद्दर्शन नहीं किया था किन्तु जो भक्त थे, जो साधक थे और जो विश्वासी थे उन सबोंने ही दिव्यदृष्टिसे इस विश्वरूपका दर्शन किया था, इस लिये ही अर्जुनने कहा है, कि—हे भगवन्! आपके इस रूपको देखकर त्रिलोकीके जीव परम भयभीत होरहे हैं॥ २०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति,
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
वीक्षन्ते त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥

अन्वय और पदार्थ

(अमी) यह (सुरसङ्घाः) देवताओंके गण (हि) निश्चय (त्वाम्-विशान्ति) आपमें प्रवेश करते हैं (केचित्) कोई (भीताः) डरकर (प्राञ्जलयः) हाथ जोड़ेहुए (गृणन्ति) स्तुतियें करते हैं (महार्षीसिद्धसंघाः) महर्षि और ऋषियों के समूह (स्वस्ति-इति) कल्याण हो, ऐसा (उक्त्वा) कहकर (पुष्कलाभिः) मनोहर (स्तुतिभिः) स्तुतियोंसे (त्वाम्) तुम्हें (वीक्षन्ते) देखते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ

विश्वको भय देनेवाले विशाल कलेवर विराटरूपका दर्शन करके अर्जुनके हृदयमें इस समय जिस जिस भावका उदय हुआ है और विश्वसंहारक रूपका दर्शन करके उसके चित्त में जैसी विस्मयभरी भक्तिका उदय हुआ है उसको ही प्रकाशित करता हुआ कहता है, कि-हे भगवन् ! इस नेत्रों से दीखती हुई रणभूमिमें वसु (भीष्म) आदि देवता युद्धके लिये आये हैं। भूमिका भार हर कर जगत्में शांतिस्थापन करना और पापके दण्डके साथ पुण्यकी उन्नति करना उन का मुख्य कर्त्तव्य है। मैं देखता हूँ, कि वह सब पुण्यात्मा वीर-पुरुष हे जनार्दन! आपके भीतरको प्रवेश कर रहे हैं अर्थात् आप के कवल होते हैं और दुर्योधन दुःशासन आदि हिंसक स्वभाववाले क्रूरचित्त असुर भी निरन्तर आपके भीतरको प्रवेश कर रहे हैं अर्थात् आपको आत्मसमर्पण कर रहे हैं। इन देवप्रकृतिवाले और असुरप्रकृतिवाले दोनों सम्प्रदायों

में कोई २ भयसे विह्वल होकर भागनेका उद्योग करते हैं, परन्तु ऐसा करनेमें भी असमर्थ होकर हाथ जोड़े हुए कातर-भावसे "रक्षा करिये, आपकी जय हो, इत्यादि वाक्योंसे आपकी स्तुति करते हैं और जिसका आरम्भ होनेको है ऐसी इस रणभूमिमें वसुन्धरा भस्मीभूत होजायगी और चारों ओर हाहाकार तथा रोनेका कोलाहल होगा। सती कुल-नारियें वैधव्यकी कठोर चक्कीमें पिसजायँगी। बालक पितृ-हीन और सहायहीन होकर कुकर्म और नीचवृत्ति करनेमें लगजायँगे, पृथिवी वीरविहीन होजायगी। ऐसी अनेकों प्रकारकी अवश्य होनहार दुर्दशाकी कल्पना करके युद्ध देखनेके लिये आये हुए नारदादि महर्षि और सिद्ध "पृथिवी का मङ्गल हो,, ऐसे वाक्योंसे कल्याणकी कामना करते हैं, और इस सर्वनाशके निवारणके लिये अनेकों विधियोंसे आपकी बड़ी भारी स्तुतियें करते हैं। पहिले 'पश्यामि देवां-स्तव देव देहे, (११। १५) में अर्जुनने जो बात कही थी, वही बात "अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति" इस वाक्यमें भी कही है, इस पुनरुक्ति दोषको दूर करनेके लिये टीकाकार राघवेन्द्रयतिने कहा है, कि—पहिले १५ वें श्लोकमें अमुक्त देवताओंका वर्णन था और यहां मुक्त देवताओंका वर्णन किया है। "प्रवेशो निर्गमश्चैव मुक्तानां स्वेच्छया भवेत्" मुक्त पुरुषोंका प्रवेश करना और निकलना अपनी इच्छाके अनुसार होता है। पहिले "यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" (२। ६) इत्यादि वाक्योंमें अर्जुनने जय पराजयके विषय

में शङ्का की थी, इस समय अर्जुनके हृदयमेंसे वह सन्देहान्धकार भी दूर होगया, क्योंकि–अर्जुन स्पष्टरूपसे देखरहा है, कि–देवता और असुर बराबर उनके भीतर प्रवेश कर रहे हैं किसी प्रकार भी कोई जिनके हाथसे नहीं बच रहा है वह पूर्णपुरुष नारायण जब सहायक हैं तब फिर जयके विषयमें क्या सन्देह रह गया ? । मूलमें सिद्ध शब्द लिखा है,ज्ञानके प्रभाव से जो ब्रह्मदर्शन पागये हैं वही सिद्धपुरुष हैं और जो योगबलसे अणिमा आदि सिद्धियोंको पागये हैं वह भी सिद्ध पुरुष हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे २२

अन्वय और पदार्थ

(रुद्रादित्याः) रुद्र और आदित्य (वसवः) वसु (च) और (ये) जो (साध्याः) साध्य हैं (विश्वे) विश्वेदेवा (अश्विनौ) अश्विनीकुमार (मरुतः) मरुत् देवता (च) और (ऊष्मपाः) ऊष्मपा नामक पितर (च) और (गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः)गन्धर्व,यक्ष,असुर और सिद्धोंके समूह (सर्वे–एव) सब ही (विस्मिताः) आश्चर्यमें होते हुए (त्वाम्) तुमको वीक्षन्ते देखते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्‌की महिमाको देखकर केवल अर्जुन ही विस्मयमें नहीं हुआ है किन्तु और अनेकों बड़े २ महात्माओंकी भी ऐसी ही दशा होगई। रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यदेव, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत् नामके उनचास देवता, ऊष्मपा नामके पितृदेव, हाहा हूहू आदि गन्धर्व, कुबेर आदि यक्ष, विरोचन आदि असुर और कपिल आदि सिद्ध ये सब ही अचंभे में होगये हैं और भौचक्केसे होकर आपकी ओरको देख रहे हैं। ऊष्मपा नामके पितरोंके विषयमें श्रुति कहती, कि-"ऊष्मभागा हि पितरः" पितर गरमको ग्रहण करते हैं स्मृति भी कहती है-"यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः। तावदश्नन्ति पितरो यावन्नोक्ता हविर्गुणाः।" अर्थात् जबतक अन्न गरम रहता है जबतक ब्राह्मण मौन रहकर भोजन करते हैं और जबतक भोजनके गुण नहीं कहेजाते हैं तब तक ही पितृदेवता भोजन करते हैं। निरुक्तमें भी लिखा है-"ऊष्माणं पिबन्ति" पितर उष्ण पदार्थको पीते हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥

अन्वय और पदार्थ

(महाबाहो) हे महाभुज (बहुवक्त्रनेत्रम्) बहुतसे मुख और नेत्रों वाले (बहुबाहूरुपादम्) बहुतसी भुजा जंघा और चरणों वाले, (बहूदरम्) अनेकों पेटवाले (बहुदंष्ट्राकरालम्) अनेकों दाढ़ोंसे भयानक (ते) तुम्हारे (महत्) विराट (रूपम्) रूपको (दृष्ट्वा) देखकर (लोकाः) लोक (प्रव्यथिताः) भयसे पीड़ित होरहे हैं (तथा) तैसे ही (अहम्) मैं [अपि] भी प्रव्यथितः भयसे पीड़ित हूँ २३

भावार्थ

अर्जुन फिर पहिले की समान अपने विस्मय और भक्ति भरी व्याकुलताको विनेदन करता है, कि–हे विश्वरूप ! आपका यह शरीर अपरिमेय है। मैं पहिले ही कहचुका हूँ, कि–इसके आदि, मध्य और अन्तका निर्णय करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, इसलिये आपके इस दिव्य–देहको मैं प्रमाणसे बाहर अतिमहान् मानता हूँ। आपके इस विराट-शरीरमें बहुतसे मुख और नेत्र दीखरहे हैं, यह बात मैं पहिले भी कहचुका हूँ, तो भी इस परम–आश्चर्य में डालनेवाली अलौकिक और विस्मयजनक घटनाको देखकर मैं वार वार ऐसा कहे विना नहीं रहसकता। हे विश्वेश्वर ! आपके इस परममहान् अनेकों बाहु, अनेकों जंघा और अनेकों चरणोंको मैं देखरहा हूँ। और आपके इस शरीरमें असंख्यों पेट हैं तथा तुम्हारे अगणित मुखोंमें अनन्तों भयावनी दाढ़ें

दीखरही हैं। हे परमपराक्रमी नारायण ! हे देवदेव ! आपके इस विकराल रूपको देखकर सकल लोकोंके निवासी भयके मारे परम पीड़ित और विचलित होरहे हैं और मैं भी उन ही की समान भयके मारे बड़ा ही व्याकुल होरहा हूँ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो२४

अन्वय और पदार्थ।

(विष्णो) हे व्यापक भगवन् ! (नभःस्पृशम्) आकाशव्यापी (दीप्तम्) तेजयुक्त (अनेकवर्णम्) नानाप्रकारके वर्णोंसे युक्त (व्यात्ताननम्) जिसमें मुख फैले हुए हैं (दीप्तविशालनेत्रम्) जिसमें प्रज्वलित हुए से विशालनेत्र हैं (त्वाम्) तुम्हें (दृष्ट्वा) देखकर (हि) निश्चय (प्रव्यथितान्तरात्मा) जिसका अन्तःकरण बड़ी ही पीड़ा पारहा है ऐसा (अहम्) मैं (धृतिम्) धीरजको (च) और (शमम्) शांतिको (न) नहीं (विन्दामि) पाता हूँ २४

भावार्थ

श्रीभगवान्के ऐसे भयानक विश्वरूपको देखकर अर्जुन केवल भयसे विचलित ही नहीं हुआ है, किन्तु धैर्यविहीन और शांतिशून्य भी होगया है, इसी लिये कहता है, कि-

हे विश्वधारिन् ! हे नारायण ! आपका यह शरीर ऊपरको उठकर आकाशमें फैलरहा है, आपके शरीरमें नाना प्रकारके विचित्र वर्णोंको देखरहा हूँ। तुम्हारी मुखरूप गुफायें फैली हुई अर्थात् तुम्हारे असंख्यों मुखरूप विवर खुले हुए हैं। आपके असंख्यों मुखोंमें अतिउज्ज्वल अति उग्र बड़े २ चौड़े नेत्र हैं। इन सब अलौकिक भयानक घटनाओं को देखकर मेरा अन्तः करण अत्यन्त विचलित होरहा है। यह बात मैं पहिले भी कह चुका हूँ और अब भी आपसे निवेदन कर रहा हूँ। हे विश्वपालक ! मुझे न धीरज ही होता है और न मेरे मनको शांति ही मिलती है। हे भगवन् ! मेरा अन्तःकरण बड़ा विचलित हो रहा है ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

अन्वय और पदार्थ

(दंष्ट्राकरालानि) घोर दाढ़ोंसे विकराल (च) और (कालानलसन्निभानि) प्रलयकालकी अग्निकी समान (ते) तुम्हारे (मुखानि) मुखोंको (दृष्ट्वा-एव) देखते ही [अहम्] मैं (दिशः) दिशाओंको (न) नहीं

(जाने) जानता हूँ (च) और (शर्म) सुखको (न) नहीं (लभे) पाता हूँ (देवेश) हे देवताओंके अधीश ! (जगन्निवास) हे जगत् के अद्वितीय आश्रय ! (प्रसीद) प्रसन्न हूजिये ॥ २५ ॥

भावार्थ

भय, विस्मय, अशान्ति और अधीरजसे विकलचित्त हुआ अर्जुन श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता पानेके लिये व्याकुल होरहा है और कहता है, कि–हे भगवन् ! आपकी भयानक दाढ़ों को देखकर और प्रलयकालकी कालाग्निकी समान घोर भय देनेवाले आपके मुखमण्डलसमूहको देखकर मैं बड़ा ही चञ्चल-चित्त होरहा हूँ । आपके ऐसे कराल दाढ़ोंसे भरेहुए प्रलयाग्नि की समान मुखमण्डलको देखते ही मेरा मन ऐसा चंचल होरहा है इसी कारण मेरे मनकी कैसी भयानक दुर्दशा होरही है उसको भी मैं नहीं समझसकता । आपके इस भयावनी दाढ़ों वाले मुखोंको देखकर मेरी विवेकशक्ति नष्ट होगयी है, मैं आगे पीछेकी सब बातोंको भूलगया हूँ । मेरा चित्त और इन्द्रियें मेरे वशमें नहीं है, इस कारण हे भगवन् ! हे ब्रह्मा शिव आदि देवताओंके भी स्वामी ! हे जगन्निवास ! हे विश्वके आश्रय ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये, मेरे अन्तःकरणको शान्ति दीजिये, मेरे हृदयमेंसे महान् भयको दूर कीजिये । मुझे धीरज और साहस देकर बलवान् कीजिये । जिससे कि–मैं आपकी कृपासे निर्भय होकर आपकी इस अलौकिक अद्भुत मूर्त्तिका दर्शन करता २ परम आनन्दका उपभोग कर सकूँ ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः २६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः २७

अन्वय और पदार्थ

(अवनिपालसंघैः) भूपालोंके (सह) साथ (अमी) यह (धृतराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्रके (पुत्राः) पुत्र (च) और (तथा) तैसे ही (भीष्मः) भीष्म (द्रोणः) द्रोण (असौ) यह (सूतपुत्रः) कर्ण (च) भी (अस्मदीयैः) हमारे पक्ष के (योधमुख्यैः) मुख्य योधाओंके (सह) साथ (अपि) भी (त्वरमाणाः) दौड़ते हुए (ते) तुम्हारे (दंष्ट्राकरालानि) दाढोंसे विकराल (भयानकानि) भयानक (वक्त्राणि) मुखोंमें (विशन्ति) प्रवेश करते हैं (केचित्) कोई (चूर्णितैः) कुचले हुए (उत्तमाङ्गैः) शिरोंके साथ (दश-

नान्तरेषु) दाँतोंके छेदोंमें (विलग्नाः) लगे हुए (संदृश्यन्ते) दीखते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

भावार्थ

चित्तकी दारुण चञ्चलताको दूर करनेकी अभिलाषासे अर्जुनने कातरभावके साथ श्रीभगवान्से प्रसन्नता और शांतिकी प्रार्थनाकी है। इस समय उस शान्तिको पानेकी पहिली सींढीरूप उसके हृदयकी शङ्का पूर्णरूपसे दूर होगयी है। युद्धमें जय वा पराजयके विषयमें जो उसके मनमें शङ्का थी, अब वह भी दूर होती है। अर्जुन अब समझ-गया, कि—जय वा पराजयके विषयमें मनुष्यका वश नहीं है। उसके नेत्रोंके सामने विद्यमान विश्वरूप भगवान् ही जय पराजयकी व्यवस्था करते हैं। अब पांच श्लोकमें अर्जुन अपने हृदयका भाव प्रकट करता है। श्रीभगवान् पहिले कहचुके हैं, कि—"मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि,, अर्थात्—हे अर्जुन! और जो कुछ घटना देखनेकी तेरी इच्छा हो वह भी मेरे इस विराटशरीरमें देख। श्रीभगवान्के विश्व-व्यापी शरीरके अनेकों स्थानोंमें जो सकल पदार्थ स्थित हैं और निरन्तर तहां जो क्रियाएं होती हैं उनका दर्शन और उनकी आलोचना करने पर बुद्धिमान् पुरुषमात्र भूत भवि-ष्यत्के परदेको उघाड़ कर सकल गुप्त रहस्यका निर्णय कर सकते हैं, अर्जुन सहजमें ही इस विश्वरूपको देखकर कुरु-क्षेत्रके युद्धका परिणाम समझनेकी योग्यता पागया है, अर्जुन कहता है, मैं देखता हूँ, कि—इस रणभूमिमेंके दुर्योधन, दुःशा-

सन आदि धृतराष्ट्रके पुत्र बड़ी शीघ्रता और वेगके साथ आपके भीतर प्रवेश कर रहे हैं और केवल ये दुर्योधन आदि ही नहीं किन्तु जयद्रथ शल्य आदि क्षत्रिय भी उसी प्रकार आपके मुखमें घुसे चलेजारहे हैं। परमप्रतापी, अजेय भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि शत्रुपक्षके सकल वीर तथा धृष्टद्युम्न आदि हमारी ओरके योधा भी उसी प्रकार आपके मुखके भीतरको प्रवेश कर रहे हैं। मैं सबोंको ही आपकी भयानक दाढ़ोंसे भरी मुखगुफामें प्रवेश करते हुए देखरहा हूँ। उनमेंसे किन्हीं २ के तो शिर कुचलगये हैं और तैसे ही आपकी दाढ़ोंकी दरारोंमें उलझ रहे हैं। कोई २ आपका ग्रास बनते ही अदृश्य होरहे हैं। किन्हींके घोर दाढकी चोटसे शिरका भेजा निकल आया है। कोई मुखरूप गुफाके भीतर न जाकर दाढ़ोंमें ही उलझ कर रहगये हैं। हे विश्वरूप! इस रोमाञ्च खड़े करने वाली सब घटनाको मैं दिव्य दृष्टिके द्वारा निःसन्देह रूपसे देखरहा हूँ। जो अद्वितीय प्रतापी हैं, अहङ्कारके कारण जिनकी छाती सदा ऊँची रहती है, जिन्होंने बड़े २ यश पाये हैं, जिनके पास बड़े २ राजाओं के योग्य ऐश्वर्य हैं, उन सबों को ही मैं शीघ्रताके साथ आपकी मुखगुफामें घुसते हुए देखरहा हूँ। किसीका वेग कम नहीं है, पीछेको पैर धरनेकी वा भागने की शक्ति किसीमें नहीं है,। जैसे वर्षाकालकी वेगवाली नदी बड़े वेगके साथ समुद्रकी ओरको दौड़ती है तैसे ही सब आपके भयानक मुखमें घुसनेके लिये दौड़ रहे हैं। जैसे रामचरित्र होनेसे पहिले ही रामायण बनगयी थी, जैसे मनुष्यकी निद्रा भङ्ग

होनेके अनन्तर स्थूलभावसे कर्ममें प्रवृत्त होनेसे बहुत पहिले सूक्ष्मभावसे मनुष्य सब कर्मोंको कर डालता है, तैसे भीष्म द्रोण आदि स्थूलभावसे विनष्ट होनेसे पहिले ही सूक्ष्मभावसे उनके सूक्ष्म शरीरों की गति ठीक होगई है । मनुष्यके स्थूल शरीरका नाश होनेसे पहिले ही मनुष्य मरजाता है। भूत भविष्यत् हमारे लिये है, परन्तु भगवान्‌के लिये भूत और भविष्यत्‌भी वर्त्तमान ही है। इस लिये युद्धका फलाफल विराट शरीरमें दिखाना कोई असम्भव बात नहीं है अगले क्षणमें क्या होगा, मक्खी इस बातको नहीं जानती है, मक्खी अपने मनसे तो खेल करती है, परन्तु एक मनुष्य देखता है कि-वह अभी सामने बैठे हुए मेंडकके मुखमें जायगी। मेंडकके पीछे सांप बैठा है, सांपके पीछे सांपका भी भक्षण कर जाने वाला पक्षी बैठा है, पक्षीके पीछे शृगाल बैठा है और शृगालके पीछे उसकी ताकमें सिंह बैठा है, इत्यादि व्यापारको जो दूरसे ही देखते हैं वह पहिले से ही जानते हैं, कि-ये सब कहां जायँगे। मनुष्य ही जब पहिली अवस्थाको ज्ञानदृष्टि से देख सकता है तो श्रीभगवान् सब जीवों की अवस्था, भविष्यत्‌में जीवदृष्टिसे जो कुछ होगा वह सब पहिले से ही होरहा है इस बातको क्यों नहीं दिखा सकेंगे ॥ २६ ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥

अन्वय और पदार्थ

(यथा) जैसे (नदीनाम्) नदियोंके (बहवः) बहुत से (अम्बुवेगाः) जलके प्रवाह (अभिमुखाः) अभिमुख होकर (समुद्रम्-एव) समुद्रकी ओरको ही (द्रवन्ति) बहते चलेजाते हैं (तथा) तैसे ही (अमी) यह (नरलोकवीराः) मनुष्यलोकके वीर पुरुष (अभितः) सब ओरसे (ज्वलन्ति) प्रदीप्त हुए (तव) तुम्हारे (वक्त्राणि-विशन्ति) मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ

अब एक स्पष्ट दृष्टान्तके द्वारा अपने मनका भाव प्रकट करता हुआ अर्जुन कहता है, कि-हे भगवन् ! जैसे नदियों के अनेकों प्रवाह बड़े २ पहाड़ोंकी छातीको फाडते हुए निकल कर बड़े वेगके साथ समुद्रकी ओरको दौड़ते चले जाते हैं और जितने २ सागरके समीप होते जाते हैं उतने ही उतने अधिक वेगवान् होकर अनेकों धाराओंसे समुद्रके कलेवरमें जा मिलते हैं, तैसे ही हे विश्वनाथ ! ये वीरपुङ्गव राजे और योधा आपके मुखकी ओरको दौड़कर उसमें प्रवेश करते चले जारहे हैं। आपके ये असंख्यों मुख चारों ओरसे देदीप्यमान होरहे हैं, इसलिये ये राजे और क्षत्रिय योधा चाहे जिधरको भागें उधर ही सहजमें आपके मुखमें जापड़ते हैं ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः २९

अन्वय और पदार्थ

(यथा) जैसे (पतङ्गाः) पतङ्ग कीड़े (समृद्धवेगाः) बड़े वेगवाले होकर (नाशाय) मरणके लिये (प्रदीप्तम्) प्रज्वलित (ज्वलनम्-विशन्ति) अग्निमें प्रवेश करते हैं (तथा) तैसे ही (एते) ये (लोकाः-अपि) लोकभी (समृद्धवेगाः) शीघ्रगतिसे (नाशाय-एव) मरणके लिये ही (तव) तुम्हारे (वक्त्राणि-विशन्ति) मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ

पहिले श्लोकमें अर्जुनने भगवान्के मुखमें प्रवेशका जो दृष्टान्त दिया है वह बुद्धिशक्तिहीन जड़ नदीका है, नदी समुद्रमें प्रवेश करने के लिये दौड़ती चली जाती है यह सत्य है, परन्तु नदी इसमें अपनी बुद्धिका परिचय नहीं देती है, वह अपनी इच्छासे अपनी गति वा अपने उद्देश्य का निर्णय नहीं करसकती। ऐसे दृष्टान्तसे पूर्ण तृप्ति न होने के कारण अब अर्जुन चेतन पदार्थ का अवलम्ब लेकर

कालकवलमें प्रवेश करनेका और एक दृष्टान्त देता हुआ कहता है, कि—हे भगवन् ! जैसे शलभ नामक पतङ्ग कीट प्रज्वलित हुए अग्नि वा दीपशिखा को देखकर पागल से होजाते हैं और अनेकों विघ्न बाधाओं के पार होते हुए बड़े वेगके साथ उस अग्निमें आत्मसमर्पण करके यमसदनमें गमन करते हैं, तैसे ही दुर्योधन आदि राजे, आपके सर्व-संहारक मुखरूप गुफाओंमें प्रवेश करने पर अवश्य ही अन्त-दशामें पहुँचना होगा, इस बातको जानते हुए भी विवश होकर बड़े वेगके साथ उसमें प्रवेश कर रहे हैं, सुन्दर दुमहले मन्दिरमें बिल्लौरकी बन्द हाँडीमें मनोहर दीपक जलरहा है न जाने कहाँ से एक पतङ्गा किसी छोटेसे छेदमें को होकर उस मनोहर प्रकाशके पास आपहुँचता है और बड़े उद्योगके साथ उस दीपककी लोहके भीतर घुसने का अवसर देखता है। जबतक उस दीपशिखाके साथ मिलनेका अवसर नहीं पाता है, तबतक उसको शांति नहीं मिलती, विराम नहीं होता। अन्तमें किसी न किसी प्रकारसे उस ज्वलित दीप-शिखामें आत्मसमर्पण करके और अवश्यम्भावी मृत्युके चुङ्गल में पड़कर वह अभागा जीव प्राण खो बैठता है। यह भी तैसा ही अटल पराधीनभावका आकर्षण है। इस रणभूमिमें स्थित राजे और क्षत्रियोंके समूहका भगवान्के मुखरूप गुफामें प्रवेश का उद्योग भी तैसा ही अटल और विवशभावका आकर्षण है ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-

लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ३०

अन्वय और पदार्थ

(ज्वलद्भिः) प्रदीप्त हुए (वदनैः) मुखोंसे (समग्रान्) सब (लोकान्) लोकोंको (ग्रसमानः) निगलते हुए (समन्तात्) चारों ओरसे (लेलिह्यसे) स्वाद लेते हो (विष्णो) हे विश्वव्यापिन्! (तव) तुम्हारी (उग्राः) अति तीक्ष्ण (भासः) दीप्तियें (तेजोभिः) तेजोंसे (समग्रम्) संपूर्ण (जगत्) संसारको (आपूर्य) भरकर (प्रतपन्ति) सन्ताप देती हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ

हे व्यापक नारायण! हे करुणासिन्धो! तथापि जो आपके प्रज्वलित मुखोंमें पड़गये हैं, चारों ओर फैली हुई अग्निरूप विलुलित जिह्वामें प्रवेश करते हैं उनमें से किसी को भी आप रोकते नहीं हैं। क्योंकि—आपकी इच्छा ही सबका ग्रास करलेनेकी है। सबका ग्रास करके भूमिका भार हरनेके लिये ही आपका अवतार हुआ है। आप इस व्यापार से परमतृप्तिके साथ मानो एक उत्तम रसका स्वाद लेरहे हो और आपके असह्य तेजसे सकल पृथिवी सन्तप्त हो उठी है।३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ३१

अन्वय और पदार्थ

(उग्ररूपः) भयदायक रूपको धारण करनेवाले (भवान्) तुम (कः) कौन हो (मे) मुझसे (आख्याहि) कहिये (ते) तुम्हारे अर्थ (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो (देववर) हे देवताओंमें श्रेष्ठ ! (प्रसीद) प्रसन्न हूजिये (आद्यम्) सबके कारणरूप (भवन्तम्) आपको (विज्ञातुम्) विशेष रूपसे जाननेके लिये (इच्छामि) इच्छा करता हूँ (हि) क्योंकि (तव) तुम्हारी (प्रवृत्तिम्) चेष्टाको (न) नहीं (प्रजानामि) जानता हूँ ॥ ३१ ॥

भावार्थ

देखेहुए विश्वरूपकी सकल भयानक अवस्थाको विशेष-रूपसे कह कर अब अर्जुन भगवान्‌से अपने मनका अभि-प्राय कहता हुआ निवेदन करता है, कि–हे भगवन् ! आप के इस अतिउग्र दुरन्त रूपको देखकर मैं ही क्या सकल विश्व सन्तप्त और विचलित हो उठा है, अब मैं भयभीत होताहुआ आपसे परिचय पानेकी प्रार्थना करता हूँ, आप कृपा करके मुझे बतादीजिये, कि–ऐसा क्रूर और दुरन्तरूप

धारण करनेवाले आप कौन है ? मैं आपको भीतरी भक्ति, भय और विनयके साथ बारंवार प्रणाम करता हूँ। हे देववर! हे सकल देवताओंके आराध्यदेव ! आप मेरे ऊपर ढ्वाजिये, प्रसन्नताभरी दयादृष्टिसे मेरी ओरको निहारिये। हे महान्! मैं आपके आदिवृत्तान्त अर्थात् मूलवृत्तान्तको विशेषरूपसे जाननेके लिये बडा ही उत्कण्ठित होरहा हूँ, क्योंकि—हे उग्ररूप! आप क्या चेष्टा कररहे हैं और आप क्या करना चाहते हैं, यह मेरी समझमें नहीं आता। आपसे मैंने विभूतियोंके देखनेकी प्रार्थना की थी, परन्तु आपने अपनी इस दुरन्त उग्र मूर्त्तिका दर्शन कराया है, ऐसे महासंहार करनेवाले आप कौन हैं ? आप मुझे इसका रहस्य बता दीजिये ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

अवन्य और पदार्थ

(श्रीभगवान्) श्रीनारायण (उवाच) बोले (लोकक्षयकृत्) लोकोंका संहार करनेवाला (प्रवृद्धः) बहुत ही उत्कट (कालः) काल (अस्मि) हूँ (इह) इस समय

(लोकान्-समाहर्त्तुम्) लोकोंका संहार करनेको (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ हूँ (त्वाम्-ऋते) तुझे छोडकर (प्रत्यनीकेषु) प्रतिपक्षियोंकी सेनाओंमें (ये-अपि) जो कोई भी (योधाः) योधा (अवस्थिताः) स्थित हैं [ते] वह (सर्वे अपि) सब ही (न) नहीं (भविष्यन्ति) होंगे ॥ ३२ ॥

भावार्थ

अर्जुनके प्रश्न करने पर श्रीभगवान् तीन श्लोकोंमें अपनी चेष्टा आदिका परिचय देते हुए कहते हैं, कि-हे सखे ! सकल कामोंकी सिद्ध करनेवाली शक्तियोंसे युक्त सर्वसंहारकर्त्ता काल मैं ही हूँ, मैंने इस समय बहुत ही बडा विराटरूप धारण किया है। मैंने ऐसा विराटरूप क्यों धारण किया है, उसका कारण प्रकट करता हूँ, सुन-इस समय मैं दुर्योधन आदि सकल लोकोंका विनाश और भक्षण करनेको उद्यत हुआ हूँ। मेरी प्रवृत्तिके विना संसारका नाश कभी नहीं होसकता। हे अर्जुन ! बड़ेभारी परिश्रमको अपने ऊपर लेकर तुम अनेकों रीतियोंसे युद्ध करनेको उद्यत हुए हो यह तो समय है, परन्तु तुम्हारे उद्योग न करने पर भी केवल मेरी चेष्टासे ही, जो कुछ होना है वह तो अवश्य ही होगा। वह इकट्ठे हुए सब योधा अपने भुजदण्डों पर थाप देतेहुए गौरवके साथ अपने २ बाहुबल का परिचय देकर शत्रुओंका नाश करनेमें लगेंगे यह ठीक है, परन्तु फलाफल मेरी चेष्टासे ही प्रकट होगा। केवल वीरोंके अभिमान भरी बातोंसे वा चतुराईसे कुछ भी नहीं होसकता। इस रणभूमि

में जिन २ की जीवनलीलाकी समाप्ति होगी, वह मेरी ही व्यवस्थासे मेरे ही द्वारा नष्ट होंगे, इस बातको तू निश्चित जानना। शत्रुपक्षमें भीष्म, द्रोण कर्ण आदि जो प्रसिद्ध २ योधा समर में अपनी विजय होनेका पूरा विश्वास रख कर बडे गर्वके साथ खड़े हुए हैं, इन सबोंको ही मेरी चेष्टासे कालकवल बनना होगा, इस विषयमें तुम्हारा उद्योग कुछ भी नहीं करता। मैं सर्वसंहारकर्त्ता काल हूँ, मैंने इन सब लोगोंका विनाश कर रक्खा है, तू तो निमित्तमात्र होजा, अपने धर्मको त्यागकर दुर्बलता न दिखा॥ ३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

अन्वय और पदार्थ

(तस्मात्) तिस कारणसे (त्वम्) तू (उत्तिष्ठ) उठ (यशः) कीर्त्तिको (लभस्व) प्राप्त कर (शत्रून्) शत्रुओं को (जित्वा) जीतकर (समृद्धम्) निष्कण्टक (राज्यम्) राज्यको (भुंक्ष्व) भोग (मया-एव) मैंने ही (एते) ये (पूर्वम्-एव) पहिले ही (निहताः) मारडाले हैं (सव्य-साचिन्) हे अर्जुन (निमित्तमात्रम्) निमित्तमात्र (भव)हो

भावार्थ

श्रीभगवान् फिर कहते हैं, कि–हे सखे ! मैंने तुझे वास्तविक तत्त्व सुनादिया है, सृष्टि, स्थिति और नाशके विषयके सब रहस्यको तू जान चुका है और इन इकट्ठ हुए सब वीरों का जो कुछ परिणाम होनेवाला है, उसको भी तूने अपने नेत्रोंसे देख लिया है इस कारण हे धनञ्जय ! अब तेरा उत्साह छोड़ बैठना, कार्यसे विमुख होना और उदासीनता दिखाना किसी प्रकार भी कल्याणकारी नहीं है। हे वीर शिरोमणि ! अब तू चित्तके सकल विषाद, कारुण्य और कोमलताको छोड़कर सच्चे वीरकी समान गर्वके साथ तेजस्वीपना दिखाता हुआ खड़ा होजा और शत्रुमण्डलमें घुसकर उचित पराक्रमके साथ शत्रुओंका नाश करते करते भूमिको रुधिरसे स्नान करादे। तेरी वीरता और पराक्रमको देखकर मनुष्य विस्मयमें होकर सहस्रों कण्ठोंसे तेरा यश गावेंगे, जय और हर्षकी ध्वनियोंसे दिशायें गूँज उठेंगी और तेरे निर्दोष यशकी प्रभा से भूमि दमक उठेगी हे अर्जुन ! इसप्रकार तुझे परमप्रार्थनीय यशको पानेका यह परम सुन्दर सुयोग प्राप्त हुआ है। उदासीनतासे वा निरुत्साह होकर तू इस परम सुयोगको नष्ट न कर देना, इस युद्धमें केवल कीर्त्तिलक्ष्मीसे ही तेरी शोभा नहीं होगी, किन्तु समुद्र पर्यन्तकी विशाल वसुन्धरा तेरे चरणोंकी दासी होजायगी, तू इस समृद्धिशाली धन, रत्न और सस्यश्यामला धारणी का अधीश होगा और सकल राज–ऐश्वर्य तथा भोगसुख तुझको प्राप्त

होगा। हे धनञ्जय ! निष्कारण खेदयुक्त होकर तू इस राज्य भोगके सुयोगको पानेसे वञ्चित न हो हे धनञ्जय ! तूने पहिले गुरुहत्यारूप महापापकी आशङ्का की थी, बान्धवों की हत्यारूप घोर दुष्कर्मके कारणसे भयभीत होगया था' जाति और कुटुम्बके वधरूप अपराधके कारण तू बड़े ही सन्देहमें पड़गया था, परन्तु हे सखे ! मैंने तुझे स्पष्टरूपसे दिखादिया है, कि-जिनके मरणके भयसे तू इतना व्याकुल होरहा था वह तेरे शस्त्रप्रहार करनेसे पहिले ही मेरी चेष्टा से मरचुके हैं वह सब ही वेवश हो अटल आकर्षणसे खिंच कर वर्षाकालकी जलधाराकी समान निरन्तर मेरी दाढ़रूप चाकीमें पिसरहे हैं, इसलिये हे भाइ! तेरा सब सन्देह निर्मूल है सर्वथा घृणा करने योग्य है। हे रणके मतबाले वीर! जो कुछ करना था सो सब तो मैं पहिले ही करचुका हूँ, तू तो केवल निमित्तमात्र बनजा और कार्यका भार लेकर यश प्राप्त कर तथा विजयमाल धारण करके संपूर्णका सुख भोग अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आप पहिलेसे ही इनको मारचुके हैं यह तो बड़ी अद्भुत बात है । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! मुझे कभी किसी कार्यका कर्ता न जानना, परन्तु जब बात ही चली है तो कहना पड़ता है, कि-इन सबोंको मैंने मार रक्खा है तभी तो ये भीष्म द्रोण आदि मेरे विपक्षी बनकर युद्ध करनेको आये हैं, यह जानते हैं कि-हम अधर्मका युद्ध करनेको आये हैं और इसका भय सदा ही इनके हृदयोंमें धक्का लगाता रहता है। दुर्योधन बड़ा पापी है,

ये पापीके साहायक बने हैं, यदि ये ऐसा नहीं करते तो भी कुछ उपाय नहीं था, जब ये संकटमें पड गये हैं तो जानते ही हैं, कि-हमारे प्राण अवश्य ही जायँगे । असत्-सङ्ग ही मृत्यु है, तथापि यह कभी २ अपने मनमें विचारने लगते हैं, कि-यदि हो तो विजय भी होसकती है। ऐसा समझना इनका भ्रम है। अब इनकी रक्षा कोई भी नहीं करसकेगा। दुर्योधनको सैंकडों उपदेश देने पर भी यह असत् मार्गमेंको ही चलेगा, ये सब दुर्योधनके अन्नदास हैं, इसलिये नित्य ही इनके पापकी वृद्धि होती है, ये सब अपने हृदयमें समझते हैं, कि-धीरे २ हमारी आयु क्षीण होरही है, यह समझ कर भी इसका कुछ उपाय नहीं कर सकते हैं एक ओर अपना दोष और दूसरी ओर तुम्हारे और मेरे कारणसे भयभीत होते हुए ही यह मरचुके हैं। तू तो एक कारणमात्र है, यदि तू युद्ध नहीं करेगा तब भी ये मरेंगे ही मैं तेरे यशको बढ़ानेके लिये तेरे हाथसे इनको मरवाऊंगा मैं ही योधा हूं, तू तो इस युद्धमें मेरे हाथकी तलवारमात्र है । पहिले मनमें कामना ही होती है काम उससे बहुत पीछे होता है। कुरुक्षेत्रका युद्ध सूक्ष्मरूपसे मेरे मनमें होरहा है, अब स्थूल-घटनाको तेरे द्वारा करके दिखाऊँगा, इस समय युद्ध करनेके लिये खड़ा होगा। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मैं पाहिले नहीं समझ सका था, कि-इस युद्धमें विजय होगी या नहीं? इसकारण ही मैंने कहा था, कि-न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वाजयेय यदि वा नो जयेयुः" और आप तो मुझे पहिलेसे ही उत्साह दिला रहे थे, कि-"हतो वा प्राप्स्यसे

स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" । अब मुझे कुछ सन्देह नहीं रहा। आपने पहिले ही सब कुछ कर रक्खा है। मेरे ऊपर आपकी अपार दया है । केवल मुझे यश दिलानेके लिये ही आप मेरे द्वारा इन सब प्राणहीन हुए जीवोंका नाश कराते हैं। हे भगवन्! जीव अपने दोषसे आप काल-रूप हो किसी एक प्राणीको निमित्तमात्र बनाकर पापियों का संहार करते हैं । जिसको निमित्तमात्र बनाकर आप संहारका काम करते हैं, उसके ऊपर अनुग्रहका स्मरण करके मैं आश्चर्यमें होरहा हूँ। युद्धमें शत्रुका प्राणान्त करके वीर पुरुषोंको गर्व करनेका कुछ भी अवसर (गुंजायश) नहीं है। मनुष्य किसी कामका भी स्वतंत्रकर्त्ता नहीं है। जो मनुष्य आपके स्वरूपको जान जायगा वह फिर गर्व वा अहङ्कार नहीं करसकता। जिसके ऊपर आप कृपा करते हैं केवल वही समझसकता है, कि—सकल सत्कर्मोंकी मूल आप ही हैं, मनुष्य तो कठपुतलीकी समान है, उसको चेष्टा करानेवाले आप ही हैं। हे प्रभो। मैं करनेवाला हूँ, ऐसा अभिमान अब मुझे कभी भी मोहित न करे, ऐसी कृपा करदीजिये । मैं विनाश करने वाला हूँ, इस वातका अब मैं कभी ध्यान भी नहीं करूँगा ॥ ३३ ॥

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

अन्वय और पदार्थ

(द्रोणम्) द्रोणको (च) और (भीष्मम्) भीष्मको (च) और (जयद्रथम्) जयद्रथको (च) और (कर्णम्) कर्णको (तथा) तैसे ही (अन्यान्) और (योधवीरान्) वीर योधाओंको (अपि) भी (मया) मुझ करके (हतान्) पहिले ही मारेहुओंको (जहि) मार (मा व्यथिष्ठाः) चित्तमें दुःख न मान (रणे) संग्राममें (सपत्नान्) शत्रुओंको (जेतासि) जीतेगा [अतः] इसलिये (युध्यस्व) युद्ध कर ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! यदि तू अपने मनमें यह समझे, कि—इस युद्धमें जो वीर इकट्ठे हुए हैं इनमें बहुतसे अजेय और प्रसिद्ध नामवाले हैं, इसलिये इन सबों को परास्त करके जय पाना वा राज्यको भोगना संभव नहीं है, तो तेरा ऐसा शंका करना वृथा है, क्योंकि—तू यह समझता होगा, कि—शत्रुपक्षमें जो द्रोणाचार्य हैं वह ब्राह्मण शस्त्रविद्याके गुरु, धनुर्वेदमें पारङ्गत और देवावतार परशुराम जीके शिष्य हैं तथा उनके अनुग्रहसे दिव्य अस्त्रविद्याको पाये हुए हैं । और तू समझता होगा, कि—रणभूमिमें शत्रु की ओरसे पितामह भीष्मजी खड़े हैं, यह हमारे सबसे बड़े होनेके कारण परम मान्य हैं, इनका मरना इनकी इच्छाके

अधीन है, अस्त्रविद्यामें ये पारङ्गत हैं, वास्तवमें यह मनुष्य रूपमें कोई देवता हैं, क्योंकि-यह परशुरामजीसे बराबरीका दाबा रखते हैं। तू अपने मनमें यह भी समझता होगा, कि-इस रणभूमिमें सिंधुराज जयद्रथ सहायक हैं, इनके पिताने कठोरतपस्या करके वरदान पाया था, कि-जो मेरे पुत्रका शिर काटकर भूमि पर गिरावेगा, उसका मस्तक भी कटकर गिरजायगा तथा वह प्रसिद्ध वीर और कुटुम्बी है। तू यह भी विचारता होगा, कि--इस संग्राममें महावीर कर्ण भी सहायक है, वह सूर्यकी समान तेजस्वी सूर्यका पुत्र है, उसके पास एक इन्द्रका दियाहुआ पुरुषघाती अमोघ अस्त्र है और इसको जीतना बड़ा ही कठिन है। और तू यह भी समझता होगा, कि-शत्रुके पक्षमें महाबली कृपाचार्य प्रसिद्धबली अश्वत्थामा हैं और प्रसिद्ध नामोंवाले भूरि-श्रवा आदि वीर योधा गर्वके साथ ऊपरको मुख उठाये हुए खड़े हैं, इन सब रणधुरंधरोंको मारना और विजयलक्ष्मीको पाना सहज नहीं है, परन्तु हे सखे! तुझे अपने चित्तमें ऐसी शङ्कायें उठाना कभी उचित ही नहीं है। क्योंकि-तू अपने नेत्रोंसे देखचुका है, कि-यह सब वीर मुझ कालस्वरूपके द्वारा पहिले ही प्राणहीन होचुके हैं, इसलिये तू विना परि श्रमके अनायास इनको जीतसकेगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है, इसमें तुझे किसीप्रकारका भय भी नहीं होसकता, तू सब प्रकारके भयको त्यागकर युद्ध करनेमें प्रवृत्त होजा। वृथा समय को न खोकर वृथा शंकाओंमें न पड़कर रणभूमिमें शत्रुओं

का नाश करके शीघ्र ही जय प्राप्त कर । यदि तू यह समझता हो, कि—अपने कुटुम्बी और गुरुजनों का वध करके घोर अधर्म होगा तो तुझे साथमें यह भी विचारना चाहिये कि—इन सबोंने ही तेरे अपराध किये हैं इस कारण सब मारने योग्य हैं और मैं इन सबोंके मारनेका आरम्भ पाहिले ही करचुका हूँ, इनके मारने में कठोरता का अपवाद तुझे जरा भी नहीं लगेगा, और इस बातके सिवाय विजय प्राप्त होगी, यह सब सुनकर अर्जुनके हृदयकी गुरुजनके वधसे होनेवाले पापकी शंका और दयालुता दूर होगयी ॥ ३४ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्य भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ३५

अन्वय और पदार्थ

(सञ्जयः) सञ्जय (उवाच) बोला (केशवस्य) श्रीकृष्णके (एतत्) इस (वचनम्) वचनको (श्रुत्वा) सुनकर (वेपमानः) कांपताहुआ (किरीटी) अर्जुन (कृताञ्जलिः) हाथ जोड़े हुए (कृष्णम्) भक्तोंके पाप दूर करने वाले श्रीकृष्णको (नमस्कृत्य) प्रणाम करके (भीतभीतः)

अत्यन्त डरताहुआ (प्रणम्य) प्रणाम करके (भूयः-एव) फिर भी (सगद्गदम्) जी भरकर (आह) कहनेलगा ३५

भावार्थ

श्रीभगवान्के कथनको समाप्त करके अब सञ्जय अपने वाक्यमें घटनाको समझाते हैं, श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस संवादको सुन कर अन्धा राजा धृतराष्ट्र अवश्य ही समझ-गया होगा, कि-भीष्म द्रोण आदि परमपराक्रमी अजेय वीर इस युद्धमें अवश्य ही कालके गालका ग्रास बनेंगे, इसलिये निःसहाय दुर्योधनके पक्षकी विजय होनेकी कुछ आशा नहीं है, इस दशामें निश्चय ही चतुर राजा धृतराष्ट्र सन्धिका प्रस्ताव करेगा अथवा किसी न किसी प्रकार युद्धमें शान्ति स्थापन होनेकी व्यवस्था करेगा तथा होनहार अमङ्गलको दूर करनेकी पूरी २ चेष्टा करेगा, इसलिये परम्परासे होती हुई सब घटनाका धाराप्रवाहरूपसे वर्णन करते करते परमचतुर सञ्जयने बातोंके प्रसङ्गमें धृतराष्ट्रको अपने मनका भाव प्रकाशित करनेका अवसर दिया, परन्तु इस संसारमें विधाताकी व्यवस्थाको कौन पलट सकता है ?। भगवान्के बताये हुए मार्गसे भ्रष्ट होकर किसकी शक्ति है जो एक पग भी बढ़सके। परमदारुण भवितव्यता ही सर्वत्र प्रबल है। अन्धराज धृतराष्ट्रने शान्ति स्थापित होनेकी कोई बात ही नहीं कही। सञ्जय कहनेलगा, कि-श्रीकृष्णकी बातें सुनकर अर्जुनका शरीर काँपनेलगा। संभ्रम, विस्मय, भय और भक्तिने मिल-कर उसके हृदयमें एक अपूर्व भावका उदय करदिया और

जो वीर सशरीर स्वर्गपुरीमें जानेसे भी नहीं हिचका था, किरातरूप धारी महादेवजीके साथ संग्राम करते हुए भी जिसका हृदय विचलित नहीं हुआ था। जो खाण्डवदाह आदि अनेकों असाध्य कार्योंका साधन करने के कारण संसारमें अतुल वीरताकी कीर्त्तिको पाचुका है। जो द्रौपदीकी स्वयम्वरसभा में लक्ष्यको भेदकर सहस्रों राजाओंके विरुद्ध अकेला ही युद्धमें खड़ा होनेमें नहीं घबड़ाया। जिसके ऊपर प्रसन्न हो कर इन्द्र, महेश्वर, अग्नि आदि देवताओंने दिव्य शस्त्र और भूषण आदि दिये थे। आज उस ही तेजस्वी वीरका अटल हृदय विश्वव्यापी विराटरूप भगवान्का दर्शन करके काँपने लगा। उसका शिरके केशोंसे लेकर पैर के नखों पर्यन्त सब शरीर नदीके प्रवाहमें पड़ी हुई लताकी समान, वायुके झकझोरे हुए वृक्षके पत्तेकी समान काँपने लगा। जिनको चिरकालसे अभिन्नहृदय सखा समझता था, जिनके साथ समान अवस्था वाले पुरुषकी समान रहस्यकी बातें करता था, जिनको प्यारी भार्या सुभद्राका भ्राता समझे हुए था, जो व्यवहारमें अपने सहोदर भाई की समान थे। जो रणमें वनमें, विपत्तिमें और हर्षमें अपने सकल संबन्धियोंसे श्रेष्ठ थे और जो इस समय उसके रथके घोड़ोंकी लगामें थामे और चाबुक लिये हुए सारथीका काम कर रहे हैं, उन ही प्राण-प्यारे अभिन्नहृदय श्रीकृष्णजीको देखकर आज अर्जुन का हृदय विचलित हो उठा, उस समय उसने शरणागत शिष्यकी समान, परम अनुगामी भक्तकी समान

और अनन्य सेवककी समान दोनो हाथ जोड़कर भक्तिके साथ उन दुरवगम्य अचिन्तनीय अतुलनीय भयानक भगवान्को प्रणाम किया। इसप्रकारका प्रणाम उसने इससे पहिले भी किया था, परन्तु उसको भी उसने पर्याप्त नहीं माना था, इसकारण वह वारंवार प्रणाम करके भक्तिके कारण गद्गद कण्ठसे और भयके कारण काँपतेहुए स्वरमें अपने हृदयका भाव भगवान्के चरणोंमें निवेदन करनेलगा ॥ ३५ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ३६

अन्वय और पदार्थ ।

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला (हृषीकेश) हे अन्तर्यामिन् ! (तव) तुम्हारे (प्रकीर्त्या) माहात्म्यके वर्णन से (जगत्) संसार (प्रहृष्यति) परम हर्षको प्राप्त होता है (च) और (अनुरज्यते) प्रेममें मग्न होता है (च) और (रक्षांसि) राक्षस (भीतानि) भयभीत होते हुए (दिशः-द्रवन्ति) दिशाओंमेंको भागते हैं (च) और (सर्वे) सब (सिद्धसंघाः) सिद्धोंके समूह (नमस्यन्ति) प्रणाम करते हैं [तत्] यह (स्थाने) उचित ही है ॥३६॥

भावार्थ

भगवान्‌ने अपने कथनके अन्तमें अर्जुनको उत्साहित तथा यशका लोभी और राज्यभोगनेके लिये उत्तेजित किया था, परन्तु भक्ति, विस्मय और संभ्रमसे अर्जुनका हृदय इतना लौटपौट होगया था, कि-भगवान्‌की आज्ञाका अभिप्राय उस के हृदयमें जम ही नहीं सका, वह भक्तिसूचक स्तुति पढ़ने में, विनयसूचक नम्रताके वाक्य कहनेमें और विस्मयसूचक वाक्योंको प्रकाशित करनेमें इतना मग्न होगया, कि-और किसी कर्त्तव्यका चिन्तवन करनेका उसको अवसर ही नहीं था। वह कहनेलगा, कि-हे सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तक हृषीकेश! आप का प्रभाव तो बड़ा ही अद्भुत है, अर्थात् आपके इस विश्व-रूपको तो कोई हृदयमें धारण ही नहीं करसकता, आपके विचित्र वर्ण आदिसे युक्त ज्योतिर्मय देहकी ओरको तो कोई आंख उठाकर भी नहीं देखसकता तथा आपके अति अद्भुत विस्मयकारक कर्मोंका मर्म समझनेकी तो शक्ति ही किसमें है?। आप परमभक्तवत्सल हैं। आपकी ऐसी अद्भुत कीर्त्ति जैसी आश्चर्यमें डालनेवाली और अचिन्तनीय है तैसी ही उदार और अति महान् भी है। आपकी ऐसी आश्चर्यमयी अद्भुत लीलाकी आलोचना करने पर केवल मेरा ही हृदय आनन्दके कारण उथल पुथल नहीं होता है, किन्तु चेतन अचेतन जीवोंका भण्डाररूप यह सब ही विश्व हर्षमें भरजाता है। यह जो विश्वका आनन्द है सो ठीक ही होता है। समस्त जगत् अर्थात् स्थावर जङ्गमरूप सकल पृथिवी आपके

ऊपर हृदयके भीतरी प्रेमको प्रकट करती है। जगत्का यह अनुराग प्रकाशित करना सर्वथा उचित ही है। हिंसा आदि क्रूर कर्मसे प्रेम करनेवाले राक्षस आदि आपके इस तेजसे जाज्वल्यमान विराटरूपके भयसे चारों दिशाओंमेंको भागते हैं और कपिल आदि सिद्ध महात्मागण भक्तिभरे निष्कपट चित्तसे आपको वारंवार प्रणाम करते हैं उनका ऐसा प्रणाम करना भी युक्तियुक्त ही है। यहां शङ्का होती है, कि-जब सब ही प्राणी भगवान्की कथाको सुनकर परम तृप्त होते हैं तो राक्षस उस से भयभीत होकर क्यों भागते हैं ?। इसका उत्तर यह है, कि–श्रीभगवान् दुष्टोंका नाश करते हैं और शिष्ट पुरुषोंकी रक्षा करते हैं, यह सुनकर दुष्ट राक्षसगण भयभीत होकर भागें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सब ही अपने २ मन के भावके अनुसार प्रसन्न वा भयभीत होते हैं। कपिल आदि सिद्धगण भगवान्की कीर्त्तिको सुनकर प्रणाम करते हैं और सकल प्राणी कहिये सब उत्तम प्रवृत्ति वाले प्राणी प्रसन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत् परं यत् ॥३७॥

अन्वय और पदार्थ

(महात्मन्) हे महात्मन् (अनन्त) हे अनन्त (देवेश) हे देवदेव (जगन्निवास) हे जगदाधार (ब्रह्मणःअपि) ब्रह्माजीसे भी (गरीयसे) बड़े (आदिकर्त्रे) आदिकर्त्ता (ते) तुम्हारे अर्थ (कस्मात्-च) किस कारणसे (न) नहीं (नमेरन्) प्रणाम करें (सत्) व्यक्त (असत्) अव्यक्त (परम्) उनसे श्रेष्ठ (यत्) जो (अक्षरम्) ब्रह्म है (तत्) वह (त्वम्) तुम [एव] ही [असि] हो ३७

भावार्थ

अर्जुनने पहिले श्लोकमें कहा था, कि-कपिल आदि सब सिद्ध आपको भक्तिके साथ प्रणाम करते हैं वह हृदय से आपके चरणोंको प्रणाम क्यों करते हैं इसका हेतु दिखाता हुआ अर्जुन कहता है, कि-हे महात्मन्! अर्थात् हे परमात्मन् सकल भूतोंके आत्मस्वरूप भगवन्! हे अनन्त! अर्थात् सीमाशून्य सब प्रकारके आदि अन्तसे रहित विश्वरूप! हे देवेश! अर्थात् ब्रह्मा रुद्र आदिके भी आदि हिरण्यगर्भके उत्पादक देवेदेव! हे जगन्निवास अर्थात् विश्वके आश्रय सर्वाधार सर्वव्यापि नारायण! आपको जो देवता, ऋषि गन्धर्व, किंपुरुष आदि भक्तिके साथ परम नम्र होकर प्रणाम करते हैं।सिद्ध अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे उत्पन्न हुए असीम ज्ञानवाले महापुरुष हार्दिक भक्ति और प्रेमभावके साथ आपके चरणोंका पूजन करके परम तृप्त होते हैं इसमें कुछ विचित्रता नहीं है तथा विस्मय करनेका भी कोई कारण नहीं है। क्योंकि-हे

विश्वात्मन्! आप ब्रह्माण्डमें एकमात्र अद्वितीय अतिअद्भुत शक्तिसे युक्त सबसे श्रेष्ठ परम पुरुष हो। आप अयोनिज विश्वस्रष्टा हिरण्यगर्भ ब्रह्माके भी आदिस्रष्टा हो, तथा अन्य देवता और चेतन अचेतन सकल पदार्थोंके कारणरूप नित्य, सत्य परमेश्वर हो। तुम ही अक्षर अर्थात् विकाररहित क्षयरहित और बन्धनरहित परमदेवता हो। इस संसारमें जो कुछ सत् वस्तु वा जो कुछ असत् वस्तु है अर्थात् जो जो वस्तु व्यक्त और जो जो वस्तु अव्यक्त है वा जो जो वस्तु हमारी इन्द्रियें और मनके द्वारा प्रत्यक्ष होती है तथा जो जो वस्तु हमारी इन्द्रियोंके अतीत है उस सबके मूल तुमही हो, अर्थात् तुम्हारी ही वासनासे, तुम्हारे ही नियमकी अधीनतामें सबका आविर्भाव हुआ है। विचार और चिन्ताके द्वारा जिसका आस्तित्व सिद्ध होता है वही सत् है और निषेधमुखसे आलोचनाके द्वारा मनमें जिसका नहीं होना समाता है वही असत है। श्रीभगवान् इन दोनोंके ही मूल हैं अर्थात् वही सद्वस्तु और असद्वस्तु दोनोंके प्रवर्त्तक हैं। उनके विना तो कोई वस्तु है ही नहीं," हे भगवन्! आपकी महिमा और गुणोंका वर्णन करके समाप्त करना असम्भव है आपकी अनन्तों शक्तियोंमेंसे किसी एककी भी आलोचना करने पर विश्वास होजायगा, कि- निरन्तर ज्ञानियोंको आपके लिये प्रणाम करना चाहिये। एक ही गुणसे जब आपको प्रणाम करना उचित सिद्ध होता है, तब असंख्यों गुणोंके एकमात्रस्वरूप आपको सब भक्तिके साथ प्रणाम करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है॥ ३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्व-
मस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

अन्वय और पदार्थ

(अनन्तरूप) हे अपरिच्छिन्नस्वरूप ! (त्वम्) तुम (आदिदेवः) देवताओंके भी आदि (पुरुषः) पुरुष [असि] हो (त्वम्) तुम (अस्य) इस (विश्वस्य) विश्वके (परम्) सर्वोपरि (निधानम्) आश्रय (वेत्ता) जाननेवाले (वेद्यम्) जानने योग्य (च) और (परम्) उत्तम (धाम) पद (असि) हो (च) और (विश्वम्) विश्व (त्वया) तुम्हारे द्वारा (ततम्) व्याप्त होरहा है ॥ ३८ ॥

भावार्थ

भक्तिका वेग बढ़नेके कारण अर्जुन फिर स्तुति करता हुआ कहता है और साथमें ही, सिद्ध पुरुष उनको प्रणाम करके उचित काम ही करते हैं इस बातका भी वर्णन करता हुआ कहता है,कि–हे अनन्तरूप! अर्थात्–हे अपरिच्छिन्न-स्वरूप ! हे विचित्र प्रकारके अनेकों वर्णोंसे युक्त अनेकों कल्याणमय गुणोंसे शोभायमान रूपधारी ! तुम ही जगत्के आदि देव हो अर्थात् तुमसे ही देवता पशु पक्षी आदि सकल

चेतन अचेतन पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है, पहिले केवल तुम ही थे, तुम पुरुष हो अर्थात् शेषशय्या पर सोते हो अथवा अपनी सत्तासे सबको पूर्ण करते हो । तुम पुराण कहिये अनादि हो अर्थात् ब्रह्मासे लेकर चीटी पर्यन्त सबके ही जन्म वा प्रथमविकाशका विवरण है परन्तु तुम अज हो इसकारण तुम्हारा आदि वृत्तान्त कुछ नहीं है। तथा तुम विश्वके परम-निधान हो अर्थात्–छोटी २ नित्यकी प्रलय, खण्डप्रलय और महाप्रलय सबके ही अन्तिमस्थान आप ही हैं, सब आप में ही प्रवेश करेंगे इन्द्रजाल आपमें ही मिलजायगा और आपही सबको धारण किये हुए शेष रहेंगे, इसप्रकार सृष्टि-कर्त्ता और सबके आश्रय होनेके कारण आप सबके उपादान हैं । आप ही अवश्य जानने योग्य हैं और आप ही इस विश्वके सकल रहस्यको जाननेवाले हैं, अतिक्षुद्र कीटाणुसे लेकर परम पूजनीय ब्रह्मपर्यन्त सबका तत्त्व आप भलेप्रकार से जानते हैं, जिसको मनुष्य अत्यन्त गुप्त घटना समझते हैं उसको भी तुम पूर्ण रीतिसे जानते हो । मनुष्य अति गुप्त स्थान में घोर अन्धकारमें छुपकर हृदयकी गुप्त कन्दरामें जिन चिन्ता और कल्पनाओंको रखता है, तुम उन सबोंको जानते हो । जो पुरुष बड़े २ त्रिपुंड्र वा उर्ध्वपुंड्र लगाकर ऊँचे स्वरसे समीपके पुरुषोंको जताते हुए आपकी स्तुति करते हैं उनके हृदयके भावको आप जिसप्रकार जानते हैं उस ही प्रकार जो पुरुष निर्जन स्थानमें एकान्त मनसे प्रकट उच्चारण न करके आपका स्मरण और चिन्तवन करता

है उसके अन्तःकरणके मर्मको भी आप जानते हैं तुम ही परमवेद्य हो आपकी अपेक्षा जानने योग्य और कोई तत्त्व है ही नहीं । जिस असार धनको इकट्ठा करनेकी टोहमें मनुष्य आंखें मूँदकर बैलकी समान रातादिन चिन्ता और परिश्रम किया करते हैं वह बड़ा ही असार और हेय है। सुख देनेवाला धन आदि कहां मिलेगा ? कौनसी विद्या और ज्ञानके बलसे इस लोकका सुख देनेवाले पदार्थ इकट्ठे होंगे ? ऐसी२ सब ही बातोंका जानना निरर्थक है। अवश्य जाननेयोग्य एकमात्र आप ही हैं, क्योंकि—आपका वास्तविक ज्ञान होजानेपर सब ही अभाव और इच्छायें मिटजाती हैं अन्तमें परमसुख मिलता है और इस लोक का तथा परलोकका परमकल्याण सिद्ध होता है। हे भगवन्! तुम ही परमपद हो अर्थात् अविद्याके लेपसे रहित सच्चिदानन्दस्वरूप हो तथा आपके पास पहुँचजाने पर फिर प्राणी को लौटकर नहीं आना पड़ता है। तुम ही सत्‌रूप से और कारणरूपसे इस विश्वविकाशके एकमात्र कारण हो, तुम सर्व सर्वत्र व्याप्त हो, सत् स्वरूपसे अति क्षुद्र से लेकर अति महान् पर्यन्तमें आप पुरे हुए हैं ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ३९

अन्वय और पदार्थ

(त्वम्) तुम (वायुः) पवन (यमः) यमराज (अग्निः) अग्नि (वरुणः) वरुण (शशाङ्कः) चन्द्रमा (प्रजापतिः) कश्यप आदि (च) और (प्रपितामहः) प्रपितामह [असि] हो (ते) तुम्हारे अर्थ (सहस्रकृत्वः) सहस्र वार (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो (पुनः-च) फिर भी (नमः) प्रणाम [अस्तु] हो (भूयः) फिर भी (ते) तुम्हारे अर्थ (नमः) प्रणाम [अस्तु] हो ॥ ३९ ॥

भावार्थ

पहिलेकी समान ही भगवान्का माहात्म्य कीर्त्तन करता हुआ अर्जुन फिर भी कहता है, कि-हे भगवन् ! तुम ही वायु जगत्के जीवनरूप हो, प्राण आदि पञ्च वायु तुम ही हो और परमशक्तिके साथ वहनेवाले उनपञ्चास पवन भी तुम ही हो । तुम ही कालान्तक यम हो,तुम्हारी ही व्यवस्था से निरन्तर सकल भूतोंका नाश होता है । तुम ही परम-पवित्र हुताशन हो,तुम सर्वभुक् हो और स्पर्शमात्रसे सबको पवित्र करदेते हो । तुम ही वरुण नामक जलदेवता हो, तुम जीवोंकी जीवनरक्षाके, पृथिवीके अङ्गमें रससञ्चारके और अन्नकी उत्पत्ति आदिके हेतु हो । तुम आकाशविहारी अमृतमय किरणधारी चन्द्रमा हो, तुम अपनी चिकनी और रमणीय किरणोंके द्वारा जगत्में आनन्दका सञ्चार करते

हो। तुम ही कश्यप आदि प्रजापति हो अर्थात् तुमने ही प्रजापति रूपसे जीवोंके प्रवाहको चलाया है और वह बराबर चलाजारहा है। तुम ही प्रपितामह हो अर्थात् जो साक्षात् संबन्धसे जगत्के पितामह हैं उन ब्रह्माजीको भी तुम ही उत्पन्न करते हो, तुम पितामहस्वरूप हिरण्यगर्भके भी पिता हो, ऐसे आप सबके ही नमस्कार योग्य हो इसमें जग भी सन्देह नहीं है अथवा मैं आपको सहस्रों वार असंख्यों वार कहिये असंख्यों वार प्रणाम करता हूँ फिर भी आपको सहस्र वार प्रणाम करता हूँ। और फिर भी आपको सहस्रों वार प्रणाम करता हूँ। यहां शङ्का होती है कि-जिनको विराटरूपके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता है क्या उनको सब कुछ तुमही हो ऐसा ज्ञान नहीं होसकता? इसका उत्तर यह है कि-हृदय में "तत्त्वमसि" तुम हो, इस वाक्य का निरन्तर अभ्यास करते २ निरन्तर आपकी मानस पूजा करते २ सब कुछ तुम ही हो इस तत्त्वका दर्शन होने लगता है, "तू तू करते तू भया,,। जैसे कोई मनुष्य अनेकों प्रकार के रूप भर कर एक ही समयमें बहुरूपी बनता है, परन्तु वास्तवमें वह एक ही होता है तैसे ही तुमने भी अनेकों रूपोंमें अपना प्रकाश किया है, तुम ही पुरुष हो, तुम ही अव्यक्त हो तुम ही प्रकृति हो, तुम ही महत्तत्त्व हो, तुम ही अहं न्तत्त्व हो, तुम ही पञ्चतन्मात्रा हो,तुम ही पञ्चमहाभूत हो तुम ही सब कुछ बन रहे हो। तुम ही समुद्र हो,तुम ही आकाश हो, तुम ही सूर्य हो, तुम ही ब्रह्मा विष्णु और

महेश्वर हो, तुम ही जगन्नाथ हो, सब कुछ तुम ही हो, आपको वार २ प्रणाम है। जिसकी भी श्रद्धा भक्ति अत्यन्त अधिक होजायगी वह विश्वरूप आपको वारंवार नमस्कार विना किये रह ही नहीं सकता ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ४०

अन्वय और पदार्थ

(सर्व) हे सर्वात्मन् (ते) तुम्हारे (पुरस्तात्) सन्मुख (अथ) तदनन्तर (पृष्ठतः) पीछे (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो (ते) तुम्हारे (सर्वतः-एव) सब ओर ही (नमः) प्रणाम [अस्तु] हो (अनन्तवीर्य) हे अनन्त-शक्ति-धारिन् ! (त्वम्) तुम (सर्वम्) सब विश्वको (समाप्नोषि) व्याप्त कियेहुए हो (ततः) तिससे (सर्वः) सब कुछ (असि) हो ४०

भावार्थ

श्रीभगवान्‌को सहस्रों प्रकारसे वारंवार प्रणाम करके भी अर्जुनका हांपताहुआ हृदय तृप्त नहीं हुआ, इसकारण वह फिर भक्तिके साथ प्रणाम करनेके अभिप्रायसे कहता है, कि-हे विश्वरूप ! आपको सन्मुख से अथवा अग्रभागसे

प्रणाम करता हूँ। आपके पीठपीछे भी प्रणाम है। परन्तु हे भगवन्! कौनसी दिशा आपके सन्मुख है और कौनसी दिशा आपके पीछे है, इस बातका निश्चय तो हो ही नहीं सकता, आपके तो चारों ओर सहस्रों मुख नेत्र भुजा और पेट हैं, इसलिये जिधर भी दृष्टि डालता हूँ उधर ही आपके अनन्तों मुखमण्डल, विचित्र वक्षःस्थल और पेट तथा हथियार उठायेहुए अनन्तों बाहु दीखते हैं, इसकारण हे सनातन पूर्ण पुरुष! आपको चारों ही ओर से मैं वारंवार प्रणाम करता हूँ अर्थात् स्थावर जङ्गमरूप विश्वकी सब वस्तुओंमें प्रकाशित होने वाले हे भगवन्! आप अनन्तवीर्य हैं अर्थात् आपके शारीरिक बलकी सीमा नहीं है और आप अनन्तविक्रम हैं अर्थात् आपका शस्त्र चलाने आदिका ज्ञान अथाह है। एक ही स्थान पर वीरता और पराक्रमके ऐसे अद्भुत जमावकी कल्पना भी नहीं होसकती। पाण्डवों में अजेय और अतिपराक्रमी भीमसेन तथा कौरवोंमें महातेजस्वी और परमचतुर दुर्योधन इन दोनोंमें भीमसेन शरीरकी वीरता में अधिक प्रसिद्ध है और दुर्योधन अधिकपराक्रमी होनेका यश पाये हुए है, परन्तु आपके सामने इन दोनोंका बल विक्रम तुच्छ है। वह दोनों अल्पगुण भी किसी एक व्यक्तिमें नहीं दीखते। आप सत्‌रूप से विश्वकी सकल वस्तुओंमें व्याप्त होरहे हैं, हम जो कुछ भी देखते वा अनुभव करते हैं वह सब आपका ही विकाश है, इस कारण हे विश्वात्मन्! सब कुछ आप ही हैं, जैसे कुण्डलके प्रत्येक अङ्ग और अणु

में सोना ही सोना व्याप्त होता है, जैसे अन्धकारमें पडीहुई सब ही रज्जुपर व्यापकर सर्प भासता है तैसे ही आप समस्त जगत्में व्यापरहे हैं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। इसप्रकार सकल रूपोंमें मिलकर भी तुम ही निराकाररूप हो। तुम्हारे सिवाय जगत्मे और कुछ है ही नहीं। देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो कुछ नानाप्रकारके पदार्थ हम देखते हैं वह हे पूर्ण पुरुष ! आपका ही सत्‌रूपसे स्फुरण है, इसकारण सब कुछ आप ही हैं ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अन्वय और पदार्थ

(तव) तुम्हारी (इदम्) इस (महिमानम्) महिमाको (अजानता) न जानते हुए (मया) मैंने (प्रमादात्)

चित्तके चलायमान होनेके कारण (अपि वा) या (प्रणयेन) स्नेहवश (सखा-इति) यह मेरे मित्र हैं ऐसा (मत्वा) मानकर (हे कृष्ण) हे कृष्ण (हे यादव) हे यदुवंशी (हे सखे) हे मित्र (इति) इसप्रकार (प्रसभम्) बलात्कार के साथ (यत्) जो (उक्तम्) कहा है (अच्युत) हे अनन्त (विहारशय्यासनभोजनेषु) क्रीड़ा करना, सोना, बैठना और भोजन करना आदिके समय (एकः) एकान्तमें (अथवा) या (तत्समक्षम्) सब मित्र संबंधियोंके सामने (अवहासार्थम्) परिहासके लिये (यत्) जो (असत्कृतः) तिरस्कृत किये गये (असि) हो (तत्) तिस कारण से (अहम्) मैं (अप्रमेयम्) अथाहरूप (त्वाम्) आपसे (क्षामये) क्षमा कराता हूँ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

भावार्थ

भक्ति श्रद्धाकी अधिकता होनेपर अपने आप ही हृदय में परम दीनता आजाती है। अर्जुनके अन्तःकरणमें अपने रथको चलानेवाले नन्दनन्दनके बड़ेभारी ऐश्वर्यवाले विश्व रूपका दर्शन करने से जिस प्रेम और भक्तिका उबाल हुआ है उसकी तुलना नहीं है। उस बहुत ही बढ़ी हुई भक्तिकी प्रबलता से उसके हृदयमे ज्ञान होगया है, कि-पिछले जीवनमें इन देवदेवके साथ अनेकों वार कितनी ही रहस्य की बातें और मित्रभावका व्यवहार करचुका हूँ। समझकर भी इनको नहीं समझसका, हर समय साथ रहकर भी इनको नहीं पहचानसका, उन सब घोर अपराधोंके लिये इन परम

देवतासे-क्षमा मांगनी चाहिये, उस ही क्षमा-प्रार्थना करने की इच्छा से इन दोनों श्लोकोंमें अर्जुनने अपने हृदयका भाव प्रकट किया है। श्रीभगवान् परमदयालु हैं, परम भक्त-वत्सल हैं और सबके हृदयोंकी बातको जाननेवाले दीनबन्धु हैं। वारंवार अनेकों विधिसे प्रणाम आदि करके अर्जुनने अपने हृदयकी दीनता भक्तिकी प्रबलता और दयाको पाने की योग्यता वर्णन की है। अब प्रत्यक्षभावसे क्षमा प्रार्थना करना अनुचित नहीं है, ऐसा विचार कर वह दो श्लोकोंसे मस्तक नमाये हुए हाथ जोड़कर भक्तिभरे गद्गद कण्ठसे नेत्रोंमें आनन्दके आंसू भरकर विश्वरूप भगवान्से अपना अपराध क्षमा कराने के लिये प्रार्थना करता है अर्जुन ने कहा, कि-हे भगवन् ! आपके इस अनन्त ऐश्वर्य आदि से पूर्ण अति अद्भुत माहात्म्यका ज्ञान न होनेके कारण हे विश्वरूप श्रीहरे ! मैंने आपको समवयस्क (हम उमर) समान रूपवाला सखा मानकर पिछले जीवनमें न जाने कितने अपराध किये हैं, अपना बड़प्पन रखने के लिये अथवा सहसा झिड़क कर इच्छासे वा अनिच्छासे आपके साथ अनेकों अनुचित व्यवहार किये हैं। जिनके माहात्म्य को परम पवित्र शास्त्र आदि कीर्त्तन करके समाप्त नहीं करसकते जिनके गुण कर्म चिरकालतक वर्णन करने पर भी निःशेष नहीं होसकते और जिनके माहात्म्यका परिचय पृथिवीके हरएक पदार्थमें दमक रहा है। मैंने उन अप्रमेय पुरुषको अपनी समान व्यक्ति मान कर कभी कृष्ण, कभी यादव

और कभी सखा कहकर पुकारा है, जिनको चाहे जो नाम लेकर पुकारनेमें भी कोई हानि नहीं है, जिनके नामोंका पार नहीं है और जिनके परिचयका अन्त नहीं है उनको अपनी बरावर के व्यक्ति की तुल्य पुकारना यद्यपि उनके माहात्म्य वा गौरव को नहीं घटा सकता तो भी उससे मेरी तो अत्यन्त मूर्खता और ढिठाई ही प्रकट होती है। परन्तु हे अन्तर्यामिन् ! आप जानते ही हैं, कि—मैंने जानकर, आप के मर्मको भलेप्रकार समझ कर आपके साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया है। आपकी असीम महिमाके विषयमें अत्यन्त ही अनजान होनेके कारण मैंने अनुचित व्यवहार किया है, इस कारण हे परमकरुणामय नारायण ! मुझे क्षमादान देना होगा, हे महानुभाव ! मैंने विहार कहिये टहलने के वा क्रीड़ा कौतुक आदिके समय कितनी ही वार आपके श्रीअङ्ग पर हस्तक्षेप किया है, आपका हाथ अमेठा है अथवा आपको हाथ पकड़ कर खेंचा है और कितने ही समय हे श्रीनिवास ! मैं आपके साथ एक शय्या पर सोया हूँ, उसमें वारंवार आपके लक्ष्मीसे सेवित परमकोमल कलेवरको मेरे देहका स्पर्श हुआ और बड़ा अपमान हुआ है, तथा हे जगन्नाथ ! मैं आपके साथ एक सिंहासन आदिपर बैठा हूँ कभी २ आपको हटाकर और शरीरसे शरीरको सटाकर भी एक आसन पर बैठा हूँ और हे भगवन् ! कितनी ही वार भोजन आदि करते समय भी मैंने आपसे पहिले भोजन पालिया है अथवा एक पात्रमेंसे आपके भागको लेकर

खालिया है, इत्यादि अनेकों व्यापारोंमें जो मैंने अनुचित वर्त्ताव किया है वह क्षमाके योग्य है। देवता भी जिनके अतिनिकट आनेका साहस नहीं कर सकते, मैंने अधम मनुष्य होकर भी उनके साथ एक शय्या और एक आसन को ग्रहण किया है। ब्रह्मा रुद्र आदि देवता, सनक, सनातन आदि महापुरुष और नारद आदि देवर्षि निरन्तर जिनकी स्तुति किया करते हैं, मुझ अधमने उन ही श्रीहरिके साथ क्रीड़ा कौतुक और स्पर्श आदिका दुःसाहस किया है। कोई भोजनका पदार्थ जिन विष्णुको निवेदन विना किये बड़े २ कर्मनिष्ठ ब्राह्मण भी नहीं खाते हैं, जिनके उच्छिष्टके विना देवता भी किसी पदार्थ को ग्रहण नहीं करते हैं। मुझ अधमने कितनी ही वार उन देवदेवके प्रसादको ग्रहण नहीं किया अथवा कहनेमें भी भयके मारे रोमाञ्च खड़े होते हैं मैंने अपना उच्छिष्ट उन परमदेवता को खिलाया। है मुझे धिकार है, ऐसे घोर अपराध मैंने जानकर और अनजान में मित्रभावसे अनेकों वार किये हैं। कभी एकान्तमें या निर्जन स्थानमें आपके साथ किसी मित्रको न देखकर रहस्यमें आपके साथ न जाने कितने अनुचित अपराध किये हैं, कभी अनेकों मित्रोंके साथ होने की दशामें भी ऐसे २ व्यवहारोंसे खिन्न किया है। हे भगवन्! आप अच्युत हैं सकल विकार आदिसे रहित हैं और अन्तर्यामी परमदयालु हैं, मैं अपने इन अनुचित अपराधोंके लिये आप से क्षमाप्रार्थना करता हूँ। मुझे क्षमाका दान देना होगा।

जबतक आप क्षमादान नहीं देंगे तबतक मेरे हृदयमें किसी प्रकार भी शान्ति नहीं होगी। अर्जुनने यहां केवल तीन ही संबोधन दिये हैं, उनमें कृष्ण पदके साथ श्रीशब्दका प्रयोग न करने से अपराध हुआ है। यादव शब्दसे केवल वंश और राजा होने का परिचय दिया है, इसमें भी अपराध हुआ है और सखा शब्द से केवल समवयस्कपना सूचित होता है, इसमें भी अपराध हुआ है। ये तीनों संबोधनके पद परम आदर और प्रेमके सूचक हैं। ये तीनों पद तिरस्कारसूचक रूपसे भी ग्रहण किये जासकते हैं। क्योंकि वसुदेवजी अर्द्धरथी रूपसे प्रसिद्ध हैं, श्रीकृष्ण ! उनकी ही सन्तान हैं। अर्जुन अतिरथ राजा पाण्डुका पुत्र है, इस लिये उसके मुखसे कृष्ण सम्बोधनमें अवज्ञाका भाव आ-सकता है और यदुवंश राज्यहीन है, परन्तु पौरववंश प्रबल प्रतापी राजवंश है। इसलिये यादव शब्दसे कृष्णको संबोधन करने में अवज्ञा सूचित होती है तथा सखा शब्दसे यह सूचित होसकता है, कि–श्रीकृष्णके साथ अर्जुनका कुल-सम्बन्ध वा पैतृकसम्बन्ध नहीं है किन्तु केवल इन दोनोंमें यों ही प्रेम होगया है। जिन तीन संबोधनोंको एक समय आदर और प्रेम सूचित करनेके लिये अर्जुन प्रयोग किया करता था, वही हृदयकी अत्यन्त दीनता और भक्तिकी अत्यन्त अधिकताके कारण आज उसको प्रमादसे कहेहुए, अहङ्कारसे उच्चारण किये हुए तथा अवज्ञा और अनादरके द्योतक प्रतीत होनेलगे हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अप्रतिमप्रभाव) हे अनुपमशक्तिवाले ! (त्वम्) तुम (अस्य) इस (चराचरस्य) चर अचर (लोकस्य) लोकके (पिता) पिता (असि) हो (पूज्यः) पूजनीय (गुरुः) उपदेश देने वाले (च) और (गरीयान्) सबसे बड़े (असि) हो (लोकत्रये अपि) त्रिलोकीमें भी (त्वत्समः) तुम्हारी समान (न) नहीं (अस्ति) है (अभ्यधिकः) तुमसे अधिक (अन्यः) और (कुतः) कहाँ ॥ ४३ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्‌की महिमाका कीर्त्तन करते २ जिसका हृदय भक्तिसे भरगया है ऐसा अर्जुन फिर कहता है, कि—हे भगवन् ! तुम ही इस स्थावर जङ्गमरूप चराचरके पिता अर्थात् रचयिता हो । आपसे ही इस विश्वके सकल पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, इसकारण तुम परमपूजनीय हो । पिता प्रत्यक्ष पूजनीय देवता होता है, इसलिये तुम परमपूजनीय हो,

इसमें सन्देह ही क्या है ?। तुम गुरुओंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ गुरु हो। जिस आचार्यसे मनुष्य शास्त्रका उपदेश, धर्म नीति और ज्ञानके साधनको सीखते हैं वह आचार्य पूजनीय होते हैं, परन्तु हे नारायण ! आप तैसे आचार्योंसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि—आपके दिये हुए उपदेशकी तुलना नहीं है आपकी दीहुई शिक्षा प्रत्यक्ष फल देने वाली है और आप यहां तथा परलोकमें सकल कल्याणरूप फलोंके देनेवाले हैं, इसकारण आपकी समान गुरु और कोई नहीं होसकता, इस लिये भी आप परमपूजनीय हैं। इस त्रिलोकीमें आपकी तुल्य महिमावाला और कोई पुरुष है ही नहीं। परमेश्वरकी समान होना तो दूर रहा, किसीको उनके थोड़ेसे गुणोंकी समता वाला भी नहीं देखते। कोई चाहे जितना ऐश्वर्यवान् और प्रतापशाली क्यों न हो, परन्तु परमेश्वरकी बराबर नहीं होसकता। सबोंको सब प्रकारका ऐश्वर्य आप ही कृपा करके देते हैं, आपकी ही आज्ञाके अनुसार कोई निन्दित, कोई धर्मात्मा, कोई पापी, कोई प्रतापी और कोई निर्बल होते हैं, परन्तु देवता वा मनुष्य, गन्धर्व वा किन्नर किसी भी गुण कर्म आदिके कारण आपसे बढ़कर नहीं होसकता आपकी बराबर नहीं होसकता और आपका निकटस्थ होने का साहस भी नहीं करसकता। इस त्रिलोकीमें आप ही अद्वितीय और अतुलनीय परमेश्वर हैं, क्योंकि—आपकेसा प्रभाव किसीका है ही नहीं। आपके बल, वीर्य, शक्ति ऐश्वर्य और गुण कर्म आदिकी तुलना है ही नहीं, तुम्हारी

समान प्रतिमा अर्थात् आकार प्रकार आदिवाला दूसरा पदार्थ है ही नहीं। आप निश्चय ही प्रभावशाली सर्वेश्वर हैं। श्रुति भी कहती है-"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" अर्थात् तुम्हारी समान वा तुमसे अधिक और कोई है ही नहीं। परमेश्वर एकके सिवाय दो नहीं हैं, इसलिये उससे अधिक गुणोंवाले और परमेश्वरकी कल्पना करना भी पागलपन है। जब उन की समान कोई और परमेश्वर होता तो कल्पना होसकती थी, जब है ही नहीं तो एकके सिवाय दूसरे परमेश्वरके दर्शनकी आशा भी नहीं है ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ४४

अन्वय और पदार्थ

(देव) हे देव (तस्मात्) तिसकारसे (अहम्) मैं (कायम्) शरीरको (प्रणिधाय) अति नमा कर (प्रणम्य) प्रणाम करके (ईशम्) नियममें चलानेवाले (ईड्यम्) स्तुतिके योग्य (त्वाम्) आपको (प्रसादये) प्रसन्न करता हूं (पुत्रस्य) पुत्रके (पिता-इव) पिताकी समान (सख्युः) मित्रके (सखा-इव) मित्रकी समान (प्रियायाः)

प्रियाके (प्रियः इव) प्रियकी समान [अपराधम्] अपराध को (सोढुम्) सहनेके लिये (अर्हसि) योग्य हो ॥ ४४ ॥

भावार्थ

इसप्रकार भगवान्की स्तुति करके तथा अपनी अपूर्णता और पिछले जीवनके अपराधोंकी बातको स्मरण करके अर्जुन कहता है, कि-हे भगवन् ! जब मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि-आपकी महिमाका पार नहीं है और मैं जानमें या अनजानमें आपके अनेकों अपराधोंका दोषी हूँ तो आपकी कृपा और प्रसन्नताके सिवाय मेरे निस्तारका और कोई उपाय नहीं है। मैं आपके चरणकमलोंमें दण्डवत् प्रणाम करता हूँ और भीतरी भक्तिके साथ आपको अनेकों प्रकारसे साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ। हे विश्वनाथ ! हे सर्वेश्वर ! अनेकों प्रकारसे आपकी स्तुति करके मैं आपको प्रसन्न करनेका उद्योग करता हूँ। आपके प्रसन्न विना हुए, आपकी कृपाको विना पाये मैं अपने सकल उद्योग और परिश्रमको वृथा समझूँगा तथा मेरे हृदयकी सब आशा और अभिलाषारूप लतायें मुरझाजायँगी। मैं जानता हूँ, कि-केवल स्तुति और प्रणामके द्वारा ही आपकी प्रसन्नताको नहीं पासकूँगा। तुम अन्तर्यामी हो, हृदयके भावको समझ कर तुम संसारके हित अहितकी व्यवस्था करते हो और तुम परमदयालु तथा परम भक्तवत्सल हो, इस कारणसे ही मुझे आपकी कृपाको पानेका भरोसा है, इसलिये हे दीनबन्धो ! हे कृपासिन्धो ! मेरे पिछले सब अपराध आपको क्षमा करने

होंगे। जिसप्रकार पिता सकल दुष्कर्मोंके भण्डार अपने पुत्र के अपराधोंको वारंवार क्षमा करता है, जिसप्रकार मित्र मित्र के हृदयहीन आचरणको वारंवार सहलेता है और जिसप्रकार पति अपनी प्यारी पत्नीसे अचानक होजानेवाले अपराध पर कुछ ध्यान नहीं देता है, तैसे ही हे महात्मन्! हे अच्युत! हे देवेश! इस अधमजनसे बनेहुए सकल अपराधोंकी बात आपको भुलादेनी होगी, उस सबको हृदयमेंसे दूर करदेना होगा और मुझे क्षमादना देना होगा। हे श्रीनिवास! मुझे भरोसा है, कि—मेरे पिछले जीवनके अपराधोंको आप निश्चय ही क्षमा करेंगे॥ ४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

अन्वय और पदार्थ।

(देव) हे देव (अदृष्टपूर्वम्) पहिले न देखे हुए [तव] तुम्हारे [रूपम्] रूपको (दृष्ट्वा) देखकर (हृषितः—अस्मि) हर्षको प्राप्त हुआ हूँ (च) और (भयेन) आशङ्कासे (मे) मेरा (मनः) मन (प्रव्यथितम्) पीड़ाको प्राप्त हुआ है (तत्) उस पहिले (रूपम्—एव) रूपको ही (मे) मुझे

(दर्शय) दिखाइये (देवेश) हे देवेश (जगन्निवास) हे जगदाधार ! (प्रसीद) प्रसन्न हूजिये ॥ ४५ ॥

भावार्थ

अपने अपराधके लिये क्षमा प्रार्थना करके अब अर्जुन और प्रकारकी प्रार्थना करता हुआ कहता है, कि—हे विश्वरूप! आपके इस अति उग्र घोर कराल तथा पहिले कभी न देखे हुए रूपका दर्शन करके मेरे अन्तःकरणमें एकसाथ दो विरुद्ध बातें उठ रही हैं। वह यह हैं, कि—कभी तो मैं आप की ऐसी कल्पनामें भी न आनेवाली सुन्दरताको देखकर बड़ा ही आनन्दित होता हूँ और कभी इसकी घोर भयानकताकी आलोचना करके भयके मारे सुन्न हो जाता हूँ तथा कभी आपकी अलक्षित महिमा और कल्पनामें न आनेवाले विस्तारको देखकर मोहित होजाता हूँ। कभी आपके डरावनी डाढ़ोंसे भरे हुए मुखमण्डल और प्रलयाग्नि की समान कलेवर को देख शङ्कित होकर कांपने लगता हूँ। हर्ष और भय दोनोंने ही एकसाथ मेरे हृदय पर अधिकार जमालिया है। हे जगन्निवास! हे जगदाधार! हे सकल शरणागतोंके रक्षक! मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये। आपके जिस रूपको मैं चिरकाल से देखता चला आरहा हूँ, जो रूप मेरे अन्तःकरणमें सजीव विराजमान है, जो रूप शान्ति सुशीलता तथा कोमलतासे चिरकाल मेरे नयन और मनको आनन्द देता चला आरहा है। हे दयामय! आप प्रसन्न होकर फिर उस ही वसुदेवनन्दन

श्रीकृष्णरूपको धारण करिये । आपका यह पहिले न कभी देखा और न कभी चिन्तवनमें आया हुआ रूप आपके अनन्त ऐश्वर्य और असीम माहात्म्यका द्योतक होने पर भी हे हृदयनाथ ! मेरे वा और किसी दर्शकके हृदयको आनन्द देने वाला वा सन्तोषदायक नहीं है, इसलिये हे कृपानिधान ! इस महाभयानक रूपको शीघ्र ही मेरे नेत्रों के सामनेसे अन्तर्धान करलीजिये । रथके अग्रभागमें घोड़ों की लगामोंको पकड़े, हाथमें चाबुक लिये हुए श्रीकृष्णजी अपने स्वरूपसे अर्जुनके सामने विराजमान थे, तो भी अर्जुन उनको देख न सका और कातर होकर उसने प्रार्थना की, इससे अनुमान कर लेना चाहिये, कि—भगवान् योग-मायाका आश्रय किये हुए अर्थात् योगमायासे ढके हुए थे, इसलिये ही उनको किसीने नहीं देखा ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥४६॥

अन्वय और पदार्थ

(अहम्) मैं (किरीटिनम्) किरीटधारी (गदिनम्) गदाधारी (त्वाम्) आपको (तथा—एव) तैसा ही (द्रष्टुम्) देखनेको (इच्छामि) इच्छा करता हूँ (सहस्रबाहो) हे

सहस्रों भुजाओंवाले ! (विश्वमूर्त्ते) हे विश्वरूप (तेन-एव) उस ही (चतुर्भुजेन) चार भुजाओंवाले (रूपेण) रूप करके (भव) प्रकट हूजिये ॥ ४६ ॥

भावार्थ

अर्जुन भक्ति और आग्रहके साथ भगवान्‌से पहिले देखे हुए रूपको धारण करनेके लिये विनय करता हुआ कहनेलगा, कि—हे भगवन् ! हे सहस्रबाहो ! हे विश्वरूप ! आप इस रूप को अन्तर्धान करके मेरे चिरकालसे चाहे हुए और चिरकाल से देखे हुए रूपमें ही फिर दर्शन दीजिये । हे दयामय ! आपकी उस किरीट, कुण्डल, केयूर, हार आदिसे शोभाय-मान परम मनोहर मूर्त्तिका दर्शन करनेके लिये मेरा अन्तः-करण व्याकुल होरहा है। आपकी शङ्ख—चक्र—गदा—पद्मधारी दिव्य चतुर्भुज झांकीको देखनेके लिये मेरे प्राण छटपटा रहे हैं, इसलिये हे भगवन् ! इस धधकते हुए हुताशनकी समान मूर्त्तिको अन्तर्धान करके आप उस मेरी पहिले देखी हुई मूर्त्तिको ही धारण करिये । यहां शङ्का होसकती है, कि—विश्वरूप भगवान्‌का भी अर्जुनने किरीट और गदा आदि से युक्त रूपमें दर्शन किया था, फिर अब उसके दर्शनकी इच्छा क्यों हुई ? इसके उत्तरमें पूज्यपाद श्रीधर स्वामीने लिखा है कि—पहिले विश्वरूपके किरीट कुण्डल आदिका जो अर्जुनने वर्णन किया है, उसमें बहुतसे मस्तकों पर स्थित बहुतसे किरीट और बहुतसी भुजाओंमें बहुतसी गदाओंका होना सूचित होता है, उस रूपको देखना

बड़ा कठिन था और उसको देखनेमें भय लगता था। इस कारण यहां अर्जुनने भगवान्‌से एक किरीट, एक शिर और एक गदा धारण करने वाले श्रीकृष्णरूपको धारण करनेकी विनय की है। श्रीकृष्ण कंसके बन्दीखानेमें जन्म लेनेके समय शङ्ख चक्र आदि से शोभायमान चतुर्भुजधारी रूपमें प्रकट हुए थे। उनके उस दिव्य शरीरका दर्शन करके पिता वसुदेवजीने व्याकुल होकर पुत्रसे उस रूपको अन्तर्धान करनेकी प्रार्थना की थी। वसुदेवजीने श्रीकृष्णजीको चतुर्भुजी दिव्यरूपमें देखा था। प्राणसमान सखा भक्तशिरोमणि अर्जुनभी कभी २ भगवान्‌के इस रूपका दर्शन पाता था, इसलिये ही उसने अबभी उस पहिले देखे हुए रूपका दर्शन करने की ही अभिलाषा प्रकटकी है, कोई २ अनुमान करते हैं, कि—अर्जुन सदा ही श्रीकृष्णका चतुर्भुजी रूपमें दर्शन किया करता था॥ ४६ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ४७

अन्वय और पदार्थ

(श्रीभगवान्) श्रीभगवान् (उवाच) बोले (अर्जुन)

हे अर्जुन (प्रसन्नेन) प्रसन्न हुए (मया) मैंने (आत्मयोगात्) अपनी अलौकिक शक्तिसे (तव) तुझे (इदम्) यह (तेजोमयम्) बड़ा तेजस्वी (अनन्तम्) अन्तरहित (आद्यम्) सबका आदि (परम्) श्रेष्ठ (विश्वम्) विराट (रूपम्) रूप (दर्शितम्) दिखाया है (यत) जो (मे) मेरा [रूपम्] रूप (त्वदन्येन) तेरे सिवाय किसी दूसरेने (दृष्टपूर्वम्) पहिले देखा हुआ (न) नहीं है ॥ ४७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने वारंवार विराटरूपके दर्शनके कारणसे अपने भय और विस्मयकी बात कही है, कभी विस्मययुक्त हर्षकी बात भी कही है और श्रीभगवान्से ऐसे भयदायक रूपको समेट लेनेके लिये प्रार्थना करके उनकी प्रसन्नताकी भिक्षा भी मांगी है। अब अर्जुनके हृदयको स्वस्थ और शान्त करनेके लिये भक्तको अपनी प्रसन्नता और दयालुता समझानेके लिये भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें अर्जुनके हृदयका भय दूर करते हुए कहते हैं, कि—हे सखे ! मैं इस समय तेरे ऊपर बड़ा ही प्रसन्न हूँ, इसकारण मैंने तुझे यह अपना विश्वरूप दिखाया है। मैं तेरे हृदयको भयभीत करना नहीं चाहता हूँ और तुझे विस्मयमें डालकर व्याकुल करनेका भी मेरा अभिप्राय नहीं है, तेरे ऊपर मेरा असीम अनुग्रह है ! तेरे साथ मेरा अटूट प्रेमबन्धन है, इसके सिवाय तू भक्तिकी प्रगाढ़ताके कारण विश्वासके परिपाकके कारण और ज्ञानकी दृढताके कारण मेरा परम प्रेमपात्र है। इसलिये मैं निर-

न्तर तेरे ऊपर सब प्रकारसे अनुग्रह दिखानेके लिये तयार रहता हूँ और तेरे ऊपर सदा प्रसन्न हूँ। मैंने अपनी योग मायाके प्रभावसे अथवा ईश्वरीय शक्तिके द्वारा तेरे चित्तकी उत्कण्ठा दूर करनेकी इच्छासे अपना वास्तविक तत्त्व तुझे समझा देनेकी वासनासे यह विश्वरूप धारण किया था। हे सखे ! तू समझगया होगा, कि-जिसकी इच्छासे विश्व का विकाश है, सुरूप, वा कुरूप सब ही अपनी २ दशामें दीखरहे हैं, सकल मूर्त्तिमान् पदार्थ जिसका स्फुरणमात्र हैं। सृष्टि स्थिति और प्रलय जिसकी वासनाके अधीन है, उस सर्वव्यापी सर्वतोमुख विश्वेश्वरके लिये किसी प्रकारका भी रूप धारण करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। मेरा यह धधकते हुए अग्निकी समान तेजसे दिपनेवाला विश्वव्यापक, आदि मध्य और अन्तसे रहित अपरिच्छिन्न रूप पहिले किसीने भी नहीं देखा था। बड़ीभारी साधनाके फलसे बड़ी भारी तपस्याके द्वारा बहुत ही बढीहुई भक्तिनिष्ठाके प्रभावसे और निर्मल ज्ञानके पकजाने पर मेरे इस रूपका दर्शन मिले तो मिल भी सकता है। परन्तु अचानक वा अनायासमें इसका दर्शन कोई भी नहीं पासकता, आज तूने मेरे जिस रूपका दर्शन पाया है, यह न समझना, कि-मनुष्य प्रति दिन इसका दर्शन पासकते हैं। इसका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ तथा परम सौभाग्यका सूचक है। अब तू समझ देख, कि-बड़ा ही प्रसन्न होनेके कारण मैंने तुझे यह रूप दिखाया है, इसलिये तू औरोंको दुर्लभ इस रूपके दर्शनसे भयभीत

और व्याकुल क्यों होता है, भय और विस्मयको त्यागदे ४७

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

अन्वय और पदार्थ

(कुरुप्रवीर) हे कुरुवंशके धुरन्धर ! (वेदयज्ञाध्ययनैः) वेदाध्ययन और यज्ञोंके द्वारा (न) नहीं (दानैः) तुला-पुरुष आदि दानोंके द्वारा (न) नहीं (क्रियाभिः) अग्नि-होत्र आदिके द्वारा (न) नहीं (उग्रैः) कठोर (च) और (तपोभिः) चान्द्रायणव्रत आदि तपोंके द्वारा (न) नहीं (एवंरूपः) ऐसे रूपवाला (अहम्) मैं (त्वदन्येन) तेरे सिवाय और किसीके द्वारा (नृलोके) भूमण्डल पर (द्रष्टुम्) देखनेको (शक्यः) योग्य हूँ ॥ ४८ ॥

भावार्थ

इस विराटरूपके दर्शनका सौभाग्य हरएकको नहीं प्राप्त होता है, यह बात दिखाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं, कि-हे कुरुवंशमें परम वीर मित्र अर्जुन ! तू जगत्में प्रसिद्ध कुरुके वंशका भूषण है, मेरे जो इस विराटरूपका तूने दर्शन किया है, इसको अनेकों साधनोंके फलसे भी कोई नहीं

देख पाता है। शास्त्रमें लिखी हुई रीतिके अनुसार ब्रह्मचर्य आदिका अनुष्ठान करते हुए चिरकाल तक यथायोग्य रीतिसे गुरुके पास अङ्गों सहित वेदका अध्ययन करनेपर धर्माचरणमें बहुत ही रुचि बढ़जाती है, ज्ञानका उदय होता है और नानाप्रकार का तत्त्व मालूम होजाता है, परन्तु उससे भी ऐसा भगवान्‌की विराटमूर्त्तिका दर्शन-रूप सौभाग्य प्राप्त नहीं होता है। वेदको पढ़नेसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी सहायतासे यज्ञ करनेकी रुचि उत्पन्न होती है और कल्पसूत्र मीमांसा आदि शास्त्रोंको पढ़नेके फलसे उन यज्ञोंको विधि और क्रमसे करनेकी शक्ति और ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसे उपदेश किये हुए राजसूय यज्ञ आदिके फलसे परलोकके अनेकों सुख सौभाग्यकी प्राप्तिका उपाय होसकता है, परन्तु मेरे ऐसे रूपका दर्शन उससे भी नहीं होसकता। मनुष्य पुण्यप्राप्तिके लिये अनेकों प्रकारके दान देते हैं, तुलादान आदिके फलसे परलोकमें अनेकों प्रकारकी सद्गति मिलना लिखा है, परन्तु मेरे ऐसे रूपका दर्शन उससे भी नहीं होसकता। वेदाध्ययन आदिके करनेसे मनुष्योंकी अनेकों प्रकारके सत्कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है। शास्त्रमें लिखे हुए अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास आदि कर्मोंके फलसे परलोकमें अनेकों प्रकारकी सद्गति प्राप्त होती है। सौ अश्वमेधके द्वारा इन्द्रपद पर्यन्त मिलजाता है, परन्तु राजाओंके उस महा यज्ञानुष्ठानसे वा साधारण पुरुषोंके किये हुए साधारण कर्मानुष्ठानसे ऐसे विश्वरूपका दर्शन नहीं होता है। चिरकाल

तक निर्जन वनोंमें वा पहाड़ोंकी गुफाओंमें रहकर तपस्या आदि करने पर वा अति कष्टसाध्य कृच्छ्रचान्द्रायण आदि कठोर व्रतोंको करके शरीर और इन्द्रियोंका निग्रह करने पर परिणाममें अनेकों शुभ फल प्राप्त होते हैं, परन्तु मेरे ऐसे रूपका दर्शन उससे भी नहीं होता है। मेरे ऐसे रूपको नर-लोकमें तो कभी कोई देख ही नहीं सकता। किसी प्रकारके भी साधनके बलसे कोई भी मुझे इस रूपमें नहीं देखसकता हे अर्जुन ! तेरे ऊपर मेरी बड़ीभारी कृपा है, इस कारण तू इस रूपको देखसका है, इससे सिद्ध होता है कि—भक्तवत्सल भगवान् भक्तिके ही अधीन हैं, भक्तके ऊपर दयालु होकर मैं कृपा दिखानेके लिये तयार हूँ। "धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता। मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥" अर्थात्—मेरी भक्तिसे हीन धर्म, सत्य दयासे युक्त होने पर भी और मेरी भक्तिसे हीन विद्या तपस्यासे युक्त होने पर भी मुझे पानेमें सहायक नहीं होसकती ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(ईदृक्) ऐसे (घोरम्) भयानक (मम) मेरे (इदम्)

इस (रूपम्) विश्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (ते) तुझे (व्यथा) पीड़ा (मा) नहीं [अस्तु] हो (च) और (विमूढभावः) चित्तकी व्याकुलता (मा) नहीं [अस्तु] हो (त्वम्) तू (पुनः) फिर (व्यपेतभीः) भयरहित (प्रीतमनाः) प्रसन्नचित्त [सन्] होता हुआ (मे) मेरे (इदम्) इस (तत्) उस (रूपम्) रूपको (प्रपश्य) देख ॥ ४९ ॥

भावार्थ

अर्जुनने पहिले वारंवार अपने भय, व्याकुलता और चञ्चलताकी बात प्रकट की है और इस भयदायक विश्वरूप को समेटकर श्रीभगवान्से फिर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारि चतुर्भुज नीलकान्त मणिकी समान अति उज्ज्वल मनोहर रूपको धारण करनेकी प्रार्थना की है। परमप्रेमी शिष्य और अभिन्नहृदय भाई अर्जुनका कहना पूरा करनेके लिये श्रीभगवान् पहिले परममधुर अभयवाणीके द्वारा उसके भयको दूर करते हैं और साथ ही साथ, उसके प्रार्थना किये हुए रूपको धारण करके उसको दिखाने के लिये पुकारते हुए श्रीभगवान् कहते हैं, कि-हे धनञ्जय ! तू अब अपने हृदयमें दुःखित न हो। मेरे भयावने विश्व रूपको देखनेसे तेरे हृदयमें जो व्याकुलता उत्पन्न होगई थी, उसको अब अपने हृदयमेंसे दूर कर और उस अलौकिक रूपके दर्शनसे जो तू विस्मयमें पड़गया था तथा तेरा चित्त जो मोहसे ढकगया था, उस सबको अब तू भूल जा, चेष्टा

हीनता वा मोहका अब कोई कारण नहीं है, मेरे अति अद्भुत रूपको देखनेसे तेरे चित्तमें जो विकार उठ खड़ा हुआ था, उसको दूर करके अब तू शान्तचित्त हो। सब प्रकारके भय वा व्याकुलतासे शून्य होकर अब मेरी दिव्य मूर्त्तिका दर्शन कर। तेरी ही प्रार्थनासे तुझे ही प्रसन्न करनेके लिये अब मैं चतुर्भुजी रमणीय मूर्त्तिको धारण करता हूँ। अब तू पूर्ण आनन्दमें गोता लगाकर प्रसन्न मनसे मेरे इस मनोहर रूपका दर्शन कर। दुराचारी दुर्योधनकी सभामें जिस समय पुण्यशीला द्रौपदीका अपमान हुआ था, उस समय भीष्म आदि वीर-पुरुष मौन धारण किये हुए सभामें बैठे रहे थे, उस समयसे ही मैं कुपित होकर उनका प्राणान्त करनेके सङ्कल्पमें बँध चुका हूँ, वह संहारका काम मेरे द्वारा ही सुसिद्ध होगा, यही बात दिखानेके लिये मैंने घोर उग्र कराल रूप धारण किया था, तुझे भय दिखाना वा व्याकुल करना मेरा उद्देश्य नहीं था, इस कारण हे अर्जुन! अब तू निर्भय होकर मेरे दिव्य रूपका दर्शन कर ॥ ४९ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

अन्वय और पदार्थ

(सञ्जयः) सञ्जय (उवाच) बोला (वासुदेवः) श्रीकृष्ण (अर्जुनम्) अर्जुनसे (इति) ऐसा (उक्त्वा) कहकर (भूयः) फिर (तथा) तैसे ही (स्वकम्) अपने (रूपम्) रूपको (दर्शयामास) दिखाते हुए (महात्मा) परमदयालु (सौम्यवपुः) शान्तमूर्त्ति (भूत्वा) होकर (भीतम्) भयभीत हुए (एनम्) इस अर्जुनको (पुनः) फिर (च) भी (आश्वासयामास) आश्वासन देतेहुए ॥ ५० ॥

भावार्थ

इसके अनन्तर क्या घटना हुई उसका ही वर्णन करता हुआ परमधार्मिक सञ्जय कहता है, कि-श्रीभगवान्ने इस दिव्य रूपसे अर्जुनका भय दूर करके और उसको प्रसन्न स्वस्थ तथा विनोदित करके अपना रूप धारण किया। उन्होंने शंख-चक्र-गदा-पद्मसे शोभायमान चतुर्भुजी रूप धारण किया किरीट कुण्डल आदिसे भूषित होगये, पवित्र माला और अनुलेपन आदिसे उनका कलेवर दिपने लगा, श्रीवत्स आदि दिव्य चिन्ह उनके देहमें प्रकट होगये, और वह जिस रूपसे कंसके कारागारमें प्रकट हुए थे, जिस रूप का दर्शन करके भयभीत हुए वसुदेवजीने उनसे मानवरूप धारण करनेकी प्रार्थना की थी और जिस रूपका अर्जुन समय २ पर दर्शन पाया करता था उसही अर्जुनके अभिलषित दिव्य रूपको धारण किया। इस मनोहर श्यामसुन्दर रूपको धारण करके वह विश्वेश्वर सर्वभूतात्मा महापुरुष फिर

अर्जुनका भय दूर करके उसको प्रसन्न करनेके लिये आश्वासन देनेलगे। श्रीभगवान्‌के जिस रूपका अर्जुन अभी दर्शन कररहा था वह घोर और भयानक था, तिस पर भी वह पहिले कभी देखा हुआ नहीं था। परिचित प्रेमोद्दीपक परम रमणीय रूपके दर्शनके लिये भगवान्‌से प्रार्थनाकी है, उसकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्‌ने मोहनरूप धारण किया और उसको निर्भय करनेके लिये आश्वासन दिया ॥ ५० ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला (जनार्दन) हे कृष्ण ! (तव) तुम्हारे (इदम्) इस (सौम्यम्) सुन्दर (मानुषम्) मनुष्य जातिके (रूपम्) रूपको (दृष्ट्वा) देख कर (इदानीम्) इस समय [अहम्] मैं (सचेताः) स्थिरचित्त (संवृत्तः—अस्मि) हुआ हूँ (प्रकृतिम्) स्वस्थता को (गतः) प्राप्त [अस्मि] हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

भावार्थ

अब अर्जुन सब प्रकारका भय, व्याकुलता और चित्तविकारसे रहित होकर बड़े आनन्दके साथ चिरपरिचित भगवान्‌के रूप

का दर्शन करता २ कहने लगा, कि—हे जनार्दन ! आपके धारण कियेहुए इस भुवनमोहन परम रमणीय अपने चाहे हुए प्रसन्न रूपका दर्शन करके मैं इस समय परमसन्तोषका अनुभव कर रहा हूँ। मेरे चित्तकी सब विकलता दूर होगयी है और पहिले आपकी अतिउग्र मूर्त्तिका दर्शन करनेसे जो मेरा हृदय काँपने लगा था और अङ्गोंमें विकलता हो-उठी थी, वह सब दुःख इस समय दूर होगया है, अब मैं स्वस्थताके सुखका अनुभव करके पूर्ण रूपसे प्रसन्न हूँ। चैतन्यानन्दविग्रह श्रीकृष्ण कभी द्विभुज और कभी चतुर्भुजी रूपसे यादव और पाण्डवोंके साथ प्रेम और आनन्दकी क्रीड़ा तथा कौतुक किया करते थे, इसलिये ही यहां उनकी चतुर्भुजी मूर्त्तिको मनुजरूपसे वर्णन किया है ॥५१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अन्वय और पदार्थ

(श्रीभगवान्) श्रीभगवान् (उवाच) बोले [अर्जुन] हे अर्जुन (मम) मेरे (इदम्) इस (सुदुर्दर्शम्) बड़ी ही कठिनतासे देखने योग्य (यत्) जिस (रूपम्) रूपको (दृष्टवान्-असि) देखचुका है (देवाः अपि) देवता भी

(अस्य) इस (रूपस्य) रूपका (नित्यम्) सदा (दर्शनकांक्षिणः) दर्शन चाहनेवाले [सन्ति] हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थ

अर्जुनको फिर भयशून्य, प्रसन्नचित और स्वस्थ हुआ देखकर श्रीभगवान् अर्जुनके परमसौभाग्यकी बात कहनेकी इच्छासे प्रेमगद्गद स्वरमें कहने लगे, कि—हे धनञ्जय ! तूने अभी मेरे जिस भयानक रूपका दर्शन किया है वह अतिक्लेश, परम परिश्रम और बड़ी भारी साधनाके बलसे भी देखनेको नहीं मिलता है। मैं तुझसे पहिले ही कहचुका हूँ, कि—दान, यज्ञ, धर्म, व्रत, तपस्यादि करने के फलसे भी मेरे जिसरूपका कोई दर्शन नहीं पासकता। मैं फिर तुझसे कहता हूँ, कि—देवता भी मेरे उस रूपके दर्शनके लिये नित्य अभिलाषा करते हैं। तेरे प्रेममें बँधकर, तेरी भक्तिसे विगलित होकर और तेरी प्रार्थनाके वशमें होकर मैंने तुझे जो रूप दिखाया है, उसको देखनेका सौभाग्य परमपुण्यात्मा स्वर्गलोकवासी सकलशक्तिमान् देवताओंको भी कदाचित् ही प्राप्त होता हो, तूने जो इसका दर्शन पाया, यह तेरे असीम पुण्य और सौभाग्यका सूचक है। देवता श्रीभगवान्के सहस्रशीर्ष और सहस्रपाद आदिसे युक्त विश्वरूप का दर्शन करके अर्जुनकी समान भयसे व्याकुल नहीं होते हैं। वह ऐसे रूपका दर्शन करके प्रसन्न मनसे श्रीभगवान् की स्तुतियों को पढ़तेहुए पूर्ण आनन्दका सुख भोगते हैं, परन्तु अर्जुन उस रूपको देखकर भयसे व्याकुल और बड़े

ही विस्मयमें होगया था। ऐसा होनेका कारण यह था, कि—उसने भगवान्के अनुग्रहसे दिव्य चक्षु पाया था, परन्तु उसके साथमें देवताओंकी समान दिव्य मन नहीं पाया था। यह सत्य है, कि—वह दिव्य चक्षुको पाकर विश्वरूप के दर्शनका अधिकारी होगया था परन्तु दिव्य मन न मिलनेके कारण उसका चित्त देवताओंकी समान प्रसन्न नहीं हुआ। इसलिये जिस रूपका दर्शन पानेके लिये देवता नित्य लालसा लगाये रहते हैं उस रूपका दर्शन करके भयभीत हुए अर्जुनने भगवान्से उसको समेटनेके लिये बड़े आग्रहके साथ अनुरोध किया था 'देवता नित्य इस रूपका दर्शन करने की लालसा लगाये रहते हैं' इस कथनसे यह बात प्रमाणित नहीं होती है, कि—वह नित्य ही इस रूपका दर्शन पासकते हैं,इस कारण इसका दर्शन होना इतना दुर्लभ है, कि—देवता नित्य लालसा होने पर भी कभी इसका दर्शन पाते हैं या नहीं, इसमें सन्देह ही है ॥ ५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम ॥ ५३ ॥

अन्वय और पदार्थ

[त्वम्] तू (यत्) जैसा (माम्) मुझको (दृष्टवान् असि) देखचुका है (एवंविधः) ऐसे रूपवाला (अहम्)

में (वेदैः) वेदाध्ययनोंके द्वारा (न) नहीं (तपसा) कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तपस्याके द्वारा (न) नहीं (दानेन) गौ भूमि आदिके दानके द्वारा (न) नहीं (च) और (इज्यया) यज्ञके द्वारा (द्रष्टुम्) देखनेको (न) नहीं (शक्यः) समर्थ हूँ॥ ५३ ॥

भावार्थ

पहिले श्लोकमें भगवान्ने, मेरे विश्वरूपका दर्शन मिलना बड़ा ही कठिन है और देवता भी उसके दर्शनकी लालसा लगाये रहते हैं, यह अभिप्राय दिखाया है। अब उस अभिप्रायका और अधिक समर्थन करनेके लिये कहते हैं, कि–ऋक्, साम, यजु और अथर्व इन चारों वेदोंकी आलोचना करने पर मनुष्यका ज्ञानरूप नेत्र खुलजाता है और सार तथा असार दोनों भेदका निश्चय करनेकी शक्ति उत्पन्न होजाती है। परन्तु उसके प्रभावसे भी मेरे विश्वरूपका दर्शन करनेकी शक्ति प्राप्त नहीं होती है। अतिउग्र तपस्या और कठोर रूप से शरीर इन्द्रियादि को सुखा देनेसे चित्तकी वृत्तिका संयम तो होजाता है तथा देवताओंकी कृपा भी प्राप्त होजाती है, परन्तु इस उपायसे भी विश्वरूपके दर्शनका अधिकार प्राप्त नहीं होता है। गौ रत्न आदिके दानसे परमपुण्यका संचय होता है और तिथिविशेषमें विशेष पर्व वा योग आजाने पर विशेष दान करनेसे पारलौकिक शुभफलकी प्राप्तिमें अवश्य उन्नति होती है परन्तु उससे भी मेरे विश्वरूपके दर्शनका अधिकार प्राप्त नहीं होता है। शास्त्रमें लिखी हुई

रीतिसे यज्ञानुष्ठान करने से वा पूजा अर्चना आदिके द्वारा अनेकों पुण्योंकी प्राप्ति और सद्गति अवश्य होती है परन्तु उसमें भी मेरे विश्वरूपके दर्शनका उपाय नहीं होता है । हे अर्जुन ! तूने मेरे जिस रूपका दर्शन किया है उसको किसी प्रकारके अनुष्ठान वा कर्म मार्गमें को चलनेसे कोई भी नहीं देख सकता । केवल भक्तिरूप परमधनके द्वारा जिसका हृदयभण्डार परिपूर्ण होरहा है, पूर्ण विश्वासके उज्ज्वल प्रकाशसे जिसके अन्तःकारणका अन्धकार निःशेष रूपसे दूर होगया है वही भक्तशिरोमणि मेरे उस रूपका दर्शन पानेका अधिकारी होता है, हे अर्जुन ! ऐसे अलौकिक पुण्यके बलसे तूने उसका दर्शन पाया है, और किसीमें भी उसका दर्शन करनेकी शक्ति नहीं है ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवम्विधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥ ५४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(परन्तप) हे शत्रुतापन (अर्जुन) हे अर्जुन (अनन्यया) एकान्त (भक्त्या-तु) भक्तिके द्वारा तो (एवंविधः) ऐसा रूप धारण करनेवाला (अहम्) मैं (तत्त्वेन) स्वरूप से (ज्ञातुम्) जाननेको (द्रष्टुम्) साक्षात्कार करनेको (च) और (प्रवेष्टुम्) प्रवेश करनेको (शक्य) शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

भावार्थ

श्रीभगवानने विशेषरूपसे कहदिया, कि—मेरा विश्वरूप वेदाध्ययन, दान, तपस्या, व्रत, नियम आदिसे दर्शन करनेको नहीं मिलसकता। यहां स्वयं ही यह प्रश्न उठसकता है,कि—तो कौन पुरुष किस उपायसे उस देवताओंकी नित्य अभिलषित मूर्तिका दर्शन पाकर धन्य हो सकता है ?। इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, कि—मेरे उस रूपका दर्शन केवल भक्तिसे ही होसकता है। जिसके हृदयमें निर्मल भक्तिका सोता बहने लगता है। भक्तिकी प्रबलतासे जिसके हृदयमें से सन्देहकी कजौंच और अविश्वासरूप पाप निःशेषरूपसे नष्ट होगया है। भक्तिरूप वृक्षकी परमशीतल छाया में बैठकर जो परमशांति और अनुपम सन्तोष का अनुभव करते हैं,वे ही मेरे इस रूपका दर्शन पाते हैं। सहस्रों धाराओंसे बहनेवाली भगवती भागीरथीकी समान जिनकी भक्तिकी अनन्त धाराएं केवल मुझमें ही आकर मिलती हैं। जिसकी भक्ति,हृदय को स्त्री पुत्र, धन सम्पदा, सन्मान गौरव आदि सकल आसक्तियोंसे छुटाकर, पृथिवीकी सकल क्षणिक खिंचावटोंसे हटा कर मुझमें लीन करदेती है। जो क्या सोतेमें, क्या जागतेमें, क्या काम करतेमें और क्या विश्राम करतेमें सदा ही मेरी चिन्ताके सिवाय और किसी चिन्ताको नहीं करता, जिसके ज्ञान और ध्यान का विषय एकमात्र मैं ही होता हूं। जो विश्वके सकल पदार्थोंमें केवल मुझे ही देखता है। जो लावण्यमयी परम-

प्यारी कामिनीके प्रेमपूर्ण मुखकमलमें केवल मुझको ही देखता है। जो स्नेहास्पद प्रेममय नेत्रोंको आनन्द देनेवाले पुत्रको गोदीमें लेकर मानो मेरे ही साथ प्रेम कररहा है ऐसा मानता है। जो शरद्‌पूर्णिमाकी शोभामयी रात्रिमें मानो मुझ विश्वभूमिके प्रेमप्रवाहमें गोता लगारहा है ऐसा मानता है। जो वसन्त ऋतुके नये समागममें नयी फूटी हुई आम्र-मञ्जरीकी सुगन्धमें नये निकले हुए कोमल पत्तोंकी शोभामें परमसुखदायक दक्षिणी पवनके मधुर स्पर्शमें और कोकिलाके पञ्चमस्वरके आलापमें मेरी मधुरता और मेरे ही विकाशका अनुभव करता है वह भक्तशिरोमणि ही मेरे परम आदरका पात्र है तथा देवता भी उसका सङ्ग करना चाहते हैं। वही भक्तवर्य महात्मा मेरे विश्वरूपके दर्शनका अधिकारी है। उस को वेदोंके अध्ययनकी आवश्यकता नहीं है, ज्ञान पानेके लिये गुरुके पास शिर झुकाकर खड़े रहने की आवश्यकता नहीं है, उसको शुभ योग वा शुभमुहूर्त्तमें दान करने की आवश्यकता नहीं है, कठोर ब्रह्मचर्य और महान् क्लेशके साथ तपस्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, अनेकों साम-ग्रियें इकट्ठी करके अति परिश्रम के साथ यज्ञ आदि करनेकी आवश्यकता नहीं है और अतिकष्टदायक कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतोंके करने की आवश्यकता नहीं है। जिस भक्तिरूप अलौकिक प्रकाशके द्वारा नेत्र खुले हैं, और सब सहायता-ओंको छोड़कर केवल उस ही दिव्य ज्योतिके द्वारा निर्मल हुए दिव्य नेत्रोंके द्वारा मेरे रूपका दर्शन करके वह धन्य होजाता है। ऐसा परमभक्त केवल मेरा दर्शन करके ही

चुप नहीं हो बैठता है, किन्तु वह अनायासमें मेरे सम्यक् तत्त्वको जानकर मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् सर्वत्र मेरा दर्शन करनेके कारण निरन्तर मेरा चिन्तवन करनेके कारण तथा निरन्तर मेरे पूजन और कीर्त्तन आदिके द्वारा वह मेरे भाव और रहस्यको उत्तमताके साथ चित्त पर आरूढ़ करनेकी शक्ति पाजाता है और इस प्रकार भगवद्ज्ञान हो जानेके कारण तन्मयताको प्राप्त होजाता है अथवा मुझमें ही लीन होजाता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! अनन्य-भक्ति किसको कहते हैं। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं, ऐसा समझ कर मेरे ऊपर परमप्रीति रखनेका नाम अनन्यभक्ति है! अर्जुनने कहा, कि-हे भग-वन्! जब वेदपाठ, दान, तपस्या, व्रत आदिके द्वारा आपके विश्वरूपका दर्शन नहीं होसकता, तो इन सबके करने की क्या आवश्यकता है?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! वेदपाठ, दान, तपस्या, व्रत, नियम आदिके द्वारा चित्त भगवान्के भावको ग्रहण करता है, चित्तमेंसे विषयवासना दूर होजाती हैं, जिस समय भगवान्की प्रसन्नता उनकी आज्ञाका पालन करनेसे प्राप्त होजाती है, उस समय वह साधकके ऊपर सन्तुष्ट होकर उसको विश्वरूप दिखा देते हैं। दर्शन होजाने पर सदा मेरा चिन्तवन और मेरा पूजन होता है। उस समय मेरी सब विभूति साधकके सामने प्रकाशित होजाती है। किसी मनुष्यकी आज्ञाका पालन करने पर वह मनुष्य तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होगा प्रसन्न होने पर

वह तुम्हारी अभिलाषाओंको पूरी करेगा, मैं प्रसन्न होने पर तुझे विश्वरूपका दर्शन देरहा हूँ और तुझे संसारसागरके पार कर रहा हूँ, इससे अधिक मनुष्यजीवनकी और क्या सफलता होगी?। श्रुति भी कहती है-"नायमात्मा प्रवचनेन-लभ्यो न मेधया नो बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥" अर्थात् बहुतसा वेद शास्त्र पढ़ कर वक्तृता करनेसे अथवा बहुतसे शास्त्रोंके श्रवणमात्र आदिसे यह आत्मा नहीं मिलता है, किन्तु ज्ञानी जो परमात्माको जानना चाहता है उस ही उग्र इच्छा के द्वारा यह परमात्मा मिलता है, और किसी साधनासे वह मिल ही नहीं सकता। यह आत्मा साधकके हृदयमें अपने आत्मतत्त्वस्वरूपको, अविद्याका परदा हटाता हुआ प्रकाशित करता है और कहता है, कि-"नायमात्मा बल-हीनेन लभ्यः।" योगरूप बलसे हीनको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है। जिसको चित्तकी समतारूप योगबल प्राप्त नहीं होता है,उसको आत्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती है॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः
सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु
यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

अन्वय और पदार्थ

(पाण्डव) हे अर्जुन! (यः) जो (मत्कर्मकृत्) मेरे

लिये ही कर्म करने वाला (मत्परमः) मुझे ही सबसे बढ़ कर पाने योग्य मानने वाला (मद्भक्तः) मेरे भजनमें तत्पर (सङ्गवर्जितः) विषयोंकी इच्छासे रहित (च) और (सर्वभूतेषु) सब प्राणियोंमें (निर्वैरः) द्वेषरहित [अस्ति] है (सः) वह (माम्) मुझको (एति) प्राप्त होता है ५५

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आपने कृपा करके विश्वरूपका दर्शन कराया, मुझे अनेकों प्रकारसे अपने स्वरूपका ज्ञान देते हो, अन्तमें अवश्य ही मुझे संसारसे मुक्ति प्राप्त होगी। आप कहते हैं अनन्य भक्ति होजायगी तब "ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप।" सकल निष्ठा और सकल अनुष्ठानोंको त्यागकर आपमें निष्ठा होने से ही जीवको सब दुःखोंकी निवृत्तिरूप परमानन्दकी प्राप्ति होगी। अब यह बताइये कि–जीव किस उपायसे सर्वदा आपको पासकता है ?। भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! मत्कर्मकृत् होजा, जबतक तू अपने कर्मोंको अपना कर्त्तव्य समझैगा, तबतक तुझे बड़ा भारी अज्ञान है। तब तक सकल लौकिक कर्म मुझे अर्पण करदेनेका अभ्यास कर। जो कुछ करै, जो कुछ खाय, जो कुछ देय इत्यादि जो कुछ करै वह सब मेरे सन्तोषके ही लिये करता है, जब ऐसा अभ्यास होजायगा जब स्नान, भोजन औरशयन तक भी मेरे ही अर्पण होजायगा, तब ही तू मत्कर्मकृत् होसकेगा। इस अवस्थामें तू मेरी आज्ञाका पालन

करनेके लिये वेदविहित कर्ममात्रको कर्त्तव्य कर्म समझ कर करेगा। यज्ञ, दान, तप, सन्ध्या, पूजा, वेदपाठ, प्राणायाम, मानसपूजा और ध्यानके सिवाय तेरा और कोई कर्म रहेगा ही नहीं। आहार विहार भी इस अवस्थामें अबुद्धिपूर्वक कर्मसा मालूम होने लगेगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! वेद-विहित यज्ञ दान आदि कर्मसे तो स्वर्गकी प्राप्ति होती है। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! जब कोई कामना नहीं है, मेरी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही, एकमात्र मैं ही प्राप्त करने योग्य हूँ, ऐसा निश्चय करके जो कर्म किया जाता है, उससे तुझे स्वर्ग आदिकी प्राप्ति नहीं होगी और तू मत्परम होजायगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! केवल एक आप ही प्राप्त करनेकी वस्तु हैं, ऐसा निश्चय होजाने पर क्या होगा?। भगवान्‌ने उत्तर दिया, कि—हे सखे! मुझे पानेके आशयसे तू मेरा भक्त होजायगा। प्राण मन अर्पण करके पूर्ण उत्साहके साथ मेरा ही भजन करेगा। सब प्रकार से खातेमें सोतेमें, स्नान करतेमें, बैठतेमें, विचरतेमें और बात चीत करतेमें भी मेरा ही भजन करेगा, क्षण भरको भी मुझे नहीं भूल सकेगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! जिसका स्त्री पुत्र आदि पर प्रेम रहता है ऐसे संसारी मनुष्यसे यह साधना कैसे होसकेगी?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! सङ्गका त्याग करना होगा, किसी बाहरी वस्तुमें अभिलाषा नहीं रहेगी तब स्त्री पुत्र आदिमेंकी आसक्ति अपने आप घट जायगी। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! संसारी पुरुष सङ्गवर्जित

कैसे होसकता हूँ, संसारमें यदि कोई द्वेष करने लगे तो क्या कियाजाय ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! सबके साथ वैरको त्यागकर निर्वैर होना होगा, कोई अपकार करे तो भी उससे द्वेष नहीं करना होगा । जिसको यह बोध हो जायगा कि-शत्रु मित्र सब मेरा अपना ही स्वरूप हैं उसको किसीसे वैरभाव करनेका अवसर ही कहां है ? । जो मत्कर्मकृत, मत्परम, मद्भक्त, सङ्गशून्य और सकलप्राणियोंमें निर्वैर होगा वह ही मुझे पावेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । हे अर्जुन ! तेरे शरीरके रोम २ में मैं हूँ । तेरे मन, प्राण और बुद्धिकी तय तयमें मैं ही हूँ । तेरे देखने सुनने, भोजन करने, न्हाने, बैठने, उठने और बातचीत आदि सब ही व्यापारोंमें मैं हूँ । बाहर जो कुछ देखता है-यह समुद्र है, यह समुद्र गरज रहा है, यह तरङ्ग है, यह तरङ्ग टूटगयी, यह नीली जलराशि है, यह सागरसे मिलाहुआ आकाश है, यह समुद्रके जलमें सूर्यका उदय होरहा है, यह सूर्यका अस्त होरहा है,यह विचित्र तारागणोंसे भरा हुआ नीला आकाश है, यह अन्धकार है, यह बालुका का ढेर है, यह विचित्र जीवोंका समूह है, यह मनुष्य है, यह स्त्री है, यह जगन्नाथ हैं, यह इन्द्रादि देवता हैं । इन सबके ही अणु २ में हे अर्जुन जब मुझे देखेगा । जब किसी व्यापार में मेरा स्मरण न रहने पर विकल (बेताब) होजायगा तब समझना, कि-मेरी अनन्य भक्ति होगई । इस विश्वरूपके दर्शनमें मेरा अङ्गरूप बनाहुआ जब सब ही कुछ देखा है तो सांप कह,

चाहे मगर कह, नाका कह चाहे सिंह रीछ आदि कह सब मैं ही हूँ, मुझसे भय कैसा? सब समय सब वस्तुओंमें मुझे ही देख, मेरा ही भजन कर। हृदयका राजा मैं हूँ, अपने हृदयमें मेरा ध्यान और धारणा कर, सदा मेरे ही साथ बातें कर, सब सम्मति मेरे ही साथ कर, जो कुछ चाहे उस सबको मेरा रूप जानकर मेरी ही चाहना कर, ऐसा करनेसे तू एकान्त वा अनन्य भक्तिकी साधना कर सकेगा, इस प्रकार सब रीतिसे साधन भजनके द्वारा अभ्यास कर तो सहजमें ही मत्कर्म-कृत् आदि होजायगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! और एक बात है, इस श्लोकके मत्कर्मकृत् मत्परम आदि पदोंमें जो मत् शब्द है उससे आपका कौनसा रूप लिया जाय?। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! इस मत् शब्दसे साकार विश्वरूप ही लिया जायगा, तेरे लिये साकार विश्व-रूपकी उपासना ही आवश्यक है। विश्वरूपकी उपासनासे तुझे यह संसार विषरूप मालूम होने लगेगा, हृदयमें प्रबल भक्ति उत्पन्न होकर सब ही मिथ्या, असार, त्यागने योग्य निकम्मा मालूम होने लगता है। उस समय ज्ञानचक्षु खुल कर दीखने लगता है, कि—इस संसाररूप नाटकशालामें मनुष्य बहुत थोड़े समयके लिये आते हैं। यह नाशवान् आवासभूमि प्राणियोंके चिरकाल रहनेका स्थान नहीं है। यहांका बन्धन और मित्रता, अनुराग और प्रेम चिरकालके सङ्गी नहीं हैं और संसारसागरको तरनेमें जरा भी सहायता नहीं देसकते, संसाररूप नाटकशालामें सबको ही नट नटी

बनकर प्रवेश करना पड़ा है, अपना २ अभिनय (तमाशा, पार्ट) करनेके अन्तमें इस घृणित और आरोपित वेष भूषण को उतार कर कुछ समय पहिले जो कुछ था सबको वही होना पड़ेगा और जो काम जिसका कर्त्तव्य है उसको वही करना पड़ेगा । उस समय ध्यानमें आवेगा, कि–यह दुःख अशान्ति और क्लेशोंसे भरेहुए संसारमें सब ही असार है, मिथ्या है, सब ही क्षणभंगुर और अत्यन्त घृणित है। केवल सच्चिदानन्द विश्वेश्वर ही सार और परम सत् है। उस सार और सत् वस्तुके सङ्गके सिवाय और सबके ही सङ्गको त्याग कर वह भक्तचूड़ामणि केवल मेरे ही चरणोंमें आत्म-निवेदन करके अनुपम आनन्दको भोगता है । ऐसे साधु पुरुषकी जैसे किसीमें आसक्ति नहीं होती है तैसे ही किसी जीवके साथ शत्रुता भी नहीं होती है। जो सबमें मेरी ही झाँकी देखते हैं वह किसीसे शत्रुता कर ही नहीं सकते। किसीके घृणा और अनुचित व्यवहार करने से तथा कटुवाक्य, कहनेसे या धोखा देनेसे उनके चित्तमें विकार नहीं आता है। भगवान्के चरणोंमें अनन्य–भक्ति रखनेवाले महात्माका कोई धन छीन लेय, कोई बड़ाभारी अनिष्ट करै तो भी वह अपनी कुछ हानि नहीं मानते हैं। क्योंकि–संसारके सब ही पदार्थोंको मिथ्या मान कर वह पहिलेसे ही उनकी उपेक्षाका अभ्यास किये रहते हैं। उनका शरीर और मन भगवान्के चरणोंके चिन्तवन, भगवान्की सेवा और भगवान्की भक्तिसे परि-पूर्ण रहता है। उस परम धनको कोई चोर वा लुटेरा नहीं

छीन सकता। उसमेंसे जरासा भी कम करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। किसीका भी खोटा व्यवहार वा दुर्वचन उस हृदयकी दशाको जराभी नहीं बदलसकता, क्योंकि जो भगवान्‌के चिन्तवनसे भरा हुआ है,जो भगवान्‌के प्रेममें गोते लगा रहा है और जो भगवान्‌की भक्तिसे लिपटाहुआ है उसमें और किसी भी क्षुद्र, मिथ्या वा घृणित भावको स्थान नहीं मिलसकता, इस लिये मेरे भक्त महात्मा का किसीके साथ वैरभाव हो ही नहीं सकता। ऐसा पुरुष अपने हृदयके भावके अनुसार सबको ही परम भक्त और महापुरुष समझता है। स्वाभाविक विनय और नम्रताके कारण वह सबके ही सामने परमदीनता दिखाता है और सबको ही अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ और पूजनीय मानता है। वसुन्धराके सब ही लोग उसके कुटुम्ब की समान होते हैं। घोर पापीको भी वह अपने हृदयसे लगाता है और चाण्डालसे भी वह परम प्रेम करता है। उसकी सब ही जीवोंमें समदृष्टि होती है। हे धर्मात्मा पाण्डुके वंशके भूषण अर्जुन ! हे धर्मनन्दन युधिष्ठिरके भ्रातः ! जो ऐसे होते हैं वह ही मेरे भक्त होते हैं, वह ही मुझे पाते हैं। जिनके बाहरी काम, मनके सङ्कल्प, अभिलाषा, चेष्टा और निश्चय मैं ही हूँ, वह परम भाग्यवान् पुरुष ही अन्तमें मुझे प्राप्त होते हैं ॥ ५५ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे हठयोगाभ्यासि-ब्रह्मचारि-नर्मदानन्दकृत-अन्वय-पदार्थ-सरल भाषाभावार्थ-सहितः विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः समाप्तः।

द्वादश--अध्याय

जो मनुष्यके भाग्यमें कभी भी संघटित नहीं होता, देवता भी जिसके दर्शनके लिये नित्य लालसा लगाये रहते हैं, श्रीभगवान्‌का कृपापात्र, प्रेमास्पद अर्जुन पुण्यके प्रतापसे उस ही विश्वरूपका और उसके अनन्तर नीलकान्तमणिकी समान श्यामसुन्दर चतुर्भुजी रूपका दर्शन पाकर कृतार्थ होगया है। उसकी ज्ञानकी प्यास प्रबल हो उठी है, और अनेकों स्थानोंमें अनेकों प्रकारके प्रश्नोंके द्वारा उसने अपने अज्ञानका नाश करनेके लिये प्रयास किया था। स्वयं भगवान् उपदेश देने वाले हैं, जिस बीजसे संसाररूप वृक्षकी उत्पत्ति हुई है, जिस सोतेमेंसे अनन्त ज्ञानरूप अमृत टपकता है, जिस कारणमेंसे कार्यमात्रका विकाश हुआ है, वही सर्वेश्वर कृपासिन्धु भगवान् गुरु हैं। इसलिये ज्ञानकी प्यासको दूर करनेका ऐसा अवसर और कभी नहीं होसकता। श्रीभगवान्‌की देवरूप और नररूप मूर्त्तिका दर्शन करके ज्ञानके अभिलाषी अर्जुनकी प्यास और भी प्रबल हो उठी, तब स्थूलतत्त्वको छोड़कर सूक्ष्म तत्त्वको जाननेके लिये उसको उत्कण्ठा हुई और ब्रह्मोपासनाके भिन्न २ भावोंको जाननेके लिये व्याकुल होकर वह कहने लगा कि—

॥ अर्जुन उवाच ॥

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां

पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला (एवम्) इस आपके कहनेके अनुसार (सततयुक्ताः) निरन्तर आपमें निष्ठा रखने वाले (ये) जो (भक्ताः) भक्त (त्वाम्-पर्युपासते) आपका ध्यान करते हैं (च) और (ये अपि) जो (अव्यक्तम्) इन्द्रियोंके अगोचर (अक्षरम्) अविनाशी ब्रह्मको [पर्युपासते] ध्यान करते हैं (तेषाम्) उनमें (के) कौन (योगवित्तमाः) श्रेष्ठयोगको जानते हैं ? ॥ १ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! जो ब्रह्मकी प्रत्यक्ष दीखने वाली साकार मूर्त्तिकी उपासना करते हैं अथवा जो इन्द्रियोंके अगोचर निरुपाधिक ब्रह्मभावकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें श्रेष्ठ योगी कौन है ?। दूसरे अध्यायसे लेकर दशवें अध्याय पर्यन्त आपने अक्षर परमेश्वरकी सकल विशेषणोंसे शून्य अवस्था और सकल ऐश्वर्ययुक्त अवस्था, इन दोनों उपासनाओंकी बात कही है। फिर ग्यारहवें विश्वरूपाध्यायमें सकल जगदात्मक विश्वरूपकी उपासनाके लिये वह रूप भी दिखाया है। अब अक्षर ब्रह्मकी उपासना श्रेष्ठ है या विश्वरूपकी उपासना श्रेष्ठ है ? यह कहिये। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! तू ऐसा प्रश्न क्यों करता है ?

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! "मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः" इत्यादिमें और "भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः" इत्यादिमें भक्ति निष्ठाको ही श्रेष्ठ कहा है। "कौन्तेय प्रति जानीहि" इत्यादि श्लोकमें भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है, इस बातको सभामें खड़े हो भुजा उठाकर प्रतिज्ञा कर ऐसा कहनेके लिये मुझे उत्तेजना देचुके हो। फिर—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्ति र्विशिष्यते" इत्यादिमें और "सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यति" इत्यादिमें तथा "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" इत्यादिमें ज्ञाननिष्ठा को ही कहते हो। और भी कहते हो, कि—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इसमें भी ज्ञानको ही श्रेष्ठ कहा है तीसरे अध्यायकी आदिमें ज्ञानयोग और कर्मयोगके विषय में मेरे मनमें जैसा सन्देह उठा था यहां ज्ञान और भक्तिके विषयमें भी तैसा ही सन्देह उठता है। केवल सुनने मात्रसे काम नहीं चल सकता, सुनकर करनेकी भी आवश्यकता है। अब मैं निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करूं अथवा सगुण ब्रह्मकी उपासना करूं ?। ज्ञेय ब्रह्मको लूं या ध्येय ईश्वरको ग्रहण करूं। और स्पष्ट करके कहता हूँ, कि—हे भगवन्! आपकी जो यह श्यामसुन्दर कृष्णमूर्त्ति है—जिसने अभी विश्वरूपको धारण किया था—जिसकी विभूतिका एक अंश यह विचित्र जगत् है, उसकी मैं शरीर मन बुद्धिके द्वारा उपासना करूं अथवा आपका जो अक्षर जीवस्वरूप है वा परमात्मस्वरूप है—जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके अगोचर है, उस ही अव्यक्त चैतन्यस्वरूपको आत्मभावसे धारण करके समाधि

के द्वारा साक्षात् करनेकी चेष्टा करूँ ? । भगवान्‌ने कहा कि—हे सखे ! इसमें क्या तू अपने अधिकारका निश्चय करता है ? पहिले जैसे तूने प्रश्न किया था, कि—मेरे लिये ज्ञानयोग कल्याणकारी है या कर्मयोग कल्याणकारी है ? यहां भी क्या उसीप्रकार जानना चाहता है ? भक्त होना अच्छा है या ज्ञानी होना अच्छा है ? तू किसप्रकारका अधिकारी है क्या यही जानके लिये प्रश्न किया है ? कि—जो सततयुक्त भक्त होकर मेरी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं, इन दोनोंमे अतिशय योगवित् कौन है ? । अर्जुनने कहा, कि—हे कृष्ण ! आपने ही इस प्रश्न को मेरे सामने खड़ा कर दिया । मैंने जितना सहज समझ कर इस प्रश्नको किया था, अब देखता हूँ कि—यह प्रश्न उतना सहज नहीं है । ज्ञानी और भक्त दोनों ही योगवित् हैं । परन्तु इन दोनोंमें श्रेष्ठ योगावित् कौन है ? इसका निश्चय करनेमें लोग अनेकों प्रकारका विवाद खड़ा कर सकते हैं । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! युग युगमें, भक्त बड़ा है, या ज्ञानी बड़ा है, इस बातको लेकर लोग अनेकों प्रकारका गोलमाल कर डालते हैं, उस गोलमालकी बात मैं आगे कहूँगा, परन्तु पहिले सिद्धान्तकी बात संक्षेपमें सुन रख तो गोलमाल में पड़कर बुद्धिको नहीं खोवेगा । जो अव्यक्त अक्षर ब्रह्मको जानकर निःसङ्गभावकी स्थिति पासकते हैं वे ही निर्गुणके उपासक हैं । जो जिसकी उपासना करता है वह उसके ही स्वरूप को पाजाता है । श्रुति कहती है—

"तं तथा यथोपासते तदेव भवति"। निर्गुणका उपासक सद्योमुक्तिको पाता है—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते" उसके प्राण निकल कर बाहर नहीं जाते हैं, शरीरमेंसे उठकर ज्योतिको पाते हुए निजस्वरूपमें स्थित होजाते हैं, परन्तु सगुण उपासक क्रमसे मुक्ति पाते हैं। अनेकों लोकोंमें अनेकों प्रकारका ऐश्वर्य पाकर प्रलयकाल में ब्रह्माके साथ मुक्ति पाते हैं। अब ज्ञानी और भक्तोंके विवादकी बात कहता हूँ, सुन, ज्ञानी कहते हैं—"द्वे रूपे वासुदेवस्य व्यक्तं चाव्यक्तमेव च। अव्यक्तं ब्रह्मणो रूपं व्यक्तमेतच्चराचरम्॥" भगवान् वासुदेवके दो रूप हैं। एक अव्यक्त मूर्त्ति और दूसरा व्यक्त-मूर्त्ति। श्रुति कहती है "सगुणनिर्गुण स्वरूपं ब्रह्म" (महानारायणोपनिषद्)। गीता भी कहती है—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना" (६ । ४) जिस अव्यक्त मूर्त्तिमें परम पुरुष समस्त जगत्में व्याप्त हो कर स्थित हैं वह ही अधिष्ठान चैतन्य, परब्रह्म है, दूसरे अध्यायसे दशवें अध्याय तक इस अक्षर अव्यक्त परब्रह्मकी बात कह चुके हैं। इसका ज्ञान सगुण ब्रह्मकी उपासनाके द्वारा ही होता है। ज्ञानियोंमें कोई निर्गुण ब्रह्मकी और कोई सगुण ब्रह्मके ज्योतिःस्वरूपकी उपासना करते हैं। परब्रह्मके सकल योगैश्वर्यको, सकल ज्ञानशक्तिको जानकर उसका अनुसन्धान करना सगुण उपासना है। इस मार्ग की साधना निष्काम कर्म, आरुरुक्षु अवस्था, योगारूढ़ अवस्था वा आत्मसंस्थ योग है। निष्काम कर्म ज्ञानी और

भक्त दोनोंको करना होता है, आगेकी साधना निर्गुण उपासक और सगुण उपासक दोनोंको ही करनी होती है। फिर एकान्त में सर्व कर्म संन्यास करके 'सङ्कल्पप्रभवान् कामान्' यहाँसे लेकर 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' यह गीतामें कहा हुआ योगीका काम करना चाहिये। यह ही शम दम आदिकी साधना है। जो निर्गुण ब्रह्मके उपासक होते हैं वह मनको आत्मसंस्थ करके निःसङ्गभावसे सकल सङ्गसे शून्य आत्मस्वरूपमें स्थिति करते हैं। परन्तु जब तक देहमें अहंबुद्धि रहेगी तबतक यह स्थिति नहीं होसकती। इस लिये योगीको भक्त होना चाहिये। भक्तके लिये सगुण ब्रह्मकी उपासना वा सगुण विश्वरूपकी उपासना है, अन्तमें निर्गुणभावमें स्थिति होती है। परमात्माको ही तत्-पदार्थ कहा गया है। छठे अध्यायतक तत् पदके वाच्य अर्थका निरूपण किया गया है "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥" यहाँ से लेकर सप्तम, अष्टम, नवम, दशम और एकादश अध्याय तक पदार्थका पता देने वाला उपासना-काण्ड कहा है, यह ही तत् पदका लक्ष्य अर्थ है। 'मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः' इत्यादि ही भजन करनेका प्रकार है। ज्ञानी कहते हैं, कि-निर्गुण ब्रह्मकी उपासना बड़ी कठिन है, इस कारण वही श्रेष्ठ है। इसको सब नहीं कर सकते, इस कारण सगुण ब्रह्मका ध्यान करनेकी आवश्यकता है, इसके लिये ही विश्वरूप-दर्शन योग है। तात्पर्य यह है, कि-मन्द और मध्यम अधि-

कारियोंके लिये सगुण ईश्वर है तथा उत्तम अधिकारियोंके लिये निर्गुण ब्रह्म है। परन्तु भक्तजन इस बातको नहीं मानते। वह कहते हैं, कि—निर्गुण ब्रह्मकी उपासना सहज है, इसमें किसी मूर्त्तिका ध्यान नहीं है, हृदयमें मूर्त्तिको पधराकर मानसपूजा वा बाह्यपूजा नहीं है, केवल विश्वास करके समझ लेनेसे ही होजाती है,परन्तु साकार उपासना इसकी अपेक्षा बड़ी कठिन है, इस कारण वही श्रेष्ठ है। सब लोग भगवान्के साकाररूपमें चित्तको एकाग्र नहीं कर सकते। आत्मप्राप्तिके लिये आत्मोपासनाकी अपेक्षा भक्तिके द्वारा भगवान्की उपासना करनेसे वह शीघ्र ही मिल जाते हैं, इसमें बड़ा ही सुख है, जो ऐसा नहीं कर सकते उनके लिये ही अक्षरकी उपासना है, इसलिये अक्षरकी उपासना अधम है, साकार उपासना श्रेष्ठ है। कोई क ते हैं, कि—"अथ भक्तियोगांकुररूपमेतन्मत्कर्माणि कर्तुं न शक्नोषि ततोऽक्षरयोगमात्मानुसंधानरूपं परभक्तिजननं पूर्वषट्कोदितमाश्रित्य तदुपायतया सर्वकर्मफलत्यागं कुरु इत्यादि।" वारहवें अध्याय में मैंने अव्यक्तउपासनाकी अपेक्षा भगवदुपासना उत्तम है, यह बात दिखाकर यह भगवान्की उपासनाका उपाय दिखाता हूँ। "अव्यक्तोपासनाद्भगवदुपसानस्योत्तमत्वं प्रदर्श्य तदुपायं दर्शयत्यस्मिन्नध्याये इति माध्वः।" ज्ञानी इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—अर्जुन भक्तियोगका अधिकारी है, इसलिये भगवान्ने भक्तियोगकी साधना दिखाई है। कोई कहते हैं, कि—दूसरे अध्यायमें जीवात्माका स्वरूप कहा है।

जीवात्मा परमात्माका अंश है। जीवात्माको यथावत् जान कर वह जिनका अंश है उन अंशी श्रीहरिका ध्यान करे, यह एक मार्ग है। दूसरा मार्ग यह है, कि-श्रवण मनन आदिके द्वारा ध्यान करके मुझमें आसक्त मनवाला होजाय, यह दूसरा मार्ग सातवें अध्यायमें कहा है। योग और ज्ञान के द्वारा उनकी भक्ति करे। छठे अध्यायके अन्तमें योगियों के भजनके विषयमें जो कुछ कहा है वही अनन्यभक्ति करने वालोंका युक्ततम होना है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मैं इन विरोधकी बातोंको सुनना नहीं चाहता, मुझे तो आप निश्चित बात बता दीजिये। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! तू जो कहता है, कि-जो मेरे अव्यक्त रूपकी उपासना करते हैं वह भी योगवित् हैं तथापि इन दोनों योगविदोंमें योगवित्तम अर्थात् श्रेष्ठ योगवित् कौन है? तू वास्तविक तत्त्वको न समझने के कारण ऐसा प्रश्न करता है, यह प्रश्न करना ठीक नहीं है। योगका अर्थ है युक्त होना। आत्माके साथ देहका, चित्तका वा प्रकृतिका योग (युक्त होना) जैसे अति निकट है तैसे ही विश्वरूप का उपासक, अपनेको विश्वरूप मानकर जब मुझमें युक्त होजाता है यह योग ही सर्वोत्तम योग है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं, इसलिये विश्वरूपके उपासक योग वित्तम हैं। भक्त मेरा देह मेरी प्रकृति है और ज्ञानी मेरा आत्मा हैं। तब यह प्रश्न कैसे होसकता है कि-ज्ञानी युक्ततम हैं या नहीं है? भक्त मेरा देह वा प्रकृति है और

ज्ञानी मेरा आत्मा है वा मैं ही हूँ। भक्त अपरा प्रकृति हो कर भजते हैं और ज्ञानी मुझ परा-प्रकृतिस्वरूपमें स्थितिके लिये अखण्ड चैतन्तकी खोज करते हैं। हे अर्जुन! तूने प्रश्न किया था, कि-ज्ञानी और भक्त इन दोनोंमें युक्ततम कौन है ?। मैंने तुझे दिखा दिया, कि-दोनोंकी तुलना करके कौन अधिक है, ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि-भक्त ही युक्ततम है और ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। जीवात्माही परमात्मा है ऐसा स्थायी अनुभव ही ज्ञान है। श्रुति कहती है, कि-"अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।" अभेददर्शनके लिये आत्मस्वरूपकी खोज करना ही ज्ञानकी साधना है, इसलिये ही आगे दूसरे श्लोकमें युक्ततमका लक्षण कह कर तीसरे श्लोकमें अक्षर उपासनाके अधिकारीकी बात कहूँगा। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मुझे एक बात और बूझनी है-जिस समय ध्यान किया जाता है या जिस समय विचार किया जाता है उस समय मेरे भीतर कौन किसका ध्यान वा विचार करता है ? कौन किसकी उपासना करता है ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।" मनको आत्मसंस्थ करना मनुष्यका कर्त्तव्य है। आत्मा परमशान्त, सुखमय, आनन्दमय, ज्ञान-स्वरूप और नित्य है तथा मन परम अशान्त है। अशान्त होने पर भी मनके दो भाग हैं। एक भाग निवृत्ति और दूसरा भाग प्रवृत्ति है। मनका प्रवृत्तिभाग सदा ही चञ्चल

रहता है और निवृत्तिभाग शान्त है, परन्तु प्रवृत्ति भागके साथ सटा हुआ होनेके कारण निवृत्तिभाग परमशान्त–परम-पुरुषके साथ मिल नहीं सकता। निवृत्ति पाहिले प्रवृत्तिको वस्तुका विचार क्या है, यह दिखा देती है। इस दृश्य-प्रपञ्चमें जो कुछ भी देखोगे वह सब ही क्षणमात्र रहने वाला और नाशवान् दीखेगा। सब ही दृश्य पदार्थोंमें यह दो दोष लगे हुए हैं, इन दोषोंको देखनेसे जिस समय वैराग्का उदय होगा उस समय फिर प्रवृत्ति नहीं रह सकेगी उस समय मनका प्रवृत्तिभाग निवृत्तिभागमें मिलकर शान्त दशामें रहेगा। परन्तु इतनेमें ही सब कर्त्तव्य पूरा नहीं होगा, क्योंकि–यह तो खण्ड–प्रकृति है, खण्ड–प्रकृति वा चित्त जिस समय अखण्ड परमशान्त आनन्दमय ज्ञानमय को स्पर्श करेगा उस समय समुद्रकी थाह लेनेको जानेवाली लवणकी पुतलीकी सी दशा होजायगी, इसका ही नाम चित्तक्षय है। यह दशा अपने वशमें होजाने पर प्रकृतिके साथ आत्माकी क्रीड़ामात्र रह जाती है, ऐसी अवस्थामें यह दृश्य (दीखनेवाला) जगत् तसवीर में वने हुए सिंह की समान होजाता है जो कुछ काम चलता है वह व्यवहार कौतुकमात्र (बाजीगरके खेलकी समान) होता है। द्रष्टा आत्मा व्यवहार कौतुकमें कभी देखेगा, कि–उसकी सत्त्व प्रकृति वा वड़ीरानी आनन्द कररही हैं। वड़ीरानी पूजा, जप, आत्मविचार, स्वाध्याय आदिके द्वारा उसके साथ सदा रहनेका काम कर रही है। इस रानीमें जो चैतन्य अभिमान

करता है मोक्षराज्य उसके समीप ही होता है। कभी देखोगे कि–उसकी राजसी या मझली रानी लोक तृप्तिके लिये अथवा दूसरोंके सन्तोषके लिये सुन्दर लोकव्यवहार कर रही है। लाखोंको भोजन देना, वस्त्र देना, घरकी सकल वस्तुओं को सुन्दर रूपसे सजाकर रखना, जीवके मङ्गलके लिये किसीका आदर करना, धीरज रखकर किन्हींका शासन करना अर्थात् दुष्टोंका दमन और शिष्टोंका पालन करना-रूप काम करती है। ऐसी राजसी प्रकृतिके अभिमान पुरुष को फिर मनुष्य होकर ही जन्म धारण करना पड़ेगा तीसरि तामसी प्रकृतिरूप रानी सदा अपने सुखके लिये ही व्यस्त (गलतान) रहती है। दूसरोंको क्लेश हो, चाहे दुःख हो इस बातको कुछ नहीं देखती, अपने वस्त्र, गहने, अपना खाना सोना तथा अपनी मान–मर्यादाके लिये ही व्यस्त रहती है, ऐसी तामसी प्रकृतिके अभिमानी जीवको कृमि-कीट आदिकी योनिमें जन्म धारण करना होगा। इन तीनों प्रकृतियोंके कामको आत्मा महाराज केवल देखते ही हैं और जब इच्छा प्रकृतिसे अपनेको पूर्णरूपसे अलग करके अपने आनन्दस्वरूपमें स्थिति करते हैं उस दशाके विषैमें भी सुन। हे सखे ! सात्त्विक प्रकृतिकी उपासना ही भक्त की सगुण उपासना है। सात्त्विक प्रकृतिसे उपहित खण्ड चैतन्यका अखण्ड चैतन्यमें नित्य स्थित होना ही निर्गुण उपासना है, इसके लिये ही ज्ञानी पुरुष साधना करते हैं,। हे सखे ! तू समझा कौन किसकी उपासना करते हैं, हे

सखे अर्जुन ! तू जानता है, कि—उपासना किस लिये कीजाती है ? । चित्तको एकाग्र वा शान्त करनेके लिये लोग बूझते हैं, कि—मनको किस प्रकार स्थिर करें ? । जरा विचार कर देखना चाहिये, कि—जब बाहरकी किसी चञ्चल वस्तुको स्थिर करना होता है तो हम उसको किस भावसे देखते हैं । किसी पेड़के पत्ते पवनसे चञ्चल होरहे हैं (हिल रहे हैं) वायु तो सब समय ही रहेगा, फिर यह चञ्चलता कैसे जाय वृक्षके पत्तोंके चारों ओर यदि कुछ आड़ करदी जाय तो वह पत्ते चञ्चल नहीं होंगे (हिलेंगे नहीं) मन भी विषयरूप पवनके द्वारा चञ्चल (हिलता) रहता है । मन के चारों ओर वैराग्यकी आड़ कर दो तब ही मन विषयोंसे बचकर शान्त रहसकेगा । मनको विषयोंसे हटालेने परभी मनके भीतर बहुतसे संस्कार रहते हैं वह भी इसको चञ्चल करते हैं, इस चञ्चलताको दूर करनेके लिये एक ओर मन को आत्माकी कथाका श्रवण, मनन और निदिध्यासन कराओ । दूसरी ओर शम दमकी साधना कराओ, मनको सर्वदा जपमें लगा रक्खो, इसके लिये प्राणायाम वा कुंभक कराओ । मन्त्रके द्वारा मनकी रक्षा होती है । मनके चारों ओर जपकी बाड़ लगादो । भौंके मध्यमें प्रणव लिखकर उसके चारों ओर गायत्रीमंत्र वा इष्टमंत्रकी तप (ल्हेसन) लगादो । इसप्रकार मनके चारों ओर ऊँचे परकोटेकी समान जपको रखते२ फिर मन चञ्चल नहीं होसकेगा । जपके रसमें वा विचारके रसमें अथवा प्राणायामकुम्भकके रसमें जब मन डूब जायगा । अधिष्ठान चैतन्यरूप शिवके वृक्षस्थल पर खड़ी

हुई मनरूप कालीके भीतर जिस समय श्वास प्रश्वास चलने लगेंगे उस समय मन स्थिर होजायगा अथवा त्रिकोण मंडलसे आगे परमशिवके वामभागमें परमशिवाको विराजमान देखते २ मन स्थित होकर शान्तस्वरूपमें स्थित होजायगा। इसके लिये ही उपासना है। ज्ञानी और भक्तके सिद्धान्तमें जो कुछ अन्तर प्रतीत होता है उसकी मीमांसा संक्षेपमें दिखाता हूँ। जो निर्गुण ब्रह्मके उपासक हैं वह सकल सङ्गोंसे शून्य होकर दृश्यका दर्शन, स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह वा अनन्त संस्कारोंसे युक्त मन, इस सबको पोंछकर अलग फेंक कर, केवल भावमें–निःसङ्ग भावमें–शुद्ध निर्मल आत्मा के निजस्वरूपमें स्थित होते हैं। ध्यानयोग इनकी साधना होती है। इनकी साधना भी निजस्वरूपमें स्थिति पानेके लिये ही होती है। नित्य अनित्य वस्तुका विवेक, इस लोक और परलोकके फलोंको भोगनेमें वैराग्य, शम, दम आदि साधनोंकी सम्पत्ति, मोक्षकी इच्छा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, गुरुके मुखसे तत्त्वमसि आदि महावाक्यके विचारका श्रवण आदि करनेके अनन्तर नित्व सोऽहंभाव से स्थिति। ऐसे साधक सद्योमुक्तिको पाते हैं। सगुण ब्रह्म के उपासक अहंभावको फैला कर विश्वरूपकी उपासना करते हैं। प्रकृतिसे पुरुषको अलग करके ये ज्ञानयोगकी साधना करते हैं। इनमें कितने ही अन्य श्रेणीके उपासक साकारमूर्त्तिकी धारणा, ध्यान और अहंग्रह उपासनाके द्वारा समाधिको पाते हैं, इनको अन्तमें क्रममुक्ति मिलती है। अब युक्ततमकी बात कहता हूँ, सुन ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

अन्वय और पदार्थ।

(श्रीभगवान्) श्रीकृष्ण (उवाच) बोले (ये) जो (मयि) मुझ विश्वरूपमें (मनः) मनको (आवेश्य) भले प्रकार स्थित करके (नित्ययुक्ताः) निरन्तर मुझमें निष्ठा रखते हुए (परया) उत्तम (श्रद्धया) श्रद्धा करके (युक्ताः) युक्त होते हुए (माम्) मुझे योगेश्वरका (उपासते) ध्यान करते हैं (ते) वह (युक्ततमाः) श्रेष्ठ योगी (मे) मुझे (मताः) अभिमत हैं ॥ २ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! ज्ञानी युक्ततम है या अयुक्ततम है, यह प्रश्न होना उचित नहीं है, क्योंकि–ज्ञानी आपका आत्मा ही है। "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (७। १८)। और आपके साकार विश्वरूपका उपासक ही युक्ततम है, इस बातको मैं समझता हूँ, तथा इस उपासनामें मेरा अधिकार भी है तो यहां साकार उपसनाकी बात एकबार फिर कह दीजिये। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन! तू मेरा सखा है, परन्तु मैं ही परमपुरुष हूँ, मैं ही परमात्मा हूँ

और मैं ही भगवान् हूँ, इस बातका निःसन्देह-रूपसे विश्वास करनेमें तुझे देर लगी है, मैंने अपनी विभूति दिखाई तब तूने मुझे भगवान् समझा है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! इसमें मुझे सन्देह था, यह ठीक है। जिस समय रणभूमिमें आपने मुझे सावधान करनेके लिये उपदेश करनेका आरम्भ किया था, जिस समय आप दूसरे अध्यायमें आत्माका स्वरूप कहने लगे थे, उस समय आपने स्वयं भी नहीं कहा था, कि–मैं ही भगवान् हूँ। तुमने अघासुर, बकासुर, कंस और जरासन्ध आदिका विनाश किया है, तुम्हारे इस असीम बलको मैंने अपनी आंखोंसे देखा है। मैं तो यह जानता था, कि–तुम मेरे सखा हो बलवानोंमें श्रेष्ठ हो। जिस समय आप ज्ञानका उपदेश देने लगे उस समय मैंने समझा था, कि–तुम केवल बली ही नहीं हो किन्तु पंडित और ज्ञानी भी हो। दूसरे अध्यायमें आपने जीवन्मुक्तका वर्णन किया था, परन्तु उस समय भी मैंने आपको जीवन्मुक्त तक भी नहीं समझा तीसरे अध्यायमें जिस समय मैंने प्रश्न किया था, कि–यदि ज्ञान ही श्रेष्ठ है तो मुझसे कर्म करने को क्यों कहते हो? उस समय तुमने कर्मके द्वारा नैष्कर्म्य वा ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होगा सो समझाया था। तीसरे अध्यायके २२वें श्लोकमें पहिले आपने "न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यम्" इत्यादि कहकर तीसवें श्लोकमें "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य" इत्यादि कहा था, परन्तु मेरा सन्देह इससे भी दूर नहीं हुआ था, मैं नहीं समझा था, कि–आप भगवान् हैं या नहीं। इसलिये चौथे अध्यायकी आदिमें ही

मैंने प्रश्न किया था, कि—"आपने सूर्यको योगका उपदेश किस प्रकार दिया ? तव आपने स्पष्ट करके कह दिया था कि मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत गये हैं, उनकी याद तुझे नहीं है, परन्तु "तान्यहं वेद सर्वाणि" मैं उन सब जन्मोंको जानता हूँ। उस समय मैं अपने मनमें कहने लगा, कि—आप जातिस्मर हैं। आप मेरे अन्तःकरणके सन्देहको समझ कर ४ अध्यायके ६। ७। ८वें श्लोकमें स्पष्टरूपसे कहने लगे, कि—मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही भगवान् हूँ, मैं ही सृष्टि स्थिति प्रलय का करनेवाला हूँ और मैं ही सच्चिदानन्दनस्वरूप हूँ। तब तो मैं आपके उपदेशसे मुग्ध होने लगा, परन्तु तब भी मैं ठीक अनुभव नहीं करसका, कि—आप भगवान् हैं या नहीं आपकी बात सुनकर भी मानो मैंने सुनी ही नहीं। आप ने अपनेको भगवान् सिद्ध कर दिया, परन्तु मैं आपको ईश्वर नहीं कह सका। फिर ७म से १० म अध्याय पर्यन्त जब आपने अपनी विभूतियोंकी बात कही तब मैं आपको एक अपूर्व भावभरी दृष्टिसे देखने लगा और मेरे मनको पक्का निश्चय होगया, कि—आप ही भगवान् हैं ! १०म अध्यायमें १२वें श्लोकतक मैंने अपने हृदयका भाव वर्णन किया और मैं कहने लगा, कि—"परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्," न जाने कितने रूपोंमें आपकी भावना करनेकी मुझे इच्छा होने लगी मैं कहने लगा, कि—ऋषि नारदादि देवर्षि सब

आपको ही पुरुषोत्तम आदिदेव परब्रह्म कहते हैं और आप भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं। फिर मेरा सन्देह दूर होने लगा और मैं कातर होकर आपसे कहने लगा, कि–"भूत-भावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते !" इत्यादि। फिर मुझे इच्छा हुई कि–आपकी विभूतियोंका वर्णन सुनूँ। दशम अध्यायमें सब विभूतियोंका वर्णन सुनकर मुझे स्वाभाविक ही आपकी विभूतियोंको देखने की इच्छा हुई, उस समय मुझे जरा भी सन्देह नहीं रहा था, मैं पहिलेसे ही आपका शिष्य बनचुका था, इस समय मैं और भी कातर होउठा तथा कहने लगा, कि–यदि आप मुझे योग्य समझते हों तो एक वार अपना रूप दिखादीजिये, मुझे देखनेके लिये बड़ी ही लालसा होरही है। देखनेकी चाह कैसे मिटे। इस चाहनामें भी आप की लीलाका खेल है या नहीं, इस बातको तुम ही जानते हो। आपने विश्वरूप दिखाया, उसको मैंने अपनी आंखोंसे प्रत्यक्ष देखा और तब मैं समझा, कि–हाय ! मैंने आपके असंख्यों अपराध किये हैं "सखेति मत्त्वा प्रसभं यदुक्तम्" इत्यादि। फिर मैंने आपसे बहुत कुछ क्षमा प्रार्थना की। अब आप यह बताइये, कि–आपके विश्वरूपकी उपासना किसप्रकार की जायगी ? भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! विश्वरूपको पाना–विश्वरूपकी उपासना करना क्या पदार्थ है, इसकी अच्छे प्रकारसे धारणा कर। शास्त्र कहता है, कि–ब्रह्मको अप्रपञ्च और सप्रपञ्च दोनों ही कहा जा सकता है प्रपञ्च नहीं है–दृश्य प्रपञ्च मनमेंसे पुँछगया, केवल ब्रह्म

की सत्तामात्र है । जो साधक सब कामनाओंको त्यागकर दृश्यके दर्शनको मिथ्या जानकर, मनमें से इसको निकाल के फेंककर–ब्रह्मसत्तामें अपनी सत्ताको मिलाकर, परमानन्दमें स्थिति पाजाते हैं, वह ही निर्गुणके उपासक हैं ! चतुष्पाद आत्माका त्रिपादभाग निर्गुण है, केवल एक पादमात्र सगुण वा सप्रपञ्च है । जबतक देहमें आत्मबोध रहता है तबतक निर्गुण उपासनाका होना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि– उपासकको सकल कामनाओंका त्याग करना पड़ता है । कामना वा कामका किला इन्द्रियें, मन और बुद्धि हैं । "इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते" (३ । ४०) कामके इन तीन किलोंको जीतनेमें बड़ा ही परिश्रम करना पड़ता है । जो इनको जीतकर धारणा कर सकते हैं वे ही अप्रपञ्च ब्रह्मरूप स्थितिको पानेके अधिकारी होते हैं । वास्तव में आकाशमें रूप नहीं है तो भी जैसे आकाश नीलेरूप वाला है, ऐसा भ्रम होता है तैसे ही जगत्की वास्तविक सत्ता न होने पर भी ब्रह्ममें ही जगत्का भ्रम होता था, परन्तु कामनाओंका त्याग करदेनेसे, भोगवासनाका त्याग करदेनेसे, विचारसे उज्ज्वल हुई बुद्धि ब्रह्मके सिवाय और किधर ही को जाती ही नहीं, फिर भ्रान्त जगत् मनमें आता ही नहीं, भ्रान्त जगत्का मनमेंसे विस्मरण होजाने पर वह मिथ्या मालूम होने लगता है । जिस समय ऐसी साधना पूर्ण रूपसे होजाय, उस समय ही समझलो कि– अप्रपञ्च ब्रह्मरूपमें स्थिति होगई । जो ब्रह्मकी अप्रपञ्च रूपसे धारणा नहीं करसकते, उनके लिये यह निर्गुण ब्रह्म ही

सप्रपञ्च है। सप्रपञ्च ब्रह्म ही विश्वरूप है, यह ही जगतजटित ईश्वर है। दृश्य प्रपञ्चको साक्षी चैतन्य रूपसे अनुभव करना ही विश्वरूपकी उपासना है। जो कुछ अपने भीतर होता है, उसका साक्षी अपना चैतन्य ही है, इस बातका सब ही अपने भीतर अनुभव कर सकते हैं। देहावच्छिन्न चैतन्य भीतर बाहर सबका अनुभव करता है, इस कारण इसको ही मनुष्य पहिले साक्षी चैतन्यरूपसे अनुभवमें लाता है। जिस उपासनाके द्वारा दृश्य प्रपञ्चका साक्षी चैतन्यरूपसे अनुभव हो वह ही विश्वरूपकी उपासना है। अपने हृदयमें अनुभव किया हुआ साक्षी चैतन्य और प्रपञ्चरूपसे स्थित साक्षी चैतन्य, पाहिले इस आत्मा और ईश्वरके भेदभावका अवलम्बन करके, विश्वरूप ईश्वरमें चित्तका समाधानरूप योगकी बात दूसरे अध्यायसे दशवें अध्याय तक कही है। पाहिले-आत्माका जन्म नहीं है, मृत्यु नहीं है उसको अग्नि जला नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता, इत्यादि सुनकर फिर इस सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी, सहस्रशीर्षा, सहस्रचरण, सहस्रहस्त, सहस्रमुख विराट पुरुषकी विभूतियोंकी कथा सुनी जाती है। उपासनाके सुभीते के लिये पाहिले सकल ऐश्वर्य और विभूतियोंका वर्णन करके विश्वरूपाध्यायमें विश्वरूप को दिखाया है। भीष्मपितामह इस विश्वरूपके ही उपासक हैं, उनकी उपासनाका वृत्तान्त तू उनके शरीरत्यागके समय सुनसकेगा, मैं पाहिले ही तुझे विश्वरूपकी उपासना समझाने के लिये उसको कहता हूँ, सुन—हे सर्वान्तर्यामी साक्षी

चैतन्य ! हे सर्वव्यापी सर्वद्रष्टा परमपुरुष ! हे पुरुषोत्तम ! मैं आपकी आराधना करता हूँ, आप प्रसन्न हूजिये। आप सकल दोषोंसे रहित हैं, आप परमहंस और ईश्वर हैं, इस समय मैं शरीर को त्यागकर आपको ही प्राप्त होऊँ, आप अनादि अनन्त परब्रह्मस्वरूप हैं, भगवान् विधाताके सिवाय आपके तत्त्वको और कौन जानसकता है ?। कार्य कारण संबन्ध वाला यह सब विश्व आपमें ही स्थित है। लोक आपको सहस्रशिर, सहस्रमुख, सहस्रनयन, सहस्रचरण, सहस्रबाहु और सहस्रमुकुटधारी नारायण कहते हैं। आप केवल बुद्धि से ही जानेजाते हो, आपकी प्रसन्नताके लिये नित्य तपस्या कीजाय तो वह कभी निष्फल नहीं जाती है। मनुष्य हृदयाकाशमें साक्षी चैतन्यको लक्ष्य करके उसके साथ अपना अभेदभाव मानताहुआ आपका दर्शन करलेय तो मोक्षको पानेका अधिकारी होजाता है। मैंने आपकी शरण ली है, आपसे बढ़कर और कोई आराधना करनेयोग्य नहीं है, मैं आपकी उपासना करता हूँ। आप एक होकर भी बहुत हैं, आप सब अभिलाषाओंको सिद्ध करदेते हैं। जैसे जलमें हंस सारस आदि जलचर पक्षी विहार करते हैं, तैसे ही आपमें सकल जीव विहार करते हैं, दुःखोंको नाश करने वाली उत्तम महौषध आप ही हैं। ऋषि मुनि जिस देहमें स्थित अव्यक्तको खोजते हैं वह आप ही हैं, आपको प्रणाम है। आपके केशजालमें मेघमाला है, अङ्गोंके जोड़ों में नदियें हैं, आपके पेटमें चारों समुद्र हैं, भूमण्डलमें आपके चरण हैं, सूर्यमण्डल आपका चक्षु है, दिङ्मण्डल आपके

कान हैं, ऐसे सर्वलोकरूप आपको प्रणाम है। "वायुर्भूत्वा विक्षिपते च विश्वमग्निर्भूत्वा दहते विश्वरूपः। आपो भूत्वा मज्जयते च सर्वं। ब्रह्मा भूत्वा सृजते विश्वसंघान् ॥ ज्योतिर्भूतः परमोऽसौ पुरस्तात्प्रकाशते यत् प्रभया विश्वरूपः। अपः सृष्ट्वा सर्वभूतात्मयोनिः पुराऽकरोत्सर्वमेवाथ विश्वम् ॥ ऋतूनुत्पातान् विविधान्यद्भुतानि मेघान् विद्युत्सर्वमैरावतञ्च। सर्वं कृत्स्नं स्थावरं जंगमञ्च विश्वात्मानं विष्णुमेनं प्रतीहि॥" अर्थात्—हे भगवन्! आप वायुरूप होकर इस विश्वको चेष्टा कराते हो या सकल पदार्थोंको इधरसे उधर पहुँचादेते हो, और विश्वरूप तुम अग्निस्वरूप होकर विश्वमें जलानेका काम करते हो, जल बन कर प्रलयकालमें सबको डुबालेते हो और सृष्टिकालमें ब्रह्मा बन कर विश्वके अनेकों चराचर समूहोंको रचदेते हो, सृष्टिके आदिमें विश्वरूप आप प्रथम ज्योतिःस्वरूप होकर अपनी प्रभासे सब विश्वमें भासने लगते हो, सकलभूतोंके आत्मस्वरूप आदि कारण आप फिर जलोंको रचकर क्रम से सब जगत्को रचदेते हो, ऋतुएं, उत्पात, अनेकों अचरजभरी घटनायें, मेघ, सब प्रकारकी विद्युत्शक्ति, ऐरावत हाथी, अधिक क्या कहें जगत्में जो कुछ भी नाम रूपवाला स्थावर जङ्गम पदार्थ होसकता है इस सबको हे मन! तू विष्णुरूप ही मान। हे प्रभो! हे सर्वसाक्षिन्! हे चैतन्यस्वरूप! आप ब्रह्मारूप हैं, आप रुद्ररूप हैं, आप उग्रस्वरूप हैं, आप शान्तस्वरूप हैं, आप सर्वस्वरूप हैं। मैं भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनोंकालकी आप

की स्थितिको नहीं देखसकता, तत्त्वज्ञानके द्वारा केवल आपकी सनातन मूर्त्तिको ही देखसकता हूँ। आपके मस्तक से स्वर्ग और आपके चरणोंसे मृत्युलोक व्याप्त होरहा है। सकल संसार नारायणरूप है। हे नारायण ! आप सर्वदा सब वस्तुओंमें विराजमान हैं। इसप्रकार प्रतिदिन विश्वरूप की उपासना करते २ दृश्यप्रपञ्च साक्षी चैतन्यरूपसे अनुभवमें आने लगेगा। श्रुतिने अनेकों प्रकारसे इस विश्वरूपका वर्णन किया है। वह अक्षर पुरुष ही विश्वरूप है, यह बात भी श्रुतिने कही है। जैसे गीता (८ । २१) निर्गुण ब्रह्म के विषयमें कहती है, कि-"अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।" ऐसे ही माण्डूक्य श्रुति भी कहती है-यत्तद दृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥" अर्थात् वह अदृश्य, अग्राह्य, अनादि, अवर्ण, अचक्षु और अकर्ण है, उसके हाथ पैर नहीं हैं, वह नित्य विभु सर्वव्यापी और परमसूक्ष्म है, उस अविनाशी और सकल भूतोंके कारणको विचारवान् पुरुष सर्वत्र देखते हैं। "तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥" अर्थात् यह सत्य है, कि-जैसे अच्छेप्रकार से प्रज्वलित हुए अग्निमेंसे उस अग्निका ही स्वरूप सहस्रों चिनगारियें निकलती हैं, हे सौम्य ! इसप्रकार ही अक्षर ब्रह्ममेंसे अनेकों जीव उत्पन्न होते हैं और फिर उसमें ही

समाजाते हैं। तैत्तिरीयकी श्रुति कहती है-"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन वा जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।' अर्थात् जिस अक्षर ब्रह्मसे इन सब जीवोंने जन्म पाया है और उत्पन्न होकर जिस के द्वारा जीवित हैं तथा प्रलयकालमें जिस ब्रह्ममें जाकर लीन होजाते हैं, उसको जाननेकी चेष्टा करो, वही ब्रह्म है। ऐतरेयकी श्रुतिने अक्षर ब्रह्मका वर्णन इसप्रकार किया है-"एष ब्रह्मैव इन्द्र एष प्रजापतिरेष सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठिता प्रज्ञानं ब्रह्म।" अर्थात्-यही ब्रह्मा है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही समस्त देवता है, यही पञ्चभूत-पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और ज्योतियें (तेज) है, यही सकल सूक्ष्मभूत है, जीव और अन्य सकल प्राणी, पक्षी आदि अण्डज, मनुष्य आदि जरायुज, जूँ आदि स्वेदज, वृक्ष आदि उद्भिज्ज, घोड़ा, गौ, पुरुष, हाथी आदि जो कोई प्राणी चलते हैं वा उड़ते हैं वा स्थावर हैं, प्रज्ञान ही इन सबोंका नेता है, प्रज्ञानमें ही यह सब प्रतिष्ठित हैं, प्रज्ञान ही सब जगत्का नेता है और प्रज्ञानमें ही विश्व जगत् स्थित है, इस लिये क्या बाहरी इन्द्रियोंमें, क्या अन्तरि-

न्द्रियमें, क्या उसकी वृत्तियोंमें और क्या सकल पदार्थोंमें सर्वत्र ही समानभावसे देदीप्यमान सकल उपाधियोंसे मुक्त प्रज्ञान ही ब्रह्म है। अक्षर ब्रह्म ही विश्वरूप है, इस बातको अनेकों ही श्रुति कहती हैं, इसपर भी जो अक्षर ब्रह्मको नहीं मानते हैं वह निःसन्देह अभागे हैं। जिस चैतन्य पुरुषको मनुष्य अपने भीतर अनुभव करता है वह चैतन्य ही विश्व प्रपञ्च रूपसे और अप्रपञ्चरूपसे विराजमान है। अपने भीतर जो पुरुष है वह प्रकृतिसे जुदा है, ऐसा जानने पर ही जीव निर्गुण स्वरूपको जानसकेगा, फिर विश्वरूपकी उपासना होसकेगी। छान्दोग्यकी श्रुति कहती हैं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" यह जगत् सब ही ब्रह्मरूप है, यह सब विश्व तज्ज है अर्थात् उस ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है और तल्ल है अर्थात् उस ब्रह्ममें ही लीन होगा तथा तदन है अर्थात् इस ब्रह्ममें ही स्थित है, सावधान संयतचित्त होकर उस ब्रह्मकी उपासना करै। बृहदारण्यककी श्रुतिके द्वारा विश्वरूपके वर्णनको समाप्त करते हैं सुन—"स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः" इत्यादि। हे सखे! अब तू समझगया होगा, कि—जो विश्वरूपका उपासक होगा, उसको सर्वदा साक्षी चैतन्यको देखना होगा। भीतर साक्षी चैतन्यका अनुभव करके बाहर दृश्यप्रपञ्चका भी साक्षी चैतन्यरूपसे अनुभव करना चाहिये। जैसे तू आका-

शको देखता है तैसे आकाश भी तुझको देखता है, यह बात अनुभवमें आजाने पर, ब्रह्म ही विश्वरूपसे विद्यमान है, यह बात अनुभवमें आजायगी। विश्वरूपके उपासकको जो साधना करनी होती है, उसको मैंने पहिले कहदिया है, अब फिर संक्षेपमें कहता हूँ, सुन—मुझे मरना पड़ेगा, इस बातको सुनते ही जो मनुष्य भयभीत होजाता है, यही मनुष्यका मुख्य अज्ञान है, क्योंकि—मनुष्य जड़ शरीर नहीं है, किन्तु मनुष्य आत्मा है। आत्माका जन्म भी नहीं होता है और मरण भी नहीं होता है। आत्मा जलता भी नहीं है और सूखता भी नहीं है। आत्माको कोई दुःख भी नहीं है और अज्ञान भी नहीं है। आत्मा आनन्दस्वरूप है और मनुष्य आत्माका अपनेमें साक्षी चैतन्य रूपसे अनुभव करता है, ऐसा सब ही करसकते हैं। जो भीतर साक्षी चैतन्य है वही सर्वान्तर्यामी सबमें पुराहुआ और अधिष्ठान चैतन्य है। यह अनन्त जगत् उस चेतन पुरुषकी विभूति है, उस पुरुषने ही चन्द्रमा और सूर्यको गति दी है, उस पुरुषके शासनसे ही जगत् चलता है। नवम और दशम अध्यायमें जो विभूतिका वर्णन किया है तथा "सुहृदं सर्वभूतानाम्" "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥" इत्यादिमें जो ऐश्वर्यका वर्णन किया है, वह इस विश्वरूप आत्माकी ही विभूति और ऐश्वर्य है। सदा सब वस्तुओंमें इस परमपुरुष का स्मरण करते २ क्रमसे दृश्य प्रपञ्चका साक्षी चैतन्यरूपसे अनुभव होजायगा। "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि"

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति" विश्वरूप का उपासक ऐसा ही होजायगा "वासुदेवः सर्वम्" यही विश्वरूप उपासनाका अन्तिम फल है। साधक विश्वरूप पुरुषके अङ्गमें ही अवयवरूपसे एक स्थानमें स्थित स्थावर जङ्गम, आदित्य, वसु, रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार उनञ्चास पवन ऐसे अनेकों भागोंमें बटेहुए सकल जगत्-मण्डलको देखकर और उस विराटपुरुषके साथ भाषण करके आश्चर्यमें होजायगा, ग्यारहवें अध्यायमें इस विश्वरूपके दर्शनकी बात तुझसे कहचुका हूँ, अब अव्यक्त उपासनाकी बात कहूँगा, उसको सुन ॥ २ ॥

येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(ये तु) जो तो (सर्वत्र) सर्वोमें (समबुद्धयः) समान बुद्धिवाले [सन्तः] होतेहुए (इन्द्रियग्रामम्) इन्द्रियोंके समूहको (संनियम्य) सब ओरसे खेंचकर (अनिर्देश्यम्) जिसको अंगुलि उठाकर बताया नहीं जासकता (अव्यक्तम्)

रूप आदिसे रहित (सर्वत्रगम्) सर्वव्यापी (अचिन्त्यम्) चिन्तवनमें न आनेवाले (कूटस्थम्) मायाप्रपञ्चके अधिष्ठान (अचलम्) विकाररहित (ध्रुवम्) नित्य (अक्षरम्) ब्रह्मको (पर्युपासते) ध्यान करते हैं (सर्वभूतहिते) सकल प्राणियोंका कल्याण करनेमें (रताः) लगेहुए (ते) वह (माम्–एव) मुझ परमात्माको ही (लभन्ते) पाते हैं ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आपने सगुण उपासना की बात तो कही, अब आप मुझे निर्गुण उपासनाका तत्त्व विशेष रूपसे समझाइये, क्या जो निर्गुण उपासकका उपास्य है वही अक्षरपुरुष, अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म है ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! निर्गुण उपासककी उपास्य वस्तुके आठ विशेषण हैं, उनको सुन–(१) वह अक्षर है "यन्न क्षीयते क्षरतीति वा तदक्षरम्" जिसका क्षय वा क्षरण नहीं होता वह परमात्मा ही अक्षर है, निरुपाधि ब्रह्म है । श्रुति कहती है "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमित्यादि" हे गार्गि ! जगत् ओतप्रोत भावसे जिस आकाशमें व्याप्त हो रहा है, उस आकाशमें भी जो ओतप्रोत भावसे व्याप रहा है, हे गार्गि ! वह ही अक्षर ब्रह्म है । ब्रह्मज्ञानी कहते हैं, कि–वह स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, छोटा भी नहीं है, बड़ा भी नहीं है, अग्निकी समान लाल लाल भी नहीं है, जलकी समान द्रव (बहने वाला) पदार्थ भी नहीं है "नमतश्चाति किञ्चन

न तदश्नाति कश्चन ।" न वह कुछ भोजन करता है और न कोई उसको ही भोजन कर सकता है। इस अक्षरपुरुषके शासनको पृथिवी या द्युलोक कोई भी नहीं लाँघ सकता, यही बात श्रुति कहती है—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्पन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यांच दिनमंचेति एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः" अर्थात्—हे गार्गी ! इस अक्षर पुरुषके उत्तम शासनसे चन्द्रमा और सूर्य अपने २ स्थान पर टिके हुए हैं। हे गार्गी! इस अक्षरके उत्तम शासन से ही इस द्युलोकसे भूलोकपर्यन्त सौर जगत् अपने २ स्थान पर ठहरा हुआ है। हे गार्गी ! इस अक्षरके उत्तम शासनसे ही निमेष, मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर अपने २ समय पर चक्कर लगाते रहते हैं। हे गार्गी ! इस अक्षरके उत्तम शासनसे ही सफेद पहाड़ों परसे पूर्वदेशकी सकल नदियें पूर्वदेशमें ही वहरही हैं और पश्चिम देशकी सकल नदियें पश्चिम देशमें ही वहरही हैं। हे गार्गी ! इस अक्षरके उत्तम शासनसे ही मनुष्य दाताओं की प्रशंसा करते हैं, देवता यजमानोंके अनुकूल रहते हैं और

पितर भी दर्वीहोमके अनुकूल रहते हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! क्या यह अक्षर ही पुरुषोत्तम है ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! क्षर और अक्षर पुरुषकी अपेक्षा भी परमात्मा उत्तम पुरुष है, यह बात आगे १५ वें अध्यायमें बताऊँगा, "क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययमीश्वरः ॥" पन्द्रहवें अध्यायमें इस बातको विस्तारके साथ कहूँगा। निर्गुण ब्रह्म दो प्रकारका है-परमात्मा और कूटस्थ। इसलिये कूटस्थ को भी अव्यय अक्षर कहाजाता है। सगुण अवस्था तो मायाका अध्यासमात्र है। ब्रह्म सदा ही निर्गुण है। क्षर, अक्षर और परमात्मा, इनके विषयमें यहाँ इतना ही जानले, कि—अविद्याकी बहुतसी मूर्त्तियोंमें स्थित जो चैतन्य है वही क्षर जीव है, मायाकी एक मूर्त्तिमें स्थित जो चैतन्य है वही अक्षर ईश्वर है तथा जो मायातीत है वही परब्रह्म है। अन्तर्यामी, क्षेत्रज्ञ, अक्षरं इत्यादि समस्त ही वह आत्मा है। इनमें जो भेदकी कल्पना कीगई है वह उपाधिके कारण है, नहीं तो इनमें स्वाभाविक कुछ भेद नहीं है। केवल सेंधेके टुकड़े की समान बाहर भीतर सर्वत्र ही एकमात्र परिपूर्ण आनन्दरस है, यह ही अक्षरका स्वाभाविक भाव है, इसलिये ही श्रुति कहती है, कि-यह अक्षर अपूर्व, अनपर, अनन्तर और अबाह्य है अर्थात् इसका पूर्व (कारण) नहीं है, यह स्वयं भी कार्य नहीं है, बाहर और भीतर सर्वत्र ही विद्यमान है। क्षर, अक्षर और परमपुरुष तथा अन्तर्यामी, क्षेत्रज्ञ और

अक्षर इनके भेदके विषयमें अनेकों मत हैं। कोई कहते हैं, कि–महासमुद्ररूप ब्रह्मका जो चलनरहित स्वभाव है वही अक्षर है। जराएक चलनयुक्त अवस्था ही अन्तर्यामी वा ईश्वर है। अत्यन्त चंचल अवस्था ही क्षेत्रज्ञ वा जीव है। "यस्तं न वेदान्तर्यामिणम्" क्षेत्रज्ञ वा जीव अन्तर्यामीको नहीं जानते। कोई २ ब्रह्मकी पाँच अवस्था कल्पना करते हैं। कोई २ आठ अवस्था मानते हैं। कोई २ कहते हैं कि–पांच वा आठ ब्रह्मकी अवस्था नहीं हैं, किन्तु वह शक्तिमात्र हैं, क्योंकि–श्रुति ब्रह्मको अनन्तशक्ति वाला कहती हैं। अवस्था वा मूर्त्तिसे शक्ति अलग होती है। कोई कहते हैं, कि–यह सब अक्षरका विकार है। परन्तु इन सब मतोंके विरुद्ध ऐसा भी कहाजाता है, कि–ब्रह्मकी अवस्था ब्रह्मकी शक्ति यह कुछ भी ठीक नहीं है, क्योंकि–श्रुति आप ही इस अक्षरको–इस निर्गुण ब्रह्मको अशनायादि अर्थात् भूख प्यास आदि संसारके धर्मोंसे रहित कहती है। फिर भी अशनायादि धर्मसहित कहाजायगा तो इन दोनों विरुद्ध धर्मोंका उसमें रहना तो कभी संभव हो ही नहीं सकता, फिर जो अशनायादि सब प्रकारके संसारके धर्मोंसे रहित है उसको सन्धिनी, ल्हादिनी, संवित् आदि शक्तियोंसे युक्त कैसे कहाजा सकता है?। सार यह है, कि–ब्रह्म सदा ही निर्गुण है, सर्वदा अपने स्वरूपमें रहने पर भी उपाधिके योग से उसमें अनेकों प्रकारके नाम रूपोंका आरोपमात्र होता है। (२) दूसरा विशेषण है, अनिर्देश्य अर्थात् 'यह ऐसा है' इस प्रकार जिसका निर्देश वा निरूपण नहीं कियाजा सकता वह

अनिर्देश्य कहलाता है। किसी वस्तुके निर्देश करनेका यह अर्थ है,कि–यह वस्तु कौन जातिकी है अर्थात् मनुष्यजाति है या पशुजाति आदि है। इसमें कौनसा गुण है ? नीला लाल मीठा चरपरा आदि। कौन क्रिया है अर्थात् चलनेका स्वभाव है या स्थित रहनेका। क्या सम्बन्धवाली है अर्थात् किसका पिता पुत्र भाई आदि है। जिसकी जाति गुण क्रिया सम्बन्ध आदि कुछ भी नहीं बतायाजासकता वही अनिर्देश्य कहलाता है। वह अक्षर शरीरधारी नहीं है,इसलिये देवता आदि शब्दसे उसको नहीं कहाजासकता, क्योंकि–उसका निर्देश ही नहीं होता है। इसका कारण यह है, कि–(३) वह अव्यक्त है। जो इन्द्रियका विषय न हो, जो प्रपञ्चके पार हो, जिसको किसी पदार्थ से भी प्रकाशित नहीं कियाजा सकता हो वही तो अव्यक्त होता है ?। मानलोकि–यह आकाश है। अवकाश (जगह) देना ही आकाशका धर्म है, परन्तु आकाश शून्यमात्र है इस शून्यके विषयमें क्या कहाजाय? यह शून्य आकाश ही तो अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डको ओतप्रोतभावसे घेरे हुए है, एक शून्य सबके भीतर और बाहर है। यह शून्य ही जब एकरूप अव्यक्त है तो जो अतिसूक्ष्म निराकार निर्विकार महाशून्य स्वरूप अधिष्ठान चैतन्य इस आकाशको और इस शून्यको ओतप्रोतभावसे छायेहुए है उसको व्यक्त कौन करेगा ? जिसका निर्देश नहीं होसकता उसको व्यक्त कैसे कियाजा सकता है ?, इस लिये ही अक्षरको अव्यक्त कहागया है। (४) वह सर्व-

त्रग है। स्थूल दृष्टिसे शून्य को ही सर्वव्यापी कहाजाता है जो शून्यको भीतर और बाहरसे लपेटे हुए है,शून्य भी जिस महाशून्य स्वरूप अधिष्ठान चैतन्यके आधारपर टिका हुआ है उसके सर्वव्यापी और सर्वत्रग होनेमें क्या सन्देह होसकता है?। अक्षर ही सर्वव्यापी है। सर्व कहिये यह ब्रह्माण्ड इन्द्र जालकी समान उसकी मायाशक्तिसे ही उत्पन्न हुआ है। (५) वह अचिन्त्य है। जो सीमाके भीतर होता है उसका ही चिंतवन कियाजासकता है, परन्तु जो देश कालके द्वारा भी परिच्छिन्न नहीं है। वह अक्षर इस देशमें वा इस काल में है, इसप्रकार उसको परिच्छिन्न वा सीमावद्ध नहीं किया जासकता, उस सदा सीमाशून्य परमात्माका चिन्तवन कौन करेगा, ? "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जिसका मन चिन्तवन करता है,उसका वाणी प्रकाश करती है, परन्तु तहां तो मन और वाणी पहुँच ही नहीं सकते, तथापि जो उनकी कथा कही जाती है वह केवल उन अनन्तका कुछएक हमें अनुभव होता है, उसके ही अवलम्बनसे हम उनकी कथा कहलेते हैं । (६) वह कूटस्थ हैं। इस मायाको वा अज्ञानको वा अविद्याको अथवा इस जगत् प्रपञ्चको कूट कहते हैं, जो इस मिथ्याभूत मायिक जगत्के अधिष्ठानरूपसे रहता है वही कूटस्थ है। जिस वस्तुमें भीतर दोष भरे हों और बाहर गुणवाली दीखती हो उस वस्तुको भी कूट कहते हैं।इस भावसे दृश्य प्रपञ्चको कूट कहाजा सकता है और वह चैतन्यरूपसे वा उसके

अध्यक्षरूपसे उसमें स्थित हैं, इसलिये उनका नाम कूटस्थ है। जो मिथ्या होकर भी सत्य प्रतीत होता हो उसको भी कूट कहते हैं, उसमें अधिष्ठित होनेके कारण अक्षर पुरुष को भी कूटस्थ कहते हैं। (७) वह अचल है—उसमें किसी प्रकारका चलन नहीं है, विकार भी नहीं है, जो कुछ विकार दीखता है वह मायाका है, चैतन्य सदा ही निर्विकार है। (८) वह ध्रुव है—जिसमें चलन नहीं है, कोई विकार नहीं है वही स्थिर सत्य है, वही ध्रुव है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! निर्गुणोपासना करने वालेके उपास्यके विषयमें जो कहा, कि—वह अक्षर अनिर्देश्य अव्यक्त आदि है, सो इसमें तो एक महाशून्यके सिवाय और कुछ धारणा हो नहीं सकती। जैस आकाश शून्य है, उस आकाशको भी जो ओतप्रोतभावसे लपेटे हुए है वह शून्यसे भी शून्य महाशून्य है। उस महाशून्यकी उपासना कैसे होगी ?। भगवान्ने कहा, कि हे सखे ! "शास्त्रतोऽक्षरं ज्ञात्वा तमुपेत्यात्मत्वेनोपगम्योपासते तथैव तिष्ठन्ति पूर्णाश्चिदेकतानमक्षरमात्मानमेव सदा भावयन्तीत्येतदिह विवक्षितम्।" अर्थात् जो अव्यक्त अक्षर ब्रह्म है, उसको शास्त्रकी सहायता से जानकर पहिले वारंवार उसकी ही धारणाका अभ्यास कर परमात्मा निःसङ्ग है, किसी वस्तुके साथ उसका सम्पर्क नहीं है, उसकी कोई उपाधि नहीं है। एक वही सत् है और जो कुछ भी है वह मायिक इन्द्रजालमें होनेके कारण प्रतीत होता है, ऐसी धारणा पहिले करनी चाहिये। अर्जुन

ने कहा, कि—हे भगवन् ! इतना बड़ा विशाल जगत् नेत्रों के सामने दीखता है, उसको पोंछकर कैसे फेंकाजा सकता है ? यह सब है ही नहीं, एकमात्र ब्रह्म ही है, वह निःसङ्ग है, वह किसी की भी समान नहीं है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता है, इसकी धारणा कैसे होगी ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे ! निद्राके समय जो कुछ देखता है, निद्राभङ्ग होने पर उसको मिथ्या समझता है, परन्तु अविद्यारूप निद्रामें जो कुछ देखता है वह भी मिथ्या है, इस बातको तू केवल ज्ञानियोंके मुखसे सुनता है। इस बातको वारंवार सुनकर यह जगत् क्या स्वप्न है ? इस जगत् प्रपञ्चको क्या स्वप्नमें देखरहा हूँ ? ऐसे सन्देहमें होकर सदा विचार कर, उधर अभ्यास और वैराग्य रख, बस काम सिद्ध होजायगा, इसलिये ही मैं कहता हूँ, कि—अव्यक्तकी उपासना सबके लिये नहीं है। यह दृश्य जगत् है ही नहीं, ऐसा दृढ़ बोध होकर जिसके मनमेंसे यह दृश्य जगत् पुँछजाता है, वह ही ज्ञानको पाता है। जैसे आकाशमें नीलापन नहीं है, तैसे ही जगत्‌की वास्तविक सत्ता नहीं है, किन्तु ब्रह्ममें ही जगत्‌का भ्रम होता है वह भ्रान्त जगत फिर कभी भी मनमें न आवे, ऐसा विस्मरण ही ज्ञान है । जगत् नहीं है, देह नहीं है, मन नहीं है, एकमात्र आत्मा ही परिपूर्ण आनन्द होरहा है, ऐसी स्थितिको पाना ही अक्षरोपासकका काम है । श्रुति कहती है, "देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवो केवलः शिवः । त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥ अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं

निर्विषयं मनः । स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥" अर्थात् देह ही देवमन्दिर है, यह जीव ही अद्वितीय शिव है उस पर चढ़ेहुए अज्ञानरूप निर्माल्यको त्याग देय और सोऽहंभावसे पूजन करै । अभेद दृष्टि रखना ही ज्ञान है, मन को विषयोंसे हटा लेना ध्यान है, मनके मलका त्याग स्नान है और इन्द्रियोंका निग्रह शौच है । अर्जुनने कहा कि—हे भगवन् ! आप निर्गुण उपासनाको उपासना कैसे कहते हैं भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! मैं पहिले ही कहचुका हूँ, कि—किसी अधिष्ठानमें मन ही मनमें शास्त्रके अनुसार ब्रह्म की कल्पना करके उसमें जो चित्तकी वृत्तिका लगा देना है वही उपासना है । शास्त्रके अनुसार ब्रह्मके स्वरूपको जानकर अपना आत्मा ही वह ब्रह्म है, आत्मा ही निःसङ्ग प्रकृतिसे पृथक् वस्तु है, ऐसा जानकर चित्तकी वृत्ति को आत्मभावमें लगाकर स्थिरताके साथ स्थित होना ही निर्गुण उपासना वा ब्राह्मी स्थिति है । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! क्या देह और जगतको भूलनेसे ऐसी स्थिति होती है ? । भगवान्ने कहा—हां सखे ! इसमें क्या सन्देह है, परन्तु सब ऐसा नहीं कर सकते, जो कर सकते हैं, उनकी दो एक विचारकी बातें यहां कहता हूँ, सुन—यह विश्व क्या पदार्थ है ?, यह दर्पणमें दीखती हुई नगरीकी समान ही तो है, जैसे दर्पणमें समीपकी वस्तुका प्रतिबिम्ब दीखता है, तैसे ही यह देह वा जगत् एक दर्पणके भीतर स्थित है । दर्पणमें दीखनेवाला वस्तुका प्रतिबिम्ब केवल नेत्रोंसे ही दीखता है दूसरी इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता,

परन्तु मायादर्पणमें दीखने वाला यह विश्व सब ही इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है, यही मायाकी अद्भुत चातुरी है। यह विश्व बाहर नहीं है, यह देह बाहर नहीं है, किन्तु भीतर है। जैसे स्वप्न देखते समय स्वप्नमें कल्पित हुई मूर्त्तियें मनके भीतर ही क्रीड़ा करती हैं, परन्तु मालूम ऐसा होता है, कि-यह सब काम बाहर होरहा है, ऐसे ही जो देखना जानते हैं वह देखते हैं, कि-एक महामनके भीतर सङ्कल्प विकल्प उठने की समान यह विश्वका सब व्यापार होता है। भीतर होता हुआ भी जो बाहर दीखता है इसका कारण अपनी माया है। "पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।" आत्मा देहसे पृथक् है, मनसे पृथक् है और मायासे भी पृथक् है, इस बातका विचार वही कर सकते हैं कि जो जगत्को इन्द्रजाल समझ सकते हैं और जिन्होंने पूर्णरूपसे जगत् के अस्थायीपनेको तथा क्षणविध्वंसीपनेको देखकर पूर्ण वैराग्यका आश्रय लिया है, वैराग्यका आश्रय लेने से जिनके मनमें फिर कोई वासना नहीं उठती है, भोगकी इच्छा नहीं जागती है, जगत् का भोग वा देहका भोग जिनकी दृष्टिमें अत्यन्त ही अश्रद्धा की वस्तु होता है, अत्यन्त पागल पुरुषके प्रलापकी समान होता है। भोजन और निद्रातक का व्यापार भी भ्रमसे भरा हुआ है, वास्तवमें आत्माको तो किसी भोगकी इच्छा है ही नहीं, कोई वासना है ही नहीं, भोजन वा निद्रा है ही नहीं। प्रबल वैराग्यके आश्रय से जो सर्वत्र वासनारहित होकर

स्थिर होगये हैं वही सच्चे विचारवान् हैं । यदि कहो कि-दृश्य वस्तु को मनमेंसे पोंछकर फेंक देने पर तो मन रीता (शून्य सा) होजायगा, तो इसका उत्तर यह है, कि-उपासनाकी सहायतासे मन शून्यसा अवश्य होजायगा, परन्तु निर्गुण उपासनामें मन ब्रह्मभावसे पूर्ण होकर परमानन्दमें स्थिति पाजाता है । अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! निर्गुण उपासनाकी साधना किस प्रकार होती है ? । भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! यही तो कहता हूँ-" सन्नियम्येन्द्रियग्रामम् " पहिले आत्मा क्या पदार्थ है, इस बातको शास्त्रसे सुन, आत्मासे अनात्मा को जुदा कर, यह ही आत्मानात्मवस्तु-विवक है । जिस समय आत्मा और अनात्माका ठीक २ विचार होजायगा उस समय आत्मामें ही रुचि होगी, अनात्मामें आसक्ति नहीं रहेगी, तब ही भोगमें वैराग्य उत्पन्न होजायगा, यही इहामुत्रफलभोगविराग नामकी दूसरी साधना है । कुछ भी भोगने योग्य नहीं है, कुछ भी सुनने योग्य नहीं है,कुछ भी स्पर्श करने योग्य नहीं है, मिथ्या असत्य प्रपञ्च (विश्व) अश्रद्धाकी वस्तु है, ऐसा निश्चय होजाने पर भी जब तक मन रहेगा तबतक यह आत्मा को निजस्वरूप भुलाकर, मिथ्या सङ्कल्प विकल्प फैलाकर भोग कराता ही रहेगा, इसलिये मनका निग्रह करना चाहिये । मनके निग्रह के लिये जो साधना है वही तीसरि साधना है, यही शम-साधना कहलाती है और जबतक इन्द्रियें रहेंगी तबतक मन चञ्चल ही रहेगा, इस लिये इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये, यही दम नामकी चौथी साधना है। इसप्रकार शम, दम,

तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान इन छः प्रकार के साधनों के द्वारा निर्गुण उपासना करनी होगी। इन सब साधनोंके द्वारा चित्तका निरोध करसकने पर ही आत्मा निजस्वरूपमें स्थिति करेगा। साधनाके समय ऐसे साधक को सकल भूतों के हितमें तत्पर रहना होगा, सिद्धावस्थामें क्रमसे सर्वत्र समबुद्धि होजायगी। इन्द्रियोंका निरोध, सकल भूतोंके हितकारी काम करना और सर्वत्र समबुद्धि होना यह ही निर्गुण उपासना के कार्य हैं। सब लोग निर्गुण उपासना नहीं करसकते, सब लोग चित्तकी वृत्तिका निरोध नहीं कर सकते तथा सब लोग चित्त को अवलम्बनशून्य करके ब्रह्मभावसे पूर्ण नहीं करसकते, इसलिये ही सब लोग अव्यक्त की उपासनाके अधिकारी नहीं हैं। अव्यक्तके उपासक और कोई सहायता न लेकर ही मुझे प्राप्त होजाते हैं, यह अपनी शक्तिसे ही मुझे पाजाते हैं, इस कारण ही कहा है, कि—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव"। अक्षर के उपासक अपनी सामर्थ्यसे केवलभावमें स्थिति करसकते हैं, दूसरे उपासकोंको ईश्वरकी सहायताकी आवश्यकता होती है, इस कारण ये परतन्त्र हैं, इस कारण ही आगे कहूँगा, कि—"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्" अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! अद्वैतवाद और द्वैतवादमें क्या कुछ विरोध है? भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! कोई विरोध नहीं है। ऋषिरचित सब ही शास्त्र एक स्वरमें कहते हैं, कि—ज्ञानके सिवाय और किसी उपायसे भी सब दुःखोंकी अत्यन्तनिवृत्तिरूप परमानन्दमें स्थायी स्थिति नहीं होसकती। अद्वैतज्ञान ही

ज्ञान है। श्रुति कहती है-"अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।" आत्मा ही ब्रह्म है। जीव और ब्रह्ममें अभेद होने पर ही जीव ब्रह्मस्वरूपमें स्थित होकर परमानन्दमें स्थिति करसकता है। "ब्रह्मैव सत्यं प्रत्यक्षादिसिद्धं विश्वं ब्रह्मणि आरोपितं, यथा रज्जू रज्जुस्वरूपाज्ञानात सर्पवत् प्रतिभाति प्रकृति-जीवश्चापि पर्यवसाने ब्रह्मैव, ब्रह्मान्यत् सद्वस्तु नास्ति।" ब्रह्म ही सत्य है, प्रत्यक्ष आदिसे सिद्ध विश्व ब्रह्ममें कल्पित है, जैसे कि-रज्जु रज्जुस्वरूपके अज्ञानसे सर्पकी समान प्रतीत होती है, ऐसे ही परिणाममें जीव भी ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न सत् वस्तु है ही नहीं। यह ही अद्वैतवाद है। परन्तु ईश्वर की कृपाके विना अद्वैत वासना उत्पन्न नहीं होसकती। "ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना" जिसमें ईश्वरके अनुग्रह की भिक्षा है वही भक्तिमार्ग है। भक्तिमार्गके विना ज्ञानमार्गमें पहुँचना नहीं बनसकता, विरोध कहीं भी नहीं है। भागवत कहती है (६स्कन्ध ४अ०) जिसमें, जिससे, जिसके द्वारा, जिसके संबंधमें, जिसके प्रति, जो कार्य, जिसप्रकार से, जो कर्त्ता करता है अथवा दूसरोंसे जो कुछ करवाता है वह सब ब्रह्म ही है। ऋषिप्रणीत शास्त्र ही शास्त्र है, जो ऋषिप्रणीत नहीं है वह शास्त्र ही नहीं है। श्रुति भी कहती है-"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" उसको जानकर ही मृत्युके पार होसकता है, नहीं तो मृत्युके पार होनेका वा मुक्तिको पानेका और कोई मार्ग ही नहीं है। ऋषिप्रणीत ग्रन्थ मात्रमें देखते हैं, कि-"सर्वब्रह्मेति यास्या-

न्तर्भावना स हि मुक्तिभाक् । भेददृष्टिरविद्येयं सर्वदा तां विवर्जयेत् ॥" सब ही ब्रह्म है, यह ही जिसकी भीतरी भावना है वह ही मोक्ष पासकता है, परन्तु जहां अविद्या है तहां ही भेददृष्टि है, इसका ही त्याग करना चाहिये । मैं यदि कहूँ कि—मेरी इस कृष्णमूर्त्तिको छोड़कर ब्रह्मकी उपासना हो ही नहीं सकती, शक्तिकी उपासना तामसी असुरोंके लिये है, एक मात्र कृष्णमंत्र ही ग्रहण करनेके योग्य है तो ऐसा कहना अविद्या ही कहलावेगा । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! कोई २ कहते हैं, कि—श्रुतिने ब्रह्मको सगुण ही कहा है । निर्गुण कुछ है ही नहीं । भगवान्ने कहा, हे सखे! गीता वेदकी प्रतिध्वनि है । जैसे मैंने ब्रह्मको निर्गुण भी कहा है और सगुण भी कहा है, तैसे ही वेद भी यही बात कहता है-:"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्चेति श्रुतिसङ्कोच एव न्याय्यः ।" मैं निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंके विषयमें कहता हूँ, कि—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव" वह भी मुझको ही पाते हैं, सद्योमुक्तिको पा जाते हैं । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते,, उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है, यहां ही विलीन होजाते हैं । श्रुति कहती है—"एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।"यह जीव मरणकालमें शरीरमेंसे निकल कर परम ज्योतिको पाकर अपने स्वरूपमें ही स्थित होता है "सन्ति उभयलिंगाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः—सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वरस इत्येवमाद्याः सविशेषलिंगाः । अस्थूलमनणव-

ह्रस्वमदीर्घमित्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः ।" अर्थात् ब्रह्मके विषयमें दो प्रकारकी श्रुति हैं—ब्रह्म सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध है, सर्वरस है, यही सगुण ब्रह्म है। ब्रह्म स्थूल भी नहीं हैं सूक्ष्म भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं है दीर्घ भी नहीं है, यही निर्गुण ब्रह्म है। सगुण ब्रह्म पृथक् है और निर्गुण ब्रह्म पृथक् है यह बात श्रुतिने कहीं भी नहीं कही है। जो तुरीय निर्गुण है वही मायाके अवलम्बनसे प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानररूप से सगुण होता है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये ब्रह्मके चार पाद हैं। माण्डूक्यकी श्रुति ॐकारको ही ब्रह्म और आत्मा कहती है। उस ॐकारस्वरूप ब्रह्मका चतुर्थ पाद निराकार है "तुरीयन्तु निराकारम्" और तीन पाद साकार हैं, माण्डूक्यकी श्रुति ऐसा ही कहती है। तुरीय (चतुर्थ) पादके विषयमें श्रुति कहती है "नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं, अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।" स्वप्नावस्थामात्रका अधिष्ठाता नहीं, जाग्रत् अवस्थामात्रका अधिष्ठाता नहीं, इन दोनोंके बीचकी अवस्थामात्रका अधिष्ठाता नहीं, सुषुप्तिमात्रका अधिष्ठाता नहीं, द्वैतभावके ज्ञानसे युक्त प्रज्ञमात्र नहीं और अज्ञानरूप अचेतन मात्र भी नहीं किन्तु जो देखनेमें नहीं आसकता, जो विषय न होनेके कारण व्यवहारमें नहीं आसकता, जो कर्मेन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जासकता, जिसका अनुमान

नहीं होसकता, जो अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है, एकात्मप्रत्ययसार है अर्थात् जाग्रत् आदि सब अवस्थाओंमें एक यह आत्मा ही है ऐसे विश्वासका विषय है, जो रूप रस आदि विषयोंसे पर है, जो रागद्वेष आदिसे रहित शान्त है, जो मङ्गलरूप है और जो निर्विशेष अद्वितीय चेतन पदसे कहा जासकता है, उसको ही ज्ञानी चौथा पाद वा तुरीयपद मानते हैं, वह ही सबका आत्मा है, मुमुक्षुओंको चाहिये, कि—उसको ही आत्मस्वरूप जानें। इस तुरीय पादको ही गीता निर्गुण कहती है। दृश्य ज्ञानको धोकर निःसङ्गभाव की स्थिति पाना ही निर्गुण उपासनाका फल है। यही सब से उत्तम उपासना है। एक फूलको हाथसे मलनेमें चाहे क्लेश हो परन्तु अधिकारीको इस उपासनामें जरा क्लेश और श्रम नहीं होता, अधिकारी इसको बहुत ही सहजमें करसकता है, परन्तु अनधिकारी देहात्माभिमानीके लिये इसमें बड़ा क्लेश होता है "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।" वह तुरीय ब्रह्म ही सर्वदा निजस्वरूपमें रहकर भी जब मायाके अवलम्बनसे प्राज्ञ वा सुषुप्तिके अभिमानी पुरुषरूपसे विवर्त्तित होता है तब वही ईश्वर है, वही अन्तर्यामी पुरुष है। यह पुरुष ही स्वप्नका अभिमानी होने पर तैजस पुरुष और जाग्रत् का अभिमानी होने पर विश्वपुरुष नामको धारण करता है। निर्गुण ब्रह्मके विषयमें श्रुतिने जो कुछ कहा है उसको पहिले लिखचुके हैं। जिस निर्गुण ब्रह्मके विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता, वह निर्गुण ब्रह्म ही

जब अपनी मायासे सगुण होता है तब वही सब कुछ होता है। श्रुति कहती है-"प्रज्ञानस्य नामधेयानि इति । आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत्। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानामन्तरमवाह्यम्। स वाह्यभ्यन्तरो ह्यजः, अशरीरेषु ज्ञानादेव सर्वपापहानिः । अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति। योऽयं प्रज्ञानमयः पुरुषः सोऽयमसङ्गो ह्ययं पुरुषः। योऽयमविनाशी पुरुषः प्रत्यगानन्दमयः पुरुषः, सहस्रशीर्षाऽयं पुरुषः । योऽयममृतमयः पुरुषः, विज्ञानमानंदं ब्रह्म, प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म,अयमात्मा ब्रह्म।" निर्गुण अवस्थामें जो शून्यसे भी व्यापक है, जो महाशून्य है, जिसके विषयमें कुछ भी नहीं कहाजासकता, वही सगुण अवस्थामें सर्वशक्तिमान्, सब जीवोंका शास्ता और ज्ञानस्वरूप आदि होता है। पहिले श्रुतिके प्रमाणसे कहचुके हैं, कि-तुरीयपाद निराकार है अन्य पाद साकार हैं। ईश्वरको भी साकार जिसलिये कहागया है उसके विषयमें श्रुति कहती है, कि-"साकारस्तु द्विविधः, सोपाधिको निरुपाधिकश्च। तत्र सोपाधिकः साकारः कथमिति? आविद्यकमखिलकार्यकारणजालमविद्यापाद एव नान्यत्र, तस्मात्समस्ताविद्योपाधिः साकारः सावयव एषः, सावयवत्वादवश्यमनित्यं भवत्येव।" इसीलिये श्रुति फिर कहती है-"मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो नहि। इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः॥" ईश्वरपना और जीवपना निर्गुण ब्रह्ममें मायाके द्वारा कल्पितमात्र है अर्थात् निर्गुण ब्रह्म सर्वदा अपने स्वरूपमें रहताहुआ भी अपनी

मायाके प्रभावसे स्वयं ही ईश्वरभावमें और जीवभावमें विवर्त्तित होता है। मूलमें वही तुरीय ब्रह्म है, इसीलिये ईश्वर और जीवभावको भी ब्रह्म ही कहा है। यह तो हुई सोपाधिक साकारकी बात, अब निरुपाधिक साकार की बात सुनो—"तर्हि निरुपाधिकसाकारः कथमिति ? निरुपाधिकसाकारास्त्रिविधः। ब्रह्मविद्यासाकारश्चानन्दसाकार उभयात्मकसाकारश्चेति। त्रिविधसाकारोऽपि पुनर्द्विविधो भवति। नित्यसाकारो मुक्तसाकारश्चेति। नित्यसाकारस्त्वाद्यन्तशून्यः शाश्वतः। उपासनया ये मुक्तिं गतास्तेषां साकारो मुक्तिसाकारः।" माया और अविद्यायुक्त चैतन्यको भी श्रुति साकार कहती है, जो नित्यसाकार है वह आदि-अन्तशून्य सर्वदा एकरूप है। और उपासनाके द्वारा जो मुक्ति पाते हैं वही मुक्तसाकार हैं। त्रिपादविभूति नारायण उपनिषद्ने सगुण निर्गुण और साकार निराकारकी बात और भी स्पष्ट करके कही है। शास्त्र कहता है कि—सगुण उपासनासे क्रममुक्ति होती है और निर्गुण उपासनासे सद्यः मुक्ति होती है॥३॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ता-
सक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि
गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अन्वय और पदार्थ

(अव्यक्तासक्तचेतसाम्) अव्यक्तमें लगाया है चित्त

जिन्होंने ऐसे (तेषाम्) तिन साधकोंको (क्लेशः) क्लेश (अधिकतरः) अति अधिक [भवति] होता है (हि) क्योंकि (देहवद्भिः) देहाभिमानियोंको (अव्यक्ता) निर्गुण ब्रह्मके विषयकी (गतिः) निष्ठा (दुःखम्) बड़ी ही कठिनतासे (अवाप्यते) प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! उन अव्यक्तमें चित्त लगानेवाले पुरुषोंका साधन बड़ा ही क्लेशदायक होता है, क्योंकि-जो देहाभिमानी हैं उनको अव्यक्त पदकी प्राप्ति होनेमें अवश्य ही बड़े दुःख उठाने पड़ेंगे। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! अव्यक्त, अक्षर, निर्गुण, निराकार ब्रह्मकी उपासनाकी बात पिछले श्लोकमें आपने कही। जो निर्गुण के उपासक हैं वह स्थितिध्यानी हैं और जो सगुणके उपासक हैं वह ज्ञानी तथा भक्त हैं। निर्गुण और सगुण उपासनाके विषयमें जो कुछ पूछना है वह तो मैं आगे चलकर पूछूँगा, इस समय जो आपने कहा, कि-जिनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त है उनको बहुत अधिक क्लेश होता है, इससे तो यह प्रतीत होता है, कि-साकार उपासनामें भी अधिक क्लेश है तथा निराकार की उपासनामें बहुत अधिक क्लेश है, अब आप यह समझादीजिये, कि-क्लेश किस प्रकार अधिक होता है और किस प्रकार बहुत अधिक होता है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! ज्ञान और भक्तिमार्ग की उपासनामें भी अधिक क्लेश है, पहिले ऐसी ही धारणा

कर। जो सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उनको रूप रस गन्ध आदि सकल विषयोंसे मनको लौटाकर सदा यह विचार करना होता है, कि-प्रकृतिसे पुरुष भिन्न है, यह ज्ञानमार्ग है और जो भक्त हैं उनको अपने इष्टदेवतामें मन लगाना होता है। सर्वदा भगवत्कर्मसे भिन्न अर्थात् जप, पूजा, धारणा, ध्यान आदिके सिवाय और कर्म करनेको अवकाश ही नहीं होगा। नेत्र भगवान्‌के रूपके सिवाय और कुछ देखेंगे ही नहीं, कान भगवान्‌की कथाके सिवाय और कुछ सुनेंगे ही नहीं, जिह्वा भगवान्‌के प्रसादके सिवाय और का ही का स्वाद लेना ही नहीं चाहेगी, वाणी भगवान्‌के गुणानुवादके सिवाय और कुछ कहना ही नहीं चाहेगी, हाथ भगवान्‌की पूजाके लिये फूल बीनना चन्दन घिसना मन्दिरको स्वच्छ करना प्रसाद बांटना आदि भगवत्कार्योंके सिवाय और कुछ करेंगे ही नहीं। इसप्रकार साकार उपासना में इन्द्रियें और मनका संमय करना पड़ता है, इसकारण अनायास कर्मोंकी अपेक्षा भक्तको अधिक क्लेश उठाना पडता है, साकार उपासनामें अधिक क्लेश है सही परन्तु मनको एकाग्र करनेके लिये एक अवलम्ब भी है, अवलम्ब पाकर ही मन ध्यान करसकता है, इस ध्यानके द्वारा भी साधक मुझे पाजाता है। निर्गुण उपासक का ध्यान निर्गुणभावसे स्थिति है। सगुण उपासकोंमें ज्ञानीका विचार होता है-प्रकृति से पुरुषका पृथक् अनुभव करना। भक्तके ध्यानमें पहिले उपास्य-उपासक-भेद रहता है। मानलो, कि-किसी पुरुष

को एक रस्सीके टुकड़े में सर्पका भान होगया है वह पुरुष भ्रमसे रस्सीको सांप देख रहा है, परन्तु वह पुरुष यदि तीव्रतासे मन लगाकर देखै तो उसका रस्सी में सर्पका भ्रम दूर होजाता है, क्योंकि—ध्यानकी यह एक स्वाभाविक शक्ति है कि—जिसका सम्यक् प्रकारसे ध्यान किया जाय उसका ही वास्तविक स्वरूप प्रकाशित होजाता है। इसीप्रकार जब किसी देवमूर्त्तिका विशेष मन लगा कर ध्यान कियाजाता है तब इन चर्मचक्षुओंके द्वारा ही प्रतिमाके जड़ अंशका अन्तर्धान होकर चैतन्य अंश प्रकट होजाता है। इसमें यह भी ध्यान रखना होगा, कि—मूर्त्तिको किस भावसे न देखने के कारण मूर्त्तिके जड़ अंशका तिरोभाव नहीं होता है। जैसे मातृभावसे देखने पर माताके गुणोंमें जब मन दृढ़-भावसे घुसजाता है तब ही जड़ आकार भूलकर जड़ आकार के कोने २ में जो अधिष्ठान चैतन्य है वही प्रकाशित होजाता है। हे सखे ! तू मेरी कृष्णमूर्त्ति को ही देखता था, क्रमसे मैंने जब आत्मस्वरूपकी बात कहने लगा जब मैं तुझे अपनी विभूतियोंकी बात सुनायी तब तू मेरी कृष्णमूर्त्तिको ही किसी और भावसे देखने लगा, इसलिये कृष्णमूर्त्तिका स्वरूप जो चैयन्य वह फुरगया, तब तूने विश्व रूपमें उस ही चैतन्यका प्रकाश देखा, उस ही अधिष्ठान चैत-न्यके ऊपर जिसप्रकार मायाका व्यापार होरहा है वह भी तू ने देखा, इस ही प्रकार देखाजाय तो साकार मूर्त्तिकी उपा-सनामें भी साधक मेरे स्वरूपमें पहुँचजाता है। समस्त विश्व में मैं ही हूँ। विश्व नामका कोई पदार्थ है तो वह मेरे ही

ऊपर भासरहा है। मैं ही विश्वरूप हूँ, ऐसा अनुभव होने पर भी प्राणी संसारसागरसे मुक्त होजाता है—क्रमसे कैवल्य मुक्तिको पाजाता है। अर्थात् साधकको सच्चिदानन्दस्वरूप मैं ही मैं दीखता हूँ, उसको और कुछ भासता ही नहीं। एकाग्र समाधिके द्वारा भी निरोधसमाधिसे उत्पन्न होनेवाली कैवल्यभावकी धारणा कीजा सकती है। साधारण जीव जिस भावसे रहता है, साधक मुझे विश्वरूपसे प्राप्त करनेकी साधनामें उसकी अपेक्षा बहुत अधिक क्लेश पाता है, इस बातको तू समझता ही है, परन्तु जो अक्षर अव्यक्त की उपासना करते हैं उनका क्लेश और भी अधिक होता है, क्योंकि—उनको किसी प्रकारका अवलम्ब नहीं होता है। कुछ भी अवलम्ब है नहीं और चित्त निःसङ्ग अवस्थामें रहना चाहता है, इसमें अधिकतर क्लेश होगा ही। देह, जगत्, मन सबको ही अलग करके चित्तको शून्यभावमें ठहराना होगा, इसमें जो अधिकतर क्लेश होना संभव है उसकी धारणा तू कर ही सकता है?। इसके सिवाय निर्गुण उपासनाका अधिकारी होनेके लिये साधनचतुष्टयसे युक्त होकर ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करके श्रेष्ठ गुरुके समीप श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेके अनन्तर तत्त्वमसि आदिका विचार करने की आवश्यकता है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! एक वार फिर समझाइये, निराकारकी उपासना वा निर्गुणकी उपासना किसप्रकार होसकती है?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! ब्रह्म निराकार है, निर्गुण है, निसङ्ग है। उसकी समान

और कुछ है ही नहीं। उसके साथ किसीका कुछ भी सम्पर्क नहीं है, वह अतिसूक्ष्म है। आकाश सर्वव्यापी है, हम कहते हैं कि—आकाश सूक्ष्म है, आकाश शून्यमात्र है। इस शून्य की अपेक्षा भी वह सूक्ष्म है, वह व्यापक है। इस ब्रह्मभाव को गुरुके मुखसे सुनकर जब साधनाके द्वारा इस भावमें स्थिति होजाती है तब ही निर्गुण उपासना होती है। उपासना शब्दका अर्थ है—उप कहिये समीपमें आसना कहिये बैठना वा स्थिति। भक्तिमार्गमें मनमें श्रीमूर्त्तिके निकट स्थिति और ज्ञानमार्गमें उस ही भावमें स्थिति अर्थात् निःसंग-भावमें स्थितिका नाम निर्गुण उपासना है। अव्यक्त अक्षर की उपासनाकी बात पहिले कह चुका हूँ और अब फिर कहता हूँ सुन—किसी भी दृश्य-पदार्थको नहीं देखता हूँ—निःसंग होगया हूँ—महाशून्यस्वरूपमें स्थिति कर रहा हूँ—जिस अवस्थामें देह नहीं है, जगत् नहीं है, भोगनेको भी कुछ नहीं है, इसप्रकार आत्माको अपने यथार्थ—स्वरूपमें अर्थात् चित्मात्रमें—सत्मात्रमें वा आनन्दस्वरूपमें स्थिति प्राप्त कराना ही ज्ञानमार्ग का फल वा निर्गुण उपासना है। यह जो महाशून्यरूपमें स्थितिकी बात कही—यहां लोग कहेंगे, कि—शून्य तो अभाव पदार्थ है—तो क्या निजस्वरूप में स्थिति भी अभाव पदार्थ है? नहीं ऐसा नहीं है, आत्मा अत्यन्त ही सूक्ष्म है, इस कारण महाशून्यके साथ उसकी तुलना की है। आत्मा अभाव पदार्थ नहीं है, आत्मा तो पूर्ण पदार्थ है, वह सत्—चित्—आनन्द है। केवल आत्मा

को इसप्रकार जान लेने मात्रसे ही निर्गुणकी उपासना नहीं होजाती, जब भोगका आस्वाद है तबतक ही बन्धन है। आत्मा असंग है, उदासीन है, इस बातको जानलेने पर भी भोगाभिमानके छूटे विना निजस्वरूपमें स्थिति नहीं होसकती। "अनास्वादितभोगस्य कुतो भोज्यानुभूतयः ॥" देह है, इस बातका अनुभव भी जिसप्रकार भोग है तैसे ही दृश्य है, ऐसा अनुभव भी भोग है। निर्गुण उपासकको भोगका त्याग करना पड़ता है, इसलिये इस उपासनामें अधिकतर क्लेश होता है। इस श्लोकके अन्तमें मैं ही इसका कारण बताता हूँ, कि-जब तक देहाभिमान रहता है तबतक अव्यक्त पदकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, तबतक अव्यक्त निष्ठामें अधिकतर क्लेश ही होगा। जो अधिकारी नहीं है उसको भक्तिमार्गकी अपेक्षा ज्ञानमार्गमें अधिकतर क्लेश होगा ही, परन्तु जो विचारते हैं कि-अव्यक्त उपासनाका अधिकार किसी मनुष्यको प्राप्त हो ही नहीं सकता, वह भ्रममें पड़े हुए हैं, मैंने ऐसी कोई बात कही ही नहीं है। "सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्,, (६ । २) अधिकारीको तो निर्गुण उपासना में कुछ श्रम पड़ता ही नहीं। श्रुति कहती है, कि-कैवल्य-मुक्तिके सिवाय सकल दुःखोंकी निवृत्तिरूप परमानन्दमें नित्य-स्थिति और किसीसे हो ही नहीं सकती। "अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमार्गेणोक्ता, न कर्मसांख्ययोगोपासना-दिभिरित्युपनिषत्,, इससे प्रतीत होता है, कि-कैवल्यमुक्ति वा यथार्थ मुक्ति केवल ज्ञानके द्वारा ही होती है, कर्म योग

सांख्ययोग वा उपासना आदिके द्वारा नहीं होती । ज्ञानके द्वारा ही मुक्ति होती है और भक्तिके द्वारा ही ज्ञान होता है, विना भक्तिके ज्ञानकी प्राप्ति भी नहीं होती और कैवल्य-मुक्ति भी नहीं होती । अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् मेरी समझमें मैं निर्गुण उपासनाका अधिकारी नहीं हूँ अब यह बताइये कि–निर्गुण उपासना वा ज्ञानका अधिकारी कौन होसकता है ? । भगवान्ने कहा, कि–हे सखे !–"अद्रुतचित्तस्य निर्वेदपूर्वकं तत्त्वज्ञानं द्रुतचित्तस्य तु भगवत्कथाश्रवणादिभगवद्धर्मा श्रद्धापूर्विका भक्तिरित्यधिकारभेदेन द्वयमप्युपात्तम्," जिनका चित्त अत्यन्त नीरस होता है किसी प्रकार भी द्रवीभूत नहीं होता है, गलित नहीं होता है वह ही इस लोककी सम्पदासे विरक्त होनेके अनन्तर तत्त्वज्ञानके मार्गको वा अद्वैतवादके मार्गको ग्रहण करते हैं, किन्तु जिनका चित्त ऐसा शक्तिशाली नहीं होता है, जिनका चित्त जरासा ही कारण पाकर द्रवीभूत होजाता है, सहजमें ही पिघलजाता है वह इस लोककी सम्पदासे विरक्त होनेके अनन्तर द्वैतवादके भक्तिमार्गका आश्रय लेते हैं । अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! और एक बात बूझता हूँ उसको भी बताइये, क्या भक्तिमार्गमें इन्द्रियनिरोध नहीं करना पड़ता है ? निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तो इन्द्रियनिरोधकी आवश्यकता है ! परन्तु जैसे नदीकी गतिको रोकना कठिन है तैसे ही इन्द्रियोंका निरोध करना भी कठिन है ? । भगवान्ने कहा, कि–सखे ! ज्ञानमार्गका उपदेश है कि–एक

साथ कामनाओंको त्याग दो एक साथ भोगकी इच्छाको त्याग दो एकसाथ इन्द्रियोंकी गतिको रोक दो। इच्छाको त्यागे विना मुक्ति नहीं होगी और ऐसा करते ही सद्यः मुक्ति होजायगी। परन्तु एक साथ सकल कामनाओंका त्याग सब लोग नहीं करसकते, भोगकी सकल इच्छाओंको सब लोग नहीं त्याग सकते और एकसाथ इन्द्रियोंका निरोध भी सब लोग नहीं करसकते इसलिये ही भक्तिमार्गका उपदेश है कि-यदि एकसाथ सब कामनाओंका त्याग नहीं कर सकते तो शुभकामनायें करो, भोगकी सकल इच्छाओंको नहीं त्याग सकते तो शुभ भोगोंकी इच्छा करो। भगवान्‌का प्रसाद समझकर सेवन करो। एक साथ देखना सुनना नहीं छोड़ सकते तो भगवन्मूर्त्तिके रूपको ही देखो, भगवान्‌के गुणोंकी कथाको ही सुनो, इसालिये ही भक्तिमार्गमें क्रममुक्तिका विधान है। यह मैंने निर्गुण उपासनाकी निन्दा नहीं की है किन्तु मेरे कहनेका तात्पर्य यह है, कि-सब ही इसके अधिकारी नहीं हैं। क्रममुक्ति होने पर अन्तमें सद्योमुक्ति होगी ही। श्रुति स्मृति सब एक स्वरमें कहते हैं, कि-और प्रकारकी मुक्तिमें किसी अंशमें ही दुःख निवृत्त होता है, कैवल्यमुक्तिके सिवाय परमानन्दमें चिरकालको स्थिति नहीं होसकती। ऋषियोंने यह भी कहा है, कि-भक्तिके सिवाय ज्ञानको पानेका और कोई उपाय नहीं है। भगवान् व्यास जीने कहा है, कि-"मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रमात्रेषु ताम्, न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात्तेषां जन्मशतैरपि" यदि

श्रीभगवान्‌की भक्ति नहीं है तो चाहे जितने शास्त्र देखो उनसे मोहमें ही पड़ोगे, सैंकड़ों जन्म वीतजाने पर भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी तथा मुक्ति वा सकल दुःखोंकी निवृत्ति-रूप परमानन्दमें चिरकालके लिये स्थिति भी नहीं प्राप्त होगी, आत्मज्ञानके विना मुक्ति हो ही नहीं सकती और भक्तिके बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होसकती इसलिये भक्ति को ही मुक्ति कहा गया है। श्रुति कहती है—"तस्मात्सर्वेषा-मधिकारिणामनाधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते, भक्ति-योगो निरुपद्रवः, भक्तियोगान्मुक्तिः, बुद्धिमतामनायासेना-चिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति। तत्कथमिति ? भक्तवत्सलः स्वय-मेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान् सर्वान् परिपालयति सर्वाभीष्टान् प्रयच्छति, मोक्षं दापयति, भक्त्या विना ब्रह्म-ज्ञानं कदापि न जायते तस्मात् त्वमपि सर्वोपायान् परि-त्यज्य भक्तिमाश्रय भक्तिनिष्ठो भव भक्तिनिष्ठो भव।" सब अधिकारी और अनाधिकारियोंके लिये भक्तियोग ही ठीक है, भक्तियोगमें किसीप्रकारका उपद्रव नहीं है, भक्तियोगसे मुक्ति मिलती है, बुद्धिमानोंको भक्तियोगके द्वारा शीघ्र ही तत्त्वज्ञान होजाता है। उसकी रीति यह है, कि—भक्तवत्सल भगवान् अपने आप ही सब भक्तोंको मोक्षके सकल विघ्नों से बचादेते हैं और रक्षा करते हैं, सकल इच्छित पदार्थ देते हैं, मोक्षसाधन करा देते हैं, भक्तिके विना तत्त्वज्ञान कभी होता ही नहीं, इसलिये तू भी सब उपायोंको छोड़कर भक्ति का आश्रय ले। अब सगुण उपासनाकी दूसरी तय जो

भक्तियोग है उस भक्तियोगमें जो कुछ करना चाहिये उसको सुन ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार-सागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

अन्वय और पदार्थ

(ये-तु) जो तो (सर्वाणि) सब (कर्माणि) कर्मों को (मयि) मेरे विषें (संन्यस्य) समर्पण करके (मत्पराः) मुझमें निष्ठा वाले [सन्तः] होते हुए (अनन्येन-एव) एकान्त ही (योगेन) भक्तियोगके द्वारा (माम्) मुझ विश्वरूपको (ध्यायन्तः) ध्यान करते हुए (उपासते) भजते हैं (पार्थ) हे अर्जुन (मयि) मुझमें (आवेशित-चेतसाम्) चित्त लगा देने वाले (तेषाम्) उन साधकोंका (अहम्) मैं (मृत्युसंसारसागरात्) मृत्युयुक्त संसारसमुद्र से (न चिरात्) शीघ्र ही (समुद्धर्ता) उद्धार करनेवाला (भवामि) होता हूँ ॥ ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! अधिकारी विना हुए निर्गुण उपासना-निःसङ्ग आत्मभावसे स्थिति बड़ी ही क्लेश दायक होती है इस बातको मैं समझ गया, परन्तु सगुण उपासनामें प्रधान सुभीता यह है, कि-तुम स्वयं भक्तका उद्धार कर देते हो, अब यह बताइये कि-कैसा आचरण करने से आप भक्तको मृत्युसंसारसागरके पारकर देते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! सब कर्म मुझे अर्पण कर देना चाहिये, मेरे सिवाय और किसी विषयमें प्रीति नहीं होनी चाहिये, चित्तको एकाग्र करके एक मेरा ही अवलम्बन लेना चाहिये, और मेरा ध्यान करते हुए उपासना करना चाहिये। जो भक्त अपने सब कर्म मुझे अर्पण कर सकते हैं अर्थात् जिस समय वह यह निश्चय कर लेते हैं, कि-हम किसी कर्मके कर्त्ता नहीं हैं और मैं ही उनके सब कर्मों को कर देता हूँ, ऐसा अनुभव करते हैं, जिस समय उनका कर्त्तापनेका अभिमान नहीं रहता है, उस समय ही वह मत्परायण होते हैं। जो मुझमें ही चित्तका समाधान करते हैं, मेरी ओरको देख २ कर मेरा ध्यान करते २ उपासना करते हैं। जिस भक्तका चित्त और किसी विषयमें जाता ही नहीं है, केवल मुझमें ही प्रवेश करता है, ऐसे भक्तका ही मैं उद्धार करता हूँ। ध्यान करते हुए उपासना करना इसलिये कहा है, कि-मन को विषयोंसे शून्य करने पर ही ध्यान होता है "ध्यानं

निर्विषयं मनः,, मनमेंसे विषयोंकी चिन्ताको दूर करके जब किसी अवलम्बनसे ब्रह्मभावका स्थापन होता है, तव ही "मां ध्यायन्त उपासते,, होता है । अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! सन्ध्या, पूजा, उपासना आदि नित्यकर्म, ग्रहणकालमें स्नान, पुत्रके निमित्त यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म और भोजन निद्रा आदि स्वाभाविक कर्म अथवा लौकिक और वैदिक सकल कर्म यदि आपको अर्पण कर दिये जायँ, तब ही तो मन विषयोंसे शून्य होता है। उस मनके द्वारा इष्टदेवकी मूर्त्ति को ब्रह्मभावसे देख सकने पर ही तो भक्तकी और २ अवस्थायें अपने आप हो जायँगी। यदि एक श्वास भी आप के स्मरणसे शून्य बाहरको न निकले, यदि किसी कर्मको में कर रहा हूँ यह भाव ही न जागे। भोजन, सोना, घूमना, बैठना, उठना, बातचीत करना, सन्ध्या, पूजा, पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ, दान, तपस्या, चुप होकर बैठना इत्यादि किसीको भी मैं करता हूँ अथवा मैं इनका करनेवाला हूँ, यह भाव मनमें न आवे तब ही तो सर्वदा आपमें दृष्टि रहती है, मानो तुम मेरे भीतर कहीं हो और आपकी प्रकृति कर्म करती है, मैं नहीं करता हूँ, ऐसा बोध होजायगा। आपकी प्रकृति आपके ऊपर इन्द्रजाल फैलाती है और चित्त-रूप चित्रकार अधिष्ठान चैतन्यके ऊपर स्वप्न का चित्र खेंचता है, जैसे शून्यमें चित्र खिंच ही नहीं सकता, ऐसे ही अतिसूक्ष्म महाशून्यस्वरूप पूर्ण जो आप ऐसे आपका अवलम्बन करके मिथ्या कल्पनामात्र होनेके सिवाय कोई

चित्र खिंच ही नहीं सकता, तथापि कल्पनामें अङ्कित हुआसा जगत् दीखता है। इस जगच्चित्रके स्वरूपको देखने पर जिस की समझमें आजायगा, कि—तुम ही तुम हो, और कुछ है ही नहीं, उससमय सब कर्म आपको अर्पित होचुकनेके कारण उसकी कर्मशून्य अवस्था आजायगी। तभी तो देखता हूँ कि—मैं कर्त्ता हूँ, मैं कररहा हूँ ऐसे अभिमानको त्यागकर आपको देखना ही निर्गुण उपासना है। ज्ञानी एकसाथ मैं कर्त्ता हूँ ऐसे अभिमानको त्याग सकते हैं और भक्तिमें—हे भगवन्! मैं आपका दास हूँ ऐसा अभिमान रख कर कर्म करना होता है, बस यही तो भेद है?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! ज्ञानी और भक्त जब मेरे निकट आने लगते हैं, जितने २ सिद्धावस्थाके निकट आते हैं उतने ही दोनों एक होने लगते हैं। तब तक ही दूर रहते हैं, जबतक साधनमार्गमें रहते हैं जब तक उनकी अवस्था भिन्न २ होती है, इस बातको अगले श्लोकमें विशेषरूपसे समझाया जायगा। इस कर्मार्पणको तू विशेषरूपसे स्मरण रख। कर्मार्पण क्या पदार्थ है इस बातको नवम अध्यायके "तत्कुरुष्व मदर्पणम्" २७ वें श्लोकमें, चौथे अध्यायके "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते" और ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि" १३ वे तथा १० वें श्लोकमें और तीसरे अध्यायके "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा" ३० वें श्लोकमें कह दिया है। सब कर्म आत्मामें किस प्रकार अर्पण किये जाते हैं। इस बातको समझकर अभ्यास कर सकने पर ही जानेगा, कि—मैं अवश्य ही उद्धार

कर्त्ता हूं। मैं इस सर्वोत्तम साधन को और एकवार कहता हूँ, सुन—ब्रह्मसमुद्र सदा शान्त है। जो कुछ भी आकार वाले पदार्थ देख रहा है यह उस ही शान्त समुद्रकी तरङ्गोंके सिवाय और कुछ नहीं है। शान्त ब्रह्मसमुद्र और चञ्चल तरङ्गें चञ्चलतामें भिन्न होनेपर भी पदार्थ एक ही हैं, इसलिये चञ्चलभावको त्याग सकने पर ही सर्वत्र मैं ही हूँ ऐसा अनुभव करसकेगा। जीवकी चञ्चलता ही उसका मन और विषयकी युक्तावस्था है। परन्तु मनकी सत्ता वह अधिष्ठान चैतन्य ही है। सङ्कल्प विकल्प अधिष्ठान चैतन्यके ऊपर विषयोंकी सूक्ष्मतरङ्गें मात्र हैं। प्रथम अवस्थाओंमें जो सङ्कल्पमात्र होता है वही वार वार उदय होते २ कर्म अवस्थामें पहुँच जाता है, वह कर्म जब बाहर आता है तो किसी यंत्रके द्वारा ही आता है, इस प्रकार ही यह सब स्थूल जगत् खड़ा होगया है। किस प्रकार अव्यक्त शक्ति व्यक्त अवस्थामें स्थूल जगत् बन जाती है सो पीछे दिखा चुके हैं। अब साधक स्थूलजगत् को छोड़कर सकल कर्मोंकी आदि अवस्था जो सङ्कल्प उसको ही अधिष्ठान चैतन्य वा श्रीभगवान्को अर्पण करे अर्थात् श्रीभगवान्को स्मरण करके एक ओर मनको निर्विषय करता जाय दूसरी ओर श्रीभगवान्में भाव जमा कर और सबको भूल जाय। शक्तिमान्के ऊपर ही शक्ति काम करती है। स्थिर जलाशयके ऊपर बुद्बुदे उठते हैं और वह फिर विला जाते हैं। मनकी भित्ति जो अधिष्ठान चैतन्य है उसके ऊपर शक्तिका विकार जो सङ्कल्प वह उठते हैं। यह जो शक्तिमान्के ऊपर शक्तिका खेल होता है इस कर्ममें तू

अहंकर्त्तापनेका अभिमान क्यों करता है ?, इस पर तू वृथा ही अहंकर्त्तापनेका अभिमान न कर। जो कर्म होजाता है वह भगवान्‌का कर्म है अथवा प्रकृतिका कर्म है, वह प्रकृति के द्वारा भगवान्‌में अर्पित होता है। तू स्थूल देह, इन्द्रियें और मनके द्वारा कर्म करता है परन्तु तेरी भावना में वह शान्त परम ब्रह्म ही है इसलिये किसी प्रकारका अभिमान वा कर्मका करने वाला मैं हूँ ऐसा अहंबोध तुझे नहीं होता है। जैसे नेत्रों का खुलना मुँदना और श्वास प्रश्वास अपने आप होते हैं तैसे ही तेरे द्वारा कर्म भी अपने आप होते हैं। मैं कर्त्ता हूँ ऐसे अभिमानको त्याग कर कर्म किये जा, साधनाके द्वारा इस ही भावसे कर्म होना चाहिये। तू सदा ही उग्रभावसे मेरी भावना करता है, इस लिये कर्म होने पर भी उस कर्ममें तुझे अभिमान नहीं होता है, इसीसे वह कर्म मुझे अर्पित होजाते हैं, यही ज्ञानी का कर्मार्पण है। ज्ञानी एकसाथ, मैं कर्त्ता हूँ ऐसे अभिमान को त्यागकर कर्म करते हैं, भक्त एकसाथ अहंकर्त्तापनेके अभिमानको नहीं त्याग सकते हैं, हे भगवन्! मैं आपका दास हूँ, आप प्रभु हैं ऐसा अभिमान उनको रहता है। दासका कर्म प्रभुके सन्तोषके लिये होता है, दासको अपने लिये किसी फलकी अभिलाषा नहीं होती है। यह साधना बहुत ही आवश्यक है, इसलिये इसकी आलोचना कईवार कीगई है। केवल समझ लेने मात्र से काम नहीं चलेगा, इसका अभ्यास करके सिद्धि पानेकी

आवश्यकता है, कर्मार्पण होने पर ही मत्परायण होसकेगा हे अर्जुन! तू अपने देहको शान्त ब्रह्ममय भावना करके अपने कर्मको भी ब्रह्ममय करने की चेष्टा कर, फिर यदि उस अपने कर्मको ब्रह्मके अर्पण कर सकेगा तो क्षणभरमें ब्रह्मभावमें स्थिति पाजायगा, और यदि तू निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वज्ञानमें असमर्थ होय तो अपने सब कर्म सगुण ईश्वरमें समर्पण कर और वही ईश्वरात्मा होकर निर्द्वन्द्व हो। जो करै वह कर्त्ता कहलाता है। प्रकृति ही कर्म करती है, इसकारण वह कर्त्री है, इस बातको हरसमय याद रखकर अभिमानी अहंका मुख नीचा कर देना ही अर्थात् अभिमानका प्रकाश न होनेदेना ही कर्मका ब्रह्ममें अर्पण करना है। मेरे गुणकीर्त्तन आदिके द्वारा मुझमें भक्ति कर, ज्ञानयज्ञ कर्मयज्ञ आदिके द्वारा मेरा ही यजन करता रह, सदा मेरे ही लिये प्रणाम कर, हे अर्जुन! इसप्रकार मुझमें चित्त लगाकर ही मत्परायण होसकेगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! कर्मार्पणको तो मैं समझ गया और एक बात बूझता हूँ—भक्तोंका उद्धार तुम अपने आप करते हो, ज्ञानीको सब साधन अपने आप ही करना पड़ता है, जो वस्तु अधिक क्लेश सहकर मिलती है उसका फल भी अधिक होता होगा? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! इस गीतामें मैंने वही उपदेश दिया है, जिसमें क्लेश थोड़ा हो और फल अधिक हो। कर्मकी कुशलता को न जानकर लोग कर्मके लिये बड़ा ही क्लेश पाते हैं, परन्तु कर्मकी कुशलता को जानकर कर्म करनेसे बहुत ही थोड़े परिश्रम

में अधिक फल प्राप्त होता है। और उपासनाके विषयमें भी मैंने यहाँ वही उपदेश दिया है, कि-जिसमें थोड़े क्लेशसे अधिक फल प्राप्त हो। उपासना सगुण और निर्गुण भेदसे दो प्रकारकी है। सगुण उपासना भी विश्वरूप उपासना और मूर्त्ति उपासनाके भेदसे दो प्रकारकी है। गीताके प्रथम से दशम अध्याय तक निर्गुण उपासनाका मार्ग कहा है, एकादशमें स्पष्टरूपसे सगुण उपासना कही है। मुझ अव्यक्त-मूर्त्तिकी विभूतियोंका वारंवार विचार करके उपासना करनेके लिये जब वारंवार कहता हूँ तो समझ ले कि-यह सगुण उपासना निर्गुण स्थिति पानेके लिये ही है। निर्गुण ब्रह्म-रूपमें स्थिति पानेके लिये जो उपासना है उसमें सगुण उपासना सुखदायक है। निर्गुण उपासनाका क्लेश अर्थात् सकल भोगोंकी इच्छाका त्याग यदि कोई न कर सके तो भी जो भक्त सब प्रकारसे मेरे सगुण रूपका आश्रय लेता है उसको मैं स्वयं मृत्यु-संसार-सागर के पार करदेता हूँ। इस विषयको और एकवार कहता हूँ, सुन-विश्वरूप ही सगुण ब्रह्म है। वह सगुण ब्रह्म समष्टि और व्यष्टिरूपसे विश्वमूर्त्ति वाला और मायामानुष मूर्त्तिवाला है। विश्वमूर्त्तिका भी एक स्थूल आकार और दूसरा सूक्ष्म आकार है। सूक्ष्म आकारमें वह हिरण्यगर्भ और जीवघन कहलाते हैं। जीव-चैतन्य समष्टिका ही नाम हिरण्यगर्भ है, यही स्थूल आकार में विराटपुरुष कहलाता है हिरण्यगर्भ और विराट इन दोनों में से किसी एककी उपासनाका नाम सगुण उपासना है।

जो सगुण उपासना करते हैं वह "एष म आत्मान्तर्हृदये" (छान्दोग्य) अपने हृदयमें जो चैतन्य पुरुष है उसको ही हिरण्यगर्भरूपसे अर्थात् समष्टि जीवरूपसे भावना करते हैं, यह सगुण उपासना है। इस पुरुष के विषयमें ही पुरुषसूक्त कहता है "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्।" सकल प्राणियोंकी समष्टि रूप जो पुरुष है, यह ब्रह्माण्ड जिसका देह है वही हिरण्यगर्भ है वही सहस्रशीर्षा है। यह पुरुष ब्रह्माण्डगोलकरूप विश्वको घेरे हुए है। ब्रह्माण्डके बाहर जो कुछ है उसमें भी व्याप रहा है। इसके विषयमें श्रुति कहती है—"यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्वात्मभूः। यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्वात्मभूः इत्यादि।" जो मूर्त्तिकी उपासना करते हैं वह मूर्त्तिके आकारका आश्रय लेकर उसके द्वारा विराट विश्व आकारका चिन्तवन करते हैं "पातालं ते पादमूलं पार्ष्णिस्तव महातलम्। रसातलं ते गुल्फौ तु तलातलमितीर्यते॥ उरःस्थलन्ते ज्योतींषि ग्रीवा ते महदुच्यते॥ हासो मोहकरी माया सृष्टिस्तेऽपाङ्गमोक्षणम्। समुद्राः सप्त ते कुक्षिः नाड्यो नद्यस्तव प्रभो॥ रोमाणि वृक्षौषधयो रेतोवृष्टिस्तव प्रभो। महिमा ज्ञानशक्तिस्ते एवं स्थूलं वपुस्तव॥ यदस्मिन् स्थूलरूपे ते मनः सन्धार्यते नरैः। अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्नहि किञ्चन॥" हे भगवन्! पाताल आपका चरणमूल, महातल एड़ी, रसातल और तलातल गुल्फ, तारागण

का स्थान छाती, महत्लोक ग्रीवा, मोहमें डालनेवाली माया तुम्हारा हास्य, सृष्टि आपका कटाक्ष, सात समुद्र कोख और हे प्रभो! नदियें आपकी नाडियें हैं, वृक्ष और औषध आपके रोम हैं और हे प्रभो ! वर्षा आपका वीर्य है तथा ज्ञानशक्ति आपकी महिमा है इस प्रकारकी यह आपकी स्थूल मूर्त्ति है, यदि आपके इस स्थूल रूपमें मनुष्य अपने मनको ठहरासकें तो अनायास में ही उनकी मुक्ति होजाय, आपकी सत्तासे शून्य तो संसारमें कुछ है ही नहीं। इस स्थूल रूपमें मनको धारणा करने पर प्रेम भक्तिका उदय होता है, इस स्थूल रूपसे मन हिरण्यगर्भमें पहुँचजाता है, तदनन्तर हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठ हृदयगुहामें विराजमान पूर्ण परमात्मा दर्शन देते हैं। परमेश्वर कृपा करके ऐसे साधकको संसार सागरसे क्रम-मुक्ति देते हुए पार कर देते हैं। इससे सिद्ध हुआ, कि—सगुण उपासनाके भीतर ही मूर्त्तिकी उपासना है मूर्त्तिका आश्रय लेकर ही विश्वरूपकी उपासना करनी होती है। इसीलिये द्विजोंकी गायत्रीमें भी गायत्रीका ध्यान करके वही विश्वरूपिणी हैं ऐसी भावना करनी होती है, तब ही गायत्री साधककी शक्तिको मोक्षमार्ग की ओरको लेजाती है। अर्थात् सगुण उपासना करते २ क्रमसे जीवोंकी समष्टिरूप हिरण्यगर्भ से श्रेष्ठ, पूर्ण, अद्वितीय, हृदयगुहामें वर्त्तमान पुरुषका दर्शन होता है। यह पुरुष स्वयं प्रकट होजाता है। उसका साक्षात्कार ही मुक्ति है। इस श्लोकमें सगुणसे निर्गुण में पहुँचनेकी रीति कहीगयी। मैं सगुण उपासना करते २ साधक को आत्म-

ज्ञान देकर संसारसागरके पार करदेता हूँ, इसलिये ही अगले श्लोकमें कहता हूँ, कि-"मुझमें ही मनको लगा" इत्यादि ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अतऊर्ध्वं न संशयः ८

अन्वय और पदार्थ

(मयि-एव) मेरे विषैं ही (मनः) मनको (आधत्स्व) स्थिर कर (मयि) मेरे विषैं (बुद्धिम्) बुद्धिको (निवेशय) स्थापन कर (अत) इस शरीरका पात होनेसे (ऊर्ध्वम्) आगे (मयि-एव) मेरे विषैं ही (निवसिष्यसि) निवास करेगा (संशयः) सन्देह (न) नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थ

श्रीभगवान्‌ने कहा, कि-हे हे सखे ! मुझमें ही मनको स्थिर कर, मुझमें ही बुद्धिको स्थापन कर तो देहान्त होने पर मुझमें ही निवास करेगा, इसमें जरा सन्देह नहीं है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! विश्वरूपमें मनको स्थापन करनेकी बात पहिले एक प्रकारसे आप कहचुके हैं, परन्तु एकवार और समझा दीजिये कि-आपके विश्वरूपमें मनको कैसे स्थिर कियाजाय ! भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! आकाश, ज्योति, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, साकार और निराकार सब कुछ भगवान् ही हैं, ऐसा जानकर दोनों भौंके

मध्यमें–ज्योतिके भीतर प्रवेश करके तू मेरे साथ एक होकर स्थित हो। इस बातको तू अब दूसरे प्रकारसे सुन। मनकी सब वृत्तियोंको विश्वरूपमें लगादे। मनका स्वभाव है, कि–वह किसी विषयको लेकर रहता है, मनको रूप रस आदि विषयोंसे लौटा कर विश्वरूपके चिन्तवनमें लगा, पहिले विश्वरूपकी धारणा कर। वेदमें विश्वरूपके सात अङ्ग कहे हैं। छान्दोग्यकी श्रुति कहती है–"तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादा-वित्यादि" जिस पुरुषने विश्वरूपको धारण किया है उसका मस्तक स्वर्ग है, चक्षु सूर्य है, श्वास वायु है, मध्यदेश आकाश है, अन्न जल पेट है, पृथिवी पैर है, मुख हवनके योग्य अग्नि है। स्वर्ग, सूर्य, वायु, आकाश, अन्न, जल, पृथिवी, अग्नि आदिको हम अलग २ रूपमें स्थित देखते हैं, परन्तु वास्तवमें ये उस ही अव्यय, अक्षर, सर्वव्यापी परमात्माका अवलम्बन लेकर उसके ही देहरूपसे स्थित हैं। सगुण ब्रह्मके विषयमें पहिले भी कितनी ही बातें कही जा चुकी हैं और भी सुन–इस विषयको जितनी वार दुहराया जायगा उतना ही अच्छा है। यहाँ मैं ऋग्वेदीय पुरुषसूक्तके कुछ मंत्रोंका तत्त्व सुनाता हूँ। "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिꣳ सर्वतः स्पृष्ट्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥" सगुण ब्रह्म वा विराट पुरुषके असंख्यों मस्तक हैं, असंख्यों नेत्र हैं असंख्यों चरण हैं, वही समस्त ब्रह्माण्डको सब

प्रकारसे व्यापे हुए हैं । दशांगुलके द्वारा जो परिमाण (नाप) होता है वह उस परिमाण के पार हैं, वह ब्रह्माण्ड को भी अति क्रमण करके स्थित हैं । केवल इतना ही नहीं किन्तु—"पुरुष एवेदꣳ सर्वं यत्किञ्च पृथिव्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥" समस्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ था, जो कुछ होगा और जो कुछ है सब उनका ही अवयव है । एक वार विचार करके देख, सब जगत् वही है और इस कल्पमें वर्त्तमान जो सकल देहधारी प्राणीके हैं, पिछले कल्पमें जो थे और आगेके कल्पमें होंगे वह सब यह विराट पुरुष ही है । और वही अमृतत्त्व कहिये मोक्ष का भी स्वामी है । अर्थात् वही मोक्ष देता है । "यत् यस्मात्कारणात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येन निमित्तेन अतिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामातिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां स्वीकरोति ।" प्राणी जीवित रहकर ही मोक्ष पावेंगे, इसलिये वह अव्यक्त कारण अवस्थाको त्यागकर व्यक्त कार्य अवस्था वा जगत्-रूपताको स्वीकार करता है जब तक कर्मफलका भोग निःशेष न हो तब तक जीवकी मुक्ति नहीं होसकती और महाप्रलयमें जब सब प्राणी अपने २ अनन्त कोटि संस्कारों के साथ पुरुषमें लीन होते हैं, उस समय यह पुरुष यदि जगत्-रूपताको स्वीकार न करे तो जीवोंकी मोक्ष कैसे हो ? इसलिये प्राणियोंके कर्मभोगके निमित्त जगत्रूपको स्वीकार करते हैं । इस विराट पुरुषकी सामर्थ्य वा महिमाकी बात सुनो—"एतावान-

स्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यह पुरुष कितना श्रेष्ठ है, इसकी महिमाकी बात एक वार विचार कर देखो—अनन्तकोटि जीवोंसे भरे हुए अनन्तों ब्रह्माण्ड हैं। उन सव ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ वर्त्तमान है, जो कुछ होचुका है और जो कुछ होगा अर्थात जड़ चेतन समस्त ही जीव इस विराट पुरुषका एकपाद (एक देशमात्र) हैं। इस महा महिमावाले विराट पुरुषके अन्य तीनपाद अविनाशी भावसे अपने स्वप्रकाश स्वरूपमें स्थित हैं। और भी सुनो—सगुण ब्रह्ममें मनको स्थापन करना हो तो सगुण ब्रह्मके विषयमें श्रुतिवाक्योंको सुनना चाहिये और इस सगुण ब्रह्मके ऊपर जो निर्गुण परमात्मा है उसके साथ जो इसका संबन्ध है उसको भी सुनना चाहिये। इस कारण ही वेद निर्गुण और सगुण ब्रह्मके विषयमें सदा एकसाथ ही बोलता है। यह बात भी याद रख,कि—सत्य—ज्ञान—अनन्तस्वरूप ब्रह्म सीमाशून्य है। उसका नापतोल हो ही नहीं सकता, इसलिये इसके चार पाद भी नहीं कहे जा सकते। तथापि इस जगत्को ब्रह्मके साथ तुलनामें अत्यन्त छोटा कहना होगा। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म निरवयव है परन्तु उसकी मायाके अवयव वा परिच्छेद अवश्य हैं। उस मायाके अवयवोंका ही उसमें आरोप कियाजाता है। जो अंशशून्य है उसमें उपासनाके लिये अंशोंका आरोप होता है। स्त्री पुत्र अन्न पान आदि न होने पर जैसे भोग नहीं होता है तैसे ही मायाके

वा अज्ञानके अंशोंको विना ग्रहण किये उपासना नहीं होसकती अतः उपासनाके लिये अवश्य ही मायाके अंशों को ग्रहण करना पड़ेगा। ब्रह्मको मायिक भावसे हृदयमें रखकर ही उपासना होसकती है, मायाकी सहायताके विना वह अविज्ञातस्वरूप ब्रह्म ध्यानका विषय कभी हो ही नहीं सकता। इस कारण ही ब्रह्मसूत्र ३ अध्यायके दूसरे पादमें कहा है, कि–"बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३४ ॥" ब्रह्मको पादयुक्त करके विराटरूपसे वर्णन करना उपासना के लिये है, क्योंकि–उपासना स्थूलरूपकी ही होसकती है, वास्तवमें ब्रह्मके पाद वा अवयव कुछ नहीं है। "त्रिपदूर्ध्व मुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभिः" चार पाद वाले पुरुषका यह त्रिपाद पुरुष ऊपर उदित रहता है,उसका केवल एक ही पाद मायामे वार वार आता है। परम पुरुष मायामें आनेके अनन्तर चेतन अचेतनरूप नानाप्रकारका ब्रह्माण्ड होकर व्याप रहा है। निर्गुण ब्रह्म सदा निर्गुण रहता है तो भी जब उसके एक पादमें मायाका खेल होता है तब तीन पादोंमें वह अपने शुद्ध मुक्त स्वभावसे रहकर भी ऐसे प्रतीत होते हैं कि–मानो केवल अविद्यापादमें ही बँधेहुए हैं अन्य तीन पादोंमें तो वह गुणोंके द्वारा बद्ध होते ही नहीं है। समुद्रके एक भाग मे तोफान उठनेपर भी यदि अन्यभाग शान्त रहेंगे तो सब समुद्रमें तोफान आया नहीं कहला सकता, किन्तु तोफान से खलभलाये हुए भागकी ओरको देखकर कहाजाता है,

कि-सब समुद्रके अपने शान्तस्वरूपमें रहनेपर भी वह एक भागमें उपद्रव उठनेके कारण खलभला उठा था, इसीप्रकार ब्रह्मके विषयमें भी कहा जाता है कि-अपने स्वरूपमें रहकर भी वह ईश्वरभाव और जीवभावको धारण करता है। और सुन-"ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥" उस आदि पुरुषसे विराट ब्रह्मशरीर उत्पन्न हुआ। इस विराट पुरुष से सकल जीव जन्तु ब्राह्मण आदि सृष्टि हुई, जिसका कि-वर्णन इस ही पुरुष सूक्तमें बहुत कुछ किया है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मैंने आपके विश्वरूपकी बात तो सुनली और ऐसी महिमा वाला पुरुष कौन है, उसका दर्शन भी मैं अभी कर चुका हूँ अब सुनकर मैं आपको सौ वार मस्तक नवाकर प्रार्थना करता, कि—बताइये आपके विश्वरूपमें किसप्रकार मन स्थिर किया जाता है?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! मनुष्यका मन सर्वदा विषयोंको ही लिये रहता है, इसकारण सदा विषयोंका ही चिन्तवन करता है। विषयोंके ही सङ्कल्प विकल्प बाँधता है, और विषयोंकी ही चर्चा किया करता है। जिस समय मन ऐसा न करके इस विराट पुरुषसे प्रार्थना करै इस विराट पुरुषकी स्तुति करै, इस विराट पुरुषकी उपासना करै तथा सब पदार्थोंमें इसका ही स्मरण करै तब समझो, कि-मन मुझमें स्थिर होने लगा। मनुष्य वृथा ही विषयोंकी चिन्ता करता है। यदि विषयोंकी चिन्ताको त्यागने के लिये सगुण ब्रह्मके समीप प्रार्थना की जाय तो

उसका सब प्रकारसे कल्याण होता है। ब्रह्म तो अधिष्ठान चैतन्य है, वह सर्वत्र ही विद्यमान है, उसकी शक्ति अनन्त है, वह सबकी प्रार्थना सुनता है। जबतक विरुद्ध कर्मोंका क्षय नहीं होता तब तक प्रार्थना पूरी नहीं होती है। प्रार्थना पूरी हो चाहे न हो, उसके निकट प्रार्थना करने से भी साथ ही साथ मनुष्य आश्वासन साहस और हृदयमें बल पाता है। हे भगवन्! मैंने आपकी आज्ञाका उल्लंघन करके अनेकों प्रकारके पाप करे हैं, आपके सिवाय और किसीमें शक्ति नहीं है जो आपकी ओर को मेरा मन फिरा सके, मैं आजसे आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। मैं जप करता हूँ, प्राणायाम करता हूँ, आप मेरी प्राणवायुको ठीक स्थानमें चलाकर मेरे मनको अपनेमें स्थिर कर दीजिये। वैदिक कर्मानुष्ठान करनेके समय मनुष्य इसप्रकार प्रार्थना बराबर करसकता है, और प्रत्येक व्यवहार के काममें भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये प्रार्थना कर सकता है। जिस२ समय मन भगवान्‌को छोड़कर भागने लगे उसी समय मनको ललकार कर भगवानकी ओरको ही लौटाकर लेजाय। स्तोत्र पाठ आदिके समय भी उनमें ही मनकी धारणा करै चाहे आत्मदेवकी ओरको लक्ष्य रक्खे और चाहे बाहर मूर्त्तिका अवलम्ब लेकर नीचे लिखे अनुसार प्रार्थना किया करै कि–हे प्रभो! वेद कहते है, कि–आपके स्वरूपको कोई जान ही नहीं सकता, मेरा मन आपकी ओर को जानेमें कुंठित (हतोत्साह) होजाता है मेरी वाणी

आपके समीपतक पहुँचती ही नहीं है ब्रह्मरूप ! हे हिरण्यगर्भ ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ । योगिजन हृदयाकाशमें ज्योतिःस्वरूप आपका ही ध्यान करते हैं, ऐसे आपको प्रणाम है । तुम ही कालरूपसे सबका ध्वंस करते हो, तुम ही प्रकृतिरूपसे तीनों गुणोंके स्वरूपमें प्रकाशित होते हो । सत्त्वरूपसे तुम विष्णु हो, रजोरूपसे तुम ब्रह्मा हो, तमोरूपसे तुम रुद्र हो । हे सृष्टि-प्रलय कारिन् ! आपको प्रणाम है । हे प्रभो ! तुम ही बुद्धि हो, तुम ही अहङ्कार हो, तुम ही पञ्चतन्मात्रा हो, तुम ही कर्मेन्द्रियात्मा हो, तुम ही ज्ञानेन्द्रियात्मा हो, तुम ही विषयात्मा हो, तुम ही पृथिवी आदि पञ्चभूतरूप हो आपको नमस्कार है । "नमो ब्रह्माण्डरूपाय तदन्तर्वर्त्तिने नमः । अर्वाचीन-पराचीन विश्वरूपाय ते नमः ॥" आप ब्रह्माण्डरूप हैं आपको नमस्कार है । आप ब्रह्माण्डभरकी सकल वस्तुओं के अन्तर्यामी पुरुष हैं आपको नमस्कार है । सदा नवीन रहने वाले आपको प्रणाम है, परमप्राचीन आपको प्रणाम है, हे विश्वरूप ! आपको प्रणाम है । अनित्य जगत्‌रूप तुम ही हो, नित्य ब्रह्मरूप तुम ही हो, सत् और असत्‌के स्वामी तुम ही हो ऐसे आपको प्रणाम है । सकल भक्तोंके ऊपर कृपावश होकर अपनी इच्छासे दिव्य विग्रह धारण करने वाले आपको प्रणाम है । हे प्रभो ! सब कुछ तुम हो और सब कुछ तुममें है तुम ही स्तुति करते हो, तुम ही स्तुति हो । तुम ही स्तुति करने योग्य हो । इस जगत्‌में जो कुछ

भी है सो सब तुम ही हो. सब जगत् आपसे आच्छादित होरहा है, आपको वारंवार नमस्कार है "नमोऽस्तु भूयोऽपि नमो नमस्ते,, । प्रतिदिन अपने कर्मकी आदिमें और अन्तमें नियमके साथ इसप्रकार स्तुति प्रार्थना करनेका अभ्यास कर एक अपूर्व विश्वरूपभावसे तेरा हृदय सर्वदा पूर्ण रहेगा। फिर मैं तेरे साथ मिलाहुआ रहता हूँ, ऐसी भावना कर तब उस परम पुरुषमें स्थिति पाजायगा। प्रार्थना और स्तुतिकी तो यही रीति है, अब उपासनाकी बात सुन-ब्राह्मण जिस गायत्रीकी उपासना करते हैं वह सगुण ब्रह्मकी ही उपासना है और यही विश्वरूपकी उपासना है। जिसका स्वरूप जाना नहीं जा सकता, जो निर्गुण ब्रह्म है उसकी यह उपासना नहीं है। कोई २ कहते हैं, कि- "ॐकारगम्यः भूर्भुवः स्वः जनकः विराटपुरुष ईश्वरः, सवितुर्देवस्य मण्डलान्तर्गतः श्रेष्ठनरः प्रकाशकः तेजोरूपः, अस्माकं धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धेः प्रेरकः सोऽहमिति चिन्तयाम इत्यर्थः। एतेन शुद्धचैतन्यात्मकं ब्रह्माऽहमस्मीति जीवब्रह्मैक्यचिन्तनमेव पर्यवसितम् । तत्र सामर्थ्याभावे ध्येयः सदा सवितृमण्डलेति प्रभृतयः । मन्त्रार्थस्तु निराकारोपासना । आदित्यमण्डलमध्यस्थितनारायणध्यानं साकारोपासना ।,, अर्थात्-ओंकारसे जाना जानेवाला भूः भुवः स्वः लोकका उत्पादक विराटपुरुष ही ईश्वर है, वह सविता देवताके मण्डलके भीतर विद्यमान परम श्रेष्ठ प्रकाशक तेजःस्वरूप है वही धर्म अर्थ काम और मोक्षमें हमारी बुद्धिका प्रेरक है वही मैं हूँ ऐसा चिन्तवन करते हैं। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य-

स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ, इसप्रकार जीव ब्रह्मकी एकताका चिन्तवन ही सिद्ध हुआ। यदि ऐसे चिन्तवनकी सामर्थ्य न हो तो सवितृमण्डलके मध्यमें स्थित पुरुषका ध्यान करे, मन्त्रके अर्थका विचार ही निराकारोपासना है और आदित्य-मण्डलके मध्यमें स्थित नारायणका ध्यान ही साकारो-पासना है। ऐसी व्याख्या करना ठीक नहीं है। ब्रह्म अपने निर्गुण निर्लिप्त निःसङ्ग रूपसे जब स्थित है। श्रुति जिसको अनिर्देश्य, अव्यय, अक्षर पुरुष कहती है, जो मायामलसे शून्य होनेके कारण अविज्ञातस्वरूप है वही निराकार है। इसके सिवाय जब ब्रह्म मायाको अङ्गीकार करके सगुण विश्वरूप धारण करता है उस समय ही वह साकार होता है। मायाका परिच्छेद है—सीमा है, क्योंकि—त्रिपाद ब्रह्म मायासे शून्य है, एक अविद्याके पादमें ही मायाका खेल है। पहिले कहाजाचुका है, कि—सगुण ब्रह्म ही मायामानुषरूपसे अवतार धारण करता है, इसलिये जो विश्वरूपमें मनकी धारणा नहीं करसकते वह सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती कमलासन नारायणका ध्यान करके वह विश्वरूप हैं, इस भावसे चिंतवन करें। अब सुन कि—किस भावसे विश्वरूप की उपासना करने पर उसमें मनका प्रवेश होता है। ब्राह्मण शिवपूजाके समय जो अष्टमूर्त्तिकी पूजा करते हैं वह भी विश्वरूपकी ही पूजा है। उस पूजाके समय कहाजाता है, कि—"सर्वाय क्षिति-मूर्त्तये नमः। भवाय जलमूर्त्तये नमः। रुद्राय अग्निमूर्त्तये नमः। उग्राय वायुमूर्त्तये नमः। भीमाय आकाशमूर्त्तये नमः।

पशुपतये यजमानमूर्त्तये नमः। महादेवाय सोममूर्त्तये नमः। ईशानाय सूर्यमूर्त्तये नमः ॥,, यह विश्वरूप अचिन्त्यशक्ति है–परिच्छिन्न अधिष्ठान चैतन्य है। चैतन्य भावकी ओरको लक्ष्य करके इसको पुरुष कहा जाता है और शक्तिभावकी ओरको लक्ष्य करके इसको प्रकृति कहाजाता है। वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद है, इसकारण पुरुष और प्रकृति दोनों ही रूपमें इसकी उपासना कीजाती है। ब्राह्मण इसको ही गायत्री कहते हैं। संध्याके समय इस विश्वरूपकी मूर्त्तिको ही लक्ष्य करके कहाजाता है, कि–हे जलाधिष्ठित-चैतन्य ! तुम हमारा कल्याण करो, हमारे पाप-मलको धो दो हमारे तापको दूर करो। इस जगत्‌में जितने दिनों तक हूँ उतने दिनों तक अन्नका प्रबन्ध कर दो और अन्तमें उस रमणीय दर्शनके साथ मिलन करा दो। हे जलरूपधारिन् ! अपने पवित्र रससे हमको आप्यायित करो। यह प्रार्थना भी उपासनाका अङ्ग है। फिर सूक्ष्ममूर्त्ति हिरण्यगर्भके विषयमें भावना करनी होती है। जो इस विश्वकी वारंवार रचना करते हैं, उनके हृदयमें किसप्रकार वह ऋत–सत्यरूपी परब्रह्म भास उठते हैं, किसप्रकार उनका हृदयमें धारण करके हिरण्य-गर्भ ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं, विष्णु पालन करते हैं और रुद्र प्रलय करते हैं, यह भावना करनी होती है, यही "मय्येव मन आधत्स्व,, है और यह भी पर्याप्त नहीं है, विश्वरूपके उपासक ही भक्त और योगी हैं। भक्तों की बात कही जा चुकी है, परन्तु योगी उसकी ज्योतिरूपसे भावना करते हैं।

वह नक्षत्ररूप कूटस्थ ज्योतिका अखंड मंडलाकार चराचर-व्यापी श्रीगुरुमूर्त्तिका ध्यान करते हैं। वह विन्दुज्योतिके ऊपर विश्वरूपका भाव मानकर समाधि लगाते हैं और समाधिस्थ होकर निजस्वरूपमें स्थिति करते हैं। गायत्रीके उपासक द्विज जैसे ब्रह्मरूपिणी गायत्रीकी कुमारी, युवती, वृद्धामूर्त्तिका हृदयमें ध्यान करके उसकी ही विश्वरूपसे उपासना करते हैं। योगी भी प्रणवरूपी परमात्माकी नक्षत्र-ज्योतिका ध्यान करते २ वही मानो विश्वरूप हैं ऐसी भावनामें स्थिति करते हैं। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! अब "मयि बुद्धिं निवेशय" का तात्पर्य सुनाइये। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! विषयवासनाको त्यागकर, विषयचिन्ता को त्यागकर, प्रार्थना स्तुति, उपासना करते २ मन विश्वरूपमें वा सगुण ब्रह्ममें स्थापित होजायगा। यही मुझमें मनकी धारणा है। धारणाके अनन्तर ही मुझमें ध्यान और समाधि करना होगी। मुझमें बुद्धिको प्रवेश करानेका नाम ही ध्यान है, ध्यानके अनन्तर ही समाधि है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! ध्यानके द्वारा आपमें बुद्धि किस प्रकार प्रविष्ट होगी? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! दो स्थानोंमें दो प्रकाश देखनेमें आते हैं। उनमें एक क्षुद्र है और एक बृहत् है। जिस समय क्षुद्र प्रकाश बृहत् प्रकाशमें प्रवेश करके एक होजाता है तब ही ध्यान और समाधि होते हैं। इस मिलनका नाम ध्यान और इस मिलनमें स्थितिका नाम समाधि है। निश्चयरूपा वृत्ति ही तो बुद्धि है

वह निश्चय किसका होता है ?। अनात्माके साथ आत्माकी कुछ सदृशता नहीं है। आत्मा अनात्मा से अलग है, यही बुद्धिका पहिला विचार है। आत्माको अनात्मासे पृथक् जान लेने पर भी आत्मा मानो खण्ड है, मानो परिच्छिन्न है, मानो देहके भीतर स्थितसा प्रतीत होता है, परन्तु यह आत्मा ही वह अखण्ड, अपरिच्छिन्न परमात्मा है। ऐसी ब्रह्मात्मैक्य विषयक जो निश्चयता वह ही बुद्धिका शेष विचार है। जिस समय तू ध्यान करता है उस समय तेरी आत्मज्योति वा हृदयमें स्थित ज्योतिर्मय अंगुष्ठमात्र पुरुष, उस परमात्मज्योतिमें वा उस ज्योतिर्मय विश्वरूप पुरुष में मिलजाता है। जब यह मिलनका व्यापार पूर्णरूपसे संघटित होगा उसी समय ध्यान के साथ २ समाधि होजायगी जितने दिनों तक प्रार्थना वा स्तुतिमें उपासना रहती है तबतक ठीक समाधि नहीं होती है। प्रार्थना, उपासनाके द्वारा ध्यान परिपक्व होने पर ही बुद्धि आत्मामें प्रविष्ट हो जाती है। जैसे सूर्यका उदय होने पर लोग अपने २ काम में लगजाते हैं तैसे ही परमसूर्यके प्रकाशमें बुद्धि आत्मामें प्रविष्ट होजाती है। द्विज गायत्रीके ध्यानमें पहिले प्रणवमें गायत्रीकी मूर्त्तिको स्थापित करके, वही मानो त्रिलोकीको लपेटे हुए है ऐसी भावनासे उस मूर्त्तिको देखते हैं, उस समय और सबको भूल जाते हैं, बुद्धि एकाग्र होकर समाधि को पाती है। इसी लिये गायत्री मंत्रमें 'धीमहि, कहा है, सर्व कालमें उस भर्गका स्मरण करना होता है। प्रातःकाल

के समय उठते ही यह भावना करनी होती है—"प्रातः स्मरामि देवस्य सवितुर्भर्गमात्मनः । वरेण्यं तद्धियो यो नश्चिदानन्दे प्रचोदयात् ॥" सव प्रकारसे उत्पादक और प्रेरक जो ज्ञानस्वरूप आत्मदेव है उसकी पूजनीय ज्योति का हम स्मरण करते हैं, क्योंकि—वह ज्योति हमारे चित्तको ज्ञानानन्दमें को प्रेरणा करती है। "मन आधत्स्व" और बुद्धिं निवेशय" इसके द्वारा बहिरङ्ग साधनाके अनन्तर धारणा ध्यान समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनोंकी वात कही योगी भक्त और ज्ञानी सबको ही इसकी आवश्यकता है। योगी के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहाररूप बाहिरङ्ग साधन इस धारण, ध्यान, समाधिके लिये ही हैं। भक्त और ज्ञानीका सगुण ब्रह्म और उसके अन्तर्गत मूर्त्तिके विषय में श्रवण मनन आदि व्यापार इस निदिध्यासनके लिये है। ध्यान हुआ, कि—बुद्धिने मुझमें प्रवेश किया और उसी समय समाधान होगया। कभी २ चित्त जगत्की चिन्ताओं को हटानेमें असमर्थ होने पर भी भगवान्के रूप गुण आदि से खिंचकर समाधि पाजाता है, परन्तु उस समाधिसे व्युत्थान होजाता है, क्योंकि—वह लयपूर्वक समाधिमात्र है—उसमें मनके संस्कारोंका दूर होनारूप या दृश्यका मार्जन रूप विचार नहीं है। इसीलिये भीतरे संस्कारोंके सोयेहुए होजाने पर कुछ दिनोंके लिये चित्तको समाधिमें रहने देने पर भी वह संस्कार फिर जागकर चित्तको समाधिसे गिरा देते हैं। इसलिये दृश्य ज्ञानके धुलजाने पर जो समाधि होतो

है और जिस समाधिमें बुद्धि दृश्य प्रपञ्चको अनात्मा मान कर, पूरे २ विषयवैराग्यको पाकर ध्यानमें लगजाती है वह समाधि ही निर्विकल्प समाधि है। अर्जुनने कहा कि–हे भगवन्! मैं आपके श्रीमुखसे 'मन आधत्स्व' और 'बुद्धिं निवेशय' को सुनता हुआ मानो उस ही राज्यमें पहुँच रहा हूँ। आप आशीर्वाद दीजिये, कि–जिससे मैं इस युद्ध आदि सांसारिक कार्योंके अन्तमें आप आत्मदेवको लेकर निर्विकल्प समाधिमें स्थिति पासकूं भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! तथास्तु, ऐसा ही होगा। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! मुझे एक बात और बूझनी है, आपने जो 'अत ऊर्ध्वं न संशयः' कहा, इसमें यह जानना चाहता हूँ कि–जो पुरुष सर्वदा मन और बुद्धिको आपमें लगाये रख सकता है क्या उसको भी देहान्त होने तककी बाट देखनी होगी? क्या उसको भी देहान्त हुए विना उसका आपमें नित्यवास नहीं होसकेगा?। भगवान्ने उत्तर दिया, कि–हे सखे! मैं तो पहिले ही कह चुका हूँ, कि–जो अव्यक्त अक्षरके उपासक हैं, जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, निःसङ्गभावमें स्थिति करना ही जिनकी निजस्वरूपमें स्थिति करना है, जो सकल जगत्को धोकर अपनेमें आप ही स्थित होते है, वह निर्गुणके उपासक मात्र सद्योमुक्त हैं। याद रखना, कि–उपासनाका अर्थ यहाँ सबसे ऊँची अवस्थामें वा निजस्वरूपमें स्थिति है। उपासनाका नीची कोटिका अर्थ है, कि–उस समीपमें आसन कहिये स्थिति, समीपमें स्थिति

करते २ तद्रूपमें ही जो स्थिति वही उपासनाका अन्तिम परिणाम है। ऐसे निर्गुण उपासकके विषयमें शास्त्र कहता है कि—"तस्मात् त्वं सर्वदा भिन्न आत्मानं हृदि भावय। बुद्ध्यादिभ्यो बहिः सर्वमनुवर्त्तस्व मा खिद ॥ भुञ्जन् प्रारब्धमखिलं सुखं वा दुःखमेव वा। प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमाहरन्नपि राघव। अन्तःशुद्धस्वभावस्त्वं लिप्यसे न च कर्मभिः ॥" भीतर और बाहरके सब भाव और सब पदार्थोंसे भिन्न जो आत्मा है वह तुम ही हो, ऐसा हरसमय हृदयमें ध्यान कर। उत्तम बुद्धिके द्वारा तू निःसङ्ग है, तू अपने आप ही इस विचार का दृढ़रूपसे निश्चय कर और लोकव्यवहारके अनुकूल वर्त्ताव कर। दुःख वा सुख जो कुछ भी आकर पड़े उस सबको प्रारब्ध मान कर अविचल भावसे भोगे जा तो प्रारब्धानुसार कर्ममें प्रवृत्त होकर संसारमें प्रवाहानुसार कर्म करने पर भी तू लिप्त नहीं होगा। बाहरी सकल विषयोंमें मुखसे कहने मात्रका कर्त्तापन रखकर काम किये जा, मैं निर्मलस्वभाव हूँ, ऐसी भावनासे कर्म करता हुआ तू उन कर्मोंसे कदापि लिप्त नहीं होगा। इसप्रकारसे प्रारब्धका क्षय कर डाल, तू तो सद्योमुक्त है। प्रारब्धका क्षय होने पर भी प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होगा देह रहै या न रहै किसी दशामें भी तुझमें विचलितपना नहीं होगा। निर्गुण उपासकको देहान्त होने तककी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है, वह इस जीवनमें ही देह आदि को

मिथ्या जानकर सदा अपनेमें आप ही मग्न रहते हैं, ऐसे महात्मा मुझमें ही स्थित हैं। परन्तु सगुणोपासकके लिये क्रममुक्ति है, यह सगुणोपासक मरणके अनन्तर देवयान मार्ग से जाते हैं। आतिवाहिक देहमें जो जीवका अतिवहन होता है उस ही देहसे वह क्रमके अनुसार भिन्न२ लोकोंमें पहुँचते हैं फिर मैं उनको ब्रह्माके साथ मुक्त करता हूँ। मेरी कृपाके विना सगुण उपासकको आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है। मेरी कृपासे आत्मज्ञानका उदय होने पर वह देहांतमें मुझमें ही स्थिति पाते हैं। मेरे भक्त कहते हैं, कि-सगुण उपासक भक्तका संसारसे उद्धार भगवान् कर देते हैं, परन्तु आत्मज्ञानके विना संसारसे उद्धार नहीं होता है, इसलिये ही मैं तेरहवें अध्याय में प्रकृति पुरुषके विवेकरूप तत्त्वज्ञानका उपदेश करूँगा। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! क्या सगुणोपासक भी निःसन्देह आपको ही पावेंगे ?। भगवान्ने कहा, कि-हे अर्जुन ! इसमें क्या सन्देह है ?। अर्जुनने फिर कहा, कि-हे कृष्ण ! आप मन और बुद्धिको अपने विश्वरूपमें ही तो स्थिर करने को कहते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! जैसे मणिमेंसे झलक स्वभावसे ही उठती है, तैसे ही चित् मणिकी झलकसे यह विश्वरूप भासरहा है। सब वस्तुओंका स्वरूप ही मैं हूँ जिस प्रकार अन्तःकरणमें मेरा ध्यान करै तैसे ही संसार की हरएक वस्तुमें मेरा दर्शन करनेकी चेष्टा कर, मेरा स्मरण कर। विश्वरूपसे मेरा भजन करते २ जिस समय "वासुदेवः सर्वमिति,, सबको वासुदेव रूप ही देखने लगेगा, उसी समय

तू कृतार्थ होजायगा। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन्! आपने जो कहा 'मय्येव मन आधत्स्व' यहां'मयि'का अर्थ-मुझ आत्मस्वरूपमें, ऐसा न करके-मुझ श्रीकृष्णमें, ऐसा करें तो क्या वह ठीक होगा?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! श्रीकृष्णमूर्त्तिमें ही मन लगाना होगा और आत्मामें मनकी धारणा नहीं करनी चाहिये, यह बात तो मैंने कहीं कही नहीं है। किन्तु तीसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'यहां आत्मामें ही मनकी धारणा करनेको कहा है और श्रीकृष्णमूर्त्ति भी तो चित्तजड़ित आत्माकी ही मूर्त्ति है। अहंग्रहोपासनामें 'मैं ही वासुदेव हूँ' ऐसी भावना करने के लिये श्रुति कहती है और गायत्रीके उपासक द्विज जो गायत्रीकी उपासना करते हैं, उसमें भी क्या है? जरा ध्यान दो-"यस्तथाभूतो भर्गोऽस्मान् प्रेरयति स नानादेवतामयपरमब्रह्मस्वरूपो भूरादिसप्तलोकान् प्रदीपवत्प्रकाशयन् मदीयजीवात्मानं ज्योतीरूपं सत्याख्यं सप्तमं ब्रह्मलोकं नीत्वा आत्मन्येव ब्रह्मणि ब्रह्मज्योतिषा सहैकीभावं करोतीति चिन्तयन् जपं कुर्यात्॥" इसमें भी वही ब्रह्मात्मैकत्वका ध्यान कहा है ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अन्वय और पदार्थ

(धनञ्जय) हे अर्जुन (अथ) जो (मयि) मुझमें

(चित्तम्) चित्त (स्थिरम्) अचलभावसे (समाधातुम्) स्थापन करनेको (न) नहीं (शक्नोषि) समर्थ होता है (ततः) तो (अभ्यासयोगेन) अभ्यासयोगके द्वारा (माम्) मुझे (आप्तुम्) पानेको (इच्छ) प्रयत्न कर ॥ ९ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! विश्वरूप क्या है और सगुण ब्रह्म क्या है, इस बातकी दृढ़रूपसे धारणा करके-विश्वरूपमें मिलकर-विश्वरूप होकर जो स्थिति नहीं करसकते, वह क्या करें ? । भगवान्ने कहा, कि--हे सखे ! उनको अभ्यासयोगके द्वारा विश्वरूपको पानेकी चेष्टा करनी चाहिये अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! अभ्यासयोग किसको कहते हैं ? भगवान्ने कहा, कि-अभ्यासयोगके विषयमें भिन्न २ आचार्योंके जुदे २ मत हैं । कोई कहते हैं, कि-चित्तको सब विषयोंसे खेंचकर किसी एक अवलम्बन पर वारम्वार स्थापन करनेका नाम अभ्यास है । अभ्यासके साथ योग वा चित्तके समाधानका नाम अभ्यासयोग है । कोई कहते हैं,कि-अतिसुन्दरता, परमसौहार्द, वत्सलता, दयालुता,मधुरता, गंभीरता, उदारता, शूरता, वीरता, पराक्रम, सर्वज्ञता, सत्यकामता, सत्यसङ्कल्पता और सर्वकारणता आदि असङ्ख्यों कल्याणगुणोंके सागररूप श्रीभगवान्की प्रेमपूर्ण स्मृतिका अभ्यास ही अभ्यासयोग है । कोई कहते हैं । कि-विक्षिप्त चित्तको वार २ वशमें करके मेरे स्मरणके अभ्याससे मुझमें चितका स्थापन ही अभ्यासयोग है कोई कहते

हैं, कि—प्रतिमा आदिके अवलम्बन से चित्तको सव ओरसे खेंचकर वारंवार आत्मस्वरूपमें स्थापन करना ही अभ्यास है और अभ्यापूर्वक जो समाधि उसका ही नाम अभ्यासयोग है। कोई कहते हैं, कि—भीतर ज्योतिके मध्य में स्थित प्रणवमें वा इष्टमूर्त्तिमें अथवा बाहर प्रतिमा आदि अवलम्बनमें चित्तको विषयोंमेंसे खेंचकर वारंवार स्थापन करनेका नाम ही अभ्यास है, उस अभ्यासके द्वारा जो समाधि होती है उसका ही नाम समाधियोग है। यह अनेकों प्रकारसे किया हुआ अभ्यासयोगका अर्थ वास्तवमें एकरूप ही है। यदि विश्वरूप होकर स्थिति नहीं करसकता तो भीतर किसी अवलम्बको ग्रहण कर। दोनों भौंके मध्यमें ज्योतिके भीतर प्रणव ज्योतिकी मूर्त्ति है, यही भीतरका अवलम्बन है। बाहरकी प्रतिमा बाहरका अवलम्बन है। किसी एक अवलम्बनको ग्रहण करके—वह ही सच्चिदानन्द-स्वरूप है, वह ही सृष्टि स्थिति और प्रलयका करने वाला है, वह ही क्षिति आदि पञ्चमहाभूत वा पञ्च तन्मात्रा वा अहंतत्त्व वा महत्तत्त्व है, वह ही सब कुछ है, प्रतिक्षण उस में ही विश्वरूपकी भावना रख। ऐसा करते २ मूर्त्तिके अवलम्बनसे विश्वरूपमें पहुँचकर विश्वरूपमें स्थिति कर सकेगा। ब्राह्मण आदि जिस गायत्रीकी उपासना करते हैं, उसमें कुमारी युवती वा वृद्धा मूर्त्तिका अवलम्बन होता है, उसको ही प्रणव, भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकव्यापी कहा जाता है, उसको ही हम परम पुरुषका भर्ग मान कर ध्यान

करते हैं। मूर्त्तिसे विश्वरूपमें पहुँचना होता है, तदनन्तर तुम्हारा खण्ड चैतन्य उस विश्वरूप चैतन्यमें प्रवेश करता है, फिर तद्रूप होकर स्थिति होती है तब ही अभ्यासयोग का फल होता है। इसका ही नाम है अभ्यासयोगके द्वारा विश्वरूपमें स्थिति। भीतर वा बाहर किसी एक अवलम्बन का आश्रय लेकर उसमें ही विश्वरूपके भावोंको वारंवार आरोपण करने पर मूर्त्तिके अवलम्बनसेविश्वरूपकी उपासना होती है। विश्वरूप भावसे अवलम्बनकी भावना करते २ विश्वरूपमें ही स्थिति होजायगी, यह ही अभ्यासयोग का फल है। कोई २ कहते हैं, कि-स्मरणका अभ्यास ही अभ्यासयोग है। मेरे आप ही हैं, आप अनन्तसुन्दरतायुक्त, अनन्तशक्तिमान्, अनन्तगुणसागर, जन्म जरा व्याधिसे उद्धार करसकने वाले, सच्चिदानन्दविग्रह, त्रिकोणमण्डलके पार ज्योतिर्मय महाशून्यमें कनकभवनमें विराजमान हो, इस कनकभवनमें स्थित होकर परमप्रेमभाव के साथ आपको स्मरण करना भी अभ्यासयोग है। अभ्यासयोगके जो दो प्रकारके भेद कहे गये वह मूलमें एक होने पर भी उनकी साधनामें कुछ भेद है। एकमें उस ही भाव से स्थिति है और दूसरेमें सेवा करते २ निकटमें स्थिति होती है बस इतना ही भेद है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! यदि अवलम्बन प्रतिमा वा ज्योति होती है, तो वह तो जड़ है, जड़ को सर्वशक्तिमान मानकर भावना कैसे कीजायगी?। भगवान् ने कहा, कि-हे सखे! वास्तवमें तो जड़ नामकी कोई वस्तु

है ही नहीं। एक सर्वव्यापी चैतन्य ही दृश्यप्रञ्चरूपसे अनेकों मूर्त्तियोंमें विराजमान है। प्रत्येक जड़ वस्तुकी मूल में वही अधिष्ठान चैतन्य है। चाहे जिस वस्तुमें चित्तको एकाग्र करो, एकाग्रताकी प्राप्ति होने पर ही जब वस्तुका जड़भाव तिरोहित होजाता है उस समय वह चैतन्य पुरुष ही होता है। प्रतिमा जड़ ही है। दुर्गाकी, कालीकी मूर्त्ति पत्थर मट्टी आदि की ही बनायीजाती है, परन्तु उसके द्वारा जिसकी भावना की जाती है वह तो चैतन्यमयी ही है। शक्तिकी मूर्त्तिको मातृभावसे देखते २ उसको स्नेहमयी रत्ता करनेवाली है ऐसी भावना करते २ जब प्रतिमाका जड़भाव कट जाता है उसी समय 'यह तो सजीव है' ऐसा अनुभव होने लगता है। ज्ञानमार्गमें नाम रूपको अलग करदेने पर अस्ति--भाति--प्रियरूप चेतन ही शेप रहजाता है॥ ६॥

**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म-
परमो भव। मदर्थमपि कर्मा-
णि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि १०**

अन्वय और पदार्थ

[यदि] जो (अभ्यासे--अपि) अभ्यासमें भी (असमर्थः) असमर्थ (असि) है [तर्हि] तो (मत्कर्मपरमः) मेरी प्रसन्नताके लिये कर्म करनेमें तत्पर (भव) हो (मद-

र्थम्) मेरी प्रसन्नताके लिये (कर्माणि) कर्मोंको (कुर्वन्-अपि) करता हुआ भी (सिद्धिम्) मोक्षरूप सिद्धिको (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा ॥ १० ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! जो जैसी शक्ति रखते हैं उनको आप तैसी ही साधना करनेके लिये कहते हैं। सबसे पहिले निर्गुण उपासना है, इसका फल सद्योमुक्ति है जो इसको नहीं कर सकते वह सगुण विश्वरूपकी उपासना करे। दूसरे सगुण ईश्वरमें वा विश्वरूपमें मनको स्थिर करना होगा और बुद्धिका प्रवेश कराकर विश्वरूपमें स्थिति प्राप्त करनी होगी। जो इसको भी न करसकें उनको तीसरा प्रकार अभ्यासयोगके द्वारा विश्वरूपमें मन और बुद्धिकी धारणा करनी होगी। लोग एकाग्रताका अभ्यास नहीं करसकते, उनके लिये आप कहते हैं, कि-वह 'मत्कर्मपरम' हों, अब आप वह बतलाइये कि-'मत्कर्मपरम' किसप्रकार होसकता है ? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! भीतर इष्टदेव की ज्योतिर्मयी मूर्त्तिमें वा प्रणवमें एकाग्र होकर ध्याननिष्ठ नहीं होसकता अथवा बाहर प्रतिमामें एकाग्र ध्याननिष्ठ होकर यदि स्थिर नहीं होसकता तो मेरी प्रीतिके लिये कर्म कर। मेरी परमात्म-सत्ताके विश्वासके साथ मेरी भक्तिको उत्पन्न करनेवाले कर्म करना ही मत्कर्म कहलाता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आपकी भक्ति उत्पन्न करनेवाले कर्म कौनसे हैं ? भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! श्रवण, कीर्तन, स्मरण,

पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दासभाव, सखाभाव और आत्म-निवेदन इस नौ प्रकारके कर्मसे मेरी भक्ति उत्पन्न होती है। इनके सिवाय भक्ति को उत्पन्न करनेवाले और कर्म भी हैं, जैसे कि—एकादशी, पूर्णिमा, रामनवमी, जन्माष्टमी, शिव-रात्रि आदि तिथियोंमें उपवास करना, मेरे ऊपर परमात्मा प्रसन्न हों हरसमय ऐसा ध्यान रखकर उपवास करना चाहिये। एकादशीके व्रत की तो बड़ी ही प्रशंसा है "एकादश्यामु-पवसेन्न कदाचिदतिक्रमेत्" "रटन्तीह पुराणानि भूयो भूया वरानने। न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं सम्प्राप्ते हरिवासरे॥" भगवान् के मन्दिर को बुहारना, धोना, भगवन्मूर्त्तिके समीप दीपक बालना, पूजा की सामग्री लाना, पुष्पवाटिका लगाना, तुलसी के पौधेमें जल देना, पूजा, भोग, आरती, प्रदक्षिणा और प्रेमके साथ भगवान्के गुणगान करना आदिसे चित्त शुद्ध होता है और फिर भगवान्में तथा विश्वरूपमें चित्त एकाग्र होता है, तदनन्तर ज्ञानका प्रकाश होकर मुक्ति होजाती है। भक्ति के कुछ और प्रकार भी हैं, यथा—सत्संग सत्कथालाप वा जिनमें भगवत्चर्चा हो ऐसे ग्रन्थोंकी कथा को कहना सुनना, मेरे गुणों का स्मरण, उपनिषद् आदिमें मेरे वाक्यों की व्याख्या, गुरुको निष्कपटभावसे इष्टदेव मान कर उनकी उपासना करना, पुण्यकर्म करना यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि आदि और मेरी पूजामें निष्ठा, मेरे मन्त्रका जप, मेरे भक्तोंकी सेवा, सकल प्राणियोंमें ईश्वरबुद्धि, बाहरी पदार्थोंमें वैराग्य, शम वा अन्त-

रिन्द्रिय का निग्रह और तत्त्वविचार। इन साधनोंके द्वारा "भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे" हे शुभलक्षणे! इस साधना के द्वारा प्रेमरूपा भक्तिका प्रकाश होगा। मानासिक पूजा, प्रणाम, प्रदक्षिणा आदिसे भी भक्ति उत्पन्न होगी। सर्वदा जप करते रहना बहुत ही आवश्यक है। शास्त्र इस बातको दूसरे प्रकारसे कहता है—"महता कामहीनेन स्वधर्माचरणेन-च। कर्मयोगेन शस्तने वर्जितेन विहिंसनम् ॥ मद्दर्शनस्तुतिमहापूजाभिः स्मृतिवन्दनैः। भूतेषु मद्भावनयाऽसंगेनासत्यवर्जनैः ॥ बहुमानेन महतां दुःखिनामनुकम्पया। स्वसमानेषु मैत्र्या च यमादीनां निषेवया॥ वेदान्तवाक्यश्रवणान्मम नामानुकीर्त्तनात्। सत्संगेनार्जवेनैव ह्यहमः परिवर्जनात् कांक्षया मम धर्मस्य परिशुद्धान्तरो जनः। मद्गुणश्रवणादेव याति मामञ्जसा जनः ॥ यथा वायुवशाद्गन्धः स्वाश्रयाद् घ्राणमाविशेत्। योगाभ्यासरतं चित्तमेवमात्मानमाविशेत् ॥" अर्थात्—निष्काम भावसे केवल आपकी प्रसन्नता के लिये निजधर्मका पालन करना, हिंसाका त्याग, मेरा दर्शन, स्तुति, स्मरण, वन्दना, पूजा, सकल भूतोंमें मेरी भावना, दुष्टोंके संगसे बचना, मिथ्या न बोलना, बड़ोंका सन्मान करना, दुःखियोंके ऊपर दया करना, बराबरवालोंसे मित्रता रखना, यम नियम आदिका सेवन करना, वेदान्त के वाक्योंको सुनना, नामसङ्कीर्त्तन, सत्संग और सरलताके द्वारा अहंबुद्धिका त्याग, इन आचरणोंसे मेरे धर्मकी अभिलाषा करनेवालोंका अन्तःकरण शुद्ध होजाता है, मेरे

गुणोंको सुनने पर शीघ्र ही मेरी प्राप्ति होजाती है। जैसे गन्ध वायुके द्वारा अपने आश्रय पुष्प आदिमेंसे उड़कर लोगोंकी नासिकाके छिद्रमें प्रवेश करता है, तैसे ही भक्तियोगके द्वारा चित्त आत्मामें प्रवेश करता है। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! इस साधनाको कैसे कियाजाय? कोई सहज उपाय होय तो बताइये?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! सब सामग्री इकट्ठी करसके या न करसके तो भी मन ही मनमें जितना भी होसके, नीचे लिखा आचरण कर। मेरी पूजा करनेके लिये एक स्थान अलग नियत कर, उस घरमें मेरे कर्मके सिवाय और कोई काम वा विचार न कर, कुछ दिनों तक उस स्थानमें मेरे कर्म करते २ वह ऐसा होजायगा, कि उस स्थानमें प्रवेश करते ही मानो मेरा सङ्ग होरहा है, मेरा स्पर्श होरहा है, ऐसा बोध होगा, परन्तु उस स्थानमें और किसीको भी प्रवेश न करने देना उस स्थानमें प्रतिदिन मेरे नामोंका श्रवण कीर्तन, मेरा स्मरण, मेरी प्रतिमाकी सेवा, गन्ध पुष्प धूप दीप नैवेद्य चन्दन तुलसी आदिसे अथवा मनसे ही मेरी पूजा, शरीर मन वाणीसे नमस्कार, वन्दना और मेरे साथ सम्बन्ध मानकर प्रतिदिन आत्मनिवेदन करना, ऐसे मेरी भक्तिको उत्पन्न करनेवाले काम उस घरमें प्रतिदिन करने चाहियें। यदि संभव हो तो इस घरके साथ एक बगीचा भी लगाओ, पुष्प तोड़ना माला बनानेके काम का अभ्यास भी मेरे नामोंके जपके साथ करो, ऐसे कामों में लगे रहनेसे शुभ ही होगा। तेरे मनमें सर्वदा मैं आऊंगा यह भाव प्रबल रहेगा। मैं आऊंगा, ऐसा मानकर सदा

स्थानको पवित्र करके रख, मैं सोऊंगा, ऐसा मानकर तू शय्याको पवित्र करके रचना कर। मेरी तृप्तिके लिये ही धूप देकर घरको सुगन्धित कर। मुझे विराजमान जानकर स्तुति प्रार्थना कर। मुझे सुनानेके लिये ही तू गीता, अध्यात्मरामायण, उपनिषद्, आदिका पाठ कर। मेरा दर्शन नहीं हुआ इसलिये तू कातर होकर मुझे पुकार, मेरे साथ बातें कर विरहसे घबड़ाकर जागता हुआ सो, इन सब कार्योंसे निःसन्देह तेरा चित्त शुद्ध होजायगा। चित्तशुद्धि होते ही तेरे पवित्र अन्तःकरणमें अवश्य ही मेरा उदय होगा, उस समय मुझे देखकर मुझमें चित्त एकाग्र होगा, फिर मैं तेरे चित्तमें बैठ जाऊँगा, तब तू आत्मविचार करता हुआ मुझ ज्ञानस्वरूपको पाजायगा ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अन्वय और पदार्थ

(अथ) यदि (एतत्-अपि) इस मत्कर्मपरायणताको भी (कर्त्तुम्) करनेको (अशक्तः) असमर्थ (असि) है (ततः) तो (मद्योगम्) एक मेरे ही शरणागतभावको (आश्रितः) धारण किये हुए (यतात्मवान्) जितेन्द्रिय रहता हुआ (सर्वकर्मफलत्यागम्) सकल कर्मोंके फलके त्यागको (कुरु) कर ॥ ११ ॥

भावार्थ

भगवान्‌ने कहा कि–हे सखे ! यदि मत्कर्मपरायण नहीं हो सकता तो मद्योगका आश्रय ले। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! मद्योग किसको कहते हैं? भगवान्‌ने उत्तर दिया, कि–हे अर्जुन! जबतक तुझे, यह मेरा कर्म है, यह मेरा कर्त्तव्य है ऐसा भान है तबतक तू अपने सकल कर्त्तव्य कर्मोंको मेरे अर्पण करता रह। अपने किये हुए सकल कर्मोंको मेरे अर्पण कर देना ही मद्योग है, परन्तु पूर्णरूपसे मेरी शरण बिना लिये अपने सकल कर्म मुझे अर्पण नहीं किये जा सकते, इसलिये मद्योगका अर्थ अनन्य भावसे मेरे शरणागत होना भी है। गीतामें योगका अर्थ है–समचित्त होना। जब तक मनुष्य मेरा कर्म है, मेरा कर्त्तव्य है ऐसा करता रहेगा तबतक कर्ममें आसक्ति रहनेके कारण कर्म सिद्ध हो जाने पर हर्ष और कर्म सिद्ध न होने पर दुःख अवश्य ही होगा, फिर वह समचित्त कहाँ रहा ? परन्तु जब कर्म भगवान्‌को अर्पित होजाते हैं और पुरुष यह समझता है कि–मैं जो कुछ करता हूँ, प्रभुकी आज्ञाके अनुसार करता हूँ, मैं तो उनका दास हूँ, मुझे किसी फलकी अभिलाषा नहीं है, उसी समय मद्योगका आश्रय होजाता है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! लोग मत्कर्मपरायण क्यों नहीं होते ? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये श्रवण कीर्त्तन आदि करनेमें जीव क्यों असमर्थ होते हैं? भगवान्‌ने कहा, कि–हे सखे ! क्या तू देखता नहीं है, कि–जिनको यह बोध होता है,

कि-मुझे बड़े काम करने हैं, जो कहते हैं कि-हमें बड़े काम हैं, यदि उनमेंसे किसीको भी भगवान्की कथा सुनानेके लिये बुलाओ तो पहिले तो वह आना ही नहीं चाहेंगे और कहेंगे, कि-हमें तो बड़े काम हैं, अवकाश ही नहीं भगवत्कथा कौन सुने ? तो भी यदि अधिक कह सुन कर भगवत्कथा सुननेको बैठा ही लिया जाय तो कथाका आरंभ होते ही उनके मनमें व्यवहारकी अनेकों बातें उठ खड़ी होती हैं और वह कथामें से उठ भागनेके लिये अँगड़ाइयें लेने लगते हैं और कथामें चित्त लगाते ही नहीं और धर्ममें अश्रद्धासी दिखाते हुए असभ्यभावसे बड़ी ही कठिनतासे बैठते हैं और फिर कोई बहाना लेकर तहाँसे भाग ही उठते हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आप ठीक कहते हैं। मैंने ऐसे बहुतसे लोगोंको देखा है, अच्छा यह तो बताइये, कि—ऐसा क्यों होता है ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! बाहरी विषयोंसे खिंचे हुए होनेके कारण यह समझते हैं कि-हमें अनेकों काम करने हैं, व्यापार करना जीविकाके लिये चेष्टा करना बस मानो इतना ही कर्त्तव्य है, ईश्वरका स्मरण करना तो कर्त्तव्य है ही नहीं, वह तो वृथा काम है। अज्ञानवश बड़ी भूलमें पड़कर ये लोग मत्कर्मकृत् होते ही नहीं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! इनके लिये कौनसा उपाय है ? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! इनको मद्योगका आश्रय करना चाहिये। यह अपने सकल कर्त्तव्य अर्थात् सकल

फलोंकी इच्छाको त्यागकर अपनेको मेरा सेवक जानकर मेरे शरणागत होकर मेरी प्रसन्नताके लिये कर्म करें तब ही यह कर्मसन्यासी न होकर फलसंन्यासी होंगे । अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! सकल कर्मोंके फलका त्याग करनेके लिये और क्या करना चाहिये ? । भगवान्‌ने कहा, कि—हे अर्जुन! यतात्मवान् होकर सकल कर्मोंके फलका त्याग करना होगा यतात्मवान्‌का अर्थ है संयत और आत्मवान् होना । इन्द्रियों को संयत (वशमें) करना चाहिये, बाहरके रूप रस आदि मेंसे खैंचकर भीतर इष्टदेवताके रूपका दर्शन करना तथा भीतर इष्टदेवताके नामका जप श्रवण आदि करनेसे ही पुरुष संयतेन्द्रिय होता है, तदनन्तर विचारवान् बननेकी आवश्यकता है । विचारके द्वारा अनात्म पदार्थोंको त्याग कर केवल आत्मा का ध्यान धारण समाधि करनेका अभ्यास करना ही विवेकी का काम है। यतात्मवान् होने पर ही सब कर्मोंका फलत्याग होना सम्भव है । इसके अनन्तर अर्जुनने कहा, कि आपने यहाँ जिस २ साधनाकी बात कही है उसको मैं समझगया या नहीं इस बातकी परीक्षाके लिये वह सब आप को क्रमसे सुनाता हूँ । पहिले तो आपने अक्षर अव्यक्त वा निर्गुणकी उपासना कही है । उपासनाका अर्थ है—यहां स्थिति। निर्गुण निःसङ्गभावसे स्थिति ही निर्गुणकी उपासना है भोगोंका त्याग किये विना और किसी भी उपायसे आत्मा निःसङ्ग है, ऐसी भावना करके आत्मभावमें स्थिति नहीं कीजासकती । सन्दूकमें रुपये हैं, ऐसा विश्वास करलेने

मात्रसे वास्तवमें रुपये हैं यह बात ठीक नहीं मानीजासकती रुपये से व्यवहार करके देखलेने पर वास्तवमें रुपये होना ठीक मानाजाता है। ऐसे ही मैं आपही आप हूँ, ऐसा विश्वास-मात्र करलेनेसे ठीक नहीं होगा, किन्तु एक वार भोग-वासनाको त्याग कर देखना चाहिये, कि-मैं आप ही आप हूँ इस भावसे कितनी देर स्थित रहसकता हूँ। मैं ही मैं हूँ, इस भावसे स्थिति होसकने पर, कहीं शरीर न जाता रहै, सच्चा ज्ञानी इस भयसे कभी व्याकुल नहीं होगा। जब देह मिथ्या है, प्रारब्ध आदि सब ही जब मिथ्या है तो देह चला जायगा या प्रारब्ध भोग तो होगा ही, मिथ्याके धोखेमें पड़कर अपने स्वरूपमें स्थितिसे दूर रहना उचित नहीं है। करके देख तो आत्मप्रतारणाको भली प्रकार समझसकेगा। इसीलिये कहा था, कि-जब तक भोगका त्याग नहीं होता है, तबतक निःसङ्ग भावसे स्थिति हो ही नहीं सकती। ज्ञानीके पास ऐश्वर्य आवेंगे ही, वह विभूतियोंकी इच्छा नहीं करेगा तब भी विभूतियें वा ऐश्वर्य उसकी इच्छा करेंगे। इससे भिन्न जो ज्ञान है वह ज्ञान ही नहीं है, वह ज्ञानका अभिमान-मात्र वा कपटज्ञान है। निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें एक बड़ी दारुण आत्मप्रतारणा आकर पहुँचा करती है, इस कारण ही श्रीभगवान् कहते हैं, कि-" क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तास-क्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥" जबतक देहमें आत्मबुद्धि दूर नहीं होती। जबतक बाहरी जगत् पुँछ नहीं जाता जबतक अन्तर्जगत् नहीं मिटजाता।

जबतक देहसे, जगत्से, संस्कारोंसे अपनेको अलग करके, इन सबको भूलकर आत्मस्वरूपमें ही अपनी स्थिति नहीं होसकती, तबतक जो निर्गुण उपासना करते हैं, उनकी साधनामें अवश्य ही प्रतारणा होती है, वह निःसन्देह धोखा खाजाते हैं। इसलिये देहमें आत्माभिमान रखने वाले देहात्माभिमानी के लिये निर्गुण ब्रह्मभावमें स्थिति केवल मुखसे कहनेकी बात मात्र है। जिस भावमें स्थिति प्राप्त करनेकी अपेक्षा और कोई श्रेष्ठ अवस्था है ही नहीं वह विना साधनाके प्राप्त हो ही नहीं सकती। अथवा जगत् नहीं है जगत् नहीं है! ऐसा तुम करोड़ों कल्प वर्षोंतक चिल्लाते रहो तो भी मनमेंसे जगत् नहीं हटेगा अथवा जगत् मिथ्या बोध नहीं होगा। सब शास्त्रोंका यही सिद्धांत है, कि-विना भक्ति और वैराग्यके किसी प्रकार भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता। (२) दूसरी आपने सगुण ब्रह्मकी उपासना कही है। वेदमें ब्रह्मके दो रूपों का वर्णन है। और कुछ भी नहीं है, इस जगत् की भी रचना नहीं हुई है, केवल ब्रह्म ही है, वह एकरूप ही वही दूसरा रूप होता है, जगत्में जो कुछ है सब ब्रह्म ही है। अस्ति भाति प्रिय सर्वत्र है—नाम रूप इन्द्रजाल है, इस ब्रह्मको ही सगुण ब्रह्म कहते हैं। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्मका यह संबन्ध है, कि—अविज्ञातस्वरूप निर्गुण ब्रह्म ही मायाके आश्रयसे सगुण ब्रह्म होजाता है। सगुण अवस्थामें आजाने पर भी वह अपने स्वरूपसे एक क्षणको

भी नहीं गिरता है, इसमें आत्मविरोध नहीं है और यह असंभव भी नहीं है। वृद्ध अवस्थामें रहकर भी जैसे बालक का रूप धारण किया जा सकता है। नाटक खेलतेमें जैसे द्विज द्विज ही बना रहकर चमारका रूप धारण करसकता है रासधारी का बालक रासधारीका बालक ही रहकर कृष्ण बनसकता है, तैसे ही तुरीय ब्रह्म सर्वदा अपने स्वरूपमें रहकर भी जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें क्रीडा करसकता है। इस गीता शास्त्रमें तुम ही कहते हो, कि-"मत्स्थानि सर्वभूतानि,, और फिर कहते हो कि-"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्" इत्यादि। संन्यास धारण करके, साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर, गुरुके मुखसे तत्त्वमसि आदिका विचार सुनकर जो सगुण ब्रह्मभावमें प्रविष्ट होकर 'सब कुछ मैं ही हूँ, इस भावमें स्थिति करसकते हैं वे ही विश्वरूपके उपासक हैं, वे ही सगुण ब्रह्मके उपासक हैं। सगुणब्रह्मके उपासक साधनाके अन्तमें अपनेको प्रकृतिसे अलग भावना करते हैं मैं चेतन हूँ जड़ नहीं हूँ इसका अनुभव होजाने पर आप ही अपने भावमें स्थिति होजायगी। सगुण और निर्गुण बहुत ही पास पास हैं। (३) तीसरी बात आपने कही है, अभ्यास योगमें विश्वरूपकी उपासना जो सगुण उपासनाके द्वारा विश्वरूपमें नहीं पहुँचसकते वह भीतर ज्योतिका अवलंबन वा बाहर प्रतिमाका अवलंबन करके इस अवलंबनमें वार २ विश्वरूपका भाव आरोपण करें। मूर्त्ति क्षुद्र होने पर भी, जो भावना करना जानते हैं, यह मूर्त्ति ही, जलमें थलमें,

अग्निमें, वायुमें सर्वत्र सब प्रकारसे 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं' होजाती है। यही मूलमें अविज्ञातस्वरूप है, यही सगुण ब्रह्मरूप है, यही फिर महत्तत्त्व, अहन्तत्त्व, पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूत है, यही अष्टमूर्त्ति है और यही ब्रह्मा विष्णु महेश है। यही सच्चिदानन्दस्वरूप है, यही सृष्टि स्थिति-प्रलय-कर्त्ता है। मूर्त्तिका अवम्लब लेकर उपासना करते हैं वह भी मूर्त्तिके आश्रयसे विश्वरूपमें पहुँच सकते हैं। इस श्रेणीके उपासकोंमें जो ज्योतिके द्वारा ध्यान करते हैं वह योगी हैं और मूर्त्तिके द्वारा ध्यान करते हैं वह भक्त हैं। (४) चौथी बात आपने कही है मत्कर्मपरायण होकर उपासना करना जो अभ्यासयोगका अवलम्बन करनेमें असमर्थ हैं, वह निर्गुण सगुण ब्रह्म और अवतारकी बात सुनकर उसमें विश्वास रखते हुए उसमें भक्ति उत्पन्न करनेवाले कर्म करते रहें। श्रवणसे लेकर आत्मनिवेदनपर्यन्त नौ प्रकारकी भक्तिके कर्म करते रहें तो उनको भी सफलता प्राप्त होगी। इस श्रेणीके साधकोंको अपना कोई कर्म नहीं होता है, हमारा कुछ कर्त्तव्य है इसका उनको बोध नहीं होता है। भगवान् की भक्तिको उत्पन्न करनेवाला कर्म ही उनका कर्म होता है। प्रार्थना और वेदादिका पाठ भी भक्तिका अङ्ग है। (५) आपने पांचवी बात कही है मद्योगके द्वारा उपासना। जो मत्कर्मपरायण भी नहीं होसकते। भक्तिको उत्पन्न करनेवाले कर्मका आरम्भ करते ही जिनके मनमें आता है, कि—हमें तो संसारके बहुतसे काम करने हैं। पुत्र कन्याओंके खिलाने पढ़ानेकी व्यवस्था करनी है, सभामें व्याख्यान देना है,

लेख लिखना है, रोगीकी सेवा करनी है, शिष्य सेवकोंके यहां जाना है, व्याख्यान देनेके लिये तयार होना है, समाचारपत्र पढ़ना है तथा दफ्तरको नौकरी पर जाना है, इत्यादि अनेकों काम हैं ऐसा पुरुष अपने कर्मको ईश्वरकी प्रसन्नता के लिये जिस प्रकार दास प्रभुका काम करता है तिसी प्रकार 'भगवान् प्रसन्न हों' ऐसा स्मरण रखकर "अहम्" अभिमानको त्यागकर सकल कर्म ईश्वरार्पण करके करता रहे—फलसंन्यास करके कर्म करता रहे, साथ २ प्रार्थना भी चलती रहे, इस प्रकार कर्म और प्रार्थना करते २ फलसंन्यासके साथ २ उसका कर्मसंन्यासमें अधिकार होजायगा, उस समय मत्कर्मपरायणताकी उपासनासे चित्तको विशुद्ध करके अभ्यासयोगके द्वारा चित्तको एकाग्र करके वही साधक विश्वरूपकी उपासना कर सकेगा और फिर निःसङ्गभावमें स्थिति पाकर उपासनाका चरमफल जो सर्व दुःखनिवृत्तिरूप परमानन्दमें स्थिति उसको पाजायगा। यहां आपने संपूर्ण सनातनधर्म कहदिया है। जगत्में चाहे कहीं चाहे कोई भी प्राणी ईश्वर के संबन्धमें कुछ भी करै वह इनमेंसे किसी न किसी अवस्था को पहुँच ही जायगा। हे भगवन् ! मैंने जो आपके उपदेश की धारणाकी है, इसमें कुछ भूल तो नहीं है ?। भगवान्ने कहा, कि—हे अर्जुन ! तेरी धारणा ठीक है। अर्जुन फिर कहनेलगा, कि—हे भगवन् ! यह मैं आपकी कही हुई सब साधनाओंकी बात तो समझगया, अब तो मेरी यह इच्छा होती है, कि—आपकी इस अनन्त अखण्ड परमानन्द सत्तामें

अपनी खण्ड सत्ताको मिला दूँ, बिन्दु सिन्धुमें अपने आपेको भूलजाय। भगवान्‌ने कहा कि-हे सखे! साधनाकी तो सब बात कहदी। सर्वसाधारणके लिये भक्तियोग ही निष्कण्टक है। भक्तियोगमें भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुखसाध्य है। भक्तियोग दो प्रकारका है-एक तो अन्तःकरणके व्यापारमें भगवन्निष्ठा, दूसरी बाहरी करणके व्यापारमें भगवन्निष्ठा अन्तःकरणके व्यापारमें भगवन्निष्ठा तीन प्रकारकी है-स्मरणरूप, मननरूप और अखण्ड स्मरणमें असमर्थ होनेपर भी उसके अनुरागीकी अभ्यासरूप निष्ठा। ये तीनों मन्दबुद्धिके लिये दुर्गम हैं परन्तु सुबुद्धि और निरपराधीके लिये सुगम हैं। भक्तियोगका दूसरा प्रकार श्रवण कीर्त्तन रूप है, यह सबके लिये सुगम है। हे अर्जुन! तेरा उपस्थित कर्म यह कुरुक्षेत्रका युद्ध है, मुझको कर्मफल अर्पण करके, युद्ध कर, फिर मुक्तिका कर्म करना। सबके सुभीतेके लिये भक्तियोगकी वात और एक बार कहता हूँ, उसको सुन--जिनको संसारका कर्त्तव्य बड़ाभारी मालूम होता हो वह पहले मेरी प्रसन्नता ही इनका मुख्य उद्देश्य हो और संसार कर्म के लिये संसारका कर्म करें। साथ २ में नित्यकर्मका अभ्यास भी रक्खें। संसारका कर्म करने पर भी मेरी प्रसन्नता ही गौण हो। क्रम २ से हृदयमें मेरी प्रसन्नताका अनुभव वार २ होने पर मैं उनके संसारी कर्मके वोझको हलका करदेता हूँ। मेरे भक्तके लिये संसार नाममात्रको रहजाता है। ऐसे साधनके संसारी भारको क्रम २ से दूसरे अपने ऊपर

लेलेते हैं। साधकको सदा मेरे ही कर्म करनेको अवसर मिल जाता है। सर्वदा सन्ध्या, वन्दन, जप, पूजा, मानसपूजा, प्राणायाम स्वाध्याय आदिमें ही साधक अपने समयको बिता सकता है। किसी एक निर्जन स्थानमें अपना भजनगृह बनावै, सामने ही एक छोटीसी फुलवागिया लगावै। मानसपूजा तो किया ही करै, परन्तु इच्छा होने पर बाहरी पूजाके लिये अनेकों प्रकारके फूल चुनकर परमपवित्रताके साथ माला बनावै, भगवान्को पहरानेकी इच्छासे हरएक फूल पर चन्दन का छींटा देय, इससे फूलोंकी मीठी महक और भी मधुर होजायगी, मेरी अगवानीके लिये घरमें धूपकी धूनी देय, मेरे सोनेके लिये सुन्दर शय्या बिछावै, मुझे खिलानेके लिये बड़ी पवित्रताके साथ नैवेद्य, तयार करै, इन सबका नित्य अभ्यास करै तो भी मेरा साक्षात्कार न पानेसे बड़ा ही कातर होय, मनमें कहै, कि–हाय मैं कब पवित्र होऊँगा, भगवान् मुझे कब दर्शन देंगे। कितने ही दिनों तक फूल के ऊपर फूल गूँथकर बड़े यत्नसे माला बनावै और उस मालाको लेकर मेरे आगमनकी प्रतीक्षामें कातर होउठै, इसपर भी मेरा दर्शन न होय तो उस मालाको जलमें बहा देय और मेरे ऊपर बड़ा अभिमान करै। कभी मैं उसके हृदयमें आशा देकर उसको सजीव कर दूँ तो फिर नये प्रकारसे इन सब कामोंको करै, कितनी ही रात्रियें जागरणमें विता देय, फिर मैं निद्राके समय तुझे सावधान न पाकर लौट आया। ऐसा २ जो भक्तका मेरे कामके लिये प्रबन्ध है

और व्याकुलता है, इसमें बड़ी ही मधुरता है। इस भावका जब अटूट प्रवाह बहने लगता है उस समय ही मैं दर्शन दिया करता हूँ। साधक उस समय अपनी खण्ड—चैतन्य विन्दुको अखण्ड-चैतन्य-सिंधुमें मिला कर शांत समाधि को पाजाता है। तू भी अपने समस्त कर्मोंका फल त्याग कर फलसन्यासको धारण कर और फिर क्रमसे ऊँची अवस्थाओंको पाता हुआ विश्वरूपमें स्थितिको प्राप्त कर तब तू नित्यानन्दस्वरूपमें चिरकालको स्थिति पाजायगा, अपुनरावर्त्ती धाममें पहुँच जायगा ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञाना-
द्ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफल-
त्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अन्वय और पदार्थ

(हि) निश्चय (अभ्यासात्) अभ्याससे (ज्ञानम्) ज्ञान (श्रेयः) श्रेष्ठ है (ज्ञानात्) ज्ञानसे (ध्यानम्) ध्यान (विशिष्यते) विशेष होता है। (ध्यानात्) ध्यान से (कर्मफलत्यागः) कर्मके फलका त्याग [श्रेष्ठः] श्रेष्ठ है (त्यागात्) त्यागसे (अनन्तरम्) परे (शांतिः) शांति [भवति] होती है ॥ १२ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! जिस चेष्टाके द्वारा

चित्तके आगे एक ही वस्तु भासे वह चेष्टा ही अभ्यास है। उपास्यदेवमें चित्तको एकाग्र करनेके लिये जो बारंबार यत्न है वही अभ्यास है। अथवा जिस चेष्टाके द्वारा चित्तके आगे उपास्यदेव ही भासै उस चेष्टाको वारंवार करनेका नाम अभ्यास है। यह अभ्यास जब विवेकके साथ होता है तब आत्मदर्शन होता है और जब अविवेक के साथ होता है तब आत्मदर्शन नहीं होता जिस आत्माको हम अहम् या मैं कहते हैं। अब देखना चाहिये कि- हमारा चित्त क्या है? मैं चित्तको क्या देखता हूँ यह चित्त जिस समय जिसके सामने आता है उस समय उस के आकारका होजाता है। चित्तके सामने सर्वदा विषय ही पड़ते हैं, इसलिये चित्त सदा विषयोंके आकारवाला ही होता रहता है, इसकारण ही मैं चित्तको घड़ी २ में पल २ में अनेकों आकार धारण करते हुए ही देखता हूँ। परन्तु चित्तके सामने यदि सदा एक उपास्यदेव के ही भासनेकी चेष्टा कीजाय, यदि अन्य सब वस्तुओंमें से इसको खेंचकर केवल उपास्य वस्तु ही वार २ इसके सामने लायी जाय तो मैं चित्तको उपास्यके ही आकारमें स्फुरित होते हुए देखूँगा। यह उपास्य भी बहुत प्रकारका होसकता है। ज्योतिः होसकता है, प्रणव होसकता है, मूर्त्ति होसकता है और नाम भी होसकता है। इसको भीतर वा बाहर रखकर एकाग्रताका अभ्यास कियाजासकता है। मैं जिस समय अभ्यास करने लगूँगा उस समय मैं भी उपास्यके आकारवाले हुए अपने

चित्तको धारण करूँगा इसप्रकार जो अभ्यास तो करते हैं और उपास्यके गुण आदिका श्रवण मनन नहीं करते हैं, वह दर्शन नहीं पासकते । इस श्लोकमें आप कहते हैं, कि-अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग अच्छा है तथा त्यागके अनन्तर शान्ति होती है । इसमें मुझे बहुतसी बातें बूझनी हैं । आपने पहिले अक्षरकी उपासना विश्वरूपकी उपासना तथा अभ्यास-योगकी उपासनाकी बात कही है और जो उसको करनेमें असमर्थ हों उनके लिये मत्कर्मपरायणताकी साधना कही है तथा जो इसको भी न करसकें उनके लिये मद्योगका आश्रय करना कहा है । अन्तकी साधना सबसे नीची साधना है । यतात्मवान् होकर सब कर्मोंके फलका त्याग करना ही इस साधनाकी पूर्णता है । पहिले आपने कहा है कि-इन्द्रियोंको संयत करना और आत्मा अनात्माका विचार रखना ही यतात्मवान् होना है । इन्द्रियसंयम रखकर और विचारवान् होकर सकल कर्मोंके फलको त्याग देना ही यथार्थ फलत्याग है । सामान्यभावसे फलत्याग करके तो कर्म करना वह सबसे नीची साधना है । न इन्द्रियोंका संयम ही है, न विचार ही है तथापि अज्ञ पुरुष दासभावसे फलका त्याग करसकते हैं, इसकी अपेक्षा मत्कर्मपरायणताकी साधना कठिन है उससे अभ्यासयोग कठिन है, अभ्यासयोगसे विश्वरूप की उपासना कठिन है और इससे भी कठिन देहात्माभिमानी के लिये निर्गुण उपासना है अर्थात्-जब तक मैं करता हूँ,

मैं जाता हूँ, मेरा देह ऐसा भाव रहता है तबतक निर्गुणकी उपासना बडी ही क्लेशदायक होती है । इस बातको आप पहिले कहचुके हैं। अब आप दिखाते हैं, कि—अभ्याससे ज्ञान अच्छा है,ज्ञानसे ध्यान अच्छा है।और ध्यानसे कर्मफलका त्याग अच्छा है जब आप कर्मफलके त्यागको ध्यानके ऊपर स्थान देते हैं तब तो कर्म फलके त्यागको ही ज्ञान और ध्यान दोनोंसे श्रेष्ठ कहते हो। पहिले जिसको सबसे नीची साधना कहा उसको ही इस समय सबसे श्रेष्ठ कहते हो, इसमें आपका क्या अभिप्राय है वह मेरी समझमें नहीं आया । कृपा करके स्पष्ट २ बतला दीजिये कि—आप क्या कहते हैं ? । भगवान्‌ने कहा, कि— हे सखे अर्जुन ! यहाँ मैंने अज्ञानी पुरुषोंके अभ्यासके साथ अज्ञानी पुरुषोंके ही फलत्यागकी तुलना की है। इस श्लोक में मैं कहता हूँ, कि—अभ्या..की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है । इसलिये अभ्यासकी अपेक्षा कर्मफलत्याग अत्यन्त श्रेष्ठ है, तेरा समझना बहुत ही ठीक है, इसमें जरा भी भी सन्देह न करना । सत्य बात यह है, कि—जो वास्तविक कर्मफलत्यागकी साधना करते हैं उनको यतात्मवान् होकर ही वह साधना करनी होती है । जब संयतचित्त और विचारवान् होलेगा तब ही ठीक २ सर्व कर्मफलत्याग कर सकेगा । परन्तु अज्ञानी पुरुष भी अपनेको दास मानकर सर्वकर्म फलत्याग करके कर्म करसकते हैं । उस अज्ञानी की भी सर्वकर्मफलत्यागकी साधना अज्ञानीकी अभ्यास-

योग साधनासे परम श्रेष्ठ है। विवेकपूर्वक अभ्यासयोग साधना के द्वारा विश्वरूपकी उपासना होती है, परन्तु अविवेक पूर्वक अभ्यास योगकी साधना होने पर जो अनेकों दोष होसकते हैं, वह जिस प्रकार न हों वह प्रकार दिखाना ही इस श्लोक का प्रयोजन है। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन्! यह बताइये कि-विवेकपूर्वक अभ्यासयोगकी साधना द्वारा साधक विश्वरूपमें कैसे पहुँचजाता है?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! इस बातको मैं पीछे कह भी चुकाहूँ और अब संक्षेपसे फिर कहे देता हूँ, सुन-जिस प्रकार तूने मेरी श्रीकृष्णमूर्त्ति की पहिले कथा सुनी,फिर मेरे विभूति ऐश्वर्यका विस्तार सुना, उसको सुनते २ मेरे रक्तमांसमय देहको भूलकर-देहके जड़ भावको काटकर मेरी भावमय भावना करी और फिर 'मैं ही विश्वरूप हूँ, इस बातको अपने नेत्रोंसे देखलिया। तुझे मैंने श्रवण, मनन, निदिध्यासन कराया, फिर मैंने ही अपनेको विराट पुरुषरूपसे दिखाया। मेरे अङ्गमें ही यह चन्द्रमा सूर्य आकाश मनुष्य पशु पक्षी सिद्ध असुर राक्षस और आदित्यों को जिस प्रकार देखा, इसी प्रकार जो उपासक शास्त्रके निश्चय करके बताये हुए किसी अधिष्ठानमें-अर्थात् मुझमें चाहे ज्योतिमें, चाहे मूर्त्तिमें चाहे मंत्रमें ब्रह्मकी भावना करके वह ही वेदका उपदेश देरहे हैं, वही अव्यक्त मूर्त्तिसे जगत् में व्याप रहे हैं, वही विश्वरूपमें सजरहे हैं, वही मेरा उद्धार करेंगे, उनके अनुग्रहके विना मैं आत्मज्ञानको नहीं पासकूँगा सार यह है, कि-वही सच्चिदानन्दस्वरूप और वही सच्चिदानन्दस्वरूपिणी हैं-वह सृष्टि स्थिति प्रलयकारिणी शक्तिरूप

हैं । जो साधक इन अवलम्बनोंमेंसे किसी अवलम्बनमें इस भावका आरोप करके उपासना करते हैं और जगत्के प्रत्येक पदार्थको देखने पर "अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च" इस अवस्थाको पाकर निरन्तर अपने उपास्यका ही स्मरण करते हैं वह ही विवेकपूर्वक अभ्यास योगकी साधना करके दृश्य प्रपञ्चका साक्षी चैतन्यरूपसे अनुभव करसकते हैं यही अभ्यास योगके द्वारा विश्वरूपमें पहुँचना है। यही बात पीछे ८वें अध्यायके ८वें श्लोकमें कही है, कि—"अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना । परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥" मेरी एक बातको विशेषरूपसे याद रखना, प्रतिदिन तीन समय नित्यकर्मका अभ्यास करनेके समय पीछे कही हुई रीतिसे साधना तो करना ही, परन्तु व्यवहारके समय भी बाहर विश्वरूपकी साधनाको करते रहना । हर समय बराबर उपासना करनी चाहिये, तुझे मनमें इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये, कि—जो कुछ तेरे नेत्रोंके सामने पड़ता है—पुरुष स्त्री पशु पक्षी आकाश वायु नदी समुद्र वृक्ष लता चन्द्रमा तारे, जल, वर्षा और अग्नि आदि सब कुछ विश्वरूपधारी मैं ही हूँ। जिसप्रकार अपने हृदयमें मेरा भजन करे तैसे ही नरनारी आदि सबमें ही मेरा स्मरण करके-यथा शक्ति जीवोंकी सेवा करता रह तो क्रम २ से समझेगा, कि हरि बनकर श्रीहरिका भजन करना क्या पदार्थ है ? विश्वरूपकी उपासना क्या है ? । स्मरण रख कि—"अविष्णुः पूजयेद्विष्णुं न पूजाफलभाग्भवेत् । विष्णुर्भूत्वार्चयेद्विष्णुं महाविष्णुरिति स्मृतः ॥" अर्थात् विष्णु विना बने—विश्वभरमें

फैले हुए प्रेमके द्वारा सकल भूतोंमें आत्मदृष्टि विना किये विष्णुपूजा करने पर वह पूजा सफल नहीं होती है, विष्णु बनकर विष्णुपूजा करनेसे साधक महाविष्णु बनजाता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! इस बातको तो मैं एक प्रकारसे समझगया, अब यह बताइये, कि-अविवेकके साथ अभ्यासयोगकी साधना करने पर क्या दोष होता है? उसमें विश्वरूपकी साधना क्यों नहीं होती?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! विना समझे कण्ठस्थ करनेकी अपेक्षा समझना ही अच्छा है, इस बातको सब ही समझ सकते हैं, इसलिये अभ्याससे ज्ञान ही अच्छा है और समझने वा ज्ञानकी अपेक्षा, जो कुछ समझा है उसका मन ही मनमें प्रगाढ़रूप से चिन्तवन वा ध्यान करना ही अच्छा है। इस प्रकार प्रगाढ़-चिन्तवन करसकने पर भी जब ध्यानकी अवस्थासे व्युत्थान (उच्चाट) होजाता है। जिस समय ध्यानभङ्ग होनेपर व्यावहारिक जगत्में आकर कर्म करना होता है, उस समय यदि फलकी इच्छा रखकर कर्म कियाजाय तो वह बहुत ही बुरा है, परन्तु यदि सर्वदा फलकी इच्छासे शून्य होकर कर्म करने का अभ्यास होजाय तो उस ध्यानकी अपेक्षा फलकी अभिलाषासे रहित होकर कर्म करना सब प्रकारसे श्रेष्ठ है। मान लो कि-तुम ध्यान करसकते हो, परन्तु जिस समय व्यावहारिक जगत्में होते हो उस समय तुम्हारा राग द्वेषका कर्म होता है, उस समय तुम जीवोंका जी दुखाकर उनसे बदला लेते हो। तुम भगवान्का ध्यान तो अवश्य करते हो, परन्तु "अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।" तो नहीं होसके।

किसीने प्रशंसा करदी तो सुखी होगये और किसीने निन्दा करदी तो दुःख माननेलगे तुम ध्यान तो करते हो परन्तु स्त्री पुत्र आदिकी आधि व्याधिमें तो बड़े व्याकुल हो उठते हो, स्त्री पुत्रादिके ऊपर तुम्हारी बड़ी भारी ममता है,लोकव्यवहारमें तुम्हारा विलक्षण अहङ्कार है, तुम्हारा कर्ममेंसे अहं अभिमान जाता ही नहीं, ऐसी अवस्थाकी अपेक्षा जो पुरुष दासभावमें भी फलको त्यागकर प्रभुका काम करता है, ऐसा अभ्यास करता है वह पुरुष पहिले संयतचित्त और विचारवान् न होने पर भी वह किसी समय ईश्वरके अनुग्रहसे यतात्मा हो ही जायगा। ऐसा फलत्यागी कर्मी पूर्वोक्त ध्यानीकी अपेक्षा अवश्य श्रेष्ठ है। जो फलको त्यागकर ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं वह पहिली अवस्थामें अज्ञानी होने पर भी जैसे सेवक प्रभुसे प्रेम करके प्रभुका काम करता है, इस ही भावसे कर्म करते हैं। जैसे प्रभु पुराने सेवकके ऊपर बड़ा ही अनुग्रह करते हैं तैसे ही साधक भी चिरकालतक भगवत्की प्रसन्नताके लिये कर्म करते २ भगवान्के अनुग्रहको पाजाते हैं जिन्होंने श्रीभगवान्के अनुग्रहको पालिया उनको फिर दुर्लभ ही क्याहै?। परन्तु पूर्वोक्त ध्यानी पुरुष ध्यान भी करते हैं और विशेष आसक्ति के साथ संसार भी करते हैं, राग द्वेषके काम भी करते हैं, इसलिये उनको प्रतिदिन लय विक्षेप के साथ युद्ध करना पड़ता है और इस दशामें जो ध्यानकी अवस्था प्राप्त होती है वह व्युत्थानकालमें सहजमें ही नष्ट होजाती है, इसीलिये कहता हूँ, कि—अविवेक पूर्वक

अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान अच्छा है, क्योंकि-उसमें रस है और इस ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान अच्छा है, क्योंकि-उसमें और भी एकाग्रता है रस भी अधिक है, परन्तु ऐसे ध्यान की अवस्था भी नष्ट होजाती है, इसलिये अज्ञानी सर्वकर्मफलत्याग करें तो उनके लिये वह भी अच्छा है, क्योंकि-उसके द्वारा क्रमसे वास्तविक ज्ञान और ध्यान होगा ही। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! ज्ञान और ध्यान इनका वास्तविक अर्थ क्या है और यहाँ इनका कौनसा अर्थ लिया जायगा? श्रीभगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे अर्जुन! "अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।" जीवात्मा और परमात्मा एक ही है, ऐसा अभेददर्शन ही ज्ञान है और ज्ञान होने पर जब मन विषयवासनासे शून्य होजाय तब ही ध्यान होता है। मनमें से दृश्य जगत् को पोंछकर फेंकदेनेका ही नाम आत्मध्यान है। दर्शन के अनन्तर ध्यान अर्थात् प्रगाढ चिन्ता होती है, यही ज्ञान और ध्यान का वास्तविक अर्थ है। भगवान् वसिष्ठजी कहते हैं, कि-ब्रह्मको सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च दोनों कहाजाता है, परन्तु ज्ञान सप्रपञ्चका ही होता है, निष्प्रपञ्चका नहीं होगा दृश्य प्रपञ्चका साक्षी चैतन्यरूपमें जो अनुभव है वही ज्ञान है। द्रष्टा कहिये साक्षीचैतन्य और दृश्य जगत् इन दोनोंकी एकताका सम्पादक ज्ञान जब मनमें दृढ होजाता है तब ही जीव ज्ञानस्वरूप में समाहित होकर विश्राम पाता है। ज्ञान होनेसे ही जीव ब्रह्मस्वरूप होजाता है, उस समय फिर ध्यान कैसे होगा? यहाँ

ध्यान ज्ञानकी अपेक्षा नीची श्रेणीमें है। यहाँ ध्यान का अर्थ है—वारंवार निजस्वरूपका अनुसन्धान। गीता में मैं ज्ञान और ध्यानका इस अर्थमें व्यवहार नहीं करता हूँ,। "ज्ञानं शब्दयुक्तिभ्यामात्मनिश्चयः" शब्द और युक्तिके द्वारा आत्मनिश्चयको ज्ञान कहता हूँ, यह परोक्षज्ञान है, यह अपरोक्षानुभूति नहीं है। मैं, आत्मनिश्चयके लिये युक्ति और शब्द तथा उसकेही अर्थको सुननेके अभ्यासको कहता हूँ अथवा वारंवार उपास्य में मनको लगानेका नाम अभ्यास है। केवल अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान के अर्थको सुनना अच्छा है और इस अर्थको सुनकर जब वह प्रवाहके क्रमसे मनके भीतर चलने लगे तब ही ध्यान होता है। अर्थको विनाजाने अभ्यास करनेकी अपेक्षा अर्थको सुननारूप ज्ञान अच्छा है। अर्थ सुनने आदिके ज्ञानकी अपेक्षा, सुनेहुए अर्थका प्रवाह वा अभिप्रायका प्रगाढ चिन्तवन अच्छा है। उपास्यके विषयमें कुछ न जानकर केवल नामका जप वा प्रणवका जप वा चरण आदिका चिन्तवन वा मूर्त्तिको लाने की चेष्टा करना यह ही अविवेक पूर्वक अभ्यास है। किन्तु उपास्य के विषयमें शास्त्र और गुरुके उपदेशको सुनना, उपदेशकी आलोचना करना और वारंवार चिन्तवन करनेसे उपास्यके विषयमें एक प्रकारकी धारणा होजाती है। धारणा के परिपक्व होने से ही ध्यान होता है। ध्यानके द्वारा उपास्य वस्तु सजीवभावसे उपासकके हृदयमें आविराजती है। हे सखे! अब तो समझगया होगा, कि—अभ्यासकी

अपेक्षा ज्ञान क्यों श्रेष्ठ है तथा ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान क्यों श्रेष्ठ है ? । ऐसा ध्यान होजाने पर भी इस ध्यानकी व्युत्थान अवस्था है । जिनको कर्मफलका त्याग करके कर्म करनेका अभ्यास नहीं हुआ है वह ध्यान भङ्ग होनेपर आसक्तिके साथ कर्म करते हैं और फिर क्रमसे कपटाचरणको सीखते चलेजाते हैं, इस बातको पहिले कहचुके हैं । अविवेकपूर्वक ध्यानमें और भी एक प्रकारका अनिष्ट होता है । भगवान् पतञ्जलि कहते हैं, कि-"समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" योगकी विभूतियें व्युत्थानके समय सिद्धिरूप मानीजाती हैं परन्तु समाधिकालमें उपसर्ग कहिये मुक्तिदायक समाधिकी बाधक है । ध्यान करते २ व्युत्थानदशामें एक विभूतिका लाभ होता है । जो अज्ञानी होते हैं वह किसी विभूतिका उदय हुआ देखते ही अपनेको अन्य साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं । वह बड़ेभारी अभिमानके साथ अनेकों प्रकारके दंभपिनेके काम करते हैं, कि-जिससे अपना अनिष्ट करबैठते हैं और लोगोंको धोखादेते हैं । मानलो कि-किसी साधकने खेचरी मुद्रा वा शाम्भवी मुद्रा अथवा हठयोग आदिका अभ्यास कर लिया है, इसको ज्ञानकी प्राप्ति तो नहीं हुई किन्तु योगादिके अभ्याससे ध्यानावस्थाकी प्राप्ति होगई उस समय इसको कुछ २ विभूति की प्राप्ति होगयी उस विभूतिके बलसे यह आसक्तिपूर्वक कर्म करके लोगोंको मुग्ध करेगा और अपने नाना प्रकारके उद्देश्य सिद्ध करेगा । ऐसे ध्यानाभिमानीकी अपेक्षा जो कर्मफलको

त्यागकर कर्म करते हैं वे ही उत्तम हैं अर्जुनने कहा,कि– हे भगवन् ! इस बातको मैं समझगया, किन्तु आपने जो कहा–"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्" इसमें भी मुझे कुछ बूझना है ?–यदि अज्ञानी पुरुष दासभावसे फलकी इच्छाको त्याग कर कर्म करेगा तो क्या उसको भी शान्तिकी प्राप्ति होगी? आपने कहा,कि–हे सखे! मैं पहिले आठवें अध्यायमें कहचुका हूँ, कि–"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥" ज्ञान प्राप्तिके अनन्तर शांति प्राप्त होती है । तथा उससे पहिले द्वितीय अध्यायमें आप कहचुके हैं कि–"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥" और यहाँ भी आप कहते हैं, कि–जो स्थितप्रज्ञ हैं, जो ज्ञानी है वे ही शान्ति पावेंगे । ज्ञानीको शान्ति प्राप्त होती है । परन्तु यह तो बताइये कि–अज्ञानीको शान्ति कैसे मिलती है?। भगवान्ने कहा,कि–हे सखे ! अज्ञानी पुरुष भी जब कर्म करनेमें प्रवृत्त होते हैं तब वे निर्गुण ब्रह्मकी उपसना तो कर ही नहीं सकते, किन्तु वह विश्वरूपकी उपासनामें भी अशक्त होते हैं श्रेष्ठ उपासना करनेमें असमर्थ होनेके कारण इनको अभ्यास योगके अवलम्बनसे विश्वरूपकी उपासनाकी ओरको बढ़ना होगा । उस अविवेकपूर्वक अभ्यासयोगका अवलम्बन करते हुए ये पीछे कहे दोषसे युक्त होकर कहीं भ्रष्ट न होजायँ,इस लिये ऐसे अज्ञानियोंके निमित्त कर्म फलको त्यागकर कर्म करना ही निष्कण्टक मार्ग है । अज्ञानियोंकी ऐसे दासभाव

के साथ सकल कर्मोंके फलत्यागकी साधना अज्ञानियोंके अवि-
वेकपूर्वक अभ्यासयोगकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। परन्तु जो यह समझते
हैं, कि—जैसे भी होसके तैसे सकल कर्मोंके फलका त्याग
करके कर्म कर सकने पर अज्ञानियोंको शान्ति प्राप्त होसकेगी,
वह मेरे अभिप्रायको नहीं समझसके हैं। जैसे पीछे सातवें
अध्यायमें निष्काम कर्मकी दो अवस्था कहचुका हूँ तैसे
ही सर्वकर्मफल त्यागकी भी उच्च और निम्न दो अवस्था
हैं। ज्ञानके विना यथार्थरूपसे सर्वकर्मफल—त्याग नहीं हो
सकता। कर्मफल त्यागका अर्थ ही कामनात्याग है। जिसको
अहं अभिमान नहीं होता, मैं कर्त्ता हूँ ऐसा अभिमान नहीं
होता, मैं दुःखको पार करके सुखी होऊँगा ऐसा अभिमान
नहीं होता वही कर्मफल त्याग वा कामनाका त्याग कर
सकता है। विना ज्ञानके पूर्णरूपसे कामनाका त्याग वा सर्व-
कर्मफल त्याग नहीं होता, इसलिये ही मैंने कहा है, कि—
जो स्थितप्रज्ञ हैं वेही कामनाका त्याग करसकते हैं। जो
ममतारहित और निरहङ्कार हैं वेही कामनासे रहित हैं। जिस
को अहंबोध है, जिसको यह मेरा है ऐसा बोधरूप ममता
है वे वास्तवमें सर्व कर्मोका फलत्याग नहीं करसकते। जो
एक साथ अहं अभिमानको त्यागकर पूर्णरूपसे सर्वकर्मफल
त्याग नहीं करसकते वह, मैं दास हूँ, ऐसा भाव रखकर कर्म
फलको त्यागनेका अभ्यास करें। मैं दास हूँ श्रीभगवान् प्रभु हैं,
मैं प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही कर्म करता हूँ, मैं अपने भोगके
लिये कर्मफलकी अभिलाषा रखकर कर्म नहीं करता हूँ। ऐसा

साधक भी कुछ अंशमें कर्मफलका त्याग करसकता है,परन्तु पूर्णरूपसे कामनाका त्याग कर्मफलका त्याग करना हो तो मैं आपका दास हूं,यह अहं अभिमान भी त्यागना होगा।'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्, यह सत्य ही है, परन्तु चित्तका त्याग ही यथार्थ त्याग है। चित्तका त्याग ज्ञानीके सिवाय और कोई नहीं करसकता, जो पहिले दासभावसे सर्व कर्मफलत्याग करता है वही पीछे यथार्थ त्यागमें पहुँच सकता है। अज्ञानियोंकी दासभावसे सर्व कर्मफलत्याग रूप साधना भी पूर्णभावसे सर्व कर्मफल त्यागका ही अङ्ग है, अतः इस श्लोकमें सर्व कर्मफल त्यागकी स्तुतिमात्र की है। दासभावसे कर्मफलको त्यागकर कर्म करना मोक्ष पानेके साधनोंमें सबसे पहिली साधना है। जैसे उच्चवंशमें जन्म होनेके कारण अधोगतिको प्राप्त हुआ उच्चवंशी पुरुष भी अपने पूर्व गौरवको लक्ष्य करके अपनी प्रशंसा करता है। जैसे ब्राह्मणवंशमें भगवान् अगस्त्यजीने समुद्रको पीलिया था, इसलिये नीचदशाको प्राप्त हुआ भी ब्राह्मण कहता है, कि-मैं आगस्त्यके वंशमें उत्पन्न हुआ हूं जो चन्द्रमा और सूर्यकी गतिको रोक सकते थे, जो समुद्र पर्यन्तको पीगये थे, जिन्होंने पृथिवीको निःक्षत्रिय करदिया था, यह जैसे स्तुतिमात्र हैं तैसे ही सबसे श्रेष्ठ साधनाओंमें सबसे नीचा होने पर भी यहां अज्ञानियोंके सर्वकर्मफल त्यागकी स्तुतिमात्र कीगयी है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! कोई २ कहते हैं-यह स्तुतिमात्र नहीं है, किन्तु यथार्थ कथन है तथा वह इसमें यह युक्ति देते हैं, कि-अभ्यासकी

अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि ध्यानके द्वारा ध्येय वस्तु अपने स्वरूपमें सजीवभावसे निरन्तर ध्यानकर्त्ताके हृदयमन्दिरमें विराजमान रहती है। इसके सिवाय ध्यानके मार्गमें आगेको बढ़ते ही ध्येयवस्तुके साथ साक्षात् वा मिलन अवश्य ही होगा, इसलिये ध्यान ब्रह्म साक्षात्कारके अव्यवहित पूर्वका अनुष्ठान है, परन्तु कर्मफल त्याग ध्यानकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, क्योंकि—फलकी अभिलाषा से रहित कर्मियोंको कार्य कारणको जाननेकी आवश्यकता नहीं होती है, परिणामचिन्ताका प्रयोजन नहीं होता है और किसी प्रकारकी साधनाका अवलम्बन भी नहीं करना होता है। स्वयं ही भोगकी आसक्तिसे रहित फलकी अभिलाषासे शून्य कर्म त्यागके द्वारा ही सब प्रकारके ज्ञान और साधना के फलको वह पाजाते हैं। शास्त्रकारोंके दिखाये हुए मार्गसे हृदयको सजाकर अभ्यासयोगरूप एक निष्ठा अथवा भगवत्तत्त्वावबोधरूप ज्ञान या उसका फलरूप ध्यान आदि किसी साधनाको न करने पर भी वह अनायासमें ही परम फलको पाजाते हैं। ऐसे कर्मनिष्ठ पुरुष थोड़े ही समयमें परमशान्ति को प्राप्त करलेते हैं। और कोई कहते हैं, कि—सर्वथा कर्मत्याग किये विना ध्यानमें होनेवाले विघ्न (आत्माभिमान आदि) कभी भी दूर नहीं होते हैं, इसलिये ध्यानसे कर्मफलत्याग ही श्रेष्ठ है। कर्मफलकी अभिलाषा होनेके कारण जिनका चित्त अशुद्ध रहता है, उनका मन कभी भगवान्में नहीं ठहरता और न उनकी बुद्धि ही भगवान्में प्रवेश करती है।

इसलिये सब उपायोंके ऊपर कर्मफलत्यागका ही राज्य है। ऐसी अवस्थामें यहां उसकी स्तुतिमात्र की है, ऐसा नहीं मानाजासकता। जिन साधकोंका उद्देश्य भगवान्‌को पाना है उनके साधनका आरम्भ इस कर्मफलत्यागसे ही होता है। इसको छोड़कर कोई कृतार्थ हो ही नहीं सकता, इसलिये कर्मफल त्यागके साथ जिन जिन साधनोंका उपदेश दियागया है उन २ साधनोंको यदि न करसके तो सकल उपायोंमें साधारणभावसे अन्तर्गत जो कर्मफलत्याग उसका अवलम्बन करके ही साधनका आरम्भ करना चाहिये। ऊँची श्रेणीके साधकोंके लिये जैसे कर्मफल त्यागका आश्रय लेना आवश्यक है तैसे ही भगवान्‌को पानेकी कामनावाले नीची श्रेणीके साधकोंके लिये भी गीताका बताया हुआ यही मार्ग है। त्यागसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा जो वेदान्तवादियोंका कहना है वह इसीलिये ठीक है। भगवान्‌ने कहा, कि—हे सखे! जो कर्मफल त्यागकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं, उनमें एक कहता है, कि—और किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र और गुरुके उपदेशके अनुसार अभ्यास योगका प्रयोजन नहीं है, भगवतत्त्वके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, ज्ञान और ध्यान की भी कुछ आवश्यकता नहीं है, केवल भोगासक्ति से रहित फलकी अभिलाषासे शून्य कर्म त्यागका अभ्यास करने से ही काम सिद्ध होजायगा इनकी इस युक्तिके विरुद्ध यह कहाजाकता है, कि—भोगवा-

सनाका त्याग और फलकी अभिलाषाका त्याग करके ही कर्म करना होगा, ऐसे कर्मको करेगा कैसे ? । चित्तमें वास करते हैं इस कारण ही सङ्कल्प, आसक्ति, कामना आदिको वासना कहते हैं, । मोटे २ रूपमें चित्त ही वासनाओंकी समष्टि है । जो चित्तकी सत्ता है वही आत्मा है, वासनाके जागनेसे ही चेष्टा होती है, चेष्टा ही कर्मरूपमें बदलजाती है, इसलिये विचार देख—कर्म सूक्ष्म वासनाका स्थूल परिणाम है, इसलिये बाससा—फलकी अभिलाषाको त्यागकर वा भोगकी इच्छाको त्यागकर कर्म करनेका क्या अर्थ है ? । मनको भगवद्भावमें, भगवान्के रूपमें या गुणोंमें आसक्त रखकर हाथ पाँवसे कर्म करना ही तो है, । जितने दिनों तक 'मैं करता हूँ,' ऐसा बोध रहता है तब तक मन पूर्णभावसे भगवान्के रूपआदिमें नहीं ठहरता । जब मन पूर्णरूपसे भगवान्के रूप आदिमें ठहरजाय तो कोई काम होही नहीं सकेगा, क्योंकि—मनका योग विना हुए तो किसी अङ्गको भी नहीं हिलाया जासकता। जहाँ बुद्धिपूर्वक किसी अङ्गको चलानेका व्यापार है तहाँ मनोयोग भी है। इससे सिद्ध हुआ, कि—भगवान्में मनको रखना और कर्ममें मनको लगाना ये दोनों बातें एकसाथ नहीं होसकतीं, क्योंकि—मन एक कालमें दो जगह नहीं रहसकता । मनको पूर्णरूपसे भगवान्में विना लगाये जब ज्ञानको पानेकी संभावना ही नहीं है तो कर्मत्यागके विना ज्ञान हो ही नहीं सकता, दुर्बल साधक इसप्रकार सकल वासनाओंका त्याग नहीं कर

सकता, इसकारण गीता उपदेश देती है, कि—पहिले शुभ वासना रखकर कर्मका अभ्यास कर। मैं दास हूँ तुम प्रभु हो मैं तुम्हारी प्रसन्नताके लिये ही कर्म करता हूँ, अपनेको कर्मफल मिलने की कामनासे नहीं करता हूँ, किन्तु केवल आपकी कृपाको पानेके लिये करता हूँ। पाहिले एक इस ही शुभ वासनाको लेकर कर्म कर। फिर 'आपकी कृपाका अनुभव करने के लिये सब कर्म करता हूँ'। इसका जब अनुभव होने लगेगा तो फिर तेरे चित्तमें रागद्वेष नहीं आने पावेंगे अपने चित्तमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके और सब वासनाओंको त्यागने लगेगा। इसप्रकार चित्तकी शुद्धि होजानेपर चित्त भगवान्‌का दर्शन करनेकी इच्छा करेगा, उस समय किसी अवलम्बनमें चित्तको एकाग्र करके उसके ऊपर भगवान्‌के परमभावको सत् चित् आनन्द और सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्त्तापनेका आरोपण करके साधना करनी होगी यही अभ्यासयोग है। जिसप्रकार भीतर साधना चलेगी, उसी प्रकार बाहर भी, वही आत्मवस्तु सर्वत्र है, ऐसी भावना करके सब जीवोंकी सेवारूप कर्म करना होगा। इसप्रकार की साधनाके द्वारा उस विश्वरूपकी उपासना करनी होगी, फिर अव्यक्तकी उपासना करनी होगी तब सिद्धि प्राप्त होगी, उस समय ब्रह्मभावसे स्थिति करनी होगी। प्रकृति यदि रहे तो प्रकृति कर्म करै, आत्मा तो प्रकृति से सर्वथा पृथक् है। प्रकृति के किसी कर्ममें भी आत्माका अभिमान नहीं है। आत्मा सुखस्वरूपसे अपने आपेमें आप ही रहेगा, यदि कर्म

होगा तो वह अबुद्धिपूर्वक होजायगा। यही सब साधना है, कर्मफलत्यागके द्वारा कर्मत्याग करसकनेपर ज्ञानकी प्राप्ति होगी चिरकाल तक कर्म करते रहने से नैष्कर्म्य वा ज्ञान लाभ नहीं होगा। इसलिये समझ रख कि-केवल कर्मके द्वारा सिद्धि नहीं होगी किन्तु और साधना भी करनी पड़ेगी। यह तो हुई युक्तिकी बात, अब शास्त्रको भी देख। शास्त्र कहता है, पहिले निष्काम कर्म है, फिर आरुरुक्षु अवस्था है, इस अवस्थामें योग करना चाहिये, फिर योगारूढ़ अवस्था है, जो कि-योगकी सीमा है। फिर श्रद्धापूर्वक भजनमें युक्ततम अवस्था है फिर "आत्मा वारे द्रष्टव्यः,, इत्यादि है। भोगत्याग और फलकी अभिलाषाका त्याग करके जो कर्म करना होता है वह साधनाकी चरम अवस्था है। समस्त साधनाओंको करलेने पर यह होसकती है। अज्ञानी पुरुष कोई भी हो वह अपनी कोई कामना विना रक्खे कर्म फलत्याग नहीं करसकता, इसलिये दासभावसे कर्मफलत्याग करके कर्मका अभ्यास करते २ अन्य साधनाका अधिकार प्राप्त होगा, इसीलिये कहा है, कि-यादि अव्यक्तसाधना नहीं करसकता तो विश्वरूपकी उपासना कर यदि, उसको भी नहीं करसकता तो अभ्यासयोग कर, यदि यह भी नहीं करसकता तो मत्कर्मपरम हो, यदि यह भी नहीं करसकता तो सकल कर्मफल मुझे अर्पण करके कर्म कर। मेरा यह जो कहना है, कि-इसको नहीं करसकता तो दूसरे साधनको कर, इसका यही अभिप्राय है, कि-यादि तुझमें शक्ति नहीं है तो

तू सहज साधनको कर। यदि सहजको नहीं करसकता तो कठिन साधनको कर, यह बात तो कोई मूर्ख भी नहीं कह सकता। सर्वकर्मफलत्याग सब साधनाओंकी पहिली सींढी है और पूर्णभावसे यह साधन तब होगा जब सबसे ऊँची साधना की जायगी। जो इस बात पर ध्यान नहीं रखते वे ही कुतर्क किया करते हैं। दूसरे पुरुषकी युक्तिमें और कोई दोष नहीं है, केवल सर्वकर्मफल त्यागको जो स्तुतिवाद कहा गया है यह बात उसको ठीक नहीं मालूम हुई। स्तुतिवाद का अर्थ यह नहीं है, कि-मिथ्या बातमें रुचि जमानेके लिये प्रशंसा करना, किन्तु शास्त्रमें जहां स्तुतिवाद है, उसका यही उद्देश्य है, कि जिससे सकल दुःखोंकी निवृत्ति होती हो उसमें आसक्ति जम जाय। जहां गीताके पाठकी स्तुति की गयी है, तहां उससे कुछ फल नहीं होगा, केवल पढ़नेमात्रके लिये कहागया है, ऐसा न समझो तथा उसका अभिप्राय यह भी नहीं है, कि-केवल गीतापाठसे ही मोक्ष होजायगी, किन्तु गीताका पाठ मोक्षमार्ग में चढ़ने की सबसे पहिली सींढी है। गीताका पाठ करते २ गीतामें के सकल साधनों के ऊपर दृष्टि पड़ेगी, तब साधनाके लिये चेष्टा होगी, चेष्टा होने पर कर्म करेगा, कर्म करते २ कर्मत्याग होगा, फिर ज्ञान होगा, तब मुक्ति होगी। दासभावसे कर्म करते करते भगवत्कृपाका अनुभव होकर हृदयमें पवित्र आनन्द आवेगा, उस आनन्दसे चित्त शुद्ध होगा, चित्तशुद्धि होने पर अभ्यासयोग होगा, फिर विश्वरूपकी उपासना होगी,

तदनन्तर अव्यक्तमें स्थिति होगी, तब चिरशान्ति प्राप्त होगी। दासभावसे कर्मफलको त्यागकर कर्म करते ही शांति नहीं आजायगी, किन्तु सकल साधनाओंकी पहिली सीढ़ीसे क्रमसे ऊपरको चढ़ता चलाजायगा, इसलिये ही फलको त्यागकर कर्म करने की स्तुति की गई है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

अन्वय और पदार्थ

(सर्वभूतानाम्) सकल प्राणियोंका (अद्वेष्टा) द्वेष न करने वाला (मैत्रः) सुहृद्भावसे युक्त (करुणः) दयाभाव से युक्त (च) और (निर्ममः) ममतारहित (एव) भी (निरहङ्कारः) अहङ्कार न रखने वाला (समदुःखसुखः) दुःख और सुखको समान मानने वाला (क्षमी) क्षमाशील (सततम्) निरन्तर (सन्तुष्टः) प्रसन्नचित्त रहने वाला (योगी) चित्तको सावधान रखने वाला (यतात्मा) मनका दमन करने वाला (दृढनिश्चयः) स्थिर है निश्चय

जिसका ऐसा (मयि) मुझ भगवान्में (अर्पितमनोबुद्धिः) स्थापन करदिये हैं मन और बुद्धि जिसने ऐसा (सः) वह (मद्भक्तः) मेरा भक्त (मे) मेरा (प्रियः) प्यारा है १३-१४

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! किसप्रकारका भक्त आप को प्यारा होता है ?। भगवान्ने उत्तर दिया, कि—सखे ! जो सकल प्राणियोंका अद्वेष्टा होता है अर्थात् जो किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करता है वही मुझे प्यारा होता है। अर्जुनने कहा कि—हे भगवन्! मनुष्य सकल भूतोंका अद्वेष्टा कैसे होसकता है ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! कोई प्राणी भी सहज दशामें अपनेसे आप ही द्वेष करना नहीं चाहता है। दूसरेका दोष देखकर अज्ञानी पुरुष किस प्रकार निर्दयी होकर उसकी समालोचना करने लगते हैं, कैसे निठुर बनकर उसके दोष लोगोंको सुनाते हुए उसके मनको पीड़ा देते हैं, परन्तु अपने दोषोंको जानलेने पर भी अपने मनका तिरस्कार कभी नहीं करते तथा अपने ऊपर क्रोध भी नहीं करते हैं। मनुष्यको चाहिये कि—यदि किसी समय अपना दोष देखै तो अतिशान्तभाव से अपने मनको उपदेश देय, जो आत्मज्ञानी भक्त होते हैं वह जिसप्रकार अपने आपेको क्षमा करते हैं, अपनी हिंसा नहीं करते—अपना चित्त नहीं दुखाते हैं, तैसे ही और सबोंको भी क्षमा करते हैं, निष्ठुरताशून्य होकर शान्तभावसे औरोंको भी उपदेश देते हैं। जैसे व्यवहारसे अपने को दुःख होता है उसको वह

अच्छे प्रकारसे जानते हैं इसकारण वह दूसरोंको भी दुःख नहीं देसकते हैं। जो आत्मज्ञानी हैं, जो ईश्वरके सेवक हैं, वह किसीसे भी द्वेष नहीं करते हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! मनुष्य उदासीन रहकर भी तो सकल प्राणियों का अद्वेष्टा होसकता है?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! उदासीन रहनेमें प्रत्यक्षरूपमें तो दूसरेके ऊपर द्वेष न करना होसकता है, परन्तु परोक्षमें द्वेषभावको आश्रय देना ही पड़ता है। दुर्बलके ऊपर बलवान् अत्याचार कररहा है इसबातको देखकर उदासीन रहने पर समझाजाता है, कि-इस पुरुषने दूसरोंको अपनी समान देखना नहीं सीखा है। अपने ऊपर अत्याचार होने पर स्वयं अपनी रक्षा करनी पड़ती है, तैसे ही आत्मज्ञानी भक्त दूसरेके ऊपर अत्याचार होते देखकर उसको अपनी समान मानकर उसकी रक्षा करनेके लिये प्राणपण से चेष्टा करते हैं, यदि अवसर आपड़े तो अपने प्राणोंकी भी परवाह न करके दूसरेके प्राणोंकी रक्षा करे। इसलिये ऐसे भक्तको मैत्र होना चाहिये। द्वेष प्रायः उत्तम के ऊपर होता है और मित्रता समान के साथ होती है। सर्वत्र समानरूपसे स्थित ईश्वरमें जिसकी दृष्टि होगी वह सर्वत्र आत्मभाव ही देखेगा, सबको अपनी समान ही समझेगा, इसलिये भक्तका दूसरा गुण मित्रता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! वह दुःखदाता शत्रुको मित्रभावसे कैसे देखेगा? भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! शत्रु जो क्लेश देता है उससे हमारे प्रारब्धकर्मका क्षय होता है, ऐसा जान

कर उस क्लेशको कर्मानुसार ईश्वरका भेजा हुआ समझकर सुखी होय, ऐसा विचारवान् शत्रुसे भी प्रेमभावका वर्त्ताव करसकता है, दूसरा पुरुष किसी दूसरे पुरुष से शत्रुता कर रहा है, इसबातको देखकर भी वह इनके अज्ञानसे दुःख मानता है और करुणा करके इनको समझानेकी चेष्टा करता है तथा कभी दूसरेका बनकर अपने ऊपर कष्ट सहनेको खड़ा होजाता है, यह करुणा भगवान्को प्रसन्न रखनेवाला भक्त का तीसरा गुण है। करुणा साधारणतया दुःखी अज्ञानी के ऊपर होती है। वह ज्ञानस्वरूपको पाकर जहाँ अज्ञानका काम देखता है तहाँ ही करुणा करता है । उसका चौथा गुण होता है निर्मम होना। मेरा मेरा, करनेका नाम ममता है। जो मेरा मेरा कम करता है उसकी ममता भी कुछ एक जीवोंमें सीमाबद्ध होती है, परन्तु जिन्होंने सबको ही अपना करलिया है, जो सकल जीवोंमें अपने रमणीय दर्शन आत्मदेवको देखना चाहते हैं वा देख लेते हैं, जो सकल जीवोंमें अपने परमइच्छित, अपने परम देवता, अपने प्यारेको खोजते हैं वह किसको छोड़ें और किससे प्रेम करें ? सब ही तो उनके अपने हैं, उनका जीवनसर्वस्व सबोंके ही भीतर विद्यमान है, इसकारण उनका परम इष्टदेव उनके देहमें है, उनके प्राणमें है, उनके मन बुद्धि में है, इसकारण उनको अपने देह प्राण मन बुद्धि जैसे प्यारे हैं तैसे ही प्यारे दूसरों के देह, प्राण, मन, बुद्धि भी होते हैं अतः वह भी उनके प्रेमपात्र हैं । अपने देशका जल, वायु, आकाश, अग्नि और पृथिवी जैसे उनके इष्टदेवका मंदिर है, तैसे ही दूसरों के देशोंके जल,

वायु आदि भी उनके इष्टदेवताका मंदिर हैं । एकएकको सर्वत्र भावना करके वह सर्वत्र समान ममता करते हैं। ममता की पूर्णता प्रथम श्रेणीकी निर्ममता है। विश्वरूपके उपासक ममताको पूर्णरूपमें लाकर ममता रहित होजाते हैं, परन्तु अक्षरके उपासक अपनेमें आप ही रहते हैं इसकारण वह जिस प्रकार अपने देहको प्रकृतिका विकार मानकर अपने देहमें ममताको त्यागदेते हैं तैसे ही विशाल ब्रह्माण्डदेहको भी प्रकृतिका विकार मानकर सर्वत्र ममताशून्य होजाते हैं, तात्पर्य यह है, कि—ऐसे उपासक इस दीखने वाले सकल प्रपञ्चको दर्पणमें दीखने वाली नगरी की समान मिथ्या अनुभव करके, जगत्के सकल व्यापार को चित्तके स्पन्दनकी कल्पना जानकर, स्वप्नकालका मनोविलास मानकर किसी भी मिथ्या वस्तुमें ममता नहीं रखसकते हैं। हे सखे ! मेरे प्यारे भक्तका पाँचवाँ गुण निरहङ्कार होना है। जिसप्रकार मेरा मेरा करना ममता है, तैसे ही अहं अहं (मैं मैं) करना अहन्ता वा अहङ्कार है। आत्मज्ञानी भक्त जैसे ममतासे दूर रहता है तैसे ही अहन्ता से भी बचा रहता है। ममताको त्यागनेकी समान अहङ्कार को त्यागना भी दो प्रकारके उपासकोंके लिये दो प्रकारका का है। ज्ञानी अहङ्कारको भी भ्रान्ति मान कर उसको एक साथ त्यागना चाहता है और भक्त अहन्ताको फैलाकर उससे छूटता है। विश्वरूपका उपासक अहंको पूर्णतामें लाकर सकल क्षुद्रताको त्याग देता है, उस परिपूर्ण अहंमें

अपने क्षुद्रदेहाभिमानी अहंको मिलाकर एक होजाता है, सब कुछ वही होता है दूसरा कोई अहं होता ही नहीं। दूसरा अहं न होनेसे वह न किसी से द्वेष करता है, न किसीकी हिंसा करता है और न किसीसे भय करता है किन्तु सर्वत्र अपनेको ही देखकर वह नित्य आनन्दमें मग्न रहता है। श्रुति कहती है-"द्वितीयाद्वै भयं भवति" जब सर्वत्र ही एक अहं है तो भय द्वेष राग कहाँ होगा ?। अहं को आकाश की समान सीमाशून्य कर देने पर जो आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, विश्वरूपका उपासक उसको ही पाता है, परन्तु अव्यक्तका उपासक सर्वदा अपनेमें आप ही रहता है, इस कारण तथा दृश्यको पोंछ डालनेके कारण उसकी दृष्टिमें आत्माके सिवाय और किसीका अस्तित्व ही नहीं रहता है, सर्वत्र एक ही एक होता है, फिर अहङ्कार कहाँ रहे ? जो आत्मभावमें स्थित हैं उनका अहंभाव जायेगा ही कहाँ से ? जो सकल उपाधियों से शून्य है, उसकी क्षुद्र अहं उपाधि कैसे रहसकती है ?। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! क्या एकसाथ अहं उपाधिका विस्मरण होजाता है ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे! अहं उपाधिका एकसाथ विस्मरण तो ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको हुआ ही करता है। सुषुप्तिमें वा मूर्छामें किसी भी अज्ञानी जीवको अहंबोध नहीं रहता है और ज्ञानी जब निजबोधस्वरूपमें स्थित होता है उस समय भी उसको अहंबोध नहीं रहता है। ज्ञानीकी अहंशून्य अवस्थामें और अज्ञानीकी अहंशून्य अवस्थामें इतना ही भेद

है, कि–अज्ञानी मोहसे दबने पर अहंशून्य होता है और ज्ञानी बोधमय होकर अहंसे शून्य होता है । अज्ञानी मोहमें दृश्य प्रपञ्चका अनुभव नहीं करता है और ज्ञानी बोध में दृश्य प्रपञ्चको भूलजाता है, सुषुप्ति अज्ञानीकी और तुरीय अवस्था ज्ञानीकी होती है । "मोहेन विस्मृते दृश्ये सुषुप्ति-रनुभूयते । बोधेन विस्मृते दृश्ये तुरीयमनुभूयते ॥" हे सखे! मेरे प्यारे भक्तका छठा गुण है समदुःखसुख होना । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" जो सर्वत्र एक ही को देखते हैं उनको शोक क्या वा मोह क्या ?, दुःख क्या वा सुख क्या ? । जो विश्वरूपके उपासक हैं वह जानते हैं, कि–जिसके द्वारा हमको अपने प्यारे रमणीयदर्शनसे जुदा होना पड़ता है वह विषय ही सुख और दुःखका आधार है। वह अपने परमप्यारेको ही चाहते हैं, इसके लिये मायादत्त प्रारब्ध ही सुख दुःखको लाता है, ऐसा विचार कर वह दोनोंको ही त्याग देते हैं । सुख और दुःखका अनुभव मन करता है, वह मन जिन्होंने ईश्वरको देदिया है उनके लिये जैसे सुख मायिक है तैसे ही दुःख भी मायिक है । दोनों ही उत्पन्न होने वाले और नष्ट होजाने वाले हैं ऐसा विचार कर वह किसी प्रकार भी अपने आत्मदेवको छोड़कर नहीं रहना चाहते । पहिले सुकृत कर्मने सुख दिया है और पहिले दुष्कृत कर्मने दुःख दिया है, इस बातको याद रखकर वह सुखदुःखसे विचलित नहीं होते हैं । प्रारब्ध वश सुख आवे वा दुःख आवे दोनों ही अवस्थामें अपने

परमप्यारेका दर्शन वा कृपा पाकर सुख और दुःख दोनोंमें एकसमान रहते हैं और जो अव्यक्त अक्षरके उपासक हैं, उनकी दृष्टिमें तो यह दृश्य जगत् है ही नहीं, रूप रस है ही नहीं वह अपनेमें आप हैं और कुछ है ही नहीं, तब सुख और दुःख रह ही कैसे सकता है ?, उसके पास तो समदुःखसुख रूप गुण ही स्थान नहीं पाता। हे सखे ! मेरे प्यारे भक्तका सातवाँ गुण क्षमी होना है। किसीके पीड़ा देने पर भी वह उसको सहलेते हैं, विचालित नहीं होते! मायाका सब व्यापार प्रारब्ध के अनुसार होता है। स्वप्नमें मन ही अनेकों लीलायें दिखाता है, इसबातको विचार कर वह क्षमाको धारण करते हैं, वह सब ही सहते हैं, सबको ही क्षमाकी दृष्टि से देखते हैं, तिरस्कार करने पर भी वह-'कहने दो करने दो' यह सब मायाकी लीला है, ऐसा मानकर अपने परमप्यारेकी ओरको ही देखनेकी चेष्टा करते हैं। और हे सखे ! मेरा ऐसा भक्त सदा सन्तुष्ट रहता है, यह उसका आठवाँ गुण है, क्योंकि-वह लाभ, हानि, सुख दुःख, तिरस्कार पुरस्कार, सरदी गरमी आदि सब ही अवस्थाओंमें सन्तुष्ट रहता है। देहरक्षाके लिये यदि कुछ मिल जाय तो और न मिले तो दोनों ही दशामें प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसका नवाँ गुण है-योगी होना, वह सदा सावधानचित्त रहता है, सदा योगमें लगा रहता है, श्रवण मनन आदिमें सिद्ध होता है। हे सखे ! उसमें दशवाँ गुण होता है यतात्मा होना। उसका शरीर और इन्द्रियें वशमें होते

हैं। मनुष्य विषयोंमें आसक्त रहनेसे ही असंयत होता है परन्तु मेरा भक्त ऐसा नहीं होता है इस कारण उसका मन, वाणी और शरीर परमभावकी ओरको झुके रहते हैं शरीर, इन्द्रियें उसके वशमें रहते हैं इस कारण वह स्वच्छन्द होता है और हे सखे ! उसमें ग्यारहवां गुण होता है दृढ़निश्चय होना। शास्त्र कहता है—"आहारार्थं यतेतैव युक्तं तत्प्राणधारणम्। तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय परं व्रजेत् ॥" प्राणधारणके लिये भोजनकी सामग्री इकट्ठी करनेकी चेष्टा करे, उस प्राणधारणसे तत्त्वका पता लगजाने पर ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। प्राणधारणके लिये भोजनके पदार्थ चाहियें, परन्तु दैवात् यदि वह न मिलें तो चित्तको वशमें रक्खे, क्षोभ न लावे और यदि दैवात् क्षोभ होकर साधनामें विघ्न पड़ने लगे तो आत्मदेवमें दृढ निश्चय रक्खे, अटल विश्वास रक्खे, जो कुछ होना है होय, तुम उसके कर्त्ता नहीं हो, तुम भी जो कुछ करना है उसको करते हो। मैं कौन हूँ—आजतक भ्रान्तिसे जिसको "मैं—अहम्,, समझ रहा था, आज वह मैं आपकी शरणमें पहुँचगया है, हे मङ्गलमय ! आप उसका मङ्गल ही करते हैं, ऐसा अटल विश्वास रखनेमें शान्ति मिलेगी। विश्वरूपका उपासक सदा अटल विश्वासी होता है, किसी प्रकारकी कुतर्क उठाकर वह उसमें अविश्वास नहीं लाता है। हे अर्जुन ! मेरे भक्तमें यह सब गुण अवश्य ही आजायँगे, क्योंकि—वह—मय्यर्पितमनोबुद्धि,होता है अर्थात्—विश्वरूपका उपासक मन बुद्धि मेरे अर्पण करदेता है, इस कारण उसके सकल सद्गुण विकसित होजाते हैं तथा इस

कारण ही मैं उसको अपना प्यारा भक्त मानता हूँ। अर्जुन ने कहा कि-हे भगवन्! यहां मेरे चित्तमें एक और प्रश्न उठता है, वह यह कि-आप यहां निर्गुण उपासक किसको कहते हैं और सगुण उपासक किसको कहते हैं?। भगवान् ने कहा, कि-हे सखे! मैंने इस अध्यायमें परिपूर्ण धर्मकी अङ्गरूप पांच प्रकारकी साधनाकी बात कही है। (१) अक्षर उपासना कहिये निःसङ्गभावमें स्थिति (२) विश्वरूप उपासना अर्थात् क्रममुक्तिसे परे स्थिति (३) अभ्यासयोग से विश्वरूपमें पहुँचना (४) मत्कर्मपरायण होकर अभ्यास योगकी प्राप्ति और (५) कर्मफलत्यागसे मत्कर्मपरायण होनेकी अवस्था यह सव साधनाके सोपान हैं। जानकर हो चाहे अनजानमें हो साधकको सब ही अवस्थाओंके पार पहुँचना होगा। जो पुरुष क्रमसे शास्त्रकी विधिको मानकर धीरजके साथ काम करते हैं वह सहजमें ही अपने पहुँचनेके स्थान पर पहुँच सकते हैं और जो शास्त्रकी विधिको लांघकर मनमानी उपासना करते हैं उनको भी अनेकों धक्के खाकर फिर इस ही मार्गमेंको आनापड़ता है, जिसको छोड़ बैठते हैं फिर उसको ही साधकर ऊपरको चढ सकते हैं। जिन्होने जन्मान्तरमें तपस्याकी होती है उनके एकसाथ उच्च अधिकारी होने पर भी उनके लिये भी नीचेके क्रमसे ही अभ्यास करने की शिक्षा दीजाती है। इस विषयमें कोई २ कहते हैं, कि उत्तम अधिकारीके लिये निर्गुण उपासना है और मन्द अधिकारीके लिये सगुण उपासना है, कठिन होनेके कारण मन्द

अधिकारीके लिये अक्षरोपासनाकी निन्दा कीगयी है और उसके लिये सगुण उपासनाका विधान करके मैंने यहां शक्ति की न्यूनाधिकताके अनुसार बहुतसे साधनाके उपाय दिखाये हैं । जो उत्तम अधिकारी हैं उनके लिये सकल विघ्नबाधाओंसे रहित अक्षरोपासना है, इसका साक्षात् फल सद्यःमुक्ति है । इसके अधिकारी सब नहीं होते हैं इस कारण जिस २ साधनाके द्वारा साधक क्रमसे उन्नति करता हुआ सद्यः मुक्तिकी देनेवाली इस निर्गुण उपासनाका अधिकारी होसकता है, उसका ही वर्णन यहाँ किया है। और शास्त्रोंमें भी कहा है कि—मन्द अधिकारी निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं करसकता उसको सविशेष ब्रह्मोपासना के द्वारा भगवान्का अनुग्रह प्राप्त करना चाहिये । सगुण उपासनाके द्वारा मनको वशमें करके उपाधिकल्पनाका त्याग कर सकने पर ही अर्थात् प्रतिमा वा विश्वरूपके जड़भावके बदलेमें चैतन्यभावको ले सकने पर ही ब्रह्मसाक्षात्कार होगा। भगवान् पतञ्जलि कहते हैं, कि—"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" ईश्वरके प्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है। उस समय चैतन्यका जड़से अलग अनुभव होजाता है। प्रत्यक् चैतन्यका अनुभव होजाने पर सब विघ्न दूर होजाते हैं । सगुण उपासनाकी जो स्तुति है सो अक्षरोपासनाकी निन्दा दिखाने के लिये नहीं है, जैसे कि—सूर्योदयकालमें होमकी विधि अनुदयकालके होमका निषेधमात्र सूचित करती है, उसकी निन्दा नहीं करती है, तैसे ही यहां समझो। न्यायशास्त्र भी

कहता है, कि-"न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्,, निषिद्ध विधिकी जो निन्दा कीजाती है, उसका उद्देश्य निन्दा दिखाना नहीं है किंतु विहित विधिकी स्तुति करना उद्देश्य है। निर्गुण उपासना अधिकतर क्लेशदायक है, ऐसा कहनेका यह अभिप्राय नहीं है, कि-निर्गुण उपासना वास्तवमें निन्दनीय वा हेय है, किन्तु मन्द अधिकारिको सगुण उपासनाका ही आश्रय लेना चाहिये, इसलिये ही सगुण उपासनाकी स्तुति कीगयी है। कहा है, कि-"श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" सगुण उपासक ही युक्ततम है परन्तु इससे यह नहीं समझलेना, कि निर्गुण उपासक युक्ततम नहीं है। निर्गुणोपासक परमार्थतः युक्ततम है, वह ज्ञानी है। सब ही भक्त मेरे प्यारे हैं, सब ही उदार हैं, परन्तु ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारा है, ज्ञानी मेरा आत्मा ही है, आत्मासे अधिक प्यारा और कौन होसकता है ?। इस श्लोकमें कहे किसी भूतसे द्वेष न करनेवाले उपासकसे मैं अक्षरोपासकको ही कहता हूँ। परन्तु कोई २ इसके प्रतिकूल कहसकते हैं, कि-सकल भूतोंसे द्वेष न करने वाला इत्यादि गुण अक्षरोपासकोंके ही हैं, यह बात मूलमें तो कहीं निकलती नहीं। निर्गुण और सगुण उपासनाको लेकर ही अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद उठते हैं। वेदमें जिसप्रकार एकसाथ निर्गुण और सगुण ब्रह्मको दिखाया है, तैसे ही यहां भी सगुण और निर्गुण उपासनाकी बात एक साथ कही है। वेदमें जहां कहा है, कि-"अद्वैतमनिर्वाच्यं

ब्रह्म" तहां ही यह भी है कि-'प्रणवात्मकं ब्रह्म' 'पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म' 'यत्तदद्दृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।' अर्थात् उसको देखा नहीं जासकता उसको ग्रहण नहीं कियाजासकता, उसका कोई गोत्र नहीं है, किन्तु वह अनादि है, उसका कोई वर्ण नहीं है, उसके नेत्र, कान और हाथ पैर नहीं हैं। वह नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म और अव्यय है। जहाँ यह सब कहा गया है तहाँ ही यह भी कहा है, कि-वही धीर पुरुषोंकी दृष्टिमें भूतयोनि है। तहाँ ही कहा है, कि-,,ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" ब्रह्म ही अमृत है, ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिणमें है, ब्रह्म ही उत्तरमें है, नीचे ऊपर फैलाहुआ यह ब्रह्म ही विश्वरूप से स्थित है। वेदमें जैसे एक ही प्रसङ्ग में ब्रह्मको निर्गुण और सगुण दोनों दिखाया है तैसे ही अद्वेष्टा आदि गुणोंका वर्णन करते समय भी सगुण और निर्गुण उपासकोंके गुण भी एकसाथ ही कहे हैं। निर्मम और निरहङ्कार यह दोनो सगुण और निर्गुण दोनों उपासकों के गुण हैं। सगुण उपासक अहन्ता और ममताको पूर्ण भावसे फैलाकर निर्गुण अवस्थाको पाता है। अहन्ता और ममताकी पूर्णतामें अहङ्कार और ममत्वका नाश होजाता है, तब निर्गुण ब्रह्मभावमें स्थिति होती है, सगुण उपासना ही निर्गुण उपासनामें को लेजाती है, इसकारण दोनोंके गुण

एकसङ्ग कहे गये हैं। साधनाके समय द्वैत वा विशिष्टाद्वैत रहेगा परन्तु स्थितिकालमें अद्वैतभाव ही आवेगा। नित्य अद्वैतभावमें स्थितिके लिये जगत्का विस्मरण और जगत्के मिथ्यात्वका बोध होना ही चाहिये। चेतन और जड़का मिश्रण(मेल) ही जगत् है। चेतनभावमें लक्ष्यके स्थिर होते ही जड़ जगत् विस्मृत और मिथ्या होजायगा। जैसे मूर्त्तिके जड़भावका विस्मृत होना साधनाके अधीन है तैसे ही जगत्के जड़भाव का विस्मृत होना भी साधनाके अधीन है। देहजटित आत्मा को मनोमय मूर्त्तिको वा धातुमयमूर्त्तिको वा काष्ठमय मूर्त्तिको अथवा इस विराट, जड़ आकारमें दीखनेवाले जगत्को साक्षी-चैतन्यरूपमें अनुभव करसकने पर ही अद्वैतभावमें स्थिति होगी। इस अध्यायके तीसरे चौथे श्लोकमें निर्गुण उपासना के विषयमें जैसा कहागया है—"संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥," तैसे ही यहां भी अद्वेष्टा आदि गुण कहे हैं। निर्गुणके उपासकको भी जबतक सिद्धि प्राप्त नहीं होती है तबतक विश्वरूपोपासककी साधना भी करनी पडती है, इसलिये निर्गुण और सगुण ब्रह्मकी समान निर्गुणोपासक और सगुणोपासकमें भी आत्मगत सदृशता है, इसलिये ज्ञानी और भक्त दोनोंके ही विषयमें अद्वेष्टा आदि गुण कहे हैं, यहां कोई विरोध नहीं है। गीताके पांचप्रकारके उपासकोंमें अन्तके दो कर्मी हैं, पहिले तीन उपासक हैं। कर्मके द्वारा ही उपासना का अधिकार उत्पन्न होता है। यहां कर्मी और संन्यासीकी

बात नहीं कहीगयी है, किन्तु सगुण और निर्गुण उपासक की बात कहीगयी है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अन्वय और पदार्थ

(यस्मात्) जिस साधकसे (लोकः) लोक (न) नहीं (उद्विजते) उद्वेग पाता है (च) और (यः) जो (लोकात्) लोकसे (न) नहीं (उद्विजते) उद्वेग पाता है (च) और (यः) जो (हर्षामर्षभयोद्वेगैः) आनन्द, उद्वेग, त्रास और चित्तक्षोभ से (मुक्तः) छूटाहुआ है (सः) वह (मे) मेरा (प्रियः) प्यारा है ॥ १५ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि–हे सखे ! जिस ज्ञानी भक्तसे लोगों को उद्वेग नहीं होता है और जिस ज्ञानी भक्तको लोगोंसे उद्वेग नहीं होता है तथा जो हर्ष, असहिष्णुता, भय और उद्वेगसे मुक्त है वही मेरा प्यारा है । अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन् ! आप कहते हैं, कि–ज्ञानी वा भक्त संन्यासीको देखकर लोगोंको उद्वेग नहीं होता है, परन्तु लोकमें तो अनेकों पुरुष साधु संन्यासीको देखते ही अपने ऊपर विपत्ति आई समझते हैं ? । भगवान्ने कहा कि–हे सखे ! भक्त हो चाहे

ज्ञानी हो जो सच्चा संन्यासी होगा वह तो सब प्राणियोंको अभय ही देगा। उसके सहास्य मुख और दयामयी दृष्टिको देखने पर मनुष्यको ही क्या, किसी भी जीवको किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होसकता, किसीको कुछ भय वा शङ्का नहीं होसकती। अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी उससे आदर पाने पर उसकी सेवाकरके धन्य होना चाहेगा, उसकी स्नेहमयी दृष्टिसे हिंसक जन्तु भी हिंसाको त्यागदेगा। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! संन्यासी दूसरोंसे उद्वेग क्यों नहीं पाता है ? भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! सच्चा संन्यासी हिंसा को त्यागे हुए होता है, इसकारण और कोई भी उसकी हिंसा नहीं करसकता है। जो सबको आत्मभावसे देखेगा, उसका शत्रु कौन होगा ?। अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन् ! यह जो सुनने में आता है कि,—साधुको शूली पर चढ़ा दियागया था, सतीको राक्षस हरकर लेगया था, यह कैसे हुआ ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! जगत्की पाप ताप आदि उत्पीड़नसे रक्षा करनेके लिये सती और साधुने आत्मत्याग किया था। सती वा साधुके विशाल आत्मत्याग से जगत् पवित्र होनेकी शिक्षा पाता है, मनुष्य शोक ताप को सहकर भगवान्की शरण लेनेकी शिक्षा पाता है। अर्जुन ने कहा, कि—हे भगवन् ! क्या संन्यासी में हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग नहीं होते हैं ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! प्रिय-वस्तु वा प्रिय पुरुषके मिलने पर रोमाञ्चखड़े होने वा अश्रु-पात आदि होनेसे जो आनन्दको प्रकाशित करने वाली

चित्तकी वृत्ति होती है उसका ही नाम हर्ष है। सच्चे ज्ञानी वा सच्चे भक्तको सब ही प्यारे होते हैं, अप्रिय तो कुछ होता ही नहीं। जो सर्वदा परमानन्द में मग्न रहते हैं, जिनमें प्रेम क्षण २ में नहीं आता जाता है, किन्तु जो सर्वदा प्रेममय रहते हैं उनको अश्रु पुलकादि कैसे आसकता है ? और जिनका प्रेमभाव जरा देरको आता है और फिर चलाजाता है वह तो मानो प्रेमके हाथकी खेलनेकी पुतली हैं। जो भावरूप वा प्रेममय होगये हैं, उनको फिर भाव हँसा वा नचा नहीं सकता और जब भाव वशीभूत होजाता है उस समय वह अनेकों प्रकारके अभिनय करसकते हैं। अमर्ष नाम है विषाद का, यह दूसरेकी उन्नतिको न सहनारूप चित्त की वृत्ति है। जो सकल प्राणियोंको आत्मभावसे देखसकते हैं उनको अमर्ष कैसे होसकता है ?। उनको भय भी नहीं होता है, सिंह आदिको देखने पर जो चित्तकी वृत्ति होती है उसका ही नाम भय है। वह सिंहको सिंह ही नहीं देखते हैं, किन्तु सिंहशरीररूप परदे में ढके हुए अपने प्राणप्यारेको देखते हैं, उसको देखने में क्या कभी भय होसकता है ?, वज्रपात भी उनके चित्तमें भयको उत्पन्न नहीं करसकता। जैसे पतिकी प्यारी स्त्री पतिके हाथमें प्राणघातक शस्त्र देख चकित सी हो समीप ही आकर तत्काल प्राण लेनेको उद्यत हुए पतिको आलिङ्गन करके कहती है, कि—क्या तुम मेरा प्राणान्त करसकते हो ? तुम तो मुझे चित्तसे चाहते हो। इसी प्रकार आत्मज्ञानी भक्त विद्युत्पातको भी अपने

रमणीयदर्शन प्राणप्यारेके हाथमें देखकर हँसता २ कहसकता है-कि-हे भगवन्! आप क्या मेरा संहार करसकते हैं? तुम ही तो मेरे सर्वस्व हो जो सबको ही आत्मरूपसे देखते हैं, उन के समीप वज्रका भय कहाँसे आवे? तथा सर्प और सिंह भी क्या हैं? और उनमें उद्वेग भी कैसे रहसकता है? सिद्ध पुरुषोंको तो उद्वेग होता ही नहीं है, परन्तु साधकोंको भी नहीं होता है। अर्जुनने कहा-हे भगवन्! एकांत वनमें अकेला रहकर किसीसे कुछ न लेकर किसप्रकार प्राणधारण करूँगा, क्या यह उद्वेग भी उनको नहीं होता है?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! जो आगे पीछे, ऊपर नीचे, दूर पास और भीतर बाहर अपने परमप्यारेको ही देखते हैं। वायुमें आकाशमें, पृथिवीमें, जलमें, अग्निमें, तेजमें, वृक्षमें, पत्तोंमें फलमें, फूलमें सर्वत्र अपने दर्शनीय प्यारेका ही स्पर्श करते हैं, अनुभव करते हैं, वह क्या 'मैं क्या खाऊँगा' ऐसी चिन्ता करसकते हैं?। मेरे भक्तको हर्ष, अमर्ष, भय वा उद्वेगसे होनेवाली कोई चित्तवृत्ति उदित नहीं होती है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! जाने भोजन मिलेगा या नहीं। ऐसे भयसे जो निर्जन स्थानोंमें जाकर नहीं रहसकते हैं अथवा निर्जन वन वा पहाड़की गुफामें सङ्गीको विना लिये नहीं रहना चाहते हैं, उनके विषयमें आप क्या कहते हैं?। भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे! जो ऐसा करते हैं वह अभीतक भक्त नहीं हुए हैं, अभीतक ठीक निर्भर करना नहीं सीखे हैं, अभीतक सब वस्तुओंको आत्मभावसे नहीं देखसके हैं।

ऐसे लोगोंके लिये गृहस्थ ही किला है, उनको घरमें रहकर ही साधना करनी चाहिये और लोगोंके साथ रहकर परीक्षा करनी चाहिये, कि—सकल प्राणियोंमें द्वेषभाव न होने आदि की साधना कहाँ तक हुई है ?, इस साधनाके होजाने पर ही निर्जनमें जाकर रहें, फिर सब वृत्तियोंको वशमें करके जनसमूहमें रहें चाहे निर्जनवनमें रहें एह ही बात है। भक्त विचारते हैं, कि—जो हमारे आस पास है, आगे पीछे है, ऊपर नीचे है वही हमारी भूखका अन्न, प्यासका जल और निर्जनवनमें निवासस्थान है तथा वही हमें स्थूल आहार देगा, प्यासको जल लाकर देगा, परिश्रम मालूम होने पर विश्रामको स्थान देगा, ऐसा मित्र और कौन है ?, वही तो "सुहृदं सर्वभूतानाम्" है। हे अर्जुन ! आसपास, वृक्षमें, लतामें, मनुष्यमें, पशुमें, शत्रुमें, मित्रमें, आकाशमें, नक्षत्रमें, प्रतिमामें, वस्त्रमें, तिरस्कारमें, पुरस्कारमें, कोकिलामें, उल्लूमें, सब शब्दोंमें, सब रसोंमें सब स्पर्शोंमें, सब रूपोंमें, भीतर, बाहर विश्वरूपसे तुझे देखरहा है, यदि अनुभव नहीं कर सकता है तो विश्वासमें ही स्मरण कर, कोई भय नहीं रहेगा, कुछ उद्वेग नहीं रहेगा, क्रमसे हर्ष अमर्ष कुछ भी नहीं आवेगा। एक अपार आनन्दमें, आनन्दमय वा आनन्दमयीमें मिलकर आनन्द करेगा अथवा आनन्दसमाधि लग जायगी। ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो
गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी

यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अन्वय और पदार्थ

(यः) जो (मद्भक्तः) मेरा भक्त (अनपेक्षः) किसीसे किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं रखता है (शुचिः) भीतर बाहर के शौचसे युक्त है (दक्षः) आलस्यरहित है (उदासीनः) पक्षपात रहित है (गतव्यथः) व्यथाशून्य है (सर्वारम्भ-परित्यागी) जिसका स्वभाव सकल कर्मफलोंको त्यागनेका होगया है (सः) वह (मे) मुझे (प्रियः) प्यारा है १६

भावार्थ

भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! जो मेरा भक्त अनपेक्ष, शौचयुक्त, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित और सकल कर्म-फलोंको त्यागनेवाला है, वही मुझे प्यारा है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! अनपेक्ष किसको कहते हैं ?। भगवान्‌ने कहा कि-हे सखे ! देह इन्द्रिय और विषय इनमेंसे किसीमें भी जिसकी रुचि नहीं है, आत्माके सिवाय किसी वस्तुमें भी जिसकी रुचि नहीं है अर्थात् हाथ पैर आदि यदि रोगों से विकल होकर कार्यसाधनमें असमर्थ होजायँ, देह यदि आनेवाले सुख दुःख आदिका अनुभव करनेमें असमर्थ हो-जाय, चित्त यदि कल्पनामें भी विषयोंके व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले आनन्दको भोगनेसे बचने लगे तो इसमें मेरा भक्त कुछ क्षति नहीं मानता है, क्योंकि-जिसको कोई भी कामना नहीं है, विषय और इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखको भोग

नेमें जिसकी रुचि नहीं है उसको यदि वह सब पदार्थ न मिलें तो भी कुछ क्लेश नहीं होसकता, वह स्वच्छ कोमल सुन्दर वस्त्रोंसे शरीरको ढकना नहीं चाहता, बाहरी पवन धूप से देहकी रक्षा करनेके लिये छत्र वस्त्र आदिकी आवश्यकता नहीं रखता है। वह विलासियोंकी समान शरीर पर तैल इत्र आदि मलनेकी इच्छा नहीं करता है, उसको सुन्दरता बनानेके लिये केश काट कर सजानेकी अभिलाषा नहीं होती है, तथा उसको शोभा बढ़ानेवाली किसीभी सामग्री की सहायतासे शरीरको सजाने की अपेक्षा नहीं होती है, वही अनपेक्ष कहलाता है। अर्जुनने कहा कि-हे भगवन्! शुचि कौन कहलाता है? । भगवान्ने उत्तर दिया, कि-हे सखे! जो मृत्तिका जल आदिके द्वारा शरीरको बाहरसे शुद्ध रखता है और मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षाके द्वारा अन्तःकरणके रागद्वेषको दूर करनेके कारण सदा कान्तिमान् और देवता के समान ज्योतिर्मय शरीरधारी होता है वही शुचि कहलाता है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! दक्ष किसको समझना चाहिये? । भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! जिसको आलस्य नहीं है, जो काम जिस समय करनेकी आवश्यकता हो उसको उसी समय करसकता हो, गुरुके उपदेश किये हुए अवश्य करनेयोग्य वा अवश्य जानने योग्य कर्ममात्रमें जो तत्काल चेष्टायुक्त हो वही दक्ष है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन्! उदासीन किसको कहते हैं ? । भगवान्ने उत्तर दिया कि-जो किसी एकका पक्ष लेकर मित्रता नहीं करता अर्थात् जो

सबको ही मित्र मानता है तथा जो किसी एकका पक्ष लेकर दूसरोंसे शत्रुता नहीं करता है, न किसीकी ओरको खिचता है न किसीसे बचना चाहता है राष्ट्रविप्लव वा राजपरिवर्त्तन होने पर अथवा महामारी आदि दैवी उत्पात होने पर जो निर्लिप्त महापुरुष जरा भी विचलित नहीं होता है, जो मान अपमानमें एकसी वृत्ति रखता है अथवा जो अविद्याके व्यापारमें जरा भी यत्न नहीं करता है वही उदासीन कहलाता है। अर्जुनने कहा, कि–हे भगवन्! गतव्यथ किसको कहते हैं?। भगवान्ने कहा, कि–हे सखे! जो काम क्रोध आदिके उत्पीड़नरूप आधिसे शून्य है, जो शीत उष्ण आदि द्वन्द्वोंमें पड़कर भी चित्तमें पीडाका अनुभव नहीं करता है, मूर्खोंके विनाकारण अत्याचार करनेसे, अचानक विपत्ति आपड़ने पर तथा स्वार्थियोंके आक्रमण करने पर भी जिसको वेदना का भान नहीं होता है, पहिले२ व्यथाका अनुभव होने पर भी जो क्रम२ से धीरजके साथ सब कुछ सहने लगता है, जिसको मनुष्योंके तिरस्कार और मच्छर आदिके काटने तकसे व्यथा नहीं होती वही गतव्यथ है। व्यथाका अनुभव हृदयको होता है, शरीरकी वेदना मुख्य वेदना नहीं है, हृदय की वेदना ही वास्तविक वेदना है, जिसका हृदय भगवान् को अर्पित होजाता है, जिसका हृदय भगवद्भक्तिके प्रभावसे पूर्णानन्दमें निमग्न रहता है, जिसका अन्तःकरण ज्ञानके बलसे सकल बलवानोंसे अधिक बली होजाता है और भक्ति के उबालसे जिसके चित्तमें बाहरी विषयोंके अनुभवका अव-

सरही नहीं होता है, फिर क्षुद्र तुच्छ शारीरिक व्यथायें उसको खिन्न कर ही कैसे सकती हैं? पूर्ण तृप्ति के कारण बाहरी अनुभव के लिये जिनके अन्तःकरणमें स्थान ही नहीं रहने पाता, ऐसा परमानन्दसे परमतृप्त भक्त ही गतव्यथ कहलाता है ॥ अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! सर्वारम्भपरित्यागी किसको कहते हैं?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे! कर्ममात्र फलका देनेवाला है, कोई कर्म इस जीवनमें ही फल पानेके लिये किये जाते हैं और कोई कर्म परलोकमें फल पानेके लिये कियेजाते हैं, ऐसे सब ही कर्मोंके लिये जो उद्यम कियाजाता है वह सर्वारम्भ कहलाता है फलकी इच्छा करके किसी कर्मको करनेमें जिसका उद्यम नहीं है, इस लोकमें या परलोकमें मुझे भोग सुख देगा ऐसे विपरीत ज्ञानसे जो कर्मका आरम्भ कहिये उद्यम नहीं करता है, जैसे वृक्ष स्वयं कोई चेष्टा नहींकरता है पवनके चलने पर चेष्टायुक्त होजाता है तैसे ही जो बुद्धिपूर्वक किसी कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता है, प्रारब्धनुसार यथाप्राप्त कर्ममें अबुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है तथा गुरु और शास्त्रके उपदेश दिये हुए परब्रह्मकी प्राप्तिके उपायमात्रमें जो प्रवृत्ति रखता है, ऐसा महापुरुष बड़ेभारी भोगसुखका सुयोग देखकर भी उसको प्राप्त करानेवाले कर्मसाधनमें अनुराग नहीं करता है वही सर्वारम्भपरित्यागी कहलाता है। हे सखे! इन निरपेक्षता आदि गुणोंसे युक्त भक्त ही मेरा प्यारा होता है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति

न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

अन्वय और पदार्थ

(यः) जो (न) नहीं (हृष्यति) आनन्दित होता है (न) नहीं (द्वेष्टि) द्वेष करता है (न) नहीं (शोचति) शोक करता है (न) नहीं (काङ्क्षति) कामना करता है (यः) जो (भक्तिमान्) मेरी भक्ति करने वाला (शुभाशुभपरित्यागी) शुभ अशुभको त्यागनेके स्वभाववाला है (सः) वह (मे) मुझे (प्रियः) प्यारा है ॥ १७ ॥

भावार्थ

अर्जुनने कहा, कि—हे भगवन्! और किसप्रकारका भक्त आपको प्यारा है ?। भगवान्ने कहा, कि—हे सखे ! पीछे इस ही अध्यायके तेरहवें श्लोकमें जो समदुःखसुखका वर्णन किया है, उसका ही तात्पर्य स्पष्ट करके दिखाता हुआ तेरे प्रश्नका उत्तर देता हूँ, कि—जो इष्टकी प्राप्तिसे हृष्ट नहीं होता है, जो अनिष्टकी प्राप्ति होने पर द्वेषयुक्त नहीं होता है, जो हाथमें आयी हुई इष्ट वस्तुका नाश होने पर अथवा प्रिय पुरुषका वियोग होने पर शोक नहीं करता है और जो अप्राप्य प्रिय पदार्थ को पानेके लिये भी कामना नहीं करता है ऐसा जो मेरा भक्त शुभसाधक और अशुभकारी सकल कर्मोंको त्याग देता है वही उपासक मेरा प्यारा होता है। पहिले श्लोकमें सर्वारम्भपरित्यागीका वर्णन है और इस

इस श्लोकमें शुभाशुभ परित्यागीकी बात उठायी गयी है यह सर्वारम्भपरित्यागीकी ही व्याख्यारूप है। अपने चित्तके अनुकूल साधारणसी वस्तु मिलजाने पर भी मनुष्य प्रसन्न होजाते हैं। थोड़ासा धन संग्रह करसकने पर ही अपने जीवन को सार्थक हुआ मानने लगते हैं और हर्षके मारे फूल उठते हैं। पुत्रका जन्म होनेसे आनन्दके मारे उन्मत्तसे होकर अनेकों प्रकारके उत्सव करने लगते हैं। सोनेके गहने, पक्के २ महल और बड़े २ वाग बगीचे आदि सब ही नाशवान् तुच्छ पदार्थ हैं तो भी ऐसे हीन घृणित पदार्थोंके मिलजाने पर मनुष्य हर्षके मारे आपेसे बाहर हो उठते हैं और ऐसी ही साधारण वस्तुएं यदि उनके हाथसे जाती रहें, यदि उनके नेत्रोंको आनन्द देनेवाला पुत्र परलोकगामी होजाय अथवा प्रेममयी प्रियाकी लीला समाप्त होजाय तो दुःखकी सीमा नहीं रहती है। शोकके कारण मनुष्यका हृदय कुमलाजाता है और वह अपने जीवनको क्लेशमय मानकर बड़ा ही कातर होता है। ऐसे हर्ष और शोक दोनों ही अत्यन्त दुर्बलचित्त होनेका पता देते हैं और दोनों ही उन्नतिकी रुकावटके उदाहरण हैं। जिन्होंने नाशवान् संसारकी क्षुद्र भोगसामग्रीको घृणाकी दृष्टिसे देखने देखते अविनाशी परमसुखका मार्ग देखपाया है जिन्होंने आत्मज्ञानरूप दीपकके प्रकाशसे मोहान्धकारको दूर करके सार और असारका निर्णय करनेकी शक्ति पा ली है, जो कभी भी साधारण भोगकी सामग्रीको पाकर प्रसन्न और उसका नाश होने पर खिन्न नहीं होते

हैं। ऐसे महात्मा किसी पुरुष वा किसी पदार्थके ऊपर अपने हृदयमें किसी प्रकारका द्वेष नहीं रखते हैं। संसारके किसी पदार्थको परमप्यारा और किसी पदार्थको परम घृणित समझें ऐसी ओछी बुद्धि उनमें नहीं होती है। वह सब पदार्थोंमें समदर्शी होकर विष्टा और चन्दनको समानभावसे देखते हैं। उनका प्यारा वा शत्रु कोई नहीं होता है। पृथिवी भरके सब ही प्राणी उनको परम प्यारे होते हैं और कोई भी उनको प्यारा नहीं होता है। ऐसे महात्मा कभी भी किसी वस्तुको पानेके लिये अभिलाषा नहीं करते हैं, जो हानि और लाभ दोनोंको समान समझते हैं वह अभिलाषाके वशमें कैसे होसकते हैं ?। जिसको जिस वस्तुकी कमी होती है वह उस ही वस्तुको पानेके लिये अभिलाषा करता है। जो पुरुष जिस वस्तुको परमप्यारी समझता है,वह उस ही वस्तु को पानेके लिये व्याकुल होता है, परन्तु जिसको किसी वस्तुको पानेसे हर्ष और न पानेसे शोक नहीं होता है,जिसको किसी वस्तुकी कमी नहीं होती, जिसका हृदय निरन्तर परिपूर्ण तृप्तिमय रहता है वह इस संसारकी किसी क्षुद्र सामग्रीको पानेके लिये कभी भी कामना नहीं करसकता, उसकी कामना तो ब्रह्मज्ञानका कार्य और साधना तथा,उसको पानेके लिये गुरु वा शास्त्रके बताये हुए मार्गसे चलनेमें ही होती है, वह कभी भी किसी असद्वस्तुकी अभिलाषासे पागलसा नहीं बनसक्ता ऐसा महापुरुष अपनी दृष्टिमें न किसीको शुभ गिनता है, न किसीको अशुभ गिनता है। संसारके बहुतसे

पुरुष अनेकों घटनाओंको अपनी २ शिक्षा, संसर्ग और रीति नीतिके अनुसार शुभ और अशुभ मानते हैं। स्त्रीकी प्राप्ति, पुत्रकी प्राप्ति और धनका संग्रह आदि घटनाओंको वह परम शुभ मानते हैं और इन सबके अभावको बड़ा ही अशुभ मानते हैं। मनुष्योंमें जो बात एकके लिये शुभ है उसको ही दूसरा अशुभ मानता है। कोई यदि दूसरेके धन को हरलेता है तो उस हरण किये हुए धनकोवह हरणकर्त्ता शुभ मानकर काममें लाता है, परन्तु जिसका धन हरण कियाजाता है उसके लिये वह काम बड़ा ही अशुभ है। एककी स्त्रीको भोगनेका दूसरे कुसंस्कारि पुरुष अवसर पाजायँ तो वह अपने मनमें उसको जीवनकी बडी शुभ घटना मानते हैं, परन्तु वह कुलटा कामिनी जिसकी स्त्री होती है उसके लिये स्त्रीका धर्मसे डिगना बड़ा ही अशुभ होता है। क्षुद्र, हेय और नाशवान् विषयोंमें शुभ अशुभ इसप्रकार ही माना जाता है। जो इन सब व्यापारोंके पार होगये हैं, जो सांसारिक लोभलालसासे रहित हैं और जो सत्यस्वरूप ब्रह्ममें निष्ठा रखते हैं उनके पास अनेकों शुभाशुभ घटनायें कभी आने का साहस ही नहीं करतीं। साधारण समझके पुरुष ही पुण्यानुष्ठानको शुभ और पापाचरणको अशुभ मानसकते हैं। लौकिक विचारमें मनुष्योंकी दण्डविधिमें और शासनकार्यकी मर्यादा को रखनेमें कितने ही काम पापरूप मानेजाते हैं परन्तु वह सब मनुष्यसमाजकी मर्यादामात्र है। जो महात्मा ज्ञान बलसे इस सब शासनके पार होजाते हैं। पाप और पुण्य

दोनोंका प्रलेप जिनके चित्तपटमें लगता ही नहीं है, जो समदृष्टिको पाकर पुण्यातीत और अपापविद्ध होगये हैं, कार्य और अकार्य सबको ही जिन्होंने समदृष्टिसे देखनेका अभ्यास कर लिया है, उनकी दृष्टिमें पीछे बताये हुए संकीर्ण विचारकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है, उनकी दृष्टिमें जैसे पाप अनभिलषित सामग्री है तैसे ही पुण्यका भी कुछ आदर नहीं है, वह पापकर्मसे नरकभोग और पुण्यकर्मसे स्वर्ग-भोग इन दोनोंको ही समान मानते हैं। उनकी दृष्टिमें पाप का फल नरकभोग लोहेकी बेड़ी हैं तो पुण्यका फल स्वर्ग-भोग सोनेकी बेड़ी हैं, ऐसा समझ कर वह दोनोंका ही त्याग करते हैं अर्थात् जिससे फिर जन्म मरणकी जंजीर बने ऐसे कर्मको त्याग देते हैं, ऐसे जो पुरुष मुझमें ही भक्ति स्थापन करते हैं वही मुझे प्यारे हैं। हे अर्जुन! तू याद रख, कि—आत्म-देव मैं ही हूँ, मेरे सिवाय और जो कुछ है सो अविद्याके लम्बे स्वप्नमें ही दीखता है, जबतक तू इसको भूलकर मेरी सर्वव्यापी सत्तामें अपनी क्षुद्र अहंताको न भूलसकेगा तब तक तेरा सब करना धरना वृथा है। जो कुछ भी है सब मैं ही हूँ, अथवा मैं ही अपनी प्रकृतिमें अभिमान करके अनेकों रूपोंमें दीख रहा हूँ, तू तो मेरा भक्तमात्र है। जो महात्मा भगवद्भक्तिकी प्रबलतासे अपने हृदयको ऐसा गठित कर सकते हैं वही मेरे सच्चे और प्यारे भक्त हैं और उनके सब काम मेरी प्रसन्नतामात्रके लिये होते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा माना-
पमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु
समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन
केनचित् । अनिकेतः स्थिरमति-
र्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥ १९ ॥

अन्वय और पदार्थ

(शत्रौ) शत्रुमें (च) और (मित्रे) मित्रमें (तथा) तैसे ही (मानापमानयोः) मान और अपमानमें (च) भी (समः) समान (शीतोष्णसुखदुःखेषु) सरदी गरमी सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंमें (समः) समान (सङ्गविवर्जितः) आसक्तिसे रहित (तुल्यनिन्दास्तुतिः) समान हैं निन्दा और स्तुति जिसको ऐसा (मौनी) मौनधारी (येन केनचित्) जो कुछ भी मिलजाय उससे ही (सन्तुष्टः) सन्तोष माननेवाला (अनिकेतः) जिसका निवासस्थान नियत नहीं है (स्थिरमतिः) आत्मतत्त्वमें निश्चल बुद्धि वाला (भक्तिमान्) भक्तिवाला (नरः) मनुष्य (मे) मुझे (प्रियः) प्यारा है ॥ १८ ॥ १९ ॥

भावार्थ

भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! भक्तका हृदय जैसा

भावमय होता है और जैसे भावसे युक्त होने पर भक्त मेरा (भगवान्का) प्यारा होता है, यह बात कुछ श्लोकोंमें तुझे समझा ही दी, फिर भी दो श्लोकोंमें और स्पष्ट करके बताता हुआ इस प्रसङ्गको समाप्त करता हूँ—देख सखे ! जो मेरा भक्त होता है वह शत्रु और मित्र दोनोंमें समान भाव रखता है। वह समझता है, कि—"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा । अहङ्करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥" अर्थात्—सुख दुःख कोई नहीं देता है, जो समझते हैं, कि—दूसरा देता है उनकी समझ का दोष है और जो समझता है कि—अनेकों कामोंको मैं करता हूँ उसका अभिमान भी मिथ्या है, संसारके सब जीव अपने २ कर्मजालमें बँधे हुए हैं। भक्त कहता है, कि—मेरे प्रारब्धके अनुसार लोग मेरे साथ भला बुरा व्यवहार करते हैं, कोई मेरा शत्रु नहीं है और कोई मेरा मित्र भी नहीं है, मेरे पूर्व २ जन्मोंमें किये हुए कर्म ही मेरे शत्रु और मित्र हैं, इसलिये मेरे भक्तका सबके ऊपर एकसा भाव होता है, उसकी दृष्टि केवल ईश्वरकी ओर लगी होती है। वह मान और अपमानको समान जानता है, एकस्थान पर विशेष विधि विधानसे सत्कार हो तो उसको हर्ष नहीं होता और दूसरे स्थान पर कोई उसको अनादरके साथ घृणाकी दृष्टिसे देखे तो उससे खेद नहीं होता, वह दोनों दशाओंको एकसी समझता है, वह जानता है, कि—मान और अपमान भी कर्मजन्य हैं, परन्तु पूर्वजन्मके कर्मोंकी कुछ चिन्ता न करके

वह निरन्तर ईश्वरकी चिन्ताको ही अवश्यकर्त्तव्य जानकर करता है। भक्तका हर समयका कर्म तो भगवन्नाम लेना वा भगवान्‌का स्मरण करना ही होता है। कोई पुरुष मान वा अपमान करे तो भक्त कहता है, कि–हे भगवन्! यह और क्या होता है, अब आप मुझे अपनी मायासे न ढकिये, अब कृपा करके मेरे ऊपरसे मायाके आवरणको खेंच लीजिये। और हे सखे! मेरा भक्त गरमी सरदी सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको एकसमान समझता है। मेरा भक्त किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता है, भगवान्‌को छोड़कर चेतन या अचेतन किसीमें भी आसक्ति नहीं करता है, ईश्वरके सिवाय और किसी पदार्थको भी लेकर पागल नहीं बनता है, यदि किसी समय ईश्वरका स्मरण हटकर मन संसारी विषयोंमें जा पड़ता है तो सचेत होते ही कहने लगता है कि–ओः! मुझसे बड़ा अपराध होगया, इसके लिये पश्चात्ताप करके अघमर्षण आदि जप करता हुआ उस पापका प्रायश्चित्त करके क्षमा प्रार्थना करता है। कोई अपने दोष बखान कर निन्दा करने लगे तो अप्रसन्न नहीं होता और कोई गुणानुवाद गाकर स्तुति करनेलगे तो उससे प्रसन्न नहीं होता, किन्तु दोनों को एकसमान मानता है और मेरा भक्त मौनी होता है अर्थात् भगवान्‌के गुणकीर्त्तनमें इतना मग्न रहता है, कि–अपनी शरीरयात्राका निर्वाह करनेके लिये भी उसको बात करनेका अवसर नहीं होता है इसकारण विषयसम्बन्धी बातोंमें तो वह निरन्तर मौनी ही रहता है उसको जो कुछ भी मिलजाय उससे ही सन्तुष्ट रहता है अर्थात् उसकी

बुद्धि पर्याप्त होती है और प्रबल प्रारब्धके प्रभावसे शरीर-यात्राके निर्वाहके लिये जो कुछ भोजन जल मिलजाता है उससे ही सन्तुष्ट रहता है। श्रुति भी कहती है, कि-"येन केन चिदाच्छन्नो येन केन चिदाश्रितः। यत्र क्वचन शायी स्यात्तन्देवा ब्राह्मणं विदुः॥" अर्थात्-जो कुछ वस्त्र वल्कल आदि मिलजाय उससे ही शरीर ढकलेय, जो कुछ भोजनको मिलजाय उससे ही पेट भर लेय और जहां कहीं भी सोनेको स्थान मिलजाय वहां ही सो रहे उसको ही देवता ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। प्रारब्धवश कुछ मिलगया तो भला और न मिला तो भला। जो अपने रहने के लिये किसी विशेष स्थान का नियम नहीं रखता है और जिसकी बुद्धि परमार्थतत्त्वके विषयमें निश्चय वाली और स्थिर होती है, हे सखे! ऐसा भक्त ही मुझे प्यारा है। परमपवित्र गीताशास्त्रमें यह बारहवां अध्याय बहुत ही छोटा है, परन्तु परिमाणमें छोटा होने पर भी इसके भीतर सकल तत्त्वमयी बात भरी हुई है, उसका विचार किया जाय तो यही सबसे बड़ा सिद्ध होगा, इस अध्यायके आरम्भमें ही भगवान ने सगुण निर्गुण ब्रह्मोपासना के फलाफलके विषयमें विचार किया है और अन्तके सातश्लोकों में जैसे उदारचित्त उन्नत उपासकको अपना प्रिय बताया है, उसके मर्मको समझनेपर सकल साधनाओंका उपाय, सकल कामनाओंका परमकाम्य सकल परिश्रमके अन्तिम फलको पानेका मार्ग मिलजाता है और उसमेंसे थोड़ीसी साधनाके लिये भी नियमसे परि-श्रम करनेपर मनुष्यका मनुष्यभाव दूर होकर उसमें देवभाव

दमकने लगता है। और इस नाशवान् शरीरके आश्रयमें रहकर ही मानवात्मा चिरसत्य अविनाशी परमसुख मधुर प्रकाशका दर्शन पाजाता है। श्रीभगवान्ने कहा, है कि-अद्वेष्टा, मैत्र, करुण, निर्मम, निरहङ्कार, समदुःखसुख, क्षमी, सदासन्तुष्ट, योगी, यतात्मा, दृढ़निश्चय, मय्यर्पितमनोबुद्धि, लोकानुद्वेजक, लोकानुद्वेजित, हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगशून्य, अनपेक्ष, शुचि, दक्ष, उदासीन, गतव्यथ, सर्वकर्मफल त्यागी शत्रुमित्रमें समबुद्धि, मानापमानको समान माननेवाला, शीत उष्ण सुख दुःखको समान माननेवाला, आशक्तिशून्य निन्दा स्तुतिमें समानभाव रखनेवाला, मौनी, यथालाभ-सन्तुष्ट, नियमित-निवासरहित, स्थिरबुद्धि और भक्तिमान् इन सब गुणोंसे युक्त पुरुष ही मुझे प्रिय होता है। जब तक हृदयमें अथाह भगवत्-प्रेम न हो तब तक ये भाव कभी आ ही नहीं सकते। सब की बात तो अलग रही इनमें का कोई एक सद्गुण भी क्षुद्रचित्त मनुष्यके वशमें सहजमें नहीं हो सकता। जो निरन्तर देह इन्द्रियादिकी सेवामें ही लगे रहते हैं, जो निरन्तर भोगसुखकी कामनामें ही उन्मत्त रहते हैं, जो अहंकार और अपने बड़प्पनके लिये सदा छाती फुलाये रहते हैं तथा जो निरन्तर अपने स्वार्थ को साधने में ही लगे रहते हैं, उन ओछे हृदय वाले मनुष्योंके अन्तःकरणों में इस महान् स्वर्गीय भावके प्रकट होने के लिये स्थान ही नहीं होता है। भगवान्के प्रेममें जिनके हृदयने मोहपाशको-अज्ञानकी फांसीको काटडालना सीख

लिया है, जिन्होंने बड़ी २ अभिलाषाओंके वशमें होकर ओछी चिन्ताओंका करना छोड़ दिया है और आत्माको अनन्तके अभिमुख करके जिन्होंने नाशवान् पदार्थोंको घृणाकी दृष्टि से देखना आरम्भ करदिया है वही इस महत्त्व को पाने के अधिकारी हुए हैं। ऐसे महामना महापुरुष कदाचित् किसीका बड़ा सौभाग्य होता है तब ही दर्शन देते हैं। जिनके हृदयोंमें इन सब भावोंका उदय होगया है वह वास्तवमें मनुष्यके आकारमें देवता हैं! वह निष्काम कर्म करनेवालोंमें अग्रगण्य हैं, प्रेममय और परम आराध्य हैं। वसुन्धरा ऐसे महापुरुषोंको अपनी छाती पर धारण करके गौरव पाती है। मनुष्यसमाज ऐसे महात्माका जन्म होनेसे धन्य होता है और सकल जनसमूह ऐसे महान् चरित्र वाले महात्माको आदर्श बनाकर चरित्रको गठन करने के लिये उद्योग करता है। ऐसे महात्माके हाथसे दूसरोंका अनिष्ट नहीं होसकता, उनके हाथसे निन्दित काम नहीं होता है, उनके कारणसे किसीके हृदयमें वेदना नहीं होसकती, किसीकी भी स्वार्थसिद्धिमें वाधा नहीं पड़सकती वह प्रेममय महापुरुष प्रेमामृतको बाँट कर मनुष्यसमाज के कल्याणद्वारको खोल देते हैं। सन्मार्ग दिखाकर कुमार्गगामी पुरुषोंको प्रकृतिमें स्थित और शान्त कर देते हैं और अपार हितैषीपनेके द्वारा सर्वत्र अटूट धाराप्रवाहसे मङ्गलका छिड़काव कर देते हैं। ऐसे महापुरुष श्रीभगवान्‌के परम प्रेमपात्र होंगे इस बातका तो कहना ही क्या है? । श्रीभगवान्‌ने

जिन २ वाक्योंसे ऐसे महात्माके विशेषणोंको कहा है उनमें बहुतसे प्रायः एक ही अर्थके वाचक हैं, परन्तु सूक्ष्मरूपसे विचार करके देखनेपर उनमें भी स्वतंत्रभाव भरा हुआ दिखाई देता है, स्थूलरूपसे एकार्थवाची होने पर भी उन सबका प्रयोग असङ्गत नहीं है। क्योंकि-इन सब भावोंका पाठकोंके हृदय पर बड़ी दृढ़तासे जमना उचित है, इन सबका संस्कार दृढरूपसे हृदयपट पर अंकित करनेके लिये अनेकों भिन्न २ शब्दोंमें उसका वार वार उल्लेख होना अनुचित नहीं है। देश, काल और पात्रके अनुसार विचार करने पर प्रतीत होता है, कि-आजकलके समयके मनुष्योंके लिये इन भावोंको वशमें करलेना ही सहज सुव्यवस्था है। हृदयको द्वेष और असूयासे शून्य, समदर्शी तथा अहङ्कारसे शून्य करनेके लिये यत्नमें लगने पर मनुष्य सहजमें ही उन्नतिके मार्गमें आगेको बढसकता है। योगशास्त्रमें बतायी हुई साधना और अन्य शास्त्रग्रन्थोंमें विहित उपासना आदि मनुष्यके लिये निःसन्देह सकलकल्याणकारी है, परन्तु आजकलके समयमें अधिकतर मनुष्योंके लिये ऐसे अनुष्ठानके करनेका सुयोग नहीं होता है। किसी अनुष्ठानको न करके भी-किसी प्रकारकी साधनाका नियम पालन न करके भी यादि मनुष्य निरन्तर मनके साथ युद्ध करता हुआ आत्मसंयमका अभ्यास करलेय तो भी अन्तमें कृतकृत्य होसकता है, इसके लिये किसी भी आयोजनकी आवश्यकता नहीं होती है, जातिवन्धनको ढीला करके कोई काम नहीं करना पड़ता है। किन्तु एकान्तमें दूसरोंको

विना जताये अपने मनको आप ही वशमें रखनेकी चेष्टा करनी पडती है। इसके लिये एक दिन वा दश दिन वा बहुतसे वर्षोंका नियम नहीं हैं, किन्तु समय आने पर निःसन्देह मनकी कामना सिद्ध होजायगी। अज्ञातरूपसे धीरे धीरे२ थोड़ा२ चित्त वशमें होता चलाजायगा, जिस समय चित्त के ऊपर उचित अंकुश होजायगा उस समय पाप ताप दूर भागजायँगे और पीछे कहेहुए मैत्री आदि सद्गुण साधक में अपने आप आजायँगे, हृदय विश्वनाथके प्रेमसे परिपूर्ण होजायगा और चित्त पर आनन्दकी तय जम जायगी। श्रीभगवान् पहिले ही कहचुके हैं, कि-"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥" आत्मसंयमरूप परम ज्ञानको पानेके लिये आगे को बढनेमें किसीको भी भयभीत वा हताश नहीं होना पड़ता है। चित्तसंयम रूप अध्यवसायका आश्रय लेने पर सकल ज्ञान आकर प्रकट होजाते हैं। चित्तसंयम रूप अति दृढ़ सोपानका आश्रय लेने पर साधक प्रेम, ज्ञान, भक्ति आदिके ऊँचे शिखरों पर शीघ्रतासे वेखटक चढ़जाता है। इस साधना में जो जितना आगे बढेगा उतने ही ज्ञान भक्ति आदि इसके अपनी सम्पत्तिरूप होते चलेजायँगे, उनका क्षय वा कमी नहीं होगी। अनेकों कर्मोंमें आसक्त रहते हुए तथा विषयों के लेपसे लिप्त रहते हुए भी मनुष्य इस प्रकार अपनी चेष्टासे परम साधनाके मार्गमें चलसकते हैं और अन्तमें परम मुक्तिरूप धनके अधिकारी होकर धन्य होसकते हैं। भोगोंमें आसक्ति

वाले क्षुद्रचित्त मनुष्य प्रायः कहा करते हैं, कि-कामधन्धोंकी उलझनमें संसारी कामोंको साधनेकी शीघ्रतामें सायंकालके समय भी एक वार भगवान्का नाम लेनेको अवसर नहीं मिलता, रातदिन संसारके झंझटोंमें ही फँसे रहते हैं, यह कैसी थोथी बात है। सकल व्यापारोंमें रहकर, पुत्र कलत्र आदिके कामोंमें फँसे रहकर,विषयकूपमें कण्ठ तक डूबे रहकर भी भगवान्का स्मरण सहजमें ही किया जासकता है। बाहरी शौचमें कमी होसकती है, आसन गङ्गाजल आदि यथा समय मिलना कठिन होसकता है और स्थान वा समयके सुयोगमें भी गड़बड़ होसकती है, परन्तु इन सब दशाओंमें भी कुछ कालके लिये चित्तको संसारसे हटा कर वासनाशून्य हृदयमन्दिरमें भक्तिरूप पूजनकी सामग्रीके द्वारा ईश्वर का स्मरण करना असंभव नहीं होसकता। जो मनका काम है वह मनमें ही होगा। आडम्बर वा लोकदिखावा न होनेसे उसमें कुछ हानि नहीं होसकती। लोगोंके सामने करजदारोंसे व्याजके रुपये गिनते२ एक सौ आठ माला फेरनेसे कुछ फल नहीं होता, पवित्रसलिला भगवती भागीरथीके प्रवाहमें हाथमें यज्ञोपवीत लपेट कर गायत्रीका जप करनेके समय समीपमें ही स्नान करनेमें लगी हुई आधी नंगी युवती के कोमल गौर शरीरकी सुन्दरताको देखते रहनेसे कुछ पुण्य लाभ नहीं होता। ये सब बातें बड़ी ही घिनौनी व्याभिचारसे भरी हुई और दुर्दशा करानेवाली हैं। ऐसे भण्ड धार्मिकों की अपेक्षा जो साधु पुरुष अपने मनमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंको

कुछ कालके लिये स्थिर और वशीभूत करके मनसे एक वार भी भगवान्‌को पुकार लेते हैं वह ही महात्मा हैं। कुछ काल के लिये ऐसे चित्तसंयमका अभ्यास करते रहने पर क्रमसे ज्यों २ दिन बीतते जायँगे त्यों २ संयमका समय बढता चलाजायगा और अन्तमें नियत संयमरूप परम साधनाका अभ्यास होजायगा ॥ १८ ॥ १६ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

अन्वय और पदार्थ

(ये तु) जो तो (यथोक्तम्) जैसा यहां कहा है इस के अनुसार (इदम्) इस (धर्म्यामृतम्) धर्मरूप अमृतको (पर्युपासते) सेवन करते हैं (श्रद्दधानाः) श्रद्धावान् (मत्प रमाः) मैं ही जिनकी परमगति हूँ ऐसे (ते) वह (भक्ताः) भक्त (मे) मुझे (अतीव) अत्यन्त ही (प्रियाः) प्यारे हैं ॥ २० ॥

भावार्थ

भगवान्‌ने कहा, कि-हे सखे ! जो मेरे कहे हुए इस अमृततत्त्व देनेवाले धर्मका आचरण करते हैं वह श्रद्धावान् मेरे आश्रित भक्त मुझे बड़े ही प्यारे हैं। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! जिस धर्मके द्वारा साधक सकल भूतोंको

समान मानने लगता है अथवा मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि गुण साधक में प्रकट होते हैं। जिस धर्मके द्वारा साधक सकल भूतोंका हित करने में लगजाता है। जिस धर्मके द्वारा साधक भगवत्-आनन्दमें मग्न होकर केवल यथाप्राप्त कर्ममें ही चेष्टायुक्त होता है, उस ही अमृतकी समान परमफलदायक धर्मको ही तो आपने धर्म्यामृत कहा है?,इस धर्म्यामृतको पानेके लिये जिस जिस उपासनाकी आवश्यकता होती है, इस भक्तियोगमें आपने उसका ही तो वर्णन किया है? अब एकवार आप उस सब को बहुत ही संक्षेपमें समझा दीजिये ?। भगवान्ने कहा, कि-हे सखे ! सोपाधिक वा सगुण ब्रह्मके ध्यानका परिपाक होने पर जो निरुपाधिक वा निर्गुण ब्रह्मका पता लगाते हैं वह ही 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि गुणोंसे युक्त धर्म्यामृत को पाते हैं। इन सब गुणोंको प्राप्त करके योग्य बना हुआ साधक ही अपना अधिकारीपना दिखा देता है। श्रवण, मनन,निदिध्यासन ही सबसे ऊँचे अधिकारीकी साधना है। इस साधनाके द्वारा ही निर्गुणका उपासक वेदान्तवाक्योंसे सिद्ध हुए तत्त्वका साक्षात्कार करता है, साक्षात्कार होते ही परमानन्दमें स्थिति प्राप्त होजाती है। अर्जुनने कहा, कि-हे भगवन् ! आप कहते हैं कि अव्यक्त उपासनाके द्वारा ही परमानन्दमें स्थिति प्राप्त होगी, परन्तु आप निर्गुण उपासनाको तो अत्यन्त ही क्लेशदायक कहते हैं? । भगवान्ने उत्तर दिया, कि-हे सखे अर्जुन ! आत्मामें स्थिति प्राप्त करना ही परमानन्दकी प्राप्ति है जिस आत्मभावमें

स्थिति हुए बिना इस धर्म्यामृतकी प्राप्ति नहीं होती, उस आत्माको जिसने देहाभिमानी कर रक्खा है उसके लिये तो निर्गुण-उपासना कष्टदायक होगी ही । देहाभिमान छुटाकर पहिले इसको उपास्यका अभिमानी करो, फिर साक्षी चैतन्य रूपसे खड़े हुए विश्वरूपका अभिमानी करो । ऐसे साधक के लिये ही कहा है, कि-यह सगुण उपासना के द्वारा और भक्तिरूप निर्विघ्न उपायके द्वारा निर्गुण उपासना का अधिकारी होजाने पर ही परमानन्द में स्थिति प्राप्त कर सकेगा । जैसे साधक अभ्यास-योगके द्वारा विश्वरूप का उपासक बनजाता है, तैसे ही विश्वरूप की उपासना के द्वारा निर्गुण का उपासक बनजाता है । जैसे निर्गुण और सगुण ब्रह्मका संबन्ध अति निकट है तैसे ही सोपाधिक ब्रह्मका ज्ञान और निरुपाधिक ब्रह्मका ध्यान भी अति निकट हैं । मैं ही निरुपाधिक अक्षर ब्रह्म हूँ, मैं ही विश्वरूप हूँ, मैं ही वासुदेव हूँ, मैं ही सबके आत्मारूपसे स्थित हूँ । पहिले ही कहचुका हूँ, कि-"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।" मैं आत्मदेव ही ज्ञानीको अत्यन्त प्यारा हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारा है, प्रत्युत ज्ञानी ही मेरा आत्मा है । यह जो मैंने धर्म्यामृत की बात कही है यह ज्ञानीको स्वभावसिद्ध होती है । ज्ञान की प्राप्ति होजाने पर यह गुण अपने आप ही आजायँगे, परन्तु जबतक ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है । जितने दिनों तक साधक मुमुक्षु है, आत्मतत्त्वका जिज्ञासु है उतने दिनों

तक साधक "यह गुण आत्मज्ञान होने पर ही उत्पन्न होंगे" ऐसा जानकर श्रवण मनन आदिकी साधनाके साथ साथ यत्न पूर्वक इसका अनुष्ठान करता रहे। वार्त्तिककारने कहा, है कि-"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणः। अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः" अर्थात्-जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति होजायगी उनमें अद्वेष्टापन आदि गुण विना यत्नके ही प्रकट होजायँगे, केवल इन गुणोंकी ही साधना करने से यह गुण प्राप्त नहीं होसकते। अर्थात् ज्ञानकी प्राप्ति होने से ही सर्वत्र समदर्शी होसकता है, उस समय सब ही आत्मरूप दीखते हैं, तब साधक सब भूतोंका हित करनेमें तत्पर होजाता है। सर्वत्र सब जीवोंमें मेरा ही परमप्यारा है, इसकारण मैं सकल जीवोंकी सेवाके द्वारा भगवान्‌की ही सेवा करता हूँ, ऐसा अनुभव होने लगता है, परन्तु जवतक ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है तबतक चाहे कोई साधना करो ये गुण स्थिररूपसे नहीं रहसकेंगे। विश्वरूपका उपासक अभ्यासयोगका उपासक, मत्कर्मपरायणताका साधक और फलसंन्यास का साधक इनमें भी जब इन सब गुणोंकी नित्य स्थितिकी स्थिरता नहीं रहती तो कुछ न करके इन गुणोंको धारण करनेकी साधनामात्रसे यह गुण स्थिरताके साथ कभी भी प्राप्त नहीं होसकते, इस बातको समझना कुछ कठिन नहीं है। पहिले कहाजाचुका है, कि-स्थितप्रज्ञ इन ही सब गुणों

से भूषित होता है, जो इस धर्म्यामृतको पाकर अमर होनेकी वासना करते हैं, जो मोक्षके अभिलाषी हैं वह विश्वरूपका ध्यान करते हुए निर्गुण ब्रह्मको पानेकी चेष्टा करें और उस में स्थिति पाकर ज्ञानवान् होयँ। जो ऐसा नहीं करसकते वह अभ्यासयोगके द्वारा जब विश्वरूपके ध्यानमें पहुँच सकेंगे तब ही निर्गुण उपासना करनेमें समर्थ होंगे। जिनसे यह भी न होसके वह मत्कर्मपरायण हों और यदि इसको भी न करसकें तो अपने सकल वैदिक और लौकिक कर्मोंके फलकी कामनाको त्याग कर वह कर्मफल ईश्वरके अर्पण करनेका अभ्यास करें । इसलिये ही इस अध्यायमें कहागया है, कि-फलको त्याग कर कर्म करना ही साधना का आरम्भ है। क्रम २ से ऊँची ऊँची अवस्थाओंको पाकर मुमुक्षु अव्यक्त अक्षररूपमें स्थिति पाना ही परमानन्दमें स्थिति है। विश्वरूपका उपासक होसकने पर्यन्तसे ही साधनाकी समाप्ति नहीं होगी, क्योंकि-उस समय भी विराट जगत्‌रूप जो जड़त्व है उसका पूरा पूरा विस्मरण नहीं होता है, क्रममुक्ति की चरम अवस्थामें विश्वरूप उपासनाकी सिद्धि होती है, उसके अनन्तर ही जड़त्वको एकसाथ भूलकर शुद्ध चैतन्यमें स्थिति होती है, यह ही निर्गुण उपासनाकी सिद्धि है, गीता इसकी ही शिक्षा देती है। इसप्रकार इस मध्यम षट्कमें 'तत्त्व-मसि' महावाक्यमेंका तत् पदार्थ दिखायागया है । अर्जुनने

कहा, कि–हे भगवन्! इस मध्यम षट्क (सातवें से बाहरवें तक छः अध्याय) को सुनकर मेरी जो कुछ धारणा हुई है उसको एक वार सुन लीजिये, जिससे मालूम होजाय कि–मेरी वह धारणा ठीक है या नहीं। भगवान्ने कहा कि–हे अर्जुन! अच्छा सुनाओ। अर्जुनने कहा कि–"चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये। वस्तुसिद्धिविचारेण न किञ्चित्कर्मकोटिभिः॥" अर्थात् जो कहते हैं, कि–अन्त पर्यन्त कर्म करे जाना ही जीवका काम है वह भ्रममें पड़े हुए हैं, कर्म तो केवल चित्तशुद्धिके लिये है, कर्मसे तत्त्ववस्तु की प्राप्ति नहीं होगी, वस्तुकी सिद्धि तो विचारके द्वारा ही होगी। करोडों कर्म करो करोड़ों वर्षोंतक कर्म किये चलेजाओ उससे सारवस्तु आत्माकी प्राप्ति नहीं होगी। जब विचारके द्वारा आत्माको अनात्मासे जुदा करसकोगे तब ही आत्मा का जडाच्छन्नभाव दूर करसकोगे और तब ही ईश्वरकी प्राप्ति होगी "अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः। न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा॥" स्नान करो, दान करो, सैंकड़ों प्राणायाम करो, उससे वस्तुदर्शनकी प्राप्ति नहीं होसकती। वस्तुदर्शन ही ज्ञान है, विचारके द्वारा ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। मैं कौन हूँ?, जगत् क्या है? इस का विचार ही विचार है। विचारना चाहिये, कि–जाग्रत्में मैं कौन हूँ। विचारना चाहिये, कि–स्वप्नमें मैं कौन हूँ।

विचारना चाहिये; कि-सुषुप्तिमें मैं किसप्रकारका रहता हूँ। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें ही आत्मा मोहसे आच्छन्न रहता है, आत्माके ऊपर अज्ञानका परदा पड़ा रहता है, परन्तु साधनाके द्वारा तुरीय अवस्थामें पहुँच-सकने से ही जगत्मोहकी अत्यन्त निवृत्ति होजाती है और ज्ञानस्वरूपमें स्थितिकी प्राप्ति होजाती है। परमपद ही तुरीय है। विष्णुके स्मरणमें इसका ही स्मरण करना होता है। इसका स्मरण करके सगुण उपासनाके द्वारा इस तुरीय का अनुसन्धान करसकने पर ही समझना चाहिये कि-दर्शन मिलगया और परम पदमें स्थिति होगयी। इस षट्कमें कहा गया है, कि-विचार ही ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय है, कर्म केवल चित्तकी शुद्धिके लिये है। इन्द्रियोंको जीतकर और मनको जीतकर कामनाओंका अन्त करडालनेसे ही विचारबुद्धि प्रबल होती है। यह ही निर्विशेष उपासना वा निर्गुण उपासना है। "न मुक्तिर्जपनाद्धोमादुपवासशतैरपि। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत्॥" अर्थात्-जप करो, होम करो, सैंकड़ों उपवास करो, इससे मुक्ति नहीं होसकती-दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होसकती 'मैं ही ब्रह्म हूँ, इस ज्ञानका उदय होने पर जब जगत्का विस्मरण होकर चैतन्यमें स्थिति की प्राप्ति होजाती है उसी समय जीव जीवन्मुक्त होजाता है। जिस मुमुक्षुकी सत्त्व शुद्धि

होगयी है, अन्तःकरणका मैल धुलगया है उसके ही लिये साधना है, उसको श्रवण, मनन, निदिध्यासनका नित्य अभ्यास करना चाहिये। जिनकी सत्त्वशुद्धि नहीं हुई है ऐसे मुमुक्षुओंको सत्त्वशुद्धिके लिये—अन्तःकरणको निर्मल करनेके लिये विश्वरूपकी उपासना करने की आवश्यकता है। जो इससे भी नीची श्रेणीके साधक हैं उनके लिये—(१) अहङ्ग्रहोपासना है—इस उपासनामें मैं ही उपास्यदेव हूँ ऐसी भावनाका अभ्यास करना होता है। (२) दूसरी प्रतीकोपासना है—इसमें उपासक उपास्यको अपनेसे भिन्न मानकर उपासना करता है। (३) तीसरी बहुभावोपासना है—इसमें यह भावना करनी होती है, कि—मेरा उपास्य एक होकर भी अनेकों मूर्त्तियोंको धारण किये हुए है। यह तीन प्रकारकी उपासना अभ्यासयोगके अन्तर्गत है, इन तीनोंका ही लक्ष्य है—विश्वरूपके ध्यानमें पहुँचादेना। जो उपासना भी नहीं करसकते, उनके ही लिये कर्मयोग है। कर्मयोग के दो अङ्ग हैं—पहिला अङ्ग है—मत्कर्ममात्र करना और जो इसको भी करनेमें असमर्थ हैं उनके लिये कर्मका दूसरा अङ्ग दासभावसे सकल कर्मोंके फलका त्याग करनेकी विधि है। गीताशास्त्रमें जीवके परिपूर्ण धर्मके पाँच अङ्ग हैं। यथा—(१) निर्गुण उपासना, (२) सगुण उपासना, (३) अभ्यासयोग अर्थात् अहंग्रहोपासना, प्रतीकोपासना और

बहुभावोपासना, (४) मत्कर्मपरायण होनारूप कर्मयोग तथा (५) दासभावसे सकल कर्मोंके फलका त्यागरूप कर्मयोग। जगत्में जितने प्रकारके साधक हैं या जितने प्रकारके साधक हो सकते हैं वह अधिकारी भेदसे इनमें से ही किसी न किसी अङ्गको लिये हुए होंगे। साधक जितना २ ऊँची कक्षामें पहुँचता जायगा उसमें उतने ही उतने सात्त्विक गुण प्रकाशित होते चले जायँगे। जब सबसे ऊँची अवस्था में पहुँच जायगा तब ही 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि गुण अपने आप आकर प्रकाशित हो जायँगे, इसका ही नाम है धर्म्यामृत। कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों में से एक को भी छोड़ने से काम नहीं चलेगा। सब ही साधनाओंकी आवश्यकता है और क्रमको तोड़कर साधना करनेसे भी काम सिद्ध नहीं होगा, परन्तु परमानन्द में स्थिति करानेकी सामर्थ्य ज्ञानमें ही है। यहां एक वार भगवान् वशिष्ठजीका उपदेश भी स्मरण करना चाहिये। वह मुमुक्षुओंके लिये कहते हैं, कि—"ज्ञानयोगः परा पूजा ज्ञानात्कैवल्यमश्नुते। तुरीयपरमा पूजा साक्षात्कारस्वरूपिणी॥ अन्यथा शास्त्रगर्त्तेषु लुण्ठतां भवतामिह॥' ज्ञानयोगको छोड़ कर करोड़ों कल्प पर्यन्त शास्त्रके गढहोंमें लुढकते रहनेसे भी जीवका अज्ञान दूर नहीं होगा और यह दुर्लभ ज्ञान भक्ति-योगसे ही प्राप्त होसकता है तथा भक्ति कर्मयोगके विना नहीं

जागती। इसप्रकार ज्ञान भक्ति और कर्मका नित्य सम्बन्ध है। "ज्ञानं भक्तिश्च वैराग्यमेतदेव न संशयः। ज्ञात्वैवं सहजं प्रेम विवेकेनैव नान्यतः॥" जबतक द्वैतभाव है तबतक ही भय है। भेदज्ञान ही भय है। अभेदज्ञानरूप एकता ही भयशून्य अवस्था है। यह एकता—ज्ञान, भक्ति और वैराग्य इन तीनों का ही फल है। आत्मा अनात्माके विचारके द्वारा ही यह एकता प्राप्त होती है इसके प्राप्त होने पर साधक आत्ममय और प्रेममय निजस्वरूपको पाजाता है। तात्पर्य यह है, कि—विचारके सिवाय और किसी प्रकार भी स्थायीरूपसे एकता की प्राप्ति नहीं होसकती। सकल उपासनाओंका अन्तिम लक्ष्य यह अद्वैतभाव ही है। "लेशमात्रं नहि द्वैतं द्वैतं न सहते श्रुतिः।" साधना पूर्ण होजाने पर साधक शान्ति पाजाता है उस समयकी दशाको शास्त्र कहता है कि-"अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो, नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्। ईदृङ् मनो यस्य न तस्य भूयो भवोद्भवा द्वन्द्वरोगा भवन्ति॥" मैं हरि हूँ, सकल जगत् हरिमय है, हरिके सिवाय और कुछ है ही नहीं। जिसके मनमें ऐसी धारणा होजाती है उसको फिर संसारके द्वन्द्वोंसे उत्पन्न हुई व्याधियें नहीं सता सकतीं। ज्ञानीकी यह शिक्षा है कि—पामरोंके व्यवहारका अनुकरण करनेकी अपेक्षा कर्मानुष्ठानमें कल्याण है, इससे सगुणोपासना श्रेष्ठ

है और सबसे श्रेष्ठ निर्गुणोपासना है और इसमें ही ब्राह्मी स्थिति होती है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां श्रीकृष्णार्जुनसंम्वादे हठयोगाभ्यासि-ब्रह्मचारि-नर्मदानन्दकृत-अन्वय-पदार्थ सरल भाषाभावार्थ सहित भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

॥श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

